UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186186

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H333.760954 S24B Accession No. H1037

Author सक्सेना, भारतीय शंकरसहाय.

Title भारतीय ग्राम्य अर्थशास्त्र · स.२००5

This book should be returned on or before the date last marked below

भारतीय ग्राम्य अर्थशास्त्र

लेखक

शंकरसहाय सक्सेना एम० ए, एम० काम०;

प्रिन्सपल—महाराणा कालेज, उदयपुर

भारतीय सहकारिता आन्दोलन, भारतीय मजदूर, गाँवों की समस्याएँ, आर्थिक भूगोल, प्रारम्भिक अर्थशास्त्र, आदि के रचयिता।



२००५

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रकाशक
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग

प्रथम संस्करण
१०००

मुद्रक
जगतनारायणलाल
हिन्दी साहित्य प्रेस, प्रयाग

माननीय श्रीयुत सम्पूर्णानन्द जी

शिक्षा मन्त्री-संयुक्तप्रान्त

को

सादर समर्पित

'जिन्होंने अपने जीवन का अधिकांश भाग मातृभूमि की स्वतंत्रता के युद्ध को सफल बनाने में लगाया है, हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनवाने में जिनका प्रमुख हाथ है, जिनका संघर्षमय जीवन लेखक को निरंतर स्फूर्ति प्रदान करता रहा है और जिनकी विद्वत्ता तथा बहुमुखी प्रतिभा ने लेखक को प्रभावित किया है।'

"उत्तम खेती, मध्यम बान, नीच चाकरी, भीख निदान"

(एक भारतीय कहावत)

"जो व्यक्ति भूमि को सावधानी और परिश्रम से जोतता और बोता है वह दस हजार बार भगवान की प्रार्थना दुहराने से होने वाले पुण्य से भी अधिक पुण्य का सचय करता है।"

जोरोस्टर

"जब खेती फलती-फूलती है तब सब धन्धे पनपते हैं किन्तु जब भूमि को बंजर छोड़ देना पड़ता है तब अन्य सब धंधे शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।"

सुकरात

दो शब्द

लेखक उन व्यक्तियों में से है जिनका विश्वास और मान्यता है कि उच्च शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए। जब तक हम अपनी शिक्षा को अंग्रेजी की दासता से मुक्त नहीं कर देते तब तक देशवासियों के मस्तिष्क को हम विदेशी विचारों की दासता से स्वतंत्र नहीं कर सकते। विद्यार्थी-जीवन से आज तक लेखक का एक ही लक्ष्य रहा है—अर्थात् मातृभाषा शिक्षा का माध्यम बने और इस विचार को अधिक बल देने के उद्देश्य से हिन्दी में उपयोगी विषयों पर साहित्य-निर्माण किया जावे। इसी उद्देश्य को लेकर वह पिछले बीस वर्षों से हिन्दी में अर्थशास्त्र तथा व्यापार सम्बंधी साहित्य उत्पन्न करने का प्रयत्न करता रहा है।

आज हमारा देश एक क्रान्ति-काल से निकल रहा है। राजनैतिक चैतन्य के साथ-साथ हमारे देश में सभी क्षेत्रों में क्रान्ति का अनुभव किया जा रहा है। शिक्षा में भी क्रांतिकारी परिवर्तन होने जा रहे हैं और ऐसे चिन्ह दृष्टिगोचर हो रहे हैं कि शीघ्र ही उच्च शिक्षा का माध्यम भी मातृ-भाषा होगी। लेखक के जीवन का स्वप्न सत्य होने जा रहा है यह उसके लिए ही नहीं सारे विचारवान देशवासियों के लिए हर्ष का विषय है। प्रयाग विश्वविद्यालय, नागपुर विश्वविद्यालय, लखनऊ विश्वविद्यालय और हिन्दू विश्वविद्यालय ने उच्च शिक्षा का माध्यम देशी भाषाओं को स्वीकार करके एक प्रशंसनीय कार्य किया है। किन्तु जब "शिक्षा का माध्यम" देशी भाषा होने जा रही है तब हिन्दी प्रेमियों और विशेषकर हिन्दी लेखकों का उत्तरदायित्व बढ़ जाता है। हमें शीघ्र ही हिन्दी में सभी विषयों पर ऐसा उच्च कोटि का साहित्य उत्पन्न कर देना चाहिए कि इस आन्दोलन के विरोधी यह न कह सकें कि हिन्दी में उच्च कोटि की प्रामाणिक पुस्तकें नहीं हैं।

इस पुस्तक का अपना इतिहास है। इस पुस्तक को लेखक ने बिड़ला एजुकेशन ट्रस्ट के लिए लिखा था। पुस्तक बिड़ला एजुकेशन ट्रस्ट के मंत्री के पास दो वर्ष पड़ी रही किंतु कागज की व्यवस्था न हो सकने के कारण पुस्तक न प्रकाशित हो सकी। अन्त में लेखक ने अधिक प्रतीक्षा न करके

पुस्तक वापस मंगा ली। उसी समय मुझे सम्मेलन के जागरूक तथा कर्मठ साहित्य मंत्री भाई ज्योतिप्रसाद मिश्र निर्मल का आग्रह पूर्ण पत्र मिला कि मैं ग्राम्य अर्थशास्त्र पर सम्मेलन के लिए पुस्तक लिखूं। अतएव मैंने सहर्ष पुस्तक सम्मेलन से प्रकाशित करवाना स्वीकार कर लिया।

यद्यपि इस पुस्तक का निर्माण बी० काम० तथा एम० ए० परीक्षा के "ग्राम अर्थशास्त्र" विषय के पाठ्यक्रम के आधार पर हुआ है परन्तु लेखक ने इस बात का पूरा प्रयत्न किया है कि पुस्तक इस प्रकार लिखी जावे कि वह साधारण पाठक, ग्राम सुधार कार्य में रुचि रखने वाले कार्यकर्ताओं. राजनीतिज्ञों तथा अन्य विद्वानों के लिए भी उपयोगी सिद्ध हो।

पुस्तक कैसी है इसका निर्णय तो विद्वान् पाठक ही करेंगे परन्तु यदि विज्ञ पाठक मुझे पुस्तक के सम्बंध में आवश्यक सुधार का सुझाव देंगे तो मैं अनुगृहीत होऊंगा। यदि इस पुस्तक ने हिन्दी भाषियों में देश के सात लाख गांवों के प्रति कुछ रुचि उत्पन्न की जिनकी ओर से हम शिक्षित कहे जाने वाले लोग सर्वथा उदासीन हैं तो लेखक अपना परिश्रम सफल समझेगा।

वास्तविक भारतवर्ष गांवों में बसा है। आज शताब्दियों के शोषण ने ग्राम संस्था को निर्जीव और जर्जर कर दिया है। गांव ही किसी देश की राष्ट्रीय शक्ति के आधार होते हैं। हमारे गांवों के इस भयंकर पतन के परिणाम स्वरूप ही हमारा राष्ट्र आज शक्तिहीन हो रहा है। कोई भी देश अपने गाँवों और कृषि की उपेक्षा करके संसार में शक्तिशाली राष्ट्र नहीं बन सकता। ब्रिटेन जैसे औद्योगिक राष्ट्रों को भी इस तथ्य को स्वीकार करना पड़ा है फिर भारत का तो कहना ही क्या जिसका सारा आर्थिक ढांचा ही कृषि पर निर्भर है। इस संबंध में लेखक के कुछ अपने निजी विचार हैं जिनको लेखक ने प्रथम परिच्छेद में दिया है। अस्तु भारतवासी अपने सात लाख गांवों की समस्याओं और उनके हल करने के उपायों से परिचित हो सकें यह इस पुस्तक के लिखने का मुख्य उद्देश्य है। आशा है कि यह पुस्तक हिन्दी भाषियों को गांवों की समस्याओं की जानकारी कराने में सफल होगी।

शंकरसहाय सक्सेना

विषय-सूची

परिच्छेद	१ – खेती का महत्व और उसकी विशेषताएँ	...	१
,,	२ —भूमि और खेती	...	२४
,,	३—खेती के लिए साधन और सुविधाएँ	...	६३
,,	४—भारत में ढोर समस्या	...	९८
,,	५ – सिंचाई और जलविद्युत	....	१२३
,,	६ —ग्रामीण ऋण	...	१५१
,,	७—सहकारी साख समितियां और बैंक	...	१९०
,,	८— खेती की पैदावार की बिक्री	...	२४७
,,	९ —खेती के सहायक धन्धे और कुटीर धन्धे	...	२७८
,,	१० —जमीन का बन्दोबस्त और मालगुजारी	...	३०९
,,	११—ग्राम सुधार (सफाई, स्वास्थ्य और शिक्षा)	...	३८१
,,	१२—ग्राम सुधार—(गाँवों का सामाजिक जीवन तथा ग्राम सुधार आन्दोलन)	...	४१५
,,	१३—भारतीय ग्राम और उनकी वर्तमान दशा	...	४३६
,,	१४—कृषि की आधुनिक समस्याएँ और योजनाएं		४६६
परिशिष्ट 'क'—कृषि विभाग के कार्य			४८५
परिशिष्ट 'ख'—खेत मजदूरों की समस्या			४८९

परिच्छेद--१

खेती का महत्व और उसकी विशेषतायें

ग्राम्य अर्थशास्त्र की परिभाषा

गांवों में रहने वाले मनुष्य अपने जीवन निर्वाह के लिए जो आर्थिक प्रयत्न करते हैं उनको अध्ययन करने ही का नाम 'ग्राम्य अर्थशास्त्र है। किन्तु जीवन निर्वाह के लिए किए जाने वाले आर्थिक प्रयत्नों पर सामाजिक परिस्थितियों और सामाजिक सम्बंधों का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है अस्तु ग्राम्य अर्थशास्त्र में हम उन सामाजिक परिस्थितियों और सामाजिक सम्बन्धों का भी अध्ययन करेंगे जिनका ग्राम वासियों के आर्थिक प्रयत्नों से घनिष्ट सम्बन्ध है। ऊपर दी हुई परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्राम्य अर्थ-शास्त्र के सिद्धान्त अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों से भिन्न नहीं हैं। ग्राम्य अर्थशास्त्र में भी अर्थशास्त्र के ही सिद्धान्त हैं केवल अन्तर इतना ही है कि ग्राम्य अर्थशास्त्र में हम अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का ग्रामीण जीवन की विशेष परिस्थियों को ध्यान में रखकर अध्ययन करते हैं। अस्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि "ग्राम्य अर्थशास्त्र" और अर्थशास्त्र के सिद्धान्त एक ही हैं।

गांवों में रहने वालों में से अधिकांश लोग खेती के द्वारा ही अपनी जीविका का उपार्जन करते हैं और जो ग्रामीण खेती नहीं करते वे भी परोक्ष रूप से खेती पर ही निर्भर रहते हैं। इस कारण हमें खेती का महत्व और उसकी विशेषताओं का विस्तार पूर्वक अध्ययन कर लेना चाहिए।

खेती का महत्व और उसकी विशेषतायें

मनुष्य के जीवन निर्वाह की रीतियां

मनुष्य अपनी रोटी का प्रश्न दो तरह से हल करता है एक यह कि वह दूसरों की सम्पत्ति लूट ले या अपने किसी सम्बन्धी की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बने। जीवन निर्वाह करने का दूसरा ढंग यह है कि वह भिन्न-भिन्न धंधों में लग कर सम्पत्ति का उत्पादन करे या किसी पेशे को अपनाकर अपना जीवन निर्वाह करे। कोई भी सभ्य समाज लूट-मार को

सहन नहीं कर सकती अस्तु साधारण मनुष्य के लिए जीवन निर्वाह का यह मार्ग बन्द है। उत्तराधिकार के द्वारा भी समाज का बहुत थोड़ा भाग ही अपने जीवन निर्वाह की समस्या से निश्चिन्त हो सकता है। क्योंकि केवल बड़े-बड़े पूंजीपति और भू-स्वामियों के यहाँ ही उत्तराधिकार का प्रश्न उपस्थित होता है। अस्तु अधिकांश जन-संख्या को अपने भरण-पोषण के लिए भिन्न-भिन्न धंधों और पेशों पर निर्भर रहना पड़ता है। धंधे दो प्रकार के होते हैं (१) मुख्य धंधे (primary Iudustries) (२) गौण धंधे (secondary Industries)

मुख्य धंधे—मुख्य धंधों में मनुष्य अपने श्रम तथा पूँजी की सहायता से प्रकृति के द्वारा उत्पन्न की हुई वस्तु को प्राप्त करता है। मुख्य धंधों में प्रकृति का मुख्य भाग होता है और श्रम तथा पूँजी का गौण भाग होता है। इन धंधों के द्वारा उत्पन्न पदार्थों से ही भिन्न-भिन्न वस्तुयें बनाई जाती हैं। मछली पकड़ने का धंधा, बन में लकड़ी काटने तथा बन में उत्पन्न होने वाले पदार्थों को इकट्ठा करने का धंधा, खेती, पशुपालन, तथा खनिज पदार्थों को निकालने का धंधा मुख्य धंधे हैं।

गौण धन्धे—गौण धंधों के अन्तर्गत कच्चे माल को पक्के और तैयार माल में परिणत करना—जैसे सूती कपड़े, लोहे, शक्कर, सीमेंट इत्यादि के धंधे, यातायात तथा व्यापार आते हैं।

खेती में सफलता प्राप्त करने के लिए प्राकृतिक शक्तियों की जानकारी आवश्यक है।

पेशे—पेशों में मुख्य पेशे नीचे लिखे हैं:—(१) चिकित्सा अथवा दूसरों के कष्टों को दूर करने वाले पेशे, शिक्षक का पेशा, उपदेश तथा जागृति उत्पन्न करने वाले पेशे, शासन कार्य-सम्बन्धी पेशे, दूसरों का मनोरंजन करने वाले पेशे इत्यादि।

यदि ध्यान पूर्वक देखा जावे तो मुख्य धंधों की सफलता के लिए यह आवश्यक है मनुष्य प्राकृतिक शक्तियों का अध्ययन करे। वह जितना ही प्राकृतिक शक्तियों के सम्बन्ध में ज्ञान अर्जित कर सकेगा उतना ही वह उन धंधों में सफल होगा। इसके विपरीत गौण उद्योग धंधों तथा पेशों में मनुष्य जितना ही सामाजिक शक्तियों का ज्ञान अर्जित कर सकेगा वह उनमें

उतना ही सफल होगा। उदाहरण के लिए खेती में सफलता इस बात पर निर्भर है कि किसान भूमि, जलवायु तथा अन्य प्राकृतिक शक्तियों की विशेषता को जाने। भूमि को कब और कितनी बार जोतना चाहिए, सिंचाई कब करना चाहिए इत्यादि बातों की जानकारी पर ही किसान की सफलता निर्भर है। परन्तु गौण उद्योग धंधों तथा पेशों में प्रकृति की शक्तियों की जानकारी इतनी आवश्यक नहीं है। एक सूती कपड़े की मिल के मालिक को खरीददारों की रुचि, प्रचलित फैशन, मजदूरों की व्यवस्था, कारखाने का संगठन, तथा माल की बिक्री के लिए विज्ञापन तथा प्रचार की कला का आना आवश्यक है उसी प्रकार एक वकील, डाक्टर, एजेंट, या उपदेशक को मनुष्यों की रुचियों तथा मनोविज्ञान इत्यादि का अध्ययन करना आवश्यक होता है। बात यह है कि मुख्य धंधों में मनुष्य की सफलता प्रकृति के भण्डार से अधिकाधिक सम्पत्ति ले लेने पर निर्भर है इस कारण उसे प्रकृति को प्रसन्न करने की कला आना चाहिए जिससे कि वह अधिक सम्पत्ति उत्पन्न कर सके। गौण धंधों और पेशों में लगा हुआ व्यक्ति अन्य मनुष्यों की जेब में से पैसा निकलवाना चाहता है। अस्तु उसकी सफलता उसके सामाजिक ज्ञान पर निर्भर है। जितना ही उसे सामाजिक शक्तियों का ज्ञान होगा उतना ही वह इन धंधों में सफल होगा।

अस्तु यदि लूट-मार और उत्तराधिकार की बातें छोड़ दें तो अन्य धंधों और पेशों में खेती ही एक ऐसा धंधा है जो सामाजिक ज्ञान पर निर्भर न होकर प्रकृति सम्बन्धी ज्ञान तथा जानकारी पर निर्भर है। कारखानों, व्यापार, तथा अन्य पेशों में सफलता प्राप्त करने का रहस्य इसमें है कि उसमें लगा हुआ मनुष्य (अन्य मनुष्यों) की आवश्यकताओं का अध्ययन करे और उन्हें प्रसन्न रक्खे। व्यापारी को जनता की आवश्यकताओं का अध्ययन करना पड़ता है, विज्ञापन-कला से परिचित होना पड़ता है और ग्राहकों को प्रसन्न रखने की कला सीखनी पड़ती है। एक डाक्टर अथवा वकील को भी अपने मरीजों और अपने मुवक्किलों को खुश रखने की चिन्ता रहती है। और व्यवसायियों को भी जनता की रुचि, तथा विज्ञापनकला का अध्ययन करना पड़ता है और कारखाने के कर्मचारियों तथा मजदूरों से काम लेना पड़ता है। किन्तु किसान अधिकतर प्रकृति पर ही निर्भर रहता है। यही कारण है कि किसान को वह शिष्टाचार नहीं आते जो व्यापारियों तथा अन्य पेशे वालों को

आते हैं क्योंकि इन लोगों को दूसरों को प्रसन्न करके अपनी रोटी प्राप्त करनी पड़ती है। यदि वे लोग अपनी बातचीत तथा व्यवहार से दूसरों को प्रसन्न नहीं रख सकते तो वे जीवन में सफल भी नहीं हो सकते। किन्तु किसान को ड्राइंग-रूम के शिष्टाचारों की आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि वह अपने जीवन निर्वाह के लिए दूसरों पर निर्भर नहीं रहता।

खेती में लगे हुए लोग अधिक स्वतंत्र होते हैं—

खेती की एक और भी विशेषता है जिसके कारण किसान अधिक स्वतन्त्र रहता है। खेती से किसान अपनी आवश्यकताओं की अधिकांश वस्तुएँ उत्पन्न कर लेता है इस कारण वह सामाजिक राजनैतिक तथा आर्थिक परिवर्तनों से इतना अधिक प्रभावित नहीं होता जितना कि अन्य धंधों और पेशों में लगे हुए लोग।

खेती का घर से सम्बन्ध

खेती का गृह से अटूट सम्बन्ध है। हमें यह न भूल जाना चाहिए कि खेती ही एक ऐसा धंधा है कि जो घर से पृथक नहीं किया जा सकता। खेती की सफलता के लिए घर एक अत्यन्त आवश्यक संस्था है। जिस प्रकार रेलवे के लिए वर्क-शॉप नितान्त आवश्यक है उसी प्रकार खेती के लिए घर नितान्त आवश्यक है। क्योंकि खेती से सम्बन्धित बहुत सी क्रियायें घर पर ही की जाती हैं। खेती की सफलता के लिए गृह और खेत समीप ही होने चाहिए। किन्तु अन्य धंधों और पेशों में काम करने तथा रहने के स्थानों का सामीप्य आवश्यक नहीं है। और न उनका कोई घनिष्ट सम्बन्ध ही है।

खेती और ग्रामीण जन-संख्या

खेती का धधा ही ऐसा है कि उसमें अपेक्षाकृत अधिक भूमि की आवश्यकता होती है. अस्तु खेती पर निर्भर रहने वाले लोग बड़े-बड़े विशाल नगर बसा कर नहीं रह सकते उन्हें गांव बना कर ही रहना पड़ता है। यह तो ऊपर ही कहा जा चुका है कि खेती में सफलता प्राप्त करने के लिए घर की आवश्यकता है अर्थात खेती की सफलता के लिए परिवार की आवश्यकता है। यही कारण है कि किसान को सफल बनने के लिए एक कुटुम्ब की नितान्त आवश्यकता है। गांवों में स्त्री-पुरुष एक दूसरे पर जितना अधिक

निर्भर रहते हैं और उनको एक दूसरे की जितनी अधिक आवश्यकता होती है उतनी नगरों में नहीं होती। भारतवर्ष की बात दूसरी है क्योंकि यहाँ का सामाजिक संगठन ग्राम्य जीवन की आवश्यकताओं के अनुसार ही बना है। खेती की सफलता के लिए स्त्री का होना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि खेती सम्बन्धी बहुत से कार्य घर पर ही होते हैं, और गांव की स्थिति ऐसी नहीं होती कि वहां होटल मिल सकें जिससे किसान उन पर निर्भर रह कर भोजन की चिन्ता से मुक्त हो जावें।

खेती ही एक ऐसा धंधा है जहाँ प्रत्येक प्राणी आदर्श वातावरण में रह कर भी कुटुम्ब के पालनार्थ धंधे में सहायता पहुँचा सकता है। कल्पना कीजिये, शहर के रहने वाले एक मजदूर की जो एक कारखाने में काम करता है। यदि वह अपनी स्त्री-बच्चों को कारखाने में काम करने के लिए नहीं भेजता तो उसके घर का खर्च नहीं चल सकता, और यदि वह उनको कारखाने में भेजता है तो यह आवश्यक नहीं है कि उसके स्त्री और बच्चों को उसी कारखाने में काम मिल जावे। यदि भाग्यवश ऐसा हो भी जावे तो उसकी स्त्री और बच्चों को तो उसके साथ काम करने का कभी अवसर मिल ही नहीं सकता। यदि यह बात छोड़ भी दी जावे तो स्त्रियों और बच्चों पर कारखाने के जीवन का बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। इसके विपरीत खेती में इतने विभिन्न प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं कि पुरुष, स्त्री, बच्चे और बूढ़े सभी अपने अनुकूल काम पा सकते हैं और उस कार्य से उनके शारीरिक स्वास्थ्य तथा मानसिक विकास को हानि पहुँचने के स्थान पर लाभ पहुँचता है।

यही कारण है कि गाँवों में शहरों की अपेक्षा विवाह कम उमर में होता है और प्रत्येक युवक युवती विवाह करता है। क्योंकि गाँवों में बच्चे कुटुम्ब के लिए भार स्वरूप नहीं होते। यही कारण है कि गाँवों में प्रत्येक पुरुष एक बड़े समृद्धिशाली कुटुम्ब का निर्माण करना चाहता है। शहरों में अपेक्षाकृति छोटे कुटुम्ब निर्माण करने की भावना अधिक बलवती होती है। जिस देश में बड़े और समृद्धिशाली कुटुम्ब के निर्माण करने की भावना काम नहीं करती उस देश का पतन अवश्यम्भावी है।

गाँवों में रहने वालों की स्वभावतः यह आकांक्षा होती है कि वे एक समृद्धिशाली बड़े कुटुम्ब का निर्माण करें, यही नहीं गाँवों में इसके लिए

अनुकूल परिस्थिति भी मिलती है।

शहरी जीवन मनुष्य के जीवन तथा उसकी कार्य शक्ति को क्षीण करने वाला होता है। यही कारण है कि गाँवों के कुटुम्बों का जीवन शहरों के कुटुम्बों के जीवन की अपेक्षा अधिक लम्बा होता है। किन्हीं सौ ग्रामीण कुटुम्बों को लीजिये जो बराबर गाँवों में ही रहे हों और उनकी ही स्थिति के सौ शहराती कुटुम्बों को लीजिये तो आपको ज्ञात होगा कि गाँव में रहनेवाले कुटुम्बों की आयु शहर के कुटुम्बों की अपेक्षा कहीं अधिक होती है। शहरों में रहने वाले कुटुम्ब कुछ पीढ़ियों के उपरान्त लुप्त हो जाते हैं किन्तु ग्रामीण कुटुम्ब बराबर बहुत समय तक चलते रहते हैं। वास्तव में ग्राम मनुष्य जन-संख्या की नर्सरी है जहाँ से मनुष्य-रूपी पौधा शहरों में लगाया जाता है। जिस प्रकार कोई पौधा अपनी प्राकृतिक अवस्था में खूब पनपता है, और अप्राकृतिक अवस्था में उसका विकास रुक जाता है और उसका जीवन क्षीण होने लगता है, ठीक उसी प्रकार मनुष्य की जीवन शक्ति क्रमशः पीढ़ी दर पीढ़ी कम होती जाती है। यही कारण है कि शहर वाले अच्छे कुटुम्ब निर्माण-कर्ता प्रमाणित नहीं होते।

यदि समाज में अच्छे कुटुम्बों की भावना काम करती है तो युवक स्वभावतः ऐसी युवतियों को अपनी पत्नी बनावेंगे जो शारीरिक, मानसिक, तथा नैतिक दृष्टि से उत्तम सन्तान उत्पन्न करने की योग्यता रखती हों। गाँवों में उत्तम संतान की इच्छा से ही अधिकतर विवाह होते हैं। इस कारण सफल माता बनने के सभी गुण रखने वाली युवती को अच्छा पति मिलने में अड़चन नहीं होती। किन्तु शहरों में सफल माता बनने की योग्यता का कोई मूल्य नहीं होता। एक शिक्षित शहरी युवक अपनी पत्नी में असीम सुकुमारता, ड्राइंग रूम सम्बन्धी शिष्टाचार में कुशलता, तथा उसके मित्रों को आकर्षित करने की योग्यता देखना चाहता है। यह निश्चय है कि अस्वस्थ शरीर और मन की युवतियाँ आदर्श मातायें नहीं बन सकतीं। अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्र के लिए अच्छे नागरिक उत्पन्न करने का स्थान गाँव है। जिस प्रकार जल से परिप्लावित उद्यान सुन्दर पुष्प उत्पन्न करता है, और मालाओं में गूँथने पर वह मुर्झा कर नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार गाँवों में मनुष्य जाति उत्पन्न होती और फलती-फूलती है, और शहर उसमें से कुछ को लेकर नष्ट करते रहते हैं। वास्तव में शहर मनुष्य जाति के

क्षीण करने वाले स्थान हैं।

यदि गाँवों से शहरों में नया रुधिर न पहुँचता रहे तो शहरों में बहुत निम्न कोटि के स्त्री-पुरुष दिखलाई दें। परन्तु गाँवों से कुछ न कुछ कुटुम्ब सदैव शहरों में जाकर बसते रहते हैं और वहाँ जाकर क्रमशः निस्तेज होकर क्षीण हो जाते हैं। अतएव ग्रामीण जन-संख्या पर ही राष्ट्र की शक्ति का आधार है। यदि ग्रामीण जन-संख्या गिरी हुई दशा में है तो राष्ट्र की शक्ति क्षीण हुए बिना नहीं रह सकती। किसी भी राष्ट्र अथवा जाति की जीवन शक्ति को बनाये रखने के लिए दो बातों की नितान्त आवश्यकता है। १. देश में कुटुम्ब निर्माण की भावना का होना। २. गाँवों से अपेक्षाकृत स्वस्थ तथा बुद्धिमान स्त्री-पुरुषों का शहरों की ओर प्रवास न होने देना। यदि गाँव के सभी उत्तम स्त्री-पुरुष शहरों में जाकर बसते जावें तो इसका फल यह होगा कि गाँवों में निम्न श्रेणी के स्त्री-पुरुष रह जावेंगे और उनसे उत्पन्न होने वाली संतान उतनी अच्छी न होगी। यदि यह क्रम इसी प्रकार जारी रहा तो गाँवों में रहनेवाली जनसंख्या और भी निम्न श्रेणी की होती जावेगी। इस पतन का फल यह होगा कि अन्त में शहरों को भी निम्न श्रेणी के स्त्री-पुरुष मिलेंगे और क्रमशः देश में उच्च कोटि के स्त्री-पुरुषों की संख्या कम हो जावेगी। जिस प्रकार एक ग्वाला अपने अच्छे बछड़े-बछड़ियों को तो कसाई के हाथ बेंच दिया करे और खराब बछड़े-बछड़ियों से नस्ल पैदा करे तो भविष्य में उसके यहाँ अच्छे पशु न पैदा हो सकेंगे। उसी प्रकार गाँवों के सब अच्छे स्त्री-पुरुष जाकर शहरों में बस जावें तो उस जाति की शारीरिक और मानसिक अवनति होना अवश्यम्भावी है।

औद्योगिक क्रान्ति के उपरान्त योरोपीय देशों में उद्योग-धंधों की उन्नति के साथ-साथ गाँवों से शहरों की ओर जन-संख्या का प्रवाह बहना आरंभ हुआ था। महत्त्वाकांक्षी, स्वस्थ, तथा कुशाग्र बुद्धि वाले युवक गावों को छोड़-छोड़ कर शहरों में जाकर बसने लगे। फलतः गाँव वीरान होने लगे। आरम्भ में इस प्रवास के दुष्परिणाम दृष्टिगोचर नहीं हुए, किन्तु बीसवीं शताब्दी में प्रत्येक पाश्चात्य देश ने अनुभव किया कि महत्वाकांक्षी स्वस्थ, और कुशाग्र बुद्धि वाले युवकों के गाँव छोड़-छोड़ कर शहरों में जाकर बसने का फल यह हुआ है कि गाँवों में अपेक्षाकृत निम्न श्रेणी के स्त्री पुरुष रह गए और जाति में अवनति के चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगे हैं। पहले

तो कुछ लोगों का यह विचार रहा कि शहरों में उचित शिक्षा, स्वास्थ्य सफाई, तथा अन्य बातों की सुविधाओं को प्रदान कर देने से यह जातीय अवनति रोकी जा सकती है। किन्तु शीघ्र ही उनको अपनी भूल ज्ञात हो गई। इसमें कोई संदेह नहीं कि शहरों में शिक्षा, स्वास्थ्य, तथा अन्य आवश्यक सुविधायें प्रदान करने से जातीय ह्रास की गति धीमी अवश्य हो सकती है परन्तु वह पूर्ण रूप से रोकी नहीं जा सकती। घोड़ा सिखाने वाला चाहे जितना ही होशियार क्यों न हो किन्तु वह खराब नस्ल के घोड़े को दौड़ में में नहीं जिता सकता। इसी प्रकार शिक्षा और स्वास्थ्य का चाहे जितना अच्छा प्रबंध क्यों न किया जावे जातीय पतन नहीं रुक सकता यदि गाँवों में केवल निकम्मे लोग रहते हों। इसी कारण योरोपीय देशों में "गाँवों की ओर लौटो" का आन्दोलन आरम्भ किया गया। ब्रिटिश सरकार ने इङ्गलैंड में बड़ी-बड़ी जमीदारियों को खरीद कर शिक्षित युवकों को भूमि और पूंजी देकर उन पर बसाना आरम्भ किया। योरोप के अन्य राष्ट्रों ने भी ऐसा ही किया है। क्रमशः यह आन्दोलन वहाँ जोर पकड़ता जा रहा है।

भारतवर्ष में शताब्दियों के शोषण के कारण गाँवों की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई है। आज भारतीय ग्रामों की दशा यह है कि जो भी ग्रामीण युवक पढ़-लिख जाता है वह सदैव के लिए गाँव छोड़कर शहर में जा बसता है। फिर चाहे उसे शहर में आर्थिक दृष्टि से कोई विशेष लाभ न भी हो। जमींदार शहरों के आकर्षण के कारण अपनी जमींदारियों से दूर शहरों में जा बसे हैं। यह जमींदार किसानों से प्राप्त धन को गाँवों में व्यय न करके शहरों में व्यय करते हैं। इस कारण गाँव निर्धन होते जा रहे हैं। भारतीय ग्रामों का मस्तिष्क और पूंजी बाहर चली जाती है, गाँव दिवालिया हो रहे हैं। भारतीय ग्रामों में जो भी तनिक महत्त्वाकांक्षी, बुद्धिमान तथा साहसी होता है वह गाँवों में न रह कर शहरों की ओर दौड़ा जाता है. क्रमशः गाँवों में तृतीय श्रेणी के व्यक्ति शेष रह गए हैं, और प्रथम तथा द्वितीय श्रेणी के व्यक्ति शहरों में जाकर शक्ति-हीन और निस्तेज हो गए हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीयों का सर्वांगीण पतन आरम्भ हो गया। सारी जाति की जाति पर इसका प्रभाव पड़ा है। गाँवों में मनुष्यों की छांटन रह जाने के कारण रूढ़ियों की प्रबलता, ईर्ष्या, द्वेष, पुरुषार्थ-हीनता तथा भाग्यवाद का प्राबल्य हो गया है। इससे पाठक यह धारणा न बना लें

कि हम गाँवों से शहरों की ओर जन-संख्या का प्रवास रोकना चाहते हैं। यह प्रवास कुछ सीमा तक स्वाभाविक है अतएव यह बिलकुल रोका नहीं जा सकता। हमारा तात्पर्य केवल यह है कि गाँवों से जो शिक्षित और धनी व्यक्ति भाग-भाग कर चले जाते हैं वे गाँवों में रहना पसंद करें जिससे कि गाँवों को लाभ हो। गाँवों में केवल निम्नश्रेणी के ही व्यक्ति न रह जावें जैसा कि आज कल हो रहा है। यह बात हमें न भूलनी चाहिए कि गाँव ही हमारे राष्ट्रीय जीवन को स्फूर्ति देने वाले हैं।

अब हमें यह देखना चाहिए कि गाँवों में महत्वाकांक्षी, शिक्षित, धनी और साहसी व्यक्ति क्यों नहीं रहना चाहते। गाँवों में ज़मींदार के अतिरिक्त यथेष्ठ आय के साधन ऊँचे दर्जे का सामाजिक जीवन, मानसिक विकास तथा स्वास्थ्यप्रद मनोरंजन के साधन उपलब्ध नहीं है। यही कारण है कि कुशाग्र बुद्धि और क्षमतावान युवक गाँवों से भाग जाते हैं। समस्या बहुत जटिल है। जब तक गाँवों में साधारणतया यथेष्ट धन कमाने का अवसर मिलने की सम्भावना न होगी तब तक यह समस्या हल न होगी। अस्तु, आवश्यकता इस बात की है कि गाँवों में आय के साधन अधिकाधिक उपलब्ध किये जायँ। किन्तु भारतीय ग्रामों की आर्थिक दशा इतनी अधिक गिरी हुई है कि साधारण प्रयत्न से वह ठीक नहीं हो सकती। इसके लिए क्रान्तिकारी परिवर्तनों की आवश्यकता होगी। दूसरे शब्दों में गाँवों में यथेष्ट आय के साधन उत्पन्न करने और सामाजिक जीवन को सुन्दर और आकर्षक बनाने की नितान्त आवश्यकता है तभी यह राष्ट्रीय अवनति रोकी जा सकती है।

खेती और नैतिकता

आज यंत्र-युग में जो बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रों में लाखों व्यक्ति जमा हो गए हैं और जिस आधार पर शहरी समाज की नींव का निर्माण किया गया है उसमें बहुत आर्थिक तथा नैतिक खतरे हैं। यद्यपि हमें इस पुस्तक में मुख्य आर्थिक समस्याओं का विवेचना करना है परन्तु नैतिक समस्याओं का भी आर्थिक समस्याओं से घनिष्ट सम्बंध है। अतएव हम यहाँ, खेती का नैतिकता पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसके सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक समझते हैं।

प्रथम, खेती मनुष्य की प्रारम्भिक और अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा करने वाले पदार्थों को उत्पन्न करती है। मनुष्य की विलासिता के लिए पदार्थों को उत्पन्न नहीं करती। मनुष्य को जीवन की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक पदार्थों के उत्पन्न करने में जितना आत्म-संतोष होता है उतना विलासिता के पदार्थों को उत्पन्न करने में नहीं होता।

दूसरे, खेती में किसी को लूटने और धोखा देने के लिए क्षेत्र कम है क्योंकि खेती में प्रकृति के भण्डार में से मनुष्य सम्पत्ति निकालता है अपने साथी मनुष्यों के शोषण के द्वारा अपनी आजीविका नहीं प्राप्त करता।

तीसरे, खेती में अधिकांश जन-संख्या को गम्भीर और स्वतन्त्र आजीविका उपार्जन करने की सुविधा मिलती है और जो खेती करते हैं उनमें कठिन परिश्रम और मितव्ययिता की भावना जागृति हो जाती है।

ग्रामीण जनता प्रकृति के अधिक निकट होती है, उसका उनकी मनोवृत्ति पर अच्छा असर पड़ता है। यही कारण है गाँवों में रहने वाले अधिक चरित्रवान, सरल और सच्चे होते हैं। जो खेती करते हैं उन्हें नई-नई समस्याओं का सदैव सामना करना पड़ता है इस कारण वे सहिष्णु और उदार होते हैं। किसान प्रकृति के निरन्तर समीप रहता है जिसका उनकी मनोवृत्ति पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है। यह उनकी सहन-शक्ति, कार्य करने की क्षमता और लगन को बढ़ाता है।

खेती एक ऐसा धंधा है जिसका सम्बन्ध प्रकृति अर्थात भूमि से है इस कारण किसान स्वभावतः शान्ति-प्रिय, कलह से बचने वाला होता है क्योंकि वह भूमि से बंधा रहता है। वह अपनी भूमि को अत्यधिक प्रेम करता है अस्तु वह अपने गाँव को छोड़ना नहीं चाहता अपनी फसल की रक्षा करने तथा पशु-पालन में लगे रहने के कारण किसान की मनोवृत्ति विनाशकारी न होकर शान्ति-प्रिय होती है। वह परम्पराओं और प्राचीन आदर्शों को पूजा करता है शीघ्रता से किसी नये विचार और आदर्श को नहीं अपनाता। इसका कारण यह है कि खेती में पुराने अनुभव की प्रतिक्षण आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए यदि किसान खेत में बीज डालना चाहता है और उसी दिन वर्षा हो जाती है। ऐसी दशा में उसे तुरन्त अपने कार्यक्रम को बदल देना होगा और अनुभव के आधार पर

उसमें परिवर्तन कर लेगा। अस्तु, किसान पुरातन का भक्त होता है, जो कुछ पुरातन है उसको पकड़ कर रखना चाहता है, उसको श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। परन्तु नवीन विचारों को स्वीकार करने की उसकी शक्ति नष्ट नहीं हो जाती क्योंकि खेती में इतने विभिन्न कार्य होते हैं, इतनी समस्यायें उत्पन्न होती रहती हैं कि वह स्वभाव से सहिष्णु और उदार होता है। परन्तु वह शीघ्र ही किसी परिवर्तन को स्वीकार नहीं करता। प्राचीन को वह शीघ्र छोड़ता नहीं है। यही कारण है कि किसी जाति का चरित्र, उसके गुण और दोष, उसकी परम्परायें और जातीय विचार गाँवों में ही सुरक्षित रहते हैं। किसान में अपने देश के प्रति प्रेम और भक्ति सबसे अधिक होती है। वास्तव में वे ही राष्ट्रीय विचारों के रक्षक हैं।

इसके साथ ही हमें यह न भूलना चाहिए कि मनुष्य गाँवों में रहने और प्रकृति के निकट सम्पर्क में रहने के कारण अधिक परिश्रमी और शक्तिवान होता है। यद्यपि गाँवों में शहरों की अपेक्षा सफाई और स्वच्छता का प्रबन्ध खराब होता है परन्तु फिर भी शहरवालों की अपेक्षा ग्रामवासी अधिक स्वस्थ और बलवान होते हैं। और स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क निवास कर सकता है।

इसके विपरीत जो व्यक्ति कि विशाल नगरों में रहकर कारखानों, दफ्तरों, दूकानों और व्यापार में लगे रहते हैं उन्हें एक भिन्न परिस्थिति में रहना पड़ता है। उनके कार्यों में खेती जैसी विभिन्नता नहीं होती इस कारण उनमें किसान जैसी उदारता और सहिष्णुता का अभाव होता है। इसके अतिरिक्त नगर निवासियों को प्राकृतिक शक्तियों से अपना बचाव करने के लिए बहुत से साधन उपलब्ध होते हैं इस कारण वे क्रमशः निर्बल और निस्तेज होते जाते हैं। यदि इसको छोड़ भी दें तो आधुनिक नगर का शोर और यन्त्र की भाँति निरन्तर काम में लगे रहने की प्रवृत्ति मनुष्य की शारीरिक शक्ति को क्षीण कर देती है।

बड़े नगरों में उद्योग-धंधों तथा व्यापार की प्रधानता के कारण रहने वालों की आर्थिक स्थिति में आकाश पाताल का अन्तर होता है। कुछ तो गगन-चुम्बी अट्टालिकाओं में रहते हैं और अधिकांश अत्यन्त नारकीय जीवन व्यतीत करते हैं। नगरों में सम्पत्ति का बँटवारा बहुत असमान होता है। धनी अपने धन को विलासिता और भोग में बहाते हैं और वही मनुष्य

का आदर्श बन जाता है। प्रत्येक व्यक्ति भोग और विलासता को ही मनुष्य-जीवन का लक्ष्य मान बैठता है और 'रुपये' के लिए हाय-हाय ही जीवन का एक-मात्र कार्य रह जाता है। अपनी आवश्यकताओं को अत्यधिक बढ़ाना ही सभ्यता का प्रतीक हो जाता है। यह परिस्थिति आर्थिक और नैतिक जीवन को ऊँचा उठाने में बाधक होती है।

यही कारण है कि आज प्रत्येक विचारवान व्यक्ति यह चाहता है कि खेती और गांवों का पतन न हो क्योंकि इतिहास हमें बतलाता है "कि जो राष्ट्र अपनी खेती की ओर से उदासीन हो जाता है उसकी जीवन शक्ति क्षीण हो जाती है।" वह राष्ट्र उस स्रोत का ही खो देता है जहां से शहरों को प्रतिभावान, महत्वाकांक्षी और कुशाग्र बुद्धि व्यक्ति प्राप्त हों। और जिनमें विपत्ति के समय भी गम्भीरता और धैर्य रखने की क्षमता हो। खेती और गांवों की ओर से उदासीन होकर वह राष्ट्र इन आवश्यक नैतिक गुणों को खो देता है और नीचे गिर जाता है।

हमारा राष्ट्र एक यंत्र के समान है, उद्योग-धंधे तथा व्यापार उसके भाग हैं किन्तु खेती उसका धुरा है जिससे मशीन चलती है। यदि खेती नष्ट हो गई तो राष्ट्र का पतन अवश्यम्भावी है। दुर्भाग्यवश भारत में खेती और गांवों की दुर्दशा हो गई और उसका भयंकर परिणाम हमारे सामने है, हमारे राष्ट्र का सर्वांगीण पतन हुआ है।

खेती की आर्थिक विशेषताएं

खेती अनिश्चित धन्धा है

खेती मुख्यतः प्रकृति पर निर्भर रहती है यद्यपि जलवायु, भूमि, समय, इत्यादि का अन्य धंधों पर भी प्रभाव पड़ता है किन्तु खेती तो इन्हीं प्राकृतिक शक्तियों पर निर्भर है। यदि वर्षा कम हो या अधिक हो, पाला पड़ जावे या हानिकर वायु चलने लगे तो किसान की सारी कुशलता और परिश्रम को चौपट कर देगी। लुहार, बढ़ई या चमार उस सीमा तक प्रकृति पर निर्भर नहीं हैं। इसके अतिरिक्त टिड्डी तथा फसलों के कीड़ों तथा वनस्पति और ढोरों (पशुओं) की बीमारियों का भी खेती के धंधे पर भयंकर प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि खेती अत्यन्त अनिश्चित धंधा है और किस वर्ष कितनी उपज होगी यह केवल किसान के परिश्रम और उसकी कुश-

लता पर ही निर्भर नहीं है वरन् प्रकृति देवी की कृपा पर भी बहुत कुछ निर्भर है।

खेती में यन्त्रों का अधिक उपयोग सम्भव नहीं है

खेती में अन्य धंधों की अपेक्षा यन्त्रों के उपयोग की बहुत कम सम्भावना है। इसका मुख्य कारण तो यह है कि खेती मौसमी धंधा है। प्रत्येक क्रिया समय के अनुसार केवल एक बार होती है। उदाहरण के लिए जुताई, निराई, बुवाई फसल का काटना इत्यादि क्रियायें एक ही साथ नहीं हो सकतीं वे अपने समय के अनुसार ही की जाती हैं जुताई के उपरान्त ही बीज बोया जा सकता है और बीज बो देने के उपरान्त ही निराई और सिंचाई सम्भव है। अस्तु जोतने के लिए जो यन्त्र (मशीन) होगा वह वर्ष में केवल कुछ दिन ही काम देगा शेष समय में वह बेकार खड़ा रहेगा। किन्तु एक कपड़े के मिल को ले लीजिये। उसमें धुनाई, कताई, बुनाई तथा रंगाई विभाग की सब मशीनें बराबर चलती रहती हैं क्योंकि एक विभाग की तैयार की हुई चीज का दूसरा विभाग उपयोग करता है। अस्तु अन्य धंधों में मशीन प्रति क्षण सम्पत्ति का उत्पादन करती है किन्तु खेती में वर्ष के अधिक भाग में वह बेकार रहती है। अस्तु मशीन में लगी हुई पूँजी पर सूद और उसकी घिसावट को देखते हुए उससे होने वाली बचत अधिक नहीं होती। इसके अतिरिक्त खेती में यन्त्र एक स्थान पर खड़े रह कर काम नहीं कर सकते, यन्त्र को बराबर चलना पड़ता है अस्तु मशीनों में ही चालक ऍंजिन लगे हों तब वे खेती में काम दे सकती हैं चालक ऍंजिन यन्त्रों में ही लगाने से यन्त्रों का मूल्य बहुत अधिक बढ़ जाता है। अन्यथा खेती के यन्त्रों में पशु शक्ति का उपयोग करना अनिवार्य हो जाता है। यांत्रिक शक्ति से जो लाभ है वह न प्राप्त होने से यन्त्रों का खेती में उतना उपयोग नहीं हो सकता जितना कि अन्य धंधों में होता है।

जैसा ऊपर कहा गया है खेती में यन्त्रों का विशेष उपयोग हो ही नहीं सकता किन्तु भारत में तो यन्त्रों का उपयोग प्रायः असम्भव ही है क्योंकि भारत में खेत इतने छोटे-छोटे और बिखरे हुए हैं कि किसान यन्त्रों का उपयोग कर ही नहीं सकता संयुक्तराज्य अमेरिका जहाँ कि खेती बड़ी मात्रा में की जाती है और साधारण फार्म ५०० या १००० एकड़ का होता है और

जहाँ मजदूरों की कमी है वहाँ मुख्य मुख्य क्रियाओं के लिए अवश्य कुछ यन्त्रों का उपयोग होता है फिर भी अन्य धंधों की अपेक्षा वहाँ भी खेती में यन्त्रों का उपयोग नाम-मात्र को ही है। फिर भारत में जहाँ दस-दस बीघे के छोटे-छोटे खेत हैं और मजदूरों की बहुतायत है वहाँ यन्त्रों का उपयोग कभी लाभदायक नहीं हो सकता। अस्तु भारतवर्ष में यन्त्रों के उपयोग की सम्भावना नहीं है।

खेती बहुत बड़ी मात्रा में लाभदायक सिद्ध नहीं होती

हम जानते हैं कि बड़ी मात्रा में उत्पादन करने से बहुत बचत होती है। इसी कारण अन्य धंधों में बड़ी मात्रा में उत्पादन करनेवाले कारखाने और मिलें छोटी मात्रा में उत्पादन करने वाले कारीगरों की अपेक्षा बहुत दामों में वस्तु को तैयार कर लेता हैं। उदाहरण के लिए सूती कपड़े के कारखाने में कपड़ा तैयार करने का लागत व्यय हाथ कर्घे पर कपड़ा तैयार करने वाले जुलाहे की अपेक्षा बहुत कम होता है। यही कारण है कि जुलाहा मिल की प्रतिस्पर्धा में खड़ा नहीं हो सकता। किन्तु खेती में बहुत बड़ी मात्रा में खेती अधिक लाभदायक सिद्ध नहीं होती। उसका मुख्य कारण यह है कि खेती में यन्त्रों और यांत्रिक शक्ति का अधिक उपयोग नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त एक बहुत बड़े फार्म की व्यवस्था करना बहुत खर्चीला और कठिन होता है। उदाहरण के लिए एक कारखाने में जहाँ १० हजार मजदूर काम करते हैं उनके कार्य की देख-भाल सरलता पूर्वक हो सकती है प्रत्येक विभाग का फोरमैन अपने विभाग में सैकड़ों मजदूरों पर नियंत्रण रखता है। कल्पना कीजिये एक फार्म की जिस पर पाँच हजार मजदूर कार्य करते हों। उसका क्षेत्रफल इतना विशाल होगा कि उसकी व्यवस्था और मजदूरों के कार्य की देख-भाल करना लगभग असम्भव हो जावेगा। यदि सम्भव भी हो तो वह बहुत खर्चीली प्रमाणित होगी क्योंकि खेती में पूँजी और श्रम की अपेक्षा भूमि का बहुत अधिक भाग होता है।

फिर खेती में श्रम विभाजन (division of labour) की अधिक सुविधा और सम्भावना नहीं है। धंधा मौसमी होने के कारण प्रत्येक क्रिया लगातार नहीं हो सकती इस कारण श्रम-विभाजन का उपयोग खेती में हो ही नहीं सकता। एक व्यक्ति ही खेती में बहुत-सी क्रियायें करने पर विवश होता

है नहीं तो खेती में उसके लिए अधिक काम ही न रहे। उदाहरण के लिए यदि कोई जुताई का कार्य ही करने की कला को सीखे तो वर्ष भर उसे जुताई करने को नहीं मिल सकती। इसके विपरीत गौण धंधों में प्रत्येक क्रिया को सूक्ष्म क्रियाओं में बाँट दिया गया है और प्रत्येक व्यक्ति उन सूक्ष्म क्रियाओं में से एक को जीवन भर प्रति दिन करता रहता है। यह खेती में सम्भव नहीं है। इसी कारण श्रम विभाजन का उपयोग खेती में नहीं हो सकता। श्रम विभाजन ही बड़ी मात्रा की उत्पत्ति की जान है। यही सब कारण है कि जिनसे खेती में बड़ी मात्रा में उत्पादन लाभदायक सिद्ध नहीं होता और छोटा किसान भी बड़े फार्म की प्रतिस्पर्धा में सफल हो सकता है। संयुक्तराज्य अमेरिका में आरम्भ में बहुत बड़े फार्मों का चलन आरम्भ हुआ किन्तु वे बहुत लाभदायक सिद्ध नहीं हुए। इसी कारण वहाँ अब ५०० से १००० एकड़ तक के फार्म ही अधिक हैं और बहुत बड़े फार्मों की संख्या घट रही है। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि भारत में जो छोटे-छोटे बिखरे हुए भूमि के टुकड़े हैं वे भी खेती के लिए उपयुक्त हैं। सच तो यह है कि भारत के अधिकांश खेतों पर खेती करने से कोई लाभ नहीं हो सकता। वे आर्थिक जोत (economic holding) से बहुत कम हैं।

खेती में क्रमागत ह्रास नियम (law of diminishing returns)

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि खेती में भूमि का स्थान में अन्य उत्पत्ति के साधनों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। अतएव खेती में "क्रमागत ह्रास नियम" शीघ्र लागू हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि दस एकड़ भूमि पर जितना श्रम और पूँजी अभी लगा रहे हैं उससे दुगनी पूंजी और श्रम लगावें तो पैदावार बढ़ेगी अवश्य किन्तु पैदावार दुगनी से कम होगी। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि भूमि में वृद्धि न की जावे और अन्य उत्पत्ति के साधनों को बढ़ाकर पैदावार बढ़ाने का प्रयत्न किया जावे तो पैदावार का लागत व्यय अधिक होगा। परन्तु उद्योग-धंधों में दशा इसके विपरीत है वहाँ बहुत अधिक समय तक क्रमागत वृद्धि नियम (Law of Increasing returns) लागू होता है और पैदावार बढ़ाने से लागत व्यय कम होता है। खेती में यह अवस्था एक सीमा तक अधिक भूमि लगाकर या मशीन, खाद, उत्तम बीज आदि का अधिक उपयोग करके और खेती की उत्तम व्यवस्था करके कुछ समय तक रोकी जा सकती है। किन्तु

आगे चलकर यह दोनों उपाय भी बेकार हो जावेंगे। इस तरह से भूमि को बढ़ाते रहने का परिणाम यह होगा कि देश में वह अवस्था आ जावेगी कि जब खेती योग्य भूमि का टोटा हो जावेगा। जब यह अवस्था आ जाती है तब प्रति बीघा अधिक फसल उत्पन्न करने के लिए गहरी खेती ही एक-मात्र उपाय रह जाता है और क्रमागत ह्रास नियम लागू हो जावेगा।

खेती में लगे मूलधन को हटाना कठिन है

अन्य धंधों की अपेक्षा खेतों में लगी हुई पूंजी या मूलधन को हटाना कठिन है। क्योंकि किसान की अधिकांश पूंजी भूमि को उपजाऊ बनाने, उस पर कुआं और बाड़ बनाने तथा फार्म हाउस खड़ा करने में लगती है। यदि कोई किसान अपनी भूमि को छोड़ दे तो उसकी यह पूँजी उसमें से निकाली नहीं जा सकती। किन्तु यदि मेरे सौ शेयर कोयले की खानों में हैं और कपड़े की मिलों के शेयर मुझे अधिक लाभदायक प्रतीत होते हैं तो मैं तुरन्त कोयले की खानों के शेयर बाजार में बेंच कर कपड़े की मिल के शेयर मोल ले लूँगा।

किसान का अपने खेत की उपज के मूल्य पर कोई वश नहीं होता

उद्योग धंधों में उत्पादन बहुत बड़ी मात्रा में होता है इस कारण बहुधा बड़े-बड़े कारखाने अपनी वस्तु के मूल्य को मिल कर निर्धारित कर लेते हैं और आज तो एकाधिकार और ट्रस्ट स्थापित करने की प्रवृत्ति जोरों पर है। जहाँ किसी धंधे में एकाधिकार या ट्रस्ट स्थापित हुआ तो फिर उस वस्तु का मूल्य केवल उत्पादक ही निर्धारित करता है। वस्तु के मूल्य पर और कोई प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु यदि कारखानों और मिलों में आपसी प्रतिस्पर्धा भी हो तो भी प्रत्येक कारखाने को अपनी वस्तु का मूल्य निर्धारित करने की अधिक स्वतंत्रता होती है। क्योंकि पक्के माल की डिजाइन, रूप-रंग और क्वालिटी में भिन्नता करके प्रत्येक कारखाना अपने माल का मूल्य बहुत कुछ हद तक निर्धारित करने में स्वतंत्र है। परन्तु किसान के लिए यह सम्भव नहीं है। एक किसान देश या संसार की कुल उपज का इतना कम भाग उत्पन्न करता है कि वह उसके मूल्य निर्धारण में कोई प्रभाव नहीं डाल सकता फिर उसकी उपज सर्वथा एक-सी ही होती है। किसानों में थोड़ी मात्रा में उत्पत्ति करने के कारण उत्पादकों का कोई ऐसा संगठन, जो कि

खेती की पैदावार का मूल्य निर्धारित कर, बन सकने की सम्भावना ही नहीं हो सकती। सक्षेप में हम कह सकते हैं कि अन्य धंधों मे लगे हुए उत्पादकों का बाजार पर बहुत अधिकार रहता है किन्तु खेती में बाजार की स्थित का किसान पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है।

किसान स्वयं मजदूर होता है

खेती में जितने श्रम की आवश्यकता होती है वह अधिकांश किसान और उसके परिवार के लोग स्वयं उपलब्ध कर देते हैं। अर्थात् खेती में किसान करीब-करीब सारी मजदूरी अपनी ही लगाता है। यद्यपि खेती में भी मजदूर रक्खे जाते हैं किन्तु अन्य धंधों की तुलना मे वे नहीं के बराबर होते हैं। और जैसे-जैसे खेती में औजारों का उपयोग बढ़ता जाता है वैसे-वैसे बाहरी मजदूरों की संख्या घटती जाती है।

खेती की पैदावार बेचने में व्यय अधिक होता है

अन्य उद्योग धंधों की तुलना में खेती की पैदावार बेचने का खर्च ज्यादा होता है। इसके कई कारण हैं :— (१) खेती की उपज को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में व्यय अधिक होता है क्योंकि खेती की उपज की चीजें आकार और बोझ में भारी होती हैं साथ ही अन्य तैयार माल की तुलना मे कम मूल्यवान होती हैं। (२) दूसरा कारण यह है कि खेती की पैदावार उसका उपयोग करने वालों के हाथ में पहुँचने से पहले बहुत सी अवस्थाओं को पार करती है। उदाहरण के लिए हम जो गेहूँ का आटा बाजार से लेते हैं तो हमारे और किसान के बीच में बहुत बड़ी संख्या में दलाल अर्थात् व्यापारी होते हैं जिनके हाथ से गेहूँ निकलता है और अन्त में हमें मिलता है। इसका परिणाम यह होता है कि बीच के सभी व्यापारी उसके मूल्य में अपना लाभ जोड़ देते हैं और उस उपज का मूल्य बढ़ जाता है। अन्तिम उपभोक्ता जो मूल्य खेती की उपज का देता है उसका बहुत थोड़ा अंश ही किसान के पास पहुँचता है, मूल्य का अधिकांश भाग बीच के व्यापारियों या दलालों द्वारा हड़प लिया जाता है। जो पक्का माल कारखानों में तैयार होता है वह यद्यपि थोक व्यापारियों और फुटकर बेचने वालों के द्वारा ही उपभोक्ताओं के पास पहुँचता है परन्तु वहाँ बीच के दलाल या व्यापारी अपेक्षाकृत बहुत कम होते हैं अस्तु, वस्तु का जो मूल्य उपभोक्ता देता

है उसका अधिकतर भाग उत्पादन-कर्ता को मिलता है।

(३) तीसरा कारण यह है कि खेती में जहाँ तक बिक्री का प्रश्न है संगठन या व्यवस्था नहीं हो पाती। प्रत्येक किसान अपनी थोड़ी-सी पैदावार को पृथक व्यक्तिगत रूप से बेचता है। अस्तु, उपज ले जाने में, उसे सुरक्षित रखने में, बीच के व्यापारियों के कमीशन देने में तथा बाजार के खर्चों में उसे बहुत हानि होती है। यदि किसानों की बिक्री के लिए कोई संगठन हो सकता तो यह व्यय कम हो सकते थे किन्तु किसान इतने बिखरे होते हैं कि उनका संगठन कठिन हो जाता है। सहयोग समितियों के द्वारा इस कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया जा रहा है। फिर भी यह स्वाभाविक कठिनाई तो उपस्थित ही है।

भारत के लिए खेती का महत्व

अत्यन्त प्राचीन काल से खेती भारत का प्रमुख धंधा रहा है। भारत के आर्थिक संगठन में खेती का महत्व तो इसी से स्पष्ट हो जाता है कि १८७२ में देश की कुल जनसंख्या की ६५ प्रतिशत खेती पर निर्भर थी किन्तु १९४० की मनुष्य गणना के अनुसार देश की ७५ प्रतिशत जनसंख्या खेती पर प्रत्यक्ष रूप से निर्भर है। यह तो हुई प्रत्यक्ष रूप से खेती पर निर्भर रहने वालों की बात। शेष ग्रामीण जनसंख्या भी अप्रत्यक्ष रूप से खेती पर अवलम्बित है। अस्तु देश की लगभग ८९ प्रतिशत जनसंख्या प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से खेती पर निर्भर रहती है। यही कारण है कि भारत में अत्यन्त प्राचीन समय से खेती राष्ट्रीय धंधा माना जाता रहा है।

खेती का हमारे देश के आर्थिक जीवन में कितना महत्वपूर्ण स्थान है इसका अनुभव तो हमें उस समय होता है जब फसलें किसी कारण नष्ट हो जाती हैं और सर्वत्र आर्थिक संकट उपस्थित हो जाता है देश का सारा आर्थिक ढाँचा ही हिल उठता है। फसलों के नष्ट होने का परिणाम यह होता है कि हमारा विदेशी व्यापार बहुत कम हो जाता है। भारत भूमि की उपज को ही अधिकतर विदेशों को भेजता है। फसलें नष्ट हो जाने से निर्यात घट जाता है और किसान के पास यथेष्ट क्रय शक्ति न होने के कारण वह विदेशों से आने वाले पक्के माल को खरीद नहीं सकता, अस्तु, आयात भी कम हो जाता है। किसान की क्रय शक्ति कम हो जाने से देश के धंधे भी मंद हो जाते हैं क्योंकि उनके माल की मांग भी कम हो जाती है।

देश के अन्दर होने वाला व्यापार भी मंद पड़ जाता है क्योंकि भारत की मंडियों में खेतों की उपज का ही व्यापार होता है। रेलों का लाभ भी कम हो जाता है अथवा घाटा होता है क्योंकि रेलों को ले जाने के लिए माल कम मिलता है और ६० प्रतिशत जनसंख्या की आर्थिक स्थिति खराब हो जाने के कारण यात्री भी रेलों का कम उपयोग करते हैं। यही नहीं गांवों तथा नगरों में बेकारी भयंकर रूप धारण कर लेती है। खेती खराब होने से सरकार भी आर्थिक कठिनाई में फँस जाती है। आयात निर्यात कम होने से कस्टम ड्यूटी से होने वाली आय कम हो जाती है और उद्योग धंधों तथा व्यापार के मंद हो जाने से आय कर की आमदनी भी कम हो जाती है। यह तो रही केन्द्रीय सरकार की स्थिति प्रान्तीय सरकारों पर तो फसलों के नष्ट होने का बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। मालगुजारी में सरकार को बहुत छूट देनी पड़ती है और साथ ही यदि किसी क्षेत्र मे दुर्भिक्ष पड़ जाता है तो करोड़ों रुपया दुर्भिक्ष निवारण के लिए व्यय करने पड़ते हैं। सच तो यह है कि फसलों के नष्ट हो जाने से देश का सारा ढांचा ही हिल उठता है। केवल ऊपर दिये हुए विवरण से ही भारत के आर्थिक जीवन में खेती का महत्व प्रगट नहीं होता। यदि हम भारत की खेती की पैदावार का संसार की पैदावार से तुलना करें तो कृषि की दृष्टि मे भारत का जगत में क्या स्थान है यह नीचे दी हुई तालिका से स्पष्ट ज्ञात हो जावेगा :—

कतिपय फसलों का भारत तथा संसार में क्षेत्रफल

लाख हैक्टरों में

	सब देशों का क्षेत्रफल	भारतवर्ष का क्षेत्रफल	प्रतिशत
जूट	१२·७	१२·६	६६ २°।०
चावल	६००·०	२·६२	४८·६°।०
गन्ना			५०°।०
कपास	३१३·०	६२·६	२६·४°।०
लिनसीड	७८·०	११·०	१४·१°।०
गेहूँ	१०२६ ०	१३७·६	१३·४°।०
जौ	३८६·०	२६·०	६·८°।०

भारतवर्ष संसार का लगभग समस्त जूट उत्पन्न करता है, संसार का ४५ प्रतिशत चावल उत्पन्न करता है, संसार की ५२ प्रतिशत मूंगफली उत्पन्न करता है और २५ प्रतिशत कपास उत्पन्न करता है। ऊपर दिये हुए आंकड़ों से ही हमें खेती का महत्व स्पष्ट ज्ञात हो जाता है।

भारत में ग्रामों का महत्व

महात्मा गांधी ने ठीक ही कहा है कि भारत कलकत्ता और बंबई जैसे विशाल नगरों में नहीं बसता वरन वह देश के सात लाख छोटे-छोटे गाँवों में बसता है। यदि किसी को वास्तविक भारत को देखना हो तो उसे गाँवों में जाना चाहिए। भारत की आत्मा गाँवों में निवास करती है। आर्थिक दृष्टि से भी भारत में गाँवों का बहुत महत्व है। देश की ८६ प्रतिशत जनसंख्या जिन गाँवों में निवास करती हो उनका महत्व तो स्पष्ट है। अस्तु ग्राम्य अर्थशास्त्र का अध्ययन भारत जैसे गाँवों के देश में कितना आवश्यक है इसे कहने की आवश्यकता नहीं है। यदि किसी प्रकार हम अपने गाँवों में सुख और समृद्धि का सृजन कर सकें तो भारत का महान रोग निर्धनता का कष्ट अनायास ही दूर हो सकता है। भारतीय ग्राम्य अर्थशास्त्र में इसी समस्या का अध्ययन करेंगे।

भारत में खेती की हीन दशा

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि खेती पर ही यह देश मुख्यतः अपने जीवन निर्वाह के लिए निर्भर है। चालीस करोड़ जनसंख्या का भोजन, कारखानों के लिए कच्चा माल, और विदेशों के लिए निर्यात होने वाले पदार्थ अधिकतर हमें खेती से ही मिलते हैं। खेती का हमारे आर्थिक संगठन में इतना महत्वपूर्ण स्थान है कि साधारण व्यक्ति यह समझ सकता है कि इस देश में खेती एक उन्नतिशील धंधा होगा। किन्तु स्थिति इससे सर्वथा उलटी है। खेती हमारे देश का अत्यन्त गिरा हुआ धन्धा है। इसमें लाभ भी बहुत कम होता है। डाक्टर क्लाऊस्टन ने शाही कृषि कमीशन के सामने ठीक ही कहा था "भारत में जहाँ गिरी हुई अछूत जातियाँ हैं वहाँ गिरे हुए धन्धे भी हैं और दुर्भाग्यवश खेती भी उनमें से एक है।" सच तो यह है कि भारत में खेती अत्यन्त अवनत दशा में है। हमारी भूमि साधारणतया अन्य देशों की तुलना में एक तिहाई या एक चौथाई पैदावार

उत्पन्न करती है और दुर्भिक्ष के समय वह भी नहीं होता।

भारत में पैदावार की कमी

भारतवर्ष में खेती की हीन दशा का ज्ञान हमें तब होता है जब हम भिन्न भिन्न फसलों की प्रति एकड़ पैदावार का अन्य देशों की पैदावार से तुलना करते हैं। पाठकों को आश्चर्य होगा कि प्रति एकड़ भारत में ६० पौंड कपास उत्पन्न होती है जब कि संयुक्तराज्य अमेरिका में २५० पौंड और मिस्र में ४०० पौंड उत्पन्न होती है। भारत में प्रति एकड़ गन्ने की उपज जावा की तुलना में एक चौथाई और क्यूबा की तुलना में छठवाँ भाग होती है। भारतवर्ष प्रति एकड़ ब्रिटेन का एक चौथाई गेहूँ उत्पन्न करता है। अन्य मुख्य फसलों (तिलहन और तम्बाकू) की ठीक यही दशा है। ऊपर दिये हुए आकड़ों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में खेती की कैसी हीन दशा है। यदि हम भूमि की उपज केवल पचास प्रतिशत भी बढ़ा सकें तो गाँव वालों की दशा सुधर सकती है।

खेती की उन्नति की आवश्यकता

यदि खेती की उन्नति हो तो किसान की आर्थिक स्थिति सुधर सकती है। देश में जो भोजन का टोटा हो गया है वह दूर हो सकता है और ग्रामीण जनसंख्या की क्रय शक्ति बढ़ जावेगी जिससे कि देश के धंधों की उन्नति होगी। किसानों के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा हो जावेगा। खेती की उन्नति होने से कच्चे माल का लागत खर्च कम हो जावेगा और मिलों को कच्चा माल कम मूल्य पर मिलेगा। सच तो यह है कि औद्योगिक उन्नति के लिए खेती की उन्नति अत्यन्त आवश्यक है। यह केवल स्वप्न की-सी बात है कि भारत बिना कृषि की उन्नति किये धंधों की उन्नति कर सकता है।

खेती और उद्योग धंधों की पारस्परिक निर्भरता

जब हम यह कहते हैं कि खेती की उन्नति आवश्यक है तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि भारत की औद्योगिक उन्नति के हम विरोधी हैं। सच तो यह है कि प्रकृति ने भारत को धनी बनाया है और वह एक महान औद्योगिक राष्ट्र बन सकता है। अस्तु खेती और उद्योग धंधे दोनों ही की उन्नति की आवश्यकता है और दोनों ही एक दूसरे पर निर्भर हैं। हम ऊपर देख चुके हैं कि खेती की उन्नति से उद्योग धंधों को

प्रोत्साहन मिलेगा और उन्हें कच्चा माल कम मूल्य पर मिलेगा, साथ ही, औद्योगिक उन्नति से खेती की उन्नति होने में सहायता पहुँचेगी। भारत में एक बड़ी समस्या जनसंख्या का भूमि पर बढ़ा हुआ भार है। इसका परिणाम यह है कि अधिकांश किसानों के पास इतनी भूमि भी नहीं है कि उस पर खेती लाभदायक सिद्ध हो। यदि धंधों की उन्नति के फल स्वरूप कुछ जनसंख्या उनमें काम पा जावेगी तो भूमि पर जनसंख्या का भार हलका हो जावेगा और किसानों को इतनी भूमि मिल जावेगी जिस पर आर्थिक दृष्टि से खेती करना लाभदायक सिद्ध हो। अस्तु यह विचार गलत है कि खेती और उद्योग धंधों की उन्नति दो विरोधी बातें हैं। वास्तव में दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं।

खेती की हीन अवस्था के कारण

भारत में खेती की हीन दशा के निम्नलिखित कारण हैं :—

१—भारत में भूमि पर अत्यधिक भार है। बढ़ी हुई जनसंख्या का भरण-पोषण करने के लिए उस पर बिना खाद डाले और उसे बिना विश्राम दिये फसलें उत्पन्न की जा रही है इसका परिणाम यह हुआ है कि भूमि की उपज कम है। भारत जैसा घना देश अपनी भूमि को यथेष्ट विश्राम नहीं दे सकता इस कारण भूमि को यथेष्ट खाद देने की आवश्यकता है।

२—किसान के पास जो भूमि है वह आर्थिक जोत से कम है, यह भी कम उपज का कारण है। इन छोटे-छोटे और बिखरे हुए खेतों के होते हुए भी वैज्ञानिक ढंग से खेती नहीं हो सकती।

३—भारत में भूमि बहुत सूखी है और देश के बहुत से भागों में वर्षा बहुत अनिश्चित होती है। अस्तु सिंचाई के साधनों को उपलब्ध करना नितान्त आवश्यक है।

४—भारत में खेती का ढङ्ग भी दोषपूर्ण है। किसान गहरी खेती न करके विस्तृत खेती करता है जिससे प्रति एकड़ उपज बहुत कम है। भारत जैसा घना आबाद देश विस्तृत खेती से होने वाले भूमि का अपव्यय सहन नहीं कर सकता। इस कारण भारत में गहरी खेती की अत्यन्त आवश्यकता है।

५—भारत में ढोरों की दशा भी अत्यन्त खराब है। भारतीय बैल

बहुत निर्बल होता है और उन्हीं पर खेती निर्भर है। अस्तु बिना बैल। उन्नति के गहरी खेती होना सम्भव नहीं है।

६— भारतीय किसान के हल तथा अन्य औजार भी अच्छे नहीं हैं उनमें सुधार की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त गहरी खेती के लिए किसान के पास अधिक पूँजी होनी चाहिए जिससे वह अच्छा बीज खाद इत्यादि डाल सके। अतएव खेती के लिए यथेष्ट पूँजी का प्रबन्ध आवश्यक है।

७—भारत में किसान जो बीज भूमि में डालता है वह घटिया होता है। उत्तम बीज को उत्पन्न करना और किसान के पास पहुँचाना खेती की उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

८—खेती के अतरिक्त अन्य सहायक धन्धों के न होने से भी किसान की आर्थिक दशा खराब रहती है। वह वर्ष में चार से छः महीने तक बेकार रहता है। उसे कुछ सहायक धन्धों की नितान्त आवश्यकता है।

९—खेती की पैदावार की बिक्री का भी यहाँ ठीक प्रबन्ध नहीं है। किसान को अपनी पैदावार के बेंचने में बहुत कठिनाई और व्यय उठाना पड़ता है। उसे अपनी पैदावार का उचित मूल्य नहीं मिलता इसी कारण किसान खेती की उन्नति की ओर से उदासीन रहता है।

१०—ग्रामीण-ऋण के भारी बोझ ने किसान को महाजन का कृति दास बना दिया है। उसकी आर्थिक स्वतन्त्रता छिन गई है इस कारण वह खेती की उन्नति के लिए अधिक उत्साहित नहीं है। क्योंकि उसका परिश्रम महाजन को धनी बनाता है।

११—भारत में जमींदारी प्रथा तथा जमीन का बन्दोबस्त भी किसान को खेती की उन्नति के लिए उत्साहित नहीं करते। अस्तु, उसमें भी सुधार होने की आवश्यकता है।

ऊपर दिये हुए मुख्य कारण हैं जिनके कारण खेती की दशा गिरी हुई है। अब हम उनका विस्तार पूर्वक अध्ययन करेंगे।

परिच्छेद—२

भूमि और खेती

खेती और क्षेत्रफल का सम्बन्ध

खेती के धंधे की सफलता के लिए भूमि अत्यन्त महत्वपूर्ण उत्पत्ति का साधन है। जिस सीमा तक खेती भूमि पर निर्भर है उतना कोई भी धंधा भूमि पर निर्भर नहीं है। खेती की सफलता के लिए केवल भूमि की प्राकृतिक अवस्था अर्थात् उर्वरा शक्ति की ही आवश्यकता नहीं है स्थान अर्थात् क्षेत्रफल की भी आवश्यकता है जिस पर पौधे उग सकें। जितना स्थान खेती के लिए आवश्यक है उतना किसी भी अन्य धंधे में आवश्यक नहीं होता। सच तो यह है कि एक यही ऐसा धंधा है जिसके लिए घने आबाद देशों में यथेष्ट भूमि का टोटा पड़ जाता है।

खेती के लिए मिट्टी को बनाया जा सकता है। कम उपजाऊ मिट्टी को उपजाऊ बनाया जा सकता है किन्तु क्षेत्रफल को बढ़ाया नहीं जा सकता। एक कारखाने के लिए केवल मशीनों और मजदूरों के खड़े होने तथा माल भरने के लिए गोदामों के लिए स्थान की आवश्यकता होती है। फिर यदि कारखाने के पास भूमि की कमी हो तो दूसरी मंजिल बनाकर भूमि की बचत की जा सकती है किन्तु एक फार्म में यह सम्भव नहीं है। फार्म पर मशीनों, गोदामों और सभी कार्यों के लिए भूमि तो चाहिए ही परन्तु भूमि की मुख्य आवश्यकता फसलों के उत्पन्न करने के लिए है और इसमें भूमि की बचत नहीं की जा सकती। खान में भी स्थान की आवश्यकता धातु को निकालने के लिए होती है। खान में जितनी गहराई तक धातु भरी पड़ी है उतनी ही अधिक वह निकाली जा सकती है। वहाँ भी धातु की राशि क्षेत्रफल नहीं वरन उसकी गहराई पर निर्भर रहती है। परन्तु खेती में मिट्टी चाहे कितनी ही गहरी क्यों न हो और वह चाहे जितनी उपजाऊ क्यों न हो परन्तु फिर भी एक निश्चित क्षेत्रफल में एक निश्चित संख्या से अधिक पौधे नहीं खड़े किये जा सकते। यही कारण है

कि किसी क्षेत्र की पैदावार केवल मिट्टी की गहराई और उसकी उर्वरा शक्ति पर ही निर्भर नहीं रहती वरन् भूमि के क्षेत्र-फल पर भी निर्भर रहती है। मिट्टी चाहे कितनी ही उर्वरा क्यों न हो और खेती चाहे जैसी सावधानी से की जावे फिर भी किसी राष्ट्र के लिए गेहूँ उत्पन्न करने के लिए बहुत अधिक क्षेत्र-फल की आवश्यकता होगी। यही कारण है कि खेती में "क्रमागत ह्रास नियम" लागू होता है। यदि हमारे पास खेती के लिए अधिक भूमि न हो और उसी भूमि पर हम अधिकाधिक पूंजी और श्रम लगाकर उपज को बढ़ाना चाहें तो बहुत अधिक श्रम और पूंजी लगाकर भी पैदावार में उस अनुपात में वृद्धि नहीं होगी। दूसरे अर्थों में श्रम और पूंजी का व्यर्थ व्यय होगा। इस प्रकार अधिकाधिक श्रम और पूँजी लगाने का फल यह होगा कि जितनी भूमि की बचत की जावेगी उससे अधिक श्रम और पूँजी बरबाद होगी। यदि थोड़ी-सी भूमि पर अधिकाधिक श्रम और पूँजी लगाकर उसी अनुपात में पैदावार बढ़ाई जा सकती तो प्रत्येक राष्ट्र थोड़ी-सी भूमि पर ही सारी जन संख्या के लिए भोजन उत्पन्न कर लेते। किन्तु यह सम्भव नहीं है कि खेती की पैदावार को बढ़ाने के लिए एक सीमा के उपरान्त भूमि को बढ़ाना अनिवार्य है। यही कारण है कि खेतिहर राष्ट्र जब तक देश में भूमि रहती है उस भूमि को खेती के काम में लाता है और जब भूमि का टोटा पड़ने लगता है तो गहरी खेती करने पर विवश होता है। उस दशा में यदि अन्य धंधे बढ़ती हुई जनसंख्या को खपाने के लिए स्थापित नहीं किए जाते तो जन संख्या का प्रवास होने लगता है। खेती तथा अन्य धंधों के लिए भूमि की आवश्यकता में जो अन्तर है वह इससे स्पष्ट हो जाता है कि दस लाख बुशल गेहूँ उत्पन्न करने के लिए लगभग एक लाख एकड़ भूमि चाहिए परन्तु उस गेहूँ को पीसने वाली आटे की मिल एक एकड़ भूमि में खड़ी की जा सकती है।

भूमि और औद्योगिक नीति

खेती में भूमि की इतनी अधिक आवश्यकता होने के कारण ही उन्नतिशील और घनी आबादी वाले राष्ट्रों ने कल कारखानों को बढ़ाने का भागीरथ प्रयत्न किया है। क्योंकि कारखानों द्वारा पक्का माल तैयार करने में थोड़ी-सी भमि पर ही अनन्त सम्पत्ति का उत्पादन हो सकता है। किसी

भी देश में यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि कारखानों के लिए वहाँ यथेष्ट भूमि नहीं रहेगी। अस्तु ये राजनैतिक नेता औद्योगिक उन्नति पर ही अधिक ध्यान देते हैं। किन्तु धंधों की वृद्धि के लिए इस बात की आवश्यकता होती है कि कहीं से कच्चा माल मिलता रहे और कारखानों द्वारा उत्पन्न किये गए पक्के माल की खपत के लिए बाजार हों। अतएव उद्योग-धंधों की अधिकाधिक उन्नति के लिए बाजारों की आवश्यकता होती है।

जब तक यह औद्योगिक नीति थोड़े ही राष्ट्रों तक सीमित है तभी तक वह सफल दिखलाई पड़ रही है परन्तु यदि प्रत्येक राष्ट्र इनको अपना ले तो इसका खोखलापन स्पष्ट हो जावेगा। उदाहरण के लिए ब्रिटेन को लें तो हमें ज्ञात होगा कि ब्रिटेन को अपने औद्योगिक संगठन को बनाये रखने के लिए, भारत तथा अन्य बहुत से देशों को खेतिहर बनाये रखने के लिए विवश होना पड़ा, जिससे कि वे ब्रिटेन के धंधों के लिए कच्चा माल दें और उनके कारखानों की वस्तुओं की खपत के लिए बाजार बनें। साम्राज्यवाद का रहस्य इसी औद्योगिक नीति के अन्तर्गत छिपा है। और जो समय समय युद्ध होते रहते हैं और बड़े-बड़े राष्ट्रों में भीषण प्रतियोगिता होती रहती है उसके मूल में यही कारण है। यह आर्थिक संगठन अप्राकृतिक है और यदि सभी राष्ट्र इसी नीति को अपना लें तो यह चल ही नहीं सकता। अस्तु, संसार की सुख-समृद्धि मूलतः मुख्य धंधों अर्थात खेती इत्यादि पर ही निर्भर रहेगी न कि गौण धंधों पर।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि एक बढ़ती हुई किसान जाति के सामने केवल पांच मार्ग हैं (१) वह खेती की उन्नति करे और विज्ञान की सहायता से उसी भूमि पर अधिक से अधिक पैदावार उत्पन्न करने का प्रयत्न करे। (२) उद्योग धंधों की उन्नति करे (३) युद्ध द्वारा नई भूमि पर अपना अधिकार स्थापित करे (४) बढ़ी हुई जन संख्या को कम आबादी वाले देशों में प्रवास करने के लिए उत्साहित करे, (५) अपने रहन-सहन के दर्जे को घटा कर निर्धनता का जीवन व्यतीत करे।

जहां तक भारतवर्ष का प्रश्न है वह पिछले तीन उपायों की कल्पना भी नहीं कर सकता। भारतीय यों ही अत्यन्त निर्धन हैं अतएव रहन-सहन के दर्जे को घटाने का प्रश्न ही नहीं उठता। भारतीयों को कोई भी देश अपने यहां बसने नहीं देना चाहता अतएव प्रवास का भी प्रश्न नहीं उठता और

युद्ध द्वारा अधिक भूमि पर अधिकार करने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतएव पहले दो उपाय ही भारत के लिए शेष रहते हैं। इस दृष्टि से भूमि का अधिक से अधिक लाभदायक उपयोग करने और उसको व्यर्थ पड़ी न रहने देना नितान्त आवश्यक है क्योंकि खेती भूमि पर ही निर्भर है। अस्तु भारतवर्ष के लिए भूमि का अधिक से अधिक उपयोग करना और उसे बेकार न रहने देना अत्यन्त आवश्यक है। अब हम उन उपायों का अध्ययन करेंगे कि जिनसे भूमि का अधिक से अधिक उपयोग कर सकें।

भूमि के बेकार रहने के कारण

(१) अत्यधिक पथरीला होना, (२) अत्यधिक नमी होना (३) अत्यधिक सूखा होना, (४) अत्यधिक रेह या अन्य लवण पदार्थ भूमि पर आ जाना, (५) भूमि का कटाव होना।

प्रत्येक देश में ऊपर लिखे हुए कारणों से थोड़ी-बहुत भूमि बेकार रहती है। जन संख्या के बढ़ने के कारण इस प्रकार बेकार पड़ी हुई भूमि को भी खेती के योग्य बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

पथरीली भूमि

पथरीली भूमि में से कुछ तो इतनी अधिक पथरीली होती है कि वह खेती के सर्वथा अयोग्य होती है। उस भूमि के पत्थरों को निकालने में इतना अधिक व्यय होगा कि उस पर खेती करना कभी भी लाभदायक सिद्ध नहीं हो सकता। किन्तु वह भूमि भी बेकार पड़ी न रहना चाहिए। वह हमारी प्राकृतिक वन-भूमि है। जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती जाती है लकड़ी की मांग भी अधिकाधिक बढ़ती जाती है अतएव हमें अत्यन्त पथरीली भूमि को वन प्रदेश में परिणत कर देना चाहिए। किन्तु वनों की बढ़वार इतनी धीरे होती है और इस धंधे के लाभदायक होने के लिए यह आवश्यक है कि बहुत बड़े क्षेत्र में किया जावे अस्तु यह कार्य तो सरकारें ही कर सकती हैं। इसमें से कुछ भूमि पर चारा भी उत्पन्न किया जा सकता है।

जो भूमि कि इतनी अधिक कठोर और अत्यधिक पथरीली नहीं है उसे खेती के योग्य बनाया जा सकता है। अत्यन्त प्राचीन समय से किसान पत्थरों को खोद-खोद कर निकालता रहा है और इस प्रकार जो भूमि वह साफ करता है उस पर वह खेती करता है। दक्षिण भारत में जो

खेत हैं वे ऐसे ही किये गए व्यक्तिगत प्रयत्नों के फल हैं। किन्तु इसमें बहुत परिश्रम करना पड़ता है। यही कारण है कि आज भी दक्षिण भारत में बहुत सी भूमि ऐसी है कि जो पथरीली होने के कारण बेकार पड़ी है। अमेरिका तथा अन्य उन्नत देशों में ऐसी मशीनों का आविष्कार हुआ है कि जो शक्तिवान इंजिनों द्वारा चलती हैं और पत्थरों को चूर करके भूमि में छोड़ देती हैं। यह पत्थरों का चूरा मिट्टी को अधिक उपजाऊ बनाता है और लगातार उस भूमि पर खेती होने से पत्थर का चूरा उपजाऊ मिट्टी बन जाता है। अस्तु भारत में यदि इस ओर ध्यान दिया जावे तो बहुत सी भूमि खेती के उपयुक्त बनाई जा सकती है। दक्षिण के पठार का भाग अभी तक पूरी तरह से खेती के योग्य नहीं बनाया जा सका है किन्तु इसके लिए पूंजी और राज्य की सहायता की आवश्यकता होगी।

अत्यन्त नम भूमि

अत्यन्त नम होने के कारण भी बहुत-सी भूमि बेकार पड़ी रहती है और उस पर खेती नहीं हो पाती। भारतवर्ष में बङ्गाल, आसाम (विशेषकर सुन्दरबन के डेल्टा में) तथा हिमालय की तराई में ऐसी भूमि पाई जाती है। यदि इस प्रकार की भूमि की नमी या दलदल को सुखा दिया जावे तो यह बहुत उपजाऊ सिद्ध होती है। यह तो सर्व विदित है कि आज मनुष्य के पास ऐसे साधन उपलब्ध हैं कि वह दलदल या अत्यन्त नम भूमि को सुखा दें। हालैंड का अधिकांश क्षेत्रफल कभी अत्यन्त दलदल या जलमय था किन्तु वहाँ की सरकार ने उसे सुखाकर बेंच दिया आज उस पर लहलहाते खेत खड़े हैं। अभी तक भारतवर्ष में इस प्रकार की भूमि को खेती के योग्य बनाने का प्रयत्न नहीं किया गया। अमेरिका में इस प्रकार की भूमि पर ऊपर की सतह में तथा जमीन के भीतर नालियाँ बनाकर उसमें के व्यर्थ पानी को बाहर कर दिया जाता है। यदि भारत में हिमालय की तराई के प्रदेश में ऊपर की सतह पर नाली बनाकर तथा भूमि के भीतर नालियाँ बनाकर वहाँ की भूमि के बेकार जल को बहा दिया जावे तो उससे दो लाभ होंगे। एक तो ऐसा नम प्रदेश खेती के योग्य बन जावेगा दूसरे वह जल नीचे के शुष्क प्रदेश में सिंचाई के काम आ सकता है। भारत में अविलम्ब इस दिशा में प्रयत्न होना चाहिए।

अत्यन्त शुष्क भूमि

जो भूमि कि बहुत सूखी होती है तथा जिसमें इतनी नमी नहीं होती कि वह पौधे को खुराक दे सके वह भूमि भी बेकार रहती है। भारतवर्ष के अन्तर्गत इस प्रकार की भूमि राजपूताना, दक्षिणी पश्चिमी पञ्जाब, सीमाप्रान्त और सिंध में पाई जाती है। भिन्न-भिन्न देशों में शुष्क होने के कारण बहुत सी भूमि बेकार पड़ी रहती है। मानव जाति ने भूमि के इस दोष को मिटाने का सबसे अधिक प्रयत्न किया। सिंचाई के जितने भी साधन आज हमें उपलब्ध हैं वे इसी प्रयत्न के फल हैं। किन्तु बहुत से प्रदेश ऐसे हैं कि जहाँ सिंचाई के साधन भी उपलब्ध नहीं किए जा सकते। संयुक्तराज्य अमेरिका में इस समस्या को हल करने का एक नवीन उपाय निकाला गया है। जिस प्रदेश में कुयें, नहर, इत्यादि सिंचाई के साधन उपलब्ध नहीं हो सकते वहाँ "सूखी खेती" की जाती है। भारतवर्ष में भी सूखी खेती का प्रयोग होना चाहिए।

सूखी खेती

जिन प्रदेशों में वर्षा बहुत कम होती है, साथ ही सिंचाई के साधन भी उपलब्ध नहीं होते वहाँ सूखी खेती द्वारा फसल उत्पन्न की जाती है। सूखी खेती में किसान बाहर के पानी का उपयोग नहीं करता, वरन् जो कुछ थोड़ा-बहुत जल वर्षा के दिनों में गिरता है उसका अधिक से अधिक उपयोग करने का प्रयत्न करता है। सूखी खेती इस सिद्धान्त पर निर्भर है कि वर्षा का जल धूप से सूख न जाये और उसका अधिक से अधिक उपयोग हो सके। सूखी खेती में किसान फसल काटने के उपरान्त ही खेत को खूब गहरा जोत देता है जिससे जो भी वर्षा का जल गिरे वह इधर-उधर न बहकर पृथ्वी में सूख जाय। यही नहीं किसान समय-समय पर भूमि को जोतता रहता है जिससे व्यर्थ के पौधे उग कर भूमि के अन्दर पानी को नष्ट न कर दें। इसके अतिरिक्त वह भूमि की ऊपरी सतह की मिट्टी को बहुत ही बारीक कर देता है जिससे पानी भाप बन कर न उड़ सके। कहीं-कहीं बारीक मिट्टी के ऊपर पत्थर बिछा दिये जाते हैं जिससे पानी भाप बन कर न उड़ सके। किसी स्थान पर जहा नीचे चिकनी मिट्टी की तह नहीं होती मिट्टी को गहरी खोद कर उसे खेत से निकाल लिया जाता है और फिर नीचे की मिट्टी को

खूब कूट कर कठोर कर दिया जाता है जिससे कि नीचे की कठोर तह से पानी बहुत नीचे न चला जावे। उस कठोर सतह के ऊपर कई फीट मिट्टी डाल दी जाती है और जिससे कि वर्षा का पानी न तो बहुत नीचे जा सके और न भाप बन कर उड़ ही सके। सूखी खेती का मुख्य सिद्धान्त यह है कि वर्षा के पानी को भाप बन कर न उड़ने दिया जावे। यदि ऊपर की मिट्टी को बारीक कर दिया जावे तो वर्षा का पानी भाप बन कर नहीं उड़ता। किन्तु प्रत्येक स्थान में एक ही तरह से सूखी खेती नहीं की जा सकती। भौगोलिक परिस्थिति को देखकर ही यह निश्चय किया जा सकता है। अतएव भारत में कृषि-विभाग को इस सम्बन्ध में आवश्यक खोज करना चाहिए। और खोज के फल को किसानों को बता कर शुष्क प्रदेशों में सूखी खेती का प्रचार करना चाहिए।

कहीं-कहीं, जहां शुष्कता बहुत होती है, सूखी खेती प्रति वर्ष नहीं होती। एक वर्ष छोड़ कर दूसरे वर्ष फसल उत्पन्न की जाती है। ऐसी दशा में किसान अपनी भूमि के दो भाग कर लेता है। एक वर्ष आधी भूमि पर फसल उत्पन्न करता है और आधी को जोतता रहता है कि जिससे वह वर्षा का जल पी ले और दूसरे वर्ष उस पर फसल उत्पन्न करता है तथा दूसरी आधी भूमि को जल पीने के लिए छोड़ देता है। सूखी खेती में इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि केवल वही फसलें पैदा की जावें जो शुष्कता को सहन कर सकें और जो कम खर्चीली हों।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि सूखी खेती प्रत्येक देश में एक तरह से नहीं हो सकती प्रत्येक देश की जलवायु तथा धरातल की बनावट के अनुसार सूखी खेती की पद्धति में हेर-फेर करना पड़ता है। उदाहरण के लिए जहां धूप बहुत तेज होती है वहाँ भूमि को जोत कर वर्षा के जल को उसमें सुखा कर ऊपर से पत्थर के टुकड़े बिछा दिये जाते हैं। जहां भूमि के अन्दर चिकनी मिट्टी की तह नहीं होती कई फीट मिट्टी खोद कर भूमि को पीट कर कठोर कर दिया जाता है और मिट्टी को उस पर डाल दिया जाता है जिससे वर्षा का पानी बहुत गहराई तक न जा सके। सूखी खेती के लिए यह भी आवश्यक है कि जल्दी पकने वाली फसलें तैयार की जावें। ऐसे बीज उत्पन्न किये जावें की फसल जल्दी से जल्दी पक जावे।

सबसे पहले सूखी खेती का प्रयोग संयुक्तराज्य अमेरिका में किया

गया। उसके पश्चिमी भाग में गेहूँ, कपास, जौ, ओट, तथा अन्य अनाज सूखी खेती के द्वारा ही उत्पन्न किये जाते हैं। क्रमशः कनाडा, पश्चिमी एशिया, दक्षिण अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया के शुष्क भागों में भी सूखी खेती फैल रही है। भारतवर्ष में अभी तक इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया।

ऊसर या रेहवाली भूमि (Alkali Land)

चौथे प्रकार की भूमि जो खेती के योग्य नहीं होती, किन्तु जो प्रयत्न करने पर खेती के योग्य बनाई जा सकती है, वह ऊसर भूमि है। इस प्रकार की बहुत सी भूमि संयुक्तप्रान्त, सिंध, पंजाब, और सीमाप्रान्त में पाई जाती है। कहीं-कहीं तो मीलों आपको ऊसर भूमि के मैदान दिखलाई पड़ेंगे। दक्षिण में नर्रा नहर के प्रदेश और बम्बई के केरा के जिले में भी ऊसर भूमि पाई जाती है परन्तु अधिकतर इस प्रकार की भूमि उत्तर भारत में ही मिलती है।

ऊसर भूमि अधिकतर उस प्रदेश में पाई जाती है जहाँ वर्षा कम होती है। ऐसे स्थानों में पानी (वर्षा का अतिरिक्त जल) बहकर नदियों और नालों द्वारा समुद्र में नहीं जाता वरन् भाप बन कर उड़ता है। जिन प्रदेशों में वर्षा अधिक होती है वहाँ भूमि का अतिरिक्त जल नदी नालों द्वारा बहता है उसके साथ ही भूमि के लवण पदार्थ भी बह जाते हैं और यही कारण है कि समुद्र का जल खारा होता है। भूमि के लवण पदार्थ बहकर समुद्र में पहुँच जाते हैं। किन्तु उन प्रदेशों में जहाँ वर्षा कम होती है और जहाँ अधिकांश अतिरिक्त भाप बन कर उड़ता है यह लवण भूमि पर ही जम जाता है। ऐसे प्रदेशों में भी जिनका ढाल बहुत अच्छा है और पानी का बहाव शीघ्र होता है यह लवण भूमि पर नहीं जमता और बह जाता है। किन्तु जो भूमि कि चौरस और नीची है और जिसका बहाव ठीक नहीं है, वहाँ यह लवण भूमि पर ही जम जाता है। लवण या रेह के भूमि पर प्रगट हो जाने से ये मैदान खेती के लिए बिलकुल बेकार हो जाते हैं। यदि किसी प्रकार इस रेह को नष्ट किया जा सके तो उस भूमि पर बहुत अच्छी फसलें उत्पन्न की जा सकती हैं क्योंकि इस प्रकार की भूमि चौरस और नीची होती है।

ऊसर भूमि की उत्पत्ति का यह प्राकृतिक कारण है, किन्तु भारत में

सिंचाई का भी ऊसर भूमि उत्पन्न करने में हाथ रहा है। एक विशेष प्रकार की भूमि को जिसमें पानी बहुत रिसता या शीघ्र बिंध सकता है, आवश्यकता से अधिक सिंचाई होने पर रेह-नमक रह जाते हैं। यदि रेह-नमक एक सीमा से अधिक जम गए तो वे आरम्भ में तो फसल की बढ़वार को रोकते हैं और फिर भूमि को बिलकुल ऊसर बना डालते हैं। भूमि में रेह अधिक होने से पौधे पानी नहीं खींच सकते इस कारण रेही भूमि में सिंचाई से भी कोई लाभ नहीं होता।

इन नमकों के अधिक परिमाण में पैदा होने से और मिट्टी की बनावट से भी घना सम्बन्ध है। यदि मिट्टी खुली हुई है तो उसमें पानी सरलता से प्रवेश कर सकता है और उसमें हवा अच्छी तरह से जा सकती है। ऐसी भूमि में रेही नमक उत्पन्न नहीं होता। परन्तु यदि भूमि कड़ी हो जिसमें हवा का संचालन नहीं हो सकता, यदि ऐसी भूमि लगातार सिंचाई की गई तो रेह उत्पन्न हो जाता है।

रेह वाली भूमि को खेती के योग्य बनाना एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या है। भिन्न-भिन्न देशों में इस समस्या को हल करने के उपाय ढूँढ निकाले गए हैं। नीचे लिखे उपायों से रेह वाली भूमि को खेती के योग्य बनाया जाता है:—

(१) **भूमि के अन्दर नालियाँ बनाना**—भूमि के अन्दर नालियाँ बना कर जल को बहाया जाता है जिसमें मिट्टी का नमक बह जाता है। (२) भूमि को पानी से भर देने से नमक बह कर नीचे चला जाता है। फिर वह फसल को हानि नहीं पहुँचाता किन्तु इसमें भय यह रहता है कि कालान्तर में नमक फिर सतह के ऊपर आजावे। (३) **कुछ इंच ऊपर की मिट्टी को निकाल देने से** रेह का अधिकांश भाग नष्ट हो जावेगा क्योंकि पानी के भाप बनकर उड़ने से नमक अधिकतर ऊपरी सतह पर जमता है। नीचे की मिट्टी में नमक कम रहता है। (४) बहुत गहरा जोतने से भी रेह से होने वाली हानि को कम किया जा सकता है। क्योंकि बहुत गहरा जोतने से ऊपरी परत जिसमें नमक अधिक है टूट कर अन्दर गहराई पर चली जावेगी और वह नीचे की मिट्टी से मिल जावेगी इससे पौधे को वह कम हानि पहुँचा सकेगी। (५) कहीं-कहीं कंकड़ के उपयोग से काले रेह का पौधे पर विनाशकारी प्रभाव कम हो जाता है। (६) कहीं-कहीं

रेहवाली जमीन में रेता मिला देने से भी लाभ होता है (७) पश्चिमीय सीमाप्रान्त में सफेद रेह के विकार को दूर करने के लिए लूसर्न नाम की घास को उत्पन्न किया जाता है (८) भाप बन कर पानी उड़ने की क्रिया को जितना रोका जा सके उतना रोकना चाहिए। सूखी खेती में जिस प्रकार ऊपर की मिट्टी को बारीक करके अथवा उस पर साया करके पानी को भाप बन कर उड़ने से बचाया जाता है उसी प्रकार रेह न जमने देने के लिए भी पानी को न उड़ने देना आवश्यक है। (९) ऐसी फसलें उत्पन्न करने से भी इस समस्या को हल किया जा सकता है कि जो रेही भूमि में भी उत्पन्न हो सकें। इस प्रकार के कुछ पौधों की खोज अन्य देशों में की गई है उदाहरण के लिए अल्फलफा घास, तथा आस्ट्रेलिया की साल्टबुश इत्यादि।

भारत में यह समस्या अत्यन्त विकट रूप धारण करती जा रही है। किन्तु भारत में यह समस्या तभी दूर हो सकती है जब जमीन के अन्दर यथेष्ट वायु के रहने का प्रबन्ध हो और हवा का प्रबन्ध करने के लिए ऊपर बताये हुए उपायों के अतिरिक्त सिंचाई के दोषों को दूर करना भी आवश्यक है। क्योंकि भारत में सिंचाई के दोषों के कारण भी ऊसर भूमि उत्पन्न होती है। खेद है कि अभी तक इस ओर प्रान्तीय सरकारों ने विशेष ध्यान नहीं दिया। केवल १९३७ में संयुक्तप्रान्त के कांग्रेसी मन्त्रिमंडल ने एक कमेटी इसकी जाँच करने के लिए बिठाई थी।

मिट्टी का कटाव (soil erosion)

वर्षा का जल मिट्टी के उपजाऊ अंश को बहा ले जाता है इसी को मिट्टी का कटाव कहते हैं। जहाँ वर्षा अधिक और तेज होती है वहाँ यह समस्या उपस्थित हो जाती है। कटाव दो तरह का होता है (१) समतल कटाव (२) गहरा कटाव। समतल कटाव अधिक हानिकर नहीं होता क्योंकि प्रतिवर्ष थोड़ी सी ही मिट्टी पानी द्वारा बहती है। यद्यपि इस प्रकार मिट्टी की उपजाऊ शक्ति कम होती रहती है किन्तु उस पर खेती की जा सकती है। परन्तु गहरा कटाव बहुत ही भयंकर होता है। पानी जोर से बह कर भूमि को काट देता है, भूमि में गहरे नाले बन जाते हैं और प्रतिवर्ष अधिकाधिक भूमि कटती जाती है और थोड़े ही वर्षों में बहुत बड़े विस्तृत क्षेत्र

में खड्ड या बीहड़ भूमि ही दिखलाई देती है। भूमि का छीजन या कटाव पानी के मनमाने बहाव के कारण होता है यदि पानी के बहाव का नियंत्रण किया जा सके तो वह रोका जा सकता है। जिस प्रदेश में कटाव के कारण खड्ड ही खड्ड बन जाते हैं वह बीहड़ हो जाता है। इस प्रकार अत्यन्त उपजाऊ भूमि खेती के तो अयोग्य बन ही जाती है उसका एक दूसरा भयंकर परिणाम यह होता है कि भूमि वर्षा के जल को सोख नहीं पाती वह तेजी से इन नालियों और खड्डों द्वारा बह जाता है। पानी के कम सोखने से भूमि के अन्दर के पानी का तल नांचे चला जाता है, बहुत से कुयें बेकार हो जाते हैं, और सिचाई में कठिनाई होती है।

भारतवर्ष में इस प्रकार का कटाव और उससे उत्पन्न हुई बीहड़ भूमि प्रायद्वीप, मध्यभारत, ग्वालियर, मध्यप्रान्त, बम्बई और संयुक्तप्रान्त में जमुना के दाहिने किनारे पर पाई जाती है। जमुना के दाहिने किनारे पर तो हजारों एकड़ बढ़िया उपजाऊ भूमि कट-फट कर बीहड़ बन गई और प्रतिवर्ष उसका विस्तार बढ़ता ही जाता है। जहाँ पहले उपजाऊ खेत थे वहाँ अब खड्ड दिखलाई पड़ते हैं।

यदि इन प्रदेशों में पानी के बहाव पर नियंत्रण रक्खा जा सके तो भूमि को पानी सोखने का अवकाश मिले। इससे भूमि की उपजाऊ शक्ति का बहना रुकेगा और भूमि के अन्दर पानी की सतह भी ऊपर उठ जावेगी जिससे कुओं का सिंचाई के लिए अधिक उपयोग हो सकेगा।

मिट्टी के कटाव को रोकने के लिए दो उपाय काम में लाये जा सकते हैं। पहली बात तो यह कि भूमि की ऊपरी सतह में नालियाँ बनाने के साथ-साथ बीहड़ भूमि में से जाने वाली नदी के किनारे के हिस्से में बाँध बनाना जिससे कि वहाँ का आवश्यकता से अधिक आया हुआ पानी उस बाँध के ऊपर से तो बह जावे परन्तु पानी के साथ बहने वाले उस भूमि का सारा उपजाऊ तत्व उस बाँध से रुक जावे। इन नालियों से ऊपर के हिस्से में पानी के बहाव का नियंत्रण किया जाता है। उस पानी को पक्की नालियों द्वारा बहाने से उसका वेग कम हो जाता है जिससे कि वह सामने की भूमि को काट नहीं पाता और जो बाँध बीहड़ भूमि की नदी के किनारे बनाये जाते हैं वे पानी के वेग को रोक लेते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जब पानी उस बाँध से टक्कर खाता है तो पानी से बहने वाला उपजाऊ तत्व वहाँ जमा

हो जाता है और कुछ वर्षों में बीहड़ भूमि भर जाती है और खेती के उपयुक्त बन जाती है। इसके उदाहरण ग्वालियर राज्य में मिलते हैं जहाँ बाँधों की सहायता से सुधरी हुई भूमि पर खेती होती है।

दूसरी प्रथा बीहड़ भूमि में जंगल खड़े करके भूमि के कटाव को रोकने की है। इन जंगलों में ऐसे वृक्ष लगाये जाते हैं कि जिनकी जड़ें शीघ्र फैलने वाली हों। वृक्षों की जड़ें मिट्टी के अधिक बह जाने व बीहड़ के बढ़ने को केवल रोकती ही नहीं हैं, वरन उस पानी को भी बीहड़ में जाने से रोकती हैं जो कि वर्षा में बहुत अधिक तादाद में वहाँ पहुँचता है। इस प्रकार यह वृक्ष की जड़ें बाँध का काम देती हैं। संयुक्तप्रान्त में जमुना के बीहड़ प्रदेश में जंगल विभाग ने जंगल खड़े करके इस कटाव को रोकने का सफल प्रयत्न किया है।

किन्तु बाँध बनाना या जंगल उत्पन्न करना निर्धन किसानों के वश के बाहर की बात है यह कार्य तो केवल सरकार ही कर सकती है। किन्तु अभी तक इस महत्वपूर्ण समस्या की ओर सरकार ने अधिक ध्यान नहीं दिया है।

भारत की भूमि और मिट्टी

भारतवर्ष में मुख्य चार प्रकार की जमीने हैं। (१) लाल भूमि (crystalline soil) (२) काली कपास की भूमि जिसे रेगर भूमि भी कहते हैं (३) गंगवार भूमि (alluvial soil) (४) लैटेराइट (laterite) भूमि।

लाल जमीन (crystalline soil) विंध्या के नीचे सारे प्रायद्वीप में पाई जाती है। यह जमीन सारे मद्रास प्रान्त में, मैसूर राज्य में और बम्बई के दक्षिणोत्तर प्रदेश में पाई जाती है। यह मिट्टी हैदराबाद के पूर्वी हिस्से तथा मध्यप्रदेश से उड़ीसा प्रान्त, छोटानागपूर और बंगाल के दक्षिण तक फैली हुई है। बुन्देलखंड और राजपूताने के कुछ राज्यों में भी यह पाई जाती है।

इस मिट्टी का रंग गाढ़ा लाल, भूरा या काला होता है। इसकी गहराई और उपजाऊपन भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न है और इसके तत्व भी भिन्न प्रकार के होते हैं। साधारणतः ऊंची जगहों में यह कम उपजाऊ,

कम गहरी, पथरीली और हलके लाल रङ्ग की होती है। जहाँ इस जमीन की गहराई अधिक होती है वहाँ यदि पानी यथेष्ट परिमाण में मिल जावे तो बहुत अच्छी फसल उत्पन्न हो सकती है। इस भूमि में नोषजन (Nitrogen) स्फुरिक अम्ल (Phosphoric Acid) और वनस्पति अंश (Humus) की कमी होती है किन्तु पोटाश और चूना यथेष्ट होता है।

काली कपास या रेगर भूमि

यह भूमि दक्षिण पठार में पाई जाती है तथा लगभग २ लाख वर्ग मील में फैली हुई है। यह बम्बई प्रान्त में, बरार में, हैदराबाद रियासत तथा मध्यप्रान्त के पश्चिमी हिस्से में, तथा मदरास के बिलारी, करनाल, कड़ापा कोयमबटूर और तिनवेली जिलों में पाई जाती है। पहाड़ियों के ऊपर यह भूमि कम गहरी और कम उपजाऊ है जहाँ वर्षा अच्छी होती है वहाँ भूमि खूब उपजाऊ है। रेगर भूमि अधिकतर उपजाऊ होती है। थोड़ी वर्षा से भी उसपर अच्छी फसल उत्पन्न की जा सकती है। इस भूमि में भी नोषजन (Nitrogen) की कमी है। यद्यपि कैलशियम और मैगनीशियम कार्बनेट यथेष्ट मिलता है।

गंगवार भूमि (Alluvial Soil)

भारत वर्ष में बहुत पाई जाती है। यह अत्याधिक उपजाऊ है। सिंध नदी से गंगा के कछार तक इस प्रकार की मिट्टी पाई जाती है। इसका क्षेत्रफल ३ लाख वर्ग मील है। प्रायद्वीप के दोनों समुद्री तटों पर यह मिट्टी पाई जाती है। इस मिट्टी में स्फुरिक अम्ल (Phosphoric Acid) नोषजन (Nitrogen) व ह्यूमस Humus) की कमी है किन्तु चूना और पोटाश यथेष्ट है।

लैटेराइट (Laterite)

यह मिट्टी अधिक उपजाऊ नहीं होती इस कारण इस पर अच्छी फसलें उत्पन्न नहीं होतीं। इसका रंग लाल होता है, मिट्टी मोटी होती है और इसमें पत्थर अधिक पाये जाते हैं। यह भूमि अधिकतर पहाड़ियों और पठारों के सिरों पर पाई जाती है। यह दक्षिण, मध्यभारत, मध्यप्रान्त राजमहल, उड़ीसा, दक्षिण बम्बई, मालाबार तथा आसाम में पाई जाती

है। इस जमीन में पोटाश, स्फुरिक अम्ल (Phoshoric Acid) और चूना कम होता है किन्तु ह्यमूस अधिक होता है। इस जमीन में तेजाब होता है। अस्तु इस भूमि पर खेती करने के लिए खाद देना अत्यन्त आवश्यक है। साथ ही तेजाब को कम करने की भी आवश्यकता होती है।

इन चारों प्रकार की भूमि में से जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है प्रत्येक में तीन प्रकार की मिट्टी होती है। पहली चिकनी मिट्टी दूसरी मटियार, तीसरी बलुई मिट्टी। चिकनी मिट्टी के परमाणु इतने छोटे और पास सटे होते हैं कि उनके बीच में बहुत कम स्थान होता है। इस प्रकार की भूमि में जल कठिनाई से अन्दर प्रवेश करता है और बहुधा ऊपर ही रह जाता है। पर जो पानी भीतर प्रवेश कर जाता है वह देर तक उसके भीतर ही बना रहता है। यह जमीनें अधिकतर बंगाल और बिहार में पाई जाती है। इन पर धान और जूट की खेती अच्छी तरह से हो सकती है। बलुई मिट्टी के परमाणु बहुत बड़े होते हैं और उनके बीच में काफी जगह होती है। ऐसी जमीन में पानी बहुत सरलता से पार कर नीचे की मिट्टी में पहुँच जाता है। नतीजा यह होता है कि इस रेतीली ज़मीन में पानी अधिक देर तक नहीं ठहर सकता। उसे बराबर सींचने की जरूरत होती है। ऐसी जमीन में पैदावार कम होती है इसमें बाजरा ज्वार और साधारण अनाज ही उत्पन्न किये जा सकते हैं। दोमट या मटियार जमीन उसे कहते हैं जिसकी मिट्टी के परमाणु न तो चिकनी मिट्टी के समान छोटे होते हैं और न बलुई जमीन के समान बड़े होते हैं। किसान लोग इस प्रकार की भूमि को सबसे अच्छी मानते हैं क्योंकि इसमें लगभग हर प्रकार की फसल उत्पन्न हो सकती है। गेहूँ, कपास, गन्ना, जौ इत्यादि के लिए यह जमीन खास तौर से उपयोगी है।

भारत में भूमि

भारत में इस समय लगभग ३६०, ०००, ००० एकड़ भूमि पर खेती होती है। इसमें लगभग ६०, ०००, ००० एकड़ भूमि प्रति वर्ष छूटी रहती है, जिस पर खेती नहीं की जाती; उसे विश्राम दिया जाता है। इसके अतिरिक्त १००, ०००, ००० एकड़ के लगभग वन प्रान्त हैं। इसके अतिरिक्त

१७०, ०००, ००० भूमि ऐसी है जो परती है और यदि उसको तोड़ा जावे तथा सिंचाई के साधन उपलब्ध हों तो उस पर खेती की जा सकती है। शेष १८०, ०००, ००० एकड़ के लगभग भूमि ऐसी है जो वर्तमान अवस्था में खेती के उपयुक्त नहीं समझी जाती। हम ऊपर बता चुके हैं कि अति-शुष्क, अत्यन्त नम और भूमि के कटाव के कारण बहुत-सी भूमि बेकार है यदि यह दोष दूर कर दिये जावें तो यह परती भूमि और खेती के अयोग्य-भूमि को भी खेती के योग्य बनाया जा सकता है। आज आधुनिक विज्ञान की सहायता से खेती के अयोग्य भूमि को भी खेती के योग्य बनाया जा सकता है। संयुक्तराज्य अमेरिका में करोड़ों एकड़ भूमि को इसी प्रकार खेती के योग्य बनाया गया है। प्रो० बोले और रावर्टसन महोदय ने भी अपनी रिपोर्ट में इस आशय का मत प्रगट किया था कि भारत सरकार को खेती योग्य परती भूमि (Culturable waste land) और खेती के अनुपयुक्त भूमि के काल्पनिक वर्गीकरण को मिटा देना चाहिए। भारतवर्ष जैसे देश में जो इतनी विशाल जनसंख्या का भरण-पोषण मुख्यतः खेती से करता हो और जहां भूमि पर जनसंख्या का अत्याधिक भार हो वहां इस बात का पूरा प्रयत्न होना चाहिए कि बेकार भूमि को भी खेती के योग्य बनाया जावे। इसके लिए सिंचाई तथा अन्य जो भी साधन आवश्यक हों उन्हें उपलब्ध करना सरकार का प्रथम कर्तव्य है।

भारत में भूमि पर जनसंख्या का भार

यदि हम उस भूमि का जिस पर खेती होती है भारत के किसानों में विभाजन करें तो प्रति किसान पीछे के केवल चार एकड़ भूमि का औसत पड़ता है। परन्तु किसान केवल अकेला ही खेती नहीं करता उस पर उसका कुटुम्ब निर्भर रहता है। अस्तु यदि उन लोगों की संख्या को भी सम्मिलित कर लिया जावे जो खेती में सहायता पहुँचाते हैं तो प्रति किसान पीछे दो एकड़ भूमि के लगभग पड़ती है। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में प्रति किसान पीछे जितनी भूमि है वह नीचे दिये हुए आंकड़ों से स्पष्ट हो जावेगी :—

बम्बई—१२	एकड़	प्रति	किसान	पीछे
पंजाब—६	,,	,,	,,	,,
मध्यप्रान्त—८	,,	,,	,,	,,

मदरास—४.८ ,, ,, ,, ,,
बंगाल—३ ,, ,, ,, ,,
बिहार-उड़ीसा—३ ,, ,, ,, ,,
आसाम—३ ,, ,, ,, ,,
संयुक्तप्रान्त—२.५ ,, ,, ,, ,,
सीमाप्रान्त—११ ,, ,, ,, ,,

इससे यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि प्रति किसान पीछे भारत में भूमि बहुत ही कम है। दो एकड़ भूमि पर खेती करने के लिए पूरे साल के ३६५ दिनों में से बहुत थोड़े दिनों की आवश्यकता होती है। भारतीय किसान के निर्धन होने का यह एक मुख्य कारण है। यदि वास्तव में देखा जावे तो प्रति किसान पीछे भूमि इससे भी कम है क्योंकि भूमि का कोई समान बटवारा तो है नहीं। अधिकांश किसानों के पास औसत से बहुत कम भूमि है और थोड़े से ही ऐसे भाग्यशाली किसान हैं कि जिनके पास औसत से अधिक भूमि है। यह तो ऊपर ही कहा जा चुका है कि भारत में कुछ भूमि बेकार पड़ी है और यदि उसको खेती के योग्य बनाया जावे तो खेती के योग्य भूमि में वृद्धि हो सकती है। परन्तु देश की जन-संख्या भी बढ़ रही है अस्तु प्रति किसान पीछे भूमि की वृद्धि की अधिक सम्भावना नहीं है हमें यदि भूमि की पैदावार बढ़ाना है तो हम भूमि की वृद्धि पर इतना भरोसा नहीं कर सकते हमें तो अधिकाधिक गहरी खेती (Intensive cultivation) और वैज्ञानिक खेती की ओर ध्यान देना होगा। अतएव हमारा ध्येय भारत में अधिक गहरी खेती को प्रोत्साहन देना होना चाहिए और उसके लिए जिन साधनों की आवश्यकता हो उन्हें उपलब्ध करना चाहिए।

आर्थिक जोत (Econonic holding)

आज उत्पत्ति का मूल सिद्धान्त लागत व्यय को कम करना है। प्रत्येक व्यवसायी अपना उत्पादन व्यय कम करने का भरसक प्रयत्न करता है। यही कारण है कि उद्योग धन्धों में बड़ी मात्रा में उत्पत्ति होने लगी है। यही नहीं, व्यवसायी और पूंजीपति भिन्न-भिन्न कारखानों की पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा को नष्ट करके धन्धे में एकाधिकार स्थापित करते जा रहे हैं जिससे

उत्पादन का लागत व्यय कम से कम हो और लाभ अधिक से अधिक हो सके। किन्तु हम यह पहले ही कह चुके हैं कि खेती में बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से होने वाली बचत इतनी अधिक नहीं होती। यही कारण है कि खेती में बहुत विस्तृत और विशाल फार्म नहीं दिखाई देते। खेती में छोटे-छोटे फार्म ही बहुधा अधिक लाभदायक होते हैं।

परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है जिस प्रकार भारत में किसान छोटे-छोटे और बिखरे हुए भूमि के टुकड़ों पर खेती करता है वह कभी भी लाभदायक हो सकता है। प्रत्येक किसान के पास इतनी भूमि तो अवश्य ही होनी चाहिए कि जिस पर खेती करने से लाभ हो सके। दूसरे अर्थों में उसके पास 'आर्थिक जोत' होनी चाहिए। यहाँ आर्थिक जोत की परिभाषा कर देना अत्यन्त आवश्यक है। हम आर्थिक जोत उसे कहेंगे कि जो किसान और उसके परिवार तथा बैलों की जोड़ी को पूरा काम दे सके और जिससे एक परिवार के पालन-पोषण (साधारणतः अच्छे रहन-सहन के दर्जे में, योग्य आय हो सके। अस्तु आर्थिक जोत को हम किसी एक प्रदेश की स्थिति के अनुसार निर्धारित नहीं कर सकते। यदि कपास या गन्ने की खेती हो तो कम भूमि आर्थिक जोत हो सकती है और यदि साधारण अनाज की खेती हो तो अधिक भूमि आर्थिक जोत होगी! आर्थिक जोत कितने एकड़ होगी यह वहाँ की भूमि जलवायु, फसल खेती की पूंजी तथा खेती के ढंग पर निर्भर होगी। जिन देशों में उद्योग धंधों की बहुलता है पूंजी बहुत है और अधिकांश जनसंख्या कारखानों में काम करती है तो वहाँ आर्थिक जोत बहुत विस्तृत भूमि होगी परन्तु भारत जैसे देश में जहाँ बहुत बड़ी जनसंख्या केवल खेती करती है और उनके पास पूंजी बहुत कम है वहाँ कुछ-कुछ एकड़ ही आर्थिक जोत हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी देश के आर्थिक संगठन और वहाँ के रहने वालों की आर्थिक स्थिति पर ही यह निर्भर होता है कि कितनी भूमि आर्थिक जोत होगी।

किसी देश में प्रति व्यक्ति पीछे अधिक से अधिक धन की उत्पत्ति करने के लिए यह आवश्यक है कि जोत इतनी बड़ी हो कि जिस पर खेती करने से कम से कम लागत पर अधिक से अधिक उत्पादन हो सके। अस्तु, इस दृष्टि से जोत इतनी बड़ी होनी चाहिए कि जिस पर उत्पत्ति के सब साधनों का पूरा-पूरा उपयोग हो सके। परन्तु कुछ विशेष सामाजिक और

आर्थिक कारणों से कभी-कभी सैद्धान्तिक दृष्टि से जो आर्थिक जोत आवश्यक है उसकी उपेक्षा करना आवश्यक हो जाता है। उदाहरण के लिए भूमि से अधिक से अधिक पैदावार कम से कम लागत व्यय पर उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक होगा कि बहुत बड़ी संख्या को खेती से हटा दिया जावे और थोड़ी संख्या में सारी भूमि बांट दी जावे। किन्तु यह भारत में सम्भव नहीं है क्योंकि इससे असंख्य लोग बेकार हो जावेंगे और देश में घोर अशान्ति उत्पन्न हो जावेगी। अस्तु हमें सैद्धान्तिक रूप से जो आर्थिक जोत सबसे अधिक लाभदायक होगी उसको ध्यान में न रखकर उतनी भूमि प्रत्येक किसान को देने का प्रयत्न करना चाहिए कि जो एक परिवार और एक जोड़ी बैल को पूरा काम दे सके और जिसकी आय से एक परिवार का उचित रूप से भरण पोषण हो सके।

भारत में जोत इतनी छोटी हो गई है कि उस पर खेती करना आर्थिक दृष्टि से कभी लाभदायक हो ही नहीं सकता। उदाहरण के लिए यदि हम मान लें कि ५० बीघा भूमि को एक किसान और उसका परिवार तथा एक जोड़ी बैल अच्छी तरह जोत सकता है और उसके पास केवल १५ बीघा भूमि है तो वह तथा बैल अधिकतर बेकार रहेंगे और खेती का व्यय अधिक होगा। यदि भूमि आर्थिक जोत अर्थात ५० बीघे से कम है तो किसान अपनी शक्ति और साधनों को पूरा पूरा काम में नहीं ला सकेगा और अन्य किसी कार्य के अभाव में वह व्यर्थ हो जाये। इसी प्रकार यदि ज़मीन आवश्यकता से अधिक होगी तो किसान की शक्ति और साधन भूमि की दृष्टि से कम रहेंगे। परिणाम यह होगा कि उस जमीन से पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए जितनी शक्ति और साधन की आवश्यकता है उसमें कमी होने से उस जमीन से पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि दोनों दशाओं में अधिकतम उत्पत्ति नहीं हो सकती। अस्तु भूमि तथा खेती के अन्य साधनों में एक प्रकार से समन्वय होना अत्यन्त आवश्यक है। साथ ही किसी किसान के अधिकार में केवल उतनी भूमि का होना ही यथेष्ट नहीं है जितनी कि उसकी शक्ति और साधन की दृष्टि से आवश्यक है; किन्तु आवश्यकता इस बात की भी है कि वह जमीन इकट्ठी हो, अलग-अलग टुकड़ों में न बंटी हो। उदाहरण के लिए यदि हम मानलें कि एक जोड़ी बैल तथा पाँच व्यक्तियों के एक कुटुम्ब के लिए १०

एकड़ भूमि आवश्यक है, तो इसका यह तात्पर्य नहीं है कि यदि किसान के पास एक-एक एकड़ के दस टुकड़े हों तो उसकी शक्ति और साधन का पूरा उपयोग हो सकेगा। इसके लिए उसके पास १० एकड़ का एक टुकड़ा होना चाहिए।

भारत में जोत की दशा

भारतीय किसान के सामने तो यह प्रश्न कभी आता ही नहीं कि उसकी शक्ति और साधन को ध्यान में रखते हुए उसके पास भूमि अधिक है। यहाँ तो भूमि का अकाल है। भारतीय किसान के पास आवश्यकता से बहुत कम भूमि है और वह भी छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटी हुई तथा दूर-दूर बिखरी है। अस्तु इस प्रश्न का हमें दो पहलुओं से विचार करना होगा। (१) भूमि का कम मात्रा में होना (२) उसका कई टुकड़ों में बँटा होना और दूर-दूर बिखरा होना।

भूमि के अपर्याप्त होने का कारण तो स्पष्ट ही है। भूमि पर निर्भर रहने वालों की संख्या भयंकर वेग से बढ़ जाने के कारण प्रति किसान के पीछे बहुत कम भूमि आती है। भारतवर्ष में प्रति किसान के पीछे भूमि की औसत दो एकड़ से कुछ अधिक है। किन्तु दो एकड़ भूमि भी एक चक में न होकर छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटी है और यह छोटे-छोटे टुकड़े एक दूसरे से बहुत दूरी पर बिखरे होते हैं।

जोत का बहुत छोटा होना

भारतवर्ष में बहुत से स्थानों पर अर्थशास्त्र के विद्वानों ने जोत का अध्ययन किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ जोत बहुत छोटी है। हम यहाँ इस संबंध में प्रमुख अर्थशास्त्रियों की खोज का परिणाम देते हैं। कीटिंग महोदय ने अपनी खोज का परिणाम देते हुए लिखा है "बम्बई प्रान्त में खेती की जोत इतनी छोटी होती जा रही है कि उनमें से बहुतों पर खेती करना कठिन है।" डाक्टर हैराल्ड मैन ने दो पीपला सौदागर और जातेगाँव बदरुक गाँवों का अध्ययन किया था और वहाँ भी खेती की जोत छोटी होती जा रही थी। वे कहते हैं "७७ प्रतिशत जोत २० एकड़ से कम हैं और ४८ प्रतिशत १० एकड़ से कम है। पीपला सौदागर गाँव में ८१ प्रतिशत १० एकड़ से कम है।" उनके कथनानुसार इस प्रदेश में २० एकड़

भूमि आर्थिक जोत माननी चाहिए। अस्तु वहाँ ७७ प्रतिशत किसानों के पास आर्थिक जोत नहीं थी डाक्टर हैराल्ड मैन ने जातेगाँव बदरुक में जोत के छोटे होने का विवरण देते हुए लिखा था कि सन् १७७१ में वहाँ औसत जोत ४० एकड़ की थी, १८१८ में १७ एकड़ हो गई, १८४० में वह घट कर १४ एकड़ रह गई और १९१५ में केवल ७ एकड़ रह गई।

कोनकण प्रान्त के एक गांव का अध्ययन करते हुए श्री रानाडे ने लिखा है कि उस गांव में जिसमें १९२ एकड़ भूमि थी, २४ ऐसे व्यक्तियों के पास जो कि स्वयं खेती नहीं करते ११३ एकड़ भूमि है अर्थात् प्रति व्यक्ति पीछे ४.७१ एकड़ भूमि का औसत है और २८ किसानों के पास केवल ७८ एकड़ भूमि है जिसका औसत २.८५ एकड़ प्रति किसान पड़ता है। ऋणी होने के कारण क्रमशः किसानों की भूमि महाजनों के पास चली गई। इस २ ८५ एकड़ भूमि पर एक परिवार का पालन नहीं हो सकता। श्री रानाडे का कहना है कि इस गांव में ७७ प्रतिशत जोत आर्थिक जोत से कम है। पंजाब के बैरामपूर गांव का अध्ययन करते हुए भी भल्ला को भी लगभग यही स्थिति दृष्टिगोचर हुई। १८८६ और १९१९ के बीच में उस गांव के जाट किसानों की औसत जोत ५·१ एकड़ से कुछ घटकर ४.९ एकड़ हो गई। किन्तु महाजनों (जो स्वयं खेती नहीं करते) की औसत जोत ३ एकड़ से बढ़कर १८ एकड़ हो गई। और गांव में प्रति व्यक्ति पीछे ४.९ एकड़ से घट कर ३.६ एकड़ भूमि रह गई। कैलवर्ट महोदय ने इस सम्बन्ध में समस्त प्रान्त का अध्ययन करने के उपरान्त कहा था कि प्रान्त में लगभग ३ करोड़ एकड़ भूमि है और वह एक करोड़ जोतों में बटी हुई है। इसी से वहां जोत के अत्यधिक छोटा होने का प्रमाण मिलता है।

डाक्टर गिलवर्ट स्लेटर ने मदरास प्रान्त के कुछ गांवों का अध्ययन किया था भाग्यवश अब उन गांवों का फिर सर्वे हुआ है उसके अनुसार गंगई कोनदान (तिनावली में) जोत का बँटवारा इस प्रकार था :—

आकार—	स्वामियों की संख्या १९३४ में	स्वामियों की संख्या १९१९ में
१ एकड़ से कम	—१०० ”	” १०५
१ एकड़ से ५ एकड़ तक	—६०० ”	” २२०
५ एकड़ से १० एकड़ तक	— ५० ”	” २५०

आकार	स्वामियों की संख्या १९३४ में	स्वामियों की संख्या १९१६ में
१० एकड़ से २० एकड़ तक	३०	१००
२० एकड़ से ५०,, ,,	५०	१६०
५० एकड़ से ऊपर	३	९०

इससे ज्ञात होता है कि बड़ी जोतें छोटी होती गईं और आज उस गाँव में जोतें छोटी हो गई हैं।

श्री तिरमुलाई ने रामनद जिले के वादाभलाई पुरम नामक ग्राम की जांच करने पर वहाँ भी यही दशा पाई। वहाँ ७५ प्रतिशत खेत दो एकड़ से कम हैं और वे भी बिखरे हुए हैं। पश्चिमी गोदावरी जिले में बुंगताला जिले की जाँच करने पर श्री राव महोदय ने पाया कि अधिकांश जोत बहुत ही छोटी है। नीचे दी हुई तालिका से वहाँ की स्थिति का पता चल जावेगा :—

आकार	संख्या
१ एकड़ से कम.....	१३९
१ एकड़ से ३ एकड़ तक.....	१५३
३ एकड़ से ५ एकड़ तक.....	६१
५ एकड़ से १० एकड़ तक.....	४५
१० एकड़ से १५ एकड़ तक.....	२०
१५ एकड़ से २० एकड़ तक.....	७
२० एकड़ से ३० एकड़ तक.....	५
३० एकड़ से अधिक.....	१

पंजाब में २२·५ प्रतिशत किसानों के पास एक एकड़ से भी कम जमीन है। १५-४ प्रतिशत किसानों के पास ढाई एकड़ तक जमीन है। १७-९ प्रतिशत किसानों के पास ढाई से पाँच एकड़ तक जमीन है और २०-५ प्रतिशत किसानों के पास दस एकड़ तक जमीन है। बम्बई प्रान्त के आंकडे भी लगभग यही मिलेंगे। जब पंजाब और बम्बई की यह दशा है तो संयुक्तप्रान्त, बिहार, और बंगाल जैसे घनी आबादी वाले प्रान्तों का तो कहना ही क्या। वहाँ तो जोत बहुत ही छोटी है।

अस्तु यह तो स्पष्ट ही हो गया कि भारतीय किसान के पास आर्थिक

जोत से बहुत कम भूमि है और उस पर आर्थिक दृष्टि से लाभदायक खेती नहीं की जा सकती। परन्तु बात केवल यहीं तक नहीं है। जो थोड़े से बीघे भूमि उसके पास होती है वह भी एक स्थान पर न होकर भिन्न-भिन्न स्थानों पर बिखरी होती है।

भारत में बिखरे हुए खेतों की समस्या

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि प्रति किसान पीछे जो थोड़ी-सी भूमि है वह भी एक चक में न होकर भिन्न-भिन्न स्थानों पर बंटी हुई है। यह बिखरे हुए खेत वैज्ञानिक खेती को और भी असम्भव बना देते हैं। सच तो यह है कि जब तक बिखरे हुए खेतों की समस्या का कोई हल नहीं ढूंढ़ निकाला जाता तब तक खेती की उन्नति होना असम्भव है। खेतों के बिखरे होने से किसान का समय, परिश्रम, और पूंजी का इतना अधिक अपव्यय होता है कि खेती की उन्नति हो ही नहीं सकती।

खेतों के छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटने और बिखरे होने का परिणाम यह होता है कि किसान का एक खेत ४ बीघे का तो गाँव के उत्तर में होता है और दूसरा ४ बीघे का खेत एक मील दूर दक्षिण में होता है। खेतों का फासला ही एक दूसरे से अधिक हो केवल यही बात नहीं होती; कभी-कभी किसान तीन-चार गाँवों में छोटे-छोटे टुकड़ों पर खेती करता है। खेतों के इतना अधिक बांटे जाने का परिणाम यह भी होता है कि खेत इतने छोटे हो जाते हैं कि जिन पर खेती ही नहीं की जा सकती। किसी-किसी दशा में तो स्थिति अत्यन्त दयनीय हो जाती है। बम्बई के रत्नागिरी जिले में कोई-कोई खेत केवल ३० वर्ग गज के हैं पंजाब में ऐसे खेत पाये गए हैं जो कि एक मील से भी अधिक लम्बे और तीन या चार गज चौड़े हैं। कहीं-कहीं तो खेतों के बंटने के कारण वे इतने छोटे हो गए हैं कि उन पर खेती हो ही नहीं सकती। ढाका जिले में टुकड़ों का औसत क्षेत्रफल ०.५५ एकड़ है। डाक्टर राधाकमल मुकर्जी के अनुसार बंगाल में बहुत सी जोतें केवल ०.४ एकड़ की हैं। डाक्टर हैराल्ड मैन ने पीपला सौदागर गाँव में ७२६ खेतों में से ४६३ खेत ऐसे पाये जो एक एकड़ से कम के थे और ११२ खेत एक-चौथाई एकड़ से कम के थे। श्रीयुत कीटिंग महोदय ने एक ऐसी जोत देखी जो कि केवल २½ गुन्ठा थी और वह ५

भाइयों में बांट दी गई थी। प्रत्येक भाई बारी-बारी से २½ गुन्ठों को जोतता था क्योंकि आध गुन्ठे को जोत सकना सम्भव नहीं था। पंजाब के बैरामपुर गाँव में श्री भल्ला ने पाया कि ३४·५ प्रतिशत किसानों में प्रत्येक के पास १५ छोटे-छोटे बिखरे हुए खेत थे। श्रीयुत ब्रेन ने भादास गाँव में किसी-किसी खेत को एक बिस्वे का पाया। गुजरात के गाँवों का अध्ययन के उपरान्त श्री मुख्तार इस परिणाम पर पहुँचे कि प्रत्येक किसान के पास ६ छोटे-छोटे खेतों का औसत पड़ता था।

भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटे होने और बिखरे होने के कारण

(१) भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटे होने और बिखरे होने का मुख्य कारण यह है कि जनसंख्या का भूमि पर अत्याधिक भार है। जैसे-जैसे खेती पर निर्भर रहने वाली जनसंख्या की वृद्धि होती गई भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटती गई। आज भी यदि एक भाई किसी नौकरी या धंधे में यथेष्ट आय प्राप्त कर लेता है तो फिर वह अपनी पैतृक भूमि का एक छोटा-सा टुकड़ा लेने के लिए उतावला नहीं रहता परन्तु जब किसी के पास और कोई आय का साधन नहीं होता तो फिर वह अपनी पैतृक भूमि का हिस्सा अवश्य लेना चाहता है। अस्तु जनसंख्या का भार ही इस समस्या का मुख्य कारण है।

(२) कुछ लेखकों का कथन है कि भारत में रहने वाली जातियों, मुख्यतः हिन्दू और मुसलमानों के, पैतृक सम्पत्ति के भाइयों में बराबर बंटवारे की प्रथा इस समस्या का प्रधान कारण है। इसमें कोई संदेह नहीं कि हिन्दुओं में प्रत्येक भाई और मुसलमानों में भाई और बहिनों को जो पैतृक सम्पत्ति आपस में बांट लेने का कानूनी अधिकार है उसने भूमि को छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटने की सहूलियत प्रदान कर दी किन्तु इसका प्रधान कारण बढ़ती हुई जनसंख्या का भूमि पर भार है। क्योंकि यह कानून तो भारत में बहुत प्राचीन समय से है। इस समय जो यह समस्या भयंकर रूप से उठ खड़ी हुई उसका कारण यह है कि जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हुई और इस दायभाग कानून के अनुसार प्रत्येक भाई पैतृक सम्पत्ति में अपना भाग लेने पर विवश हो गया। किन्तु आपस में मेल न होने के कारण तथा समझदारी से काम न लेने के कारण पिता की मृत्यु के उपरान्त सब भाई भूमि के

बराबर-बराबर टुकड़े नहीं बांटते वरन् प्रत्येक खेत में से उतने ही टुकड़े किये जाते हैं जितने कि भाई होते हैं; इससे स्थिति और भी भयंकर हो जाती है। उदाहरण के लिए यदि किसी किसान के पास पांच खेत हैं और उनका क्षेत्रफल १०० बीघे है और उसके पांच लड़के हैं, तो प्रत्येक लड़का एक २० बीघे का खेत लेकर संतुष्ट नहीं होगा वरन प्रत्येक खेत का पांचवा भाग लेना चाहेगा। इसका परिणाम यह होगा कि किसान की मृत्यु के उपरान्त पांच खेत बंट कर २५ खेत हो जावेंगे।

(३) सम्मिलित कुटुम्ब का टूटना भी भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटने का एक कारण है। हिन्दुओं में सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा के कारण कई पीढ़ियां एक ही साथ रहती हैं और इस प्रकार सारी पैतृक भूमि एक साथ ही जोती बोई जाती है। परन्तु अब पश्चिमी विचारों के प्रभाव तथा आर्थिक कारणों से सम्मिलित कुटुम्ब संस्था नष्ट होती जा रही है। इसका अवश्यम्भावी परिणाम यह हो रहा है कि पैतृक भूमि छोटे छोटे टुकड़ों में बँटती है।

(४) किसानों के ऋणी होने के कारण भी इस बँटवारे को प्रोत्साहन मिला है। जब भूमि का स्वामी ऋण से बेहद दब जाता है तब उसकी भूमि महाजन के अधिकार में पहुँच जाती है। पिछले वर्षों में बहुत से प्रान्तों में ऋण की अदायगी न हो सकने के कारण भूमि महाजनों के अधिकार में पहुँच गई।

(५) गृह-उद्योग-धंधों का नाश होने से भी जनसंख्या का भार भूमि पर बढ़ता गया है क्योंकि अन्य धंधे न होने के कारण कारीगर लोग भी खेतिहर हो गए।

भूमि के छोटे छोटे टुकड़ों में बंटे होने और बिखरे होने से हानियां

जब खेत छोटे-छोटे और बिखरे होते हैं तो उससे बहुत हानियां होती हैं। खेती पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। इससे नीचे लिखी हानियां होती हैं:—

(१) बहुत से खेत तो इतने छोटे हो जाते हैं कि उन पर खेती हो ही नहीं सकती। वह भूमि बेकार पड़ी रहती है।

(२) बहुत सी भूमि मेढ बनाने में नष्ट हो जाती है।

(३) किसान को एक खेत से दूसरे खेत तक जाने में बहुत-सा व्यर्थ समय नष्ट करना पड़ता है।

(४) इन बिखरे हुए खेतों की फसल की रखवारी नहीं की जा सकती। वह केवल एक खेत की रखवारी कर सकता है और उन छोटे-छोटे बिखरे हुए खेतों की रखवारी के लिए मजदूर रखना उसकी शक्ति के बाहर की बात होती है।

(५) खेतों के दूर दूर होने के कारण सिंचाई की समस्या भी कठिन हो जाती है। यदि उसके पास सारी भूमि एक चक में हो तो किसान एक कुआं बनाकर सारी भूमि की सिंचाई कर सकता है। परन्तु प्रत्येक छोटे-छोटे खेत पर एक कुआं खोदना न तो उसके वश की बात है और न वह लाभदायक ही सिद्ध होगा। यदि किसान एक खेत पर कुआं बनाले और उसके पानी को नाली द्वारा दूर के खेतों तक ले जाना चाहे तो वह ऐसा भी नहीं कर सकता क्योंकि उसे नाली दूसरों किसानों के खेतों मे से होकर ले जानी होगी।

(६) बिखरे हुए खेतों के कारण किसान अच्छे औजार और यन्त्र काम में नहीं ला सकता क्योंकि वे भारी होते हैं और खेतों के लिए कोई मार्ग न होने के कारण किसान को उन्हें अपने कंधे पर रखकर स्थान से दूसरे खेत पर ले जाना पड़ेगा। यह उसके लिए असम्भव है। यदि मार्ग होता तो भारी यंत्र और औज़ार बैलों द्वारा एक खेत से दूसरे खेत में ले जाये जा सकते थे। परन्तु यह बिखरे हुए खेतों के होते सम्भव नहीं है।

(७) कभी मेढ़ बनाने तथा मार्ग न होने के कारण दूसरे किसान के खेत में से निकलने पर मार पीट और मुकदमा बाज़ी की नौबत आ जाती है और किसान बरबाद हो जाते हैं।

(८) छोटे छोटे और बिखरे हुए खेतों पर अन्य कोई सुधार भी नहीं किये जा सकते। छोटे छोटे खेतों पर बाढ़ लगाने का खर्च भी नहीं किया जा सकता, इसलिए बिना बाढ़ लगाये खेती करनी होती है। एक किसान का खेत दूसरे किसान के खेत से सटा होता है इसका आवश्यक परिणाम यह होता है कि एक किसान अपने पड़ोसी से भिन्न और उन्नत तरीके से खेती नहीं कर सकता। न उसमें बोई गई

वस्तु से भिन्न वस्तु पैदा कर सकता है। क्योंकि पास के खेतों की फसल यदि जल्दी काट ली गई तो उसमें पशु चरेंगे और वह समीप के खेत में खड़ी हुई फसल को नष्ट करेंगे। उदाहरण के लिए मान लें कि एक किसान देर से पकने वाला गेहूँ बोता है और उसका पड़ोसी शीघ्र पकने वाला। इसका परिणाम यह होगा कि उसकी फसल कट जाने पर किसान की फसल पर पड़ोस के खेत में चरने वाले पशु आक्रमण करेंगे।

यही नहीं यदि पड़ोसी किसान आलसी है और उसकी लापरवाही के कारण उसके खेत में व्यर्थ के जंगली पौधे अधिक उत्पन्न हो गए हैं तो वह अपने खेत को चाहे जितनी सावधानी से जोते-बोये उसके खेत पर भी वे जंगली पौधे उग आवेंगे। यदि पड़ोसी किसान की अज्ञानता या लापरवाही के कारण उसकी फसल में कीड़ा लग जाता है तो परिश्रमी और कुशल किसान की फसल भी उससे बच नहीं सकती। अस्तु बिखरे हुए खेतों पर वैज्ञानिक ढंग की खेती नहीं की जा सकती।

(६) किसान के पास सारी भूमि एक चक में न होने के कारण किसान अन्य देशों की भाँति अपने खेत पर मकान बनाकर नहीं रह सकता वरन खेतों से बहुत दूर गांव की बस्ती में रहता है। वैज्ञानिक ढंग की खेती के लिए किसान का अपने फार्म पर रहना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि उस दशा में वह तथा उसके परिवार के लोग चौबीस घंटे खेती की देख-भाल कर सकते हैं और पशुओं का गोबर-पेशाब तथा बचा हुआ चारा इत्यादि सभी खाद के रूप में खेतों को दिया जा सकता है। स्त्री और बच्चे भी खेती में सहायक हो सकते हैं। किसान का बहुत-सा समय नष्ट होने से बच जाता है।

सारांश यह है कि बिखरे हुए खेतों से बहुत हानियाँ होती हैं और बिना इस समस्या को हल किए खेती की उन्नति नहीं हो सकती।

भूमि के बँटने और बिखरे होने से लाभ

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि प्रत्येक व्यक्ति के पास इतनी भूमि अवश्य होनी चाहिए कि जिस पर आर्थिक दृष्टि से खेती करने से लाभ हो। अर्थात् प्रत्येक किसान के पास आर्थिक जोत होना आवश्यक है। यदि

किसी देश में कुछ लोगों के पास भूमि बहुत अधिक हो और अधिकांश के पास बहुत कम भूमि हो तो वहाँ अधिक भूमि का बँटवारा लाभदायक होगा क्योंकि उससे केवल थोड़े से व्यक्तियों के पास ही अत्यधिक भूमि नहीं रहेगी। भारत में बिखरे हुए खेतों का भी कुछ हद तक समर्थन किया जा सकता है। क्योंकि यहाँ फसल बहुत अनिश्चित होती है अस्तु एक ही चक में सारी भूमि होने से फसल नष्ट होने का खतरा अधिक हो सकता है। इसके अतिरिक्त भारत में प्रत्येक व्यक्ति अधिकतर अपने लिए आवश्यक खाद्य पदार्थ इत्यादि उत्पन्न करता है इस कारण यदि उन्हें दो-तीन टुकड़ों में भिन्न-भिन्न प्रकार की जमीन मिल जावे तो भिन्न-भिन्न फसल पैदा करने में सुविधा होगी। किन्तु भारत में भूमि के छोटे छोटे टुकड़ों में बांटने से होने वाला लाभ कभी का नष्ट हो चुका है क्योंकि अब प्रत्येक किसान के पास आर्थिक जोत से कम भूमि रह गई है। और जहाँ तक बिखरे हुए खेतों की समस्या है वहाँ तक दो या अधिक से अधिक तीन टुकड़ों में भूमि के बँटे होने के कुछ लाभ हो भी सकते हैं किन्तु अधिक टुकड़ों में बंटे होने से हानि के अतिरिक्त कोई भी लाभ नहीं हो सकता। कुछ विद्वानों की सम्मति में तो बिखरे हुए खेतों से हानि ही हानि है लाभ बिलकुल भी नहीं है।

समस्या का हल

अब प्रश्न यह है कि इस समस्या का हल किस प्रकार किया जावे। इस सम्बन्ध में यह हमें न भूलना चाहिए कि इस समस्या का हल पूरी तरह से तभी हो सकता है कि जब हिन्दू और मुसलमानों का उत्तराधिकार कानून में संशोधन किया जावे।

बम्बई प्रान्त में कानून बनाने का प्रयत्न

सर्वप्रथम बम्बई प्रान्त में श्री कीटिंग महोदय की योजना के अनुसार एक बिल तैयार किया गया था। उस योजना के अनुसार प्रत्येक जिले के जिलाधीश को यह अधिकार दिया गया था कि वह अपने जिले के लिए कितनी भूमि आर्थिक जोत समझता है यह घोषित कर दे। इस घोषणा के उपरान्त जिन लोगों के पास घोषित आर्थिक जोत से कम भूमि न हो वे अपनी जोत की रजिस्ट्री करा सकते थे। कोई भी आर्थिक जोत एक व्यक्ति

से अधिक के नाम रजिस्टर नहीं कराई जा सकती थी। जिसके नाम रजिस्ट्री हो जाती वही उसका एक मात्र स्वामी होता। आर्थिक जोत का बँटवारा नहीं हो सकता था और न वह सम्मिलित रूप से एक से अधिक के पास रह सकती थी। बड़े भाई को ही आगे वह मिल सकती थी। छोटे भाई उसको बँटवा नहीं सकते थे। किन्तु इस बिल का ऐसा विरोध हुआ कि वह रोक देना पड़ा। इस बिल का मुख्य दोष यह था कि यदि यह कानून बन जाता तो बहुत से व्यक्ति बिना जमीन के हो जाते, जो कि ठीक नहीं। छोटे भाई क्या करते। जब तक ऐसे जमीन-रहित सर्वहारा के लिए कोई अन्य पेशा या धंधा न हो तब तक इस प्रकार की योजना भारत मे स्वीकृत नहीं हो सकती।

एक दूसरा प्रयत्न सर चुन्नीलाल मेहता का वह बिल (Small Holdnig Bill) था जो उन्होंने अक्तूबर १९२७ में बम्बई धारा सभा मे पेश किया था। उस बिल के अनुसार प्रत्येक ताल्लुका में एक कमेटी बिठाने का प्रबन्ध था कि जो उस ताल्लुका के लिए कितना क्षेत्र फल आर्थिक जोत होगी यह घोषित करती। इस आर्थिक जोत के किसी एक भाग को बेंचा या बदला नहीं जा सकता था। यदि कोई व्यक्ति अपनी भूमि को बेंचे तो उसके पड़ोसी का उसे लेने का प्रथम अधिकार था। इसी बिल के अन्दर यह भी विधान था कि यदि किसी गाँव के दो तिहाई स्वामी जिनके पास गाँव की कम से कम आधी भूमि न हो प्रार्थना करें कि उनके गाँव में चकबन्दी कर दी जावे तो सरकार एक अफसर को नियुक्त करके चकबन्दी की योजना बनवायेगी। यदि उस योजना को सभी लोग स्वीकार कर लें तो फिर वह लागू कर दी जावेगी किन्तु यदि मतभेद हो तो उसे एक ट्रिब्यूनल या पंचायत के सामने रक्खा जावेगा और उसका निर्णय अन्तिम होगा। किन्तु इस बिल का ऐसा घोर विरोध हुआ कि इसको भी वापस लेना पड़ा।

बड़ौदा राज्य का कानून

अभी तक केवल बड़ौदा राज्य में इस प्रकार का एक कानून पास हो सका है कि जिसके अनुसार एक निश्चित सीमा के बाद खेत को बाँटा नहीं जा सकता।

अन्य उपाय

भारत में उत्तराधिकार कानून में संशोधन करना सरल नहीं है। हिन्दू और मुसलमान इसके लिए कभी तैयार नहीं होंगे। जब तक उन लोगों के लिए जो भूमि रहित हो जावेंगे और कोई धंधा या पेशा न हो तब तक कोई भी अपनी पैतृक भूमि में अपना हिस्सा छोड़ने को तैयार न होगा। पंजाब की नहरों के उपनिवेशों में जब भूमि इस शर्त पर दी गई कि उसका बँटवारा नहीं हो सकता वह केवल बड़े लड़के को ही मिल सकती है तो बड़े भाई को जहर देने की बहुत-सी घटनायें सामने आईं। अस्तु जब तक देश में उद्योग-धंधों की इतना उन्नति नहीं हो जाती कि छोटे भाई उसमें अपनी पा सकें तब तक उत्तराधिकार के कानून को बदलना कठिन है। साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि जब तक उत्तराधिकार कानून में परिवर्तन नहीं होता तब तक उसका कोई स्थायी हल नहीं निकल सकता।

इसके अतिरिक्त कुछ और भी उपाय इस समस्या को हल करने के हमारे सामने उपस्थित किये जाते हैं। एक उपाय तो यह है कि बाप के मरने पर भूमि का स्वामित्व तो सब भाइयों में बराबर बँट जावे किन्तु उसका प्रबंधक ट्रस्टी के रूप में बड़ा भाई हो। अर्थात् उसको जोतने इत्यादि का अधिकार उसी को रहे, वह केवल लाभ का भाग भाइयो को बांट दे। इसमें दो कठिनाइयाँ होंगी एक तो अनावश्यक मुकदमेदारी बढ़ेगी। बड़ा भाई छोटे भाइयों का हिस्सा न देगा या बेईमानी करेगा दूसरे यदि यह भी मान लिया जावे कि ऐसा न होगा तो फिर और भाई क्या करेंगे? वे बेकार हो जावेंगे। यदि सभी भाई उस भूमि को जोतते हैं तो लाभ ही क्या हुआ।

एक दूसरा उपाय यह बतलाया जाता है कि बड़ा भाई और दूसरे भाइयों के हिस्सो को खरीद सके, ऐसा कानून बना दिया जावे। इसमें पहली कठिनाई तो यह होगी कि बड़े भाई के पास इतनी पूंजी कहाँ से आवेगी कि वह छोटे भाइयो का हिस्सा खरीद सके। यदि वह ऋण लेता है तो भविष्य में ऋण की भंयकर समस्या उठ खड़ी होगी और यह भय रहेगा कि कहीं भूमि ही हाथ से न निकल जावे। यदि यह भी मान लिया जावे कि सरकार पूंजी की व्यवस्था करेगी और बड़े भाई को उचित सूद पर ऋण देगी तो भी यह समस्या तो फिर भी बनी रहेगी कि छोटे भाई बिना भूमि के बेकार

हो जावेंगे वे करेंगे क्या। अस्तु भारतवर्ष में यह समस्या कानून द्वारा तभी हल की जा सकती है कि जब भूमि से हटाये गए व्यक्तियों के लिए और काम-धंधा उपलब्ध हो। इसी दृष्टिकोण को सामने रखते हुए हमने पहले कहा है कि खेती की उन्नति के लिए उद्योग-धंधों की उन्नति की आवश्यकता होगी। यह तो भविष्य में भूमि का और छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटवारा न होने देने के सम्बन्ध में रहा। अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि जो छोटे-छोटे बिखरे हुए टुकड़े किसानों के पास हैं उनकी चकबन्दी किस प्रकार की जावे जिससे कि बिखरे हुए खेतों से होने वाली हानियाँ रोकी जा सकें।

बिखरे हुए खेतों की चकबन्दी

बिखरे हुए खेतों की चकबन्दी दो प्रकार से सम्भव है। १. सहकारिता के सिद्धान्तों के अनुसार और दूसरे कानून बना कर। सहकारिता के सिद्धान्त के अनुसार पंजाब में चकबन्दी करने में विशेष सफलता मिली है। वे लोग जो कि चकबन्दी के लाभ को स्वीकार करते हैं और उसको कार्य रूप में परिणत करना चाहते हैं एक सहकारी चकबन्दी समिति के सदस्य बन जाते हैं जब उनमें से अधिकांश या अन्य कोई निश्चित संख्या भूमि के नवीन बटवारे की किसी विशेष पद्धति को स्वीकार कर लेती है तो फिर प्रत्येक सदस्य को उसकी अलग-अलग बँटी हुई जमीन के बजाय एक ही चक में सारी भूमि दे दी जाती है। भूमि का नवीन बँटवारा करते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि उस बँटवारे के प्रति किसी भी व्यक्ति को कोई शिकायत न रहे। यह पद्धति उन्हीं लोगों के लिए काम में लाई जा सकता है जो कि स्वयं भूमि के स्वामी हैं अथवा मालिक नहीं तो भूमि में स्वामित्व के हक तो अवश्य रखते हैं। इस प्रकार से चकबन्दी करने में बहुत-सी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं और प्रगति भी बहुत धीरे-धीरे होती है। यदि एक भी व्यक्ति को किसी प्रकार की शिकायत होती है तो प्रायः सारा काम रुक जाता है। क्योंकि यद्यपि समिति के नियमानुसार बहुमत होने पर किसी भी योजना के अनुसार बँटवारा किया जा सकता हो किन्तु प्रयत्न यही किया जाता है कि सभी लोगों की सलाह से ही चकबन्दी हो। चकबन्दी का यह तरीका केवल एक व्यक्ति को उसके अलग-अलग टुकड़ों के बजाय एक चक में भूमि देने के उद्देश्य से काम में लाया जाता

है। चकबन्दी में यह प्रयत्न किया जाता है कि एक किसान को एक ही स्थान पर उसकी भूमि के बराबर जमीन दे दी जावे। इसका अर्थ यह हुआ कि एक किसान के टुकड़ों का दूसरे किसानों के टुकड़ों से परिवर्तन किया जावे। मान लो "अ" किसान के एक टुकड़े के पास "क" "ख" और "ग" के टुकड़े हैं। चकबन्दी की योजना के अनुसार "अ" को "क" "ख" "ग" के टुकड़े दे दिये जावेंगे और "क" "ख" "ग" को "अ" के वे टुकड़े जो उनके किसी खेत के समीप हैं एवज में दे दिये जावेंगे। इस प्रकार टुकड़ों का परिवर्तन करने से हर एक के पास उसकी सारी भूमि जो टुकड़ों में बँटी हुई थी एक चक में हो जावेगी। यह ध्यान में रखने की बात है कि इस प्रकार चकबन्दी करने से वर्तमान बिखरे हुए खेतों की समस्या तो हल हो जावेगी किन्तु भविष्य में उनका पुनः विभाजन रोका न जा सकेगा। इन सब बातों पर विचार करते हुए अधिकतर मत इस पक्ष में हैं कि बिना कानून की सहायता लिए न तो चकबन्दी आन्दोलन ही अधिक सफल हो सकता है और न भावी विभाजन ही रोका जा सकता है। पंजाब में प्रतिवर्ष लगभग एक लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी सहकारी समितियों के द्वारा हो जाती है। परन्तु वहाँ भी कार्यकर्ताओं को यह अनुभव होने लगा कि जब तक ऐसा कानून न बना दिया जावे कि यदि तीन चौथाई सदस्य चकबन्दी की योजना को स्वीकार कर लें तो शेष को उसे मानना ही होगा तब तक चकबन्दी आन्दोलन अधिक तेजी से नहीं चल सकता।

चकबन्दी से किसी को हानि नहीं पहुँचती। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सारी भूमि (जो टुकड़ों में बँटी है) एक चक या अधिक से अधिक दो चकों में मिल जाती है। भूमि की उपजाऊ शक्ति, खेतों पर पेड़ तथा कुओं का भी योजना बनाते समय ध्यान रक्खा जाता है। प्रयत्न तो यह किया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति को भूमि वैसी ही मिले जैसी कि उसकी थी, कुओं और पेड़ों के लिए उनके मालिक को क्षतिपूर्ति के स्वरूप रकम दिलवा दी जाती है। उदाहरण के लिए "अ" का एक खेत "ब" के हिस्से में चला जावे और उसमें कुआं हो तो कुयें की लागत "अ" को दिलवा दी जावेगी। इसके अतिरिक्त चकबन्दी से एक बड़ा लाभ यह होता है कि मेड़ों के कम हो जाने से जमीन बच रहती है जिसका उपयोग खेतों में जाने के लिए रास्ते बनाने के लिए किया जाता है। जहाँ जहाँ चकबन्दी हो गई है वहाँ-वहाँ किसानों ने

सिंचाई के लिए अधिकाधिक कुयें खोदे हैं क्योंकि अब किसान एक ही कुयें से अपनी सारी जमीन की सिंचाई कर सकता है। कहीं-कहीं किसान चकबन्दी के उपरान्त अपने खेत पर ही रहने लगा है जो कि खेती की उन्नति के लिए आवश्यक है। संक्षिप्त में कहा जा सकता है कि जहाँ-जहाँ चकबन्दी हो चुकी है वहाँ खेती की दशा सुधर रही है। अच्छे हल अच्छे बीज और खेती के वैज्ञानिक ढङ्ग का प्रचार बढ़ रहा है। यह तो मानी हुई बात है कि जब तक बिखरे हुए खेतों की चकबन्दी नहीं की जाती, खेती की उन्नति नहीं हो सकती।

चकबन्दी में बहुत सी अड़चने होती हैं। गाँव के लोग रूढ़िवाद में फँसे होते हैं। वे अपने बाप-दादाओं की भूमि को छोड़ना नहीं चाहते। प्रत्येक व्यक्ति अपनी पैतृक भूमि को पवित्र थाती मानता है और उसको अधिक शुभ और उवर्रा समझता है। पटवारी छिपे-छिपे चकबन्दी का विरोध करता है क्योंकि चकबन्दी हो जाने से भविष्य में उसकी आय और धाक कम हो जाने की सम्भावना रहती है। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि जिनके पास गाँव में एक ही खेत होता है वे समझते हैं कि उन्हें तो चकबन्दी से कोई लाभ होगा नहीं वे क्यों अपनी पैतृक भूमि को दूसरों की भूमि से बदलें। किन्तु बिना उनकी भूमि को दूसरों को दिये चकबन्दी की योजना सफल नहीं हो सकती। ऐसे लोग नवीन बँटवारे को मानने को तैयार नहीं होते। कुछ लोग गांव से बाहर किसी औद्योगिक नगर में रहते या मजदूरी करते हैं भूमि के नवीन बटवारे को स्थायी बनाने के लिए उनकी स्वकृति की अवश्यकता होती है और उनकी स्वीकृति में बहुत अड़चन पड़ती है। कुछ नाबालिग होते हैं जो कि कानून की दृष्टि से कोई भी ऐसा कार्य नहीं कर सकते। उनकी भी एक समस्या उपस्थित होती है। फिर भूमि की विभिन्नता तथा उन पर कुयें और पेड़ होने के कारण उनका मूल्य निर्धारित करने में मतभेद होता है। कहीं-कहीं मौरूसी किसान इस भय से अपने खेतों को नहीं देना चाहते कि उनके मौरूसी अधिकार न छिन जावें। सहकारी समितियों के द्वारा चकबन्दी करने में कभी महीनों का परिश्रम थोड़े से व्यक्तियों के विरोध करने के कारण व्यर्थ चला जाता है। साथ ही अल्पमत वालों को नये बँटवारे को मानने के लिए विवश करने से इस आन्दोलन का विरोध होने की सम्भावना है। हिन्दुस्तान में भूमि मनुष्य

के लिए अत्यन्त मूल्यवान और पवित्र वस्तु है। इस कारण कानून बन जाने पर भी प्रयत्न इसी बात का करना चाहिए कि जहाँ तक हो प्रत्येक व्यक्ति नवीन बँटवारे को मान ले।

जब नवीन बँटवारे की योजना तैयार हो जाती है तब सब के नये चकों का निशान भूमि पर लगा दिया जाता है। और पृथ्वी पर अपने चक की स्थिति इत्यादि देख लेने के उपरान्त समिति के सदस्यों से नवीन बँटवारे को स्वीकार करने को कहा जाता है। आरम्भ में उन्हें नवीन बँटवारा कुछ वर्षों के लिए ही स्वीकार करने के लिए कहा जाता है। यदि वे उस समय के उपरान्त चाहें तो वे फिर अपने पुराने टुकड़े ले सकते हैं! परन्तु एक बार एक चक में भूमि ले लेने पर प्रत्येक व्यक्ति उसके लाभ को समझ जाता है और फिर यह नौबत कभी नहीं आती परन्तु आरम्भ में यह छूट इसलिए रक्खी गई कि जिससे किसान भयभीत न हो जावें। फिर नये खेतों की रजिस्ट्री हो जाती है और वह बँटवारा स्थायी हो जाता है। नवीन बँटवारे में इस बात का ध्यान तो रक्खा ही जाता है कि गांव में भूमि कितने प्रकार की है और उसी के अनुसार बँटवारे की योजना बनाई जाती है। कुछ भूमि सार्वजनिक हित के लिए भी बच रहती है जैसे सड़क, खेल का मैदान, अतिथि-गृह इत्यादि। कुओं तथा सिंचाई के अन्य साधनों में किसानों का हिस्सा निर्धारित किया जाता है। यह सब हो जाने पर समिति की पंचायत कर्मचारी की सहायता से एक नकशा तैयार करती है जिसमें नवीन बँटवारा दिखलाया जाता है। यह नकशा सदस्यों की साधारण सभा के सामने रक्खा जाता है। यदि सब सदस्य उसको स्वीकार कर लेते हैं तो वह लागू होता है, नहीं तो फिर से नवीन बँटवारा होता है और नया नक्शा तैयार किया जाता है। इस प्रकार कभी-कभी तीन-चार बार तक नक्शे तैयार करने पड़ते हैं। और कभी-कभी महीनों का परिश्रम एक किसान के हठ से नष्ट हो जाता है। जब नये बंटवारे को सब लोग स्वीकार कर लेते हैं तो नये खेत उन्हें दे दिए जाते हैं और उनकी रजिस्ट्री करा दी जाती है।

इस योजना में किसी को हानि नहीं होती, किसी को भी पहिले से कम भूमि नहीं मिलती कोई जबरदस्ती नहीं की जाती और छोटे तथा बड़े किसान सभी इससे लाभ उठा सकते हैं। चकबन्दी समितियाँ बिखरे हुए खेतों को केवल चकबन्दी करता हैं भूमि का लड़कों में बँटना नहीं रोक सकतीं।

पंजाब में चकबन्दी का कार्य आरम्भ होने पर पहले ८ वर्षों में केवल १६२,००० एकड़ भूमि की चकबन्दी हुई। १६३५ तक चकबन्दी की गति कुछ धीमी रही प्रति वर्ष केवल पचास हजार एकड़ से कुछ अधिक भूमि की चकबन्दी होती थी। १६३५ से चकबन्दी बहुत तेजी से बढ़ी। अब प्रति वर्ष डेढ़ लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी होती है। अब तक २० लाख एकड़ से अधिक की चकबन्दी हो चुकी है। चकबन्दी के फलस्वरूप उन गाँवों में दस हजार के लगभग नये कुयें खोदे गए और बहुत सी झालरें खोदी गईं। पंजाब में सन् १६३६ में चकबन्दी कानून भी पास कर दिया गया है। वहाँ रैवन्यू विभाग कानून के अन्तर्गत चकबन्दी करता है। कानून के अन्तर्गत भी चकबन्दी तेजी से की जा रही है।

चकबन्दी के दो लाभ तो स्पष्ट देखने में आये हैं। जिन गाँवों में चकबन्दी हो चुकी है वहाँ कुएँ अधिक संख्या में खोदे गए हैं तथा जो भूमि पहले जोती नहीं जाती थी उस पर खेती होने लगी है। साथ ही उन गाँवों में खेती-बारी की विशेष उन्नति हुई है। खेतों के बिखरे होने से जो हानियाँ हैं वे क्रमशः दूर हो रही हैं। उन गाँवों में एक प्रकार से नवीन जीवन उदय हुआ है। कहीं-कहीं किसानों ने अपने खेत पर ही मकान बना कर रहना आरम्भ कर दिया है।

कुछ विद्वानों का कथन है कि बिना कानून बनाये चकबन्दी का कार्य सफलता पूर्वक नहीं किया जा सकता। कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि सहकारिता आन्दोलन इस कार्य के लिए उपयुक्त नहीं है, इसलिए कानून के द्वारा चकबन्दी होना चाहिए। किन्तु यह सभी मानते हैं कि सहकारिता के इतने अधिक लाभ हैं कि जब तक इसके द्वारा सफलता मिल रही है तब तक इसको न छोड़ना चाहिए। जहाँ-जहाँ चकबन्दी का कार्य सफलता पूर्वक हो चुका है वहाँ जनता उसके लाभों को समझ गई है, और लोगों की राय कानून बनाने के पक्ष में है। परन्तु अभी यह समय नहीं आया कि कानून के द्वारा चकबन्दी का कार्य किया जावे, क्योंकि यदि कोई ऐसा कानून बनाया गया तो यह कार्य रेवन्यू-विभाग के कर्मचारी करेंगे। फल यह होगा कि जनता का विश्वास हट जावेगा और बहुत-सी कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी।

१६२८ में सहकारी विभागों के रजिस्ट्रारों के सम्मेलन ने निम्नलिखित

आशय का प्रस्ताव पास किया था—जहाँ तक स्थानीय परिस्थिति सहकारी समितियों के द्वारा चकबन्दी के लिए अनुकूल हों वहाँ तक यह कार्य समितियाँ करें।

मध्यप्रान्त में

मध्यप्रान्त की छत्तीसगढ़ कमिश्नरी में खेत बहुत छोटे तथा बिखरे हुए हैं। प्रान्तीय सरकार ने कई बार इस समस्या को हल करने का विचार किया। रेवन्यू तथा बन्दोबस्त विभाग के कर्मचारियों ने चकबंदी करने का प्रयत्न भी किया किन्तु सफलता न मिली। इसी कमिश्नरी में जमींदारों तथा मालगुजारों ने भी चकबंदी करने का प्रयत्न किया किन्तु किसानों ने उसमें सहयोग नहीं दिया क्योंकि मालगुजार यह प्रयत्न करते थे कि अच्छी भूमि उन्हें मिल जावे। इस कारण सरकार ने कानून के द्वारा चकबंदी करना उचित समझा। अस्तु १९२८ में एक चकबंदी कानून बनाया गया जो अभी छत्तीसगढ़ डिवीजन में ही लागू किया गया है।

इस कानून के अनुसार कोई दो या अधिक गाँव की भूमि के स्वामी अथवा स्थायी रूप से जोतने वाले चकबंदी के लिए प्रार्थना पत्र दे सकते हैं किन्तु शर्त यह है कि उनके पास गाँव की भूमि का एक निश्चित भाग होना चाहिए। कानून के अनुसार गाँव के कम से कम आधी भूमि जोतने वाले अथवा (Permanent rightholders) स्थायी रूप से जमीन जोतने वाले जिनके पास गांव की दो तिहाई भूमि हो, यदि चकबंदी की किसी योजना को मान लें और अधिकारियों से उसकी स्वीकृति मिल जावे तो वह योजना अन्य लोगों पर लागू हो जावेगी। इस कार्य को करने के लिए वहाँ एक अफसर नियुक्त किया गया है। उसे उच्च अधिकारियों से योजना की स्वीकृति लेनी पड़ती है। यदि उस योजना में किसी को कोई आपत्ति हो तो डिप्टी कमिश्नर या सेटिलमैंट अफसर स्वीकृति दे सकता है नहीं तो सेटिलमैंट कमिश्नर स्वीकृति देता है। उसकी कोई अपील नहीं हो सकती, केवल प्रान्तीय सरकार इस बँटवारे को पलट सकती है।

मध्यप्रान्त में चकबंदी कानून के द्वारा बहुत कुछ काम हुआ है। १९३९ तक १९८५ गांवों में चकबंदी हुई और ३३ करोड़ ४० लाख

भूमि के टुकड़ों को घटाकर उन्हें केवल ५ लाख ७० हजार कर दिया गया। प्रति वर्ष वहाँ अधिकाधिक भूमि की चकबंदी हो रही है। चकबंदी रैवन्यू-विभाग करता है।

संयुक्त प्रान्त

संयुक्तप्रान्त में १८२ चकबंदी सहकारी समितियाँ स्थापित हो चुकी हैं। ये समितियाँ पंजाब की समितियों को ही आदर्श मान कर कार्य कर रही हैं। किन्तु यहां कठिनाइयां अधिक हैं। एक तो यहां गांवों में भूमि बहुत प्रकार की होती है दूसरे जमींदार और किसान भी बहुत प्रकार के हैं। उनके अधिकारों में बहुत भिन्नता है इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि यहां यह आन्दोलन कहां तक सफल होगा। फिर भी लगभग एक लाख बीघा भूमि की चकबंदी हो चुकी है और एक लाख से अधिक खेत दस हजार खेतों में परिणित कर दिये गए हैं। वहां १९३९ में चकबंदी कानून भी बन गया तब से यह कार्य रैवन्यू विभाग भी करता है।

कुछ समय से मदरास प्रान्त में भी चकबंदी समितियाँ स्थापित हो रही हैं। वहां प्रयोग अभी नया ही होने से उसके बारे में विशेष कुछ नहीं कहा जा सकता। देशी राज्यों में बड़ौदा तथा काश्मीर में चकबंदी समितियां सफलता-पूर्वक कार्य कर रही हैं। इन दोनों राज्यों में चकबंदी का काम क्रमशः बढ़ता जा रहा है।

भारतवर्ष में प्रत्येक प्रान्त तथा देशी राज्य में छोटे-छोटे बिखरे हुए खेतों की समस्या ने विकट रूप धारण कर रक्खा है। जगह-जगह इस पर विचार हो रहा है किन्तु क्या उपाय काम में लाया जावे इसका निश्चय नहीं हो पाया है।

सहकारी तथा सामूहिक खेती

वर्तमान परिस्थिति में इस समस्या को हल करने का एक उपाय सहकारी-कृषि भी है। इटली में इस प्रयोग को यथेष्ट सफलता मिली है और रूस में जिस सफलता से सामूहिक खेती (Collective farming) की जा रही है वह तो अवश्य ही आश्चर्यजनक है।

सहकारी कृषि में किसान लोग एक सहकारी समिति से सदस्य बन जाते हैं। या तो ये लोग अपनी अपनी जमीन तथा हल इत्यादि समिति को सौंप देते हैं और मिल कर सारी जमीन पर खेती करते हैं और फसल कटने पर पैदावार भूमि के अनुपात में आपस में बांट लेते हैं; अथवा प्रत्येक किसान को समिति उसकी आवश्यकता का ध्यान रखते हुए खेती के लिए भूमि देती है समिति भूमि के स्वामियों से भूमि पट्टे पर ले लेती है और अपने सदस्यों को दे देती है। ऐसी समितियों के वे ही सदस्य होते हैं जिनके पास जमीन नहीं होती। सदस्य भूमि पर स्वयं खेती करता है। समिति अपने सदस्यों के लिए कीमती यंत्र अच्छे बीज और खाद का प्रबन्ध करती है। पहले प्रकार की सहकारी कृषि समितियां उन किसानों के लिए उपयुक्त है और दूसरे प्रकार की समितियां भारतीय खेत मजदूरों के उपयुक्त हैं, जिनके पास भूमि नहीं होती।

पहले प्रकार की सहकारी कृषि समितियों में पंचायत एक मैनेजर नियुक्त करती है जो खेती का जानकार होता है और बीज, खाद, यंत्र इत्यादि समिति मोल लेती है। सदस्य उस मैनेजर की देख-रेख में काम करते हैं। कौन सी फसल कितनी भूमि पर पैदा की जावेगी यह पंचायत निश्चय करती है। जब फसल तैयार हो जाती है तो भूमि के अनुपात में फसल बांट दी जाती है और खर्चा काट लिया जाता है। अथवा सदस्यों को उनके काम की मजदूरी दी जाती है और फसल को समिति बेंच कर खर्चा काट कर लाभ भूमि के अनुपात में बांट देती है। भारतवर्ष में अभी तक कहीं भी सफलतापूर्वक सहकारी खेती नहीं की जा सकी।

सोवियत रूस के सामूहिक फार्म

पिछले कुछ वर्षों में रूस में सामूहिक फार्मों की आश्चर्यजनक गति से उन्नति हुई है। एक फार्म एक ही गांव तक सीमित होता है। सामूहिक फार्म के पास २,००० से लेकर १२,००० एकड़ तक भूमि होती है। सामूहिक फार्म कानून द्वारा निर्मित संस्था होती है। उसके पास खेती की भूमि, चरागाह भूमि, फार्म बिल्डिंग, खेती के पशु, औजार, गाय, सुअर, भेड़, मुर्गी सभी आवश्यक सम्पत्ति होती है।

फार्म का प्रबन्ध फार्म कमेटी करती है। प्रतिवर्ष सरकार के औद्यो-

गिक-विभाग से उसे सूचना मिलती रहती है कि वह कितनी भूमि पर अनाज इत्यादि बोवे और कितनी भूमि पर सरकारी कारखानों के लिए आवश्यक कच्चे पदार्थ उत्पन्न करे।

सरकार ने इन सहकारी फार्मों की सहायता के लिए स्थान-स्थान पर मशीन और ट्रैक्टर,-स्टेशन स्थापित किये हैं। स्टेशन फार्मों को बीज, खाद इत्यादि बेचते हैं और बड़े-बड़े यन्त्रों को किराये पर देते हैं। प्रत्येक स्टेशन पर एक कृषि-विशेषज्ञ रहता है जो फार्मों को कृषि सम्बन्धी सलाह देता है। जब फसल तैयार होती है तो फार्म-लगान तथा मशीन ट्रैक्टर स्टेशन की सहायता के फीस स्वरूप फार्म की कुल पैदावार का छठवां भाग सरकार को दे देता है। मशीन तथा ट्रैक्टर-स्टेशन की फीस तथा मालगुजारी दे देने के उपरान्त जो बचता है वह सामूहिक फार्म का होता है।

शेष पैदावार में से जितने नकद रुपये की जरूरत होती है उतने की पैदावार बेंच दी जाती है, और जो रुपया मिलता है उसमें से मजदूरी (सदस्यों की), कृषि टैक्स जो नकद आमदनी का चौथाई होता है और मशीन तथा ट्रैक्टर-स्टेशन के खर्चे को छोड़कर अन्य सब खर्चे तथा फार्म का प्रबन्ध-व्यय इत्यादि खर्चों को निबटाया जाता है।

सदस्यों को जो मजदूरी मिलती है वह कार्य-क्षमता के अनुसार भिन्न होती है। फार्म के सारे मजदूर सदस्य अपनी कार्यक्षमता के अनुसार सात श्रेणियों में बाँटे जाते हैं। जो सदस्य सबसे ऊँची श्रेणी में होते हैं, उनके एक दिन का काम दो दिन माना जाता है, और जो सबसे नीची श्रेणी में होते हैं उनका एक दिन का काम आधे दिन का माना जाता है। यह श्रेणी-विभाजन कमेटी करती है। यह सब कुछ चुकता हो जाने पर जो कुछ उपज बचती है, वह सब सदस्यों में बराबर बाँट दी जाती है, वे उस पैदावार को सहकारी समितियों को बेंच देते हैं।

रूस में इन सामूहिक खेतों की बहुत उन्नति हुई है। यह कह सकना कठिन है कि भारत में सामूहिक खेती कहाँ तक सफल हो सकेगी क्योंकि यहाँ का किसान अपनी पैतृक-भूमि को छोड़ना नहीं चाहता। फिर यहाँ जमींदार, महाजन तथा व्यापारियों के रूप में बहुत से दलाल हैं जो उसका विरोध करेंगे। और सबसे मुख्य बात यह है कि इस प्रकार की खेती के लिए सरकार का पूरा उद्योग होना चाहिए।

भारतवर्ष में सहकारी खेती के प्रचार करने का पूरा प्रयत्न होना चाहिए। सहकारी खेती मे चकबन्दी के सभी लाभ प्राप्त हो सकते हैं और खेती का भी सुधार हो सकता है परन्तु अभी तक इस ओर विशेष प्रयत्न नहीं किया गया है। जरूरत इस बात की है कि देश में सहकारी कृषि समितियों की अधिकाधिक स्थापना की जावे।

परिच्छेद—३

खेती के लिए साधन और सुविधाएँ

खेती की उन्नति के लिए कुछ आवश्यक साधन और सुविधाएँ अवश्य मिलनी चाहिए। अस्तु हम इस परिच्छेद में उन सुविधाओं और साधनों के सम्बन्ध में अध्ययन करेंगे।

स्थायी सुधारों का प्रश्न

भारत में भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटे होने के अतिरिक्त खेतों में स्थायी सुधारों का अभाव भी खेती की अवनति का मुख्य कारण है। उदाहरण के लिए अधिकतर खेतों के चारों ओर कोई बाड़ नहीं होती जिसके अभाव में फसल को जानवरों से बहुत हानि पहुँचती है। हद के मामले में पास के खेत वालों से बराबर झगड़े होते रहते हैं और फसल की रखवारी करने में बहुत असुविधा होती है। खेतों में मेड़ों का भी पूर्ण अभाव होता है जिससे किसान को काफी हानि पहुँचती है। सिंचाई का भी उचित प्रबन्ध नहीं होता। परिणाम स्वरूप कई स्थानों में पानी इकट्ठा हो जाता है और उसको बहाने के लिए दूसरे की जमीन पर से उसे निकालना पड़ता है जिससे उसकी जमीन को भी हानि पहुँचती है। और सबसे अधिक खटकने वाली बात तो खेतों पर किसान के रहने के मकानों का न होना है। इसका फल यह होता है कि किसान अपने पशु अपने घर पर ही रखता है और इससे बहुत सी खाद व्यर्थ नष्ट हो जाती है। किसान को भी खेती की देख-भाल करने में असुविधा होती है। यदि ऊपर बताई हुई कमियों को हम ध्यान से देखें तो हमें ज्ञात होगा कि उनमें से कतिपय मुख्य-मुख्य सुधार तब तक नहीं हो सकते जब तक किसान के पास भूमि एक चक में न हो। उदाहरण के लिए खेतों की बाड़ बनाना, सिंचाई के लिए कुआँ खोदना, अपने खेत पर ही मकान बनाना इत्यादि। किन्तु यह सब सुधार चकबन्दी होते ही नहीं हो जावेंगे। इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि सरकार, अथवा भूमि बंधक बैंक किसान को नाम मात्र में सूद पर पूँजी दें। क्योंकि किसान के पास इन

स्थायी सुधारों के लिए यथेष्ट पूँजी नहीं है। कृषि विभाग को ऐसी झाड़ियाँ उत्पन्न करनी चाहिए कि जिनको बाढ़ लगाकर किसान अपनी खेती की जंगली तथा अन्य जानवरों से रक्षा कर सके। जैसे-जैसे किसान की आर्थिक स्थिति में सुधार होता जावेगा वह अपनी भूमि में अधिकाधिक स्थायी सुधार करेगा किन्तु आरम्भ में उसे आर्थिक सहायता मिलने का प्रबन्ध होना चाहिए। साथ ही, स्थायी सुधार भूमि पर तभी हो सकते हैं जब कि किसान का भूमि पर पूरा अधिकार हो, उसे भूमि पर से हटाये जाने का भय न हो।

भूमि की उर्वरा-शक्ति को अक्षुण्ण बनाये रखना नितान्त आवश्यक है

किसी भी राष्ट्र के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि उस देश की भूमि की उर्वरा-शक्ति घटने न पाये। यही नहीं, जैसे-जैसे जनसंख्या की वृद्धि के फलस्वरूप भूमि पर गहरी खेती करना आवश्यक होता जाता है वैसे ही वैसे भूमि को अधिकाधिक उपजाऊ बनाने की आवश्यकता होती है। भूमि वास्तव में प्रत्येक देश की सबसे मूल्यवान पूँजी है। यदि भूमि की उपजाऊ शक्ति घट गई तो उस देश का आर्थिक पतन होने में तनिक भी संदेह नहीं हो सकता। यही कारण है कि प्रत्येक देश में भूमि की उर्वराशक्ति को बनाये रखने का प्रयत्न किया जाता है।

क्या भारत में भूमि कम उपजाऊ होती जा रही है

भारतवर्ष में यह सर्व प्रचलित धारणा बन गई है कि यहाँ की भूमि क्रमशः कम उपजाऊ होती जा रही है। यदि यह बात सच हो तो यह देश के लिए अत्यन्त खतरनाक बात है और उसको रोकने की भरसक चेष्टा करनी चाहिए। किन्तु इस सम्बन्ध में जानकार लोग एकमत नहीं हैं। इस प्रश्न पर सर्वप्रथम सन् १८९३ में डाक्टर वोयलकर ने विचार किया था। उन्होंने जाँच करने के उपरान्त कहा था कि इस बात के निश्चित प्रमाण नहीं मिलते कि भारत की उपजाऊ शक्ति कम होती जा रही है। यद्यपि उनके सामने भी बहुत से सेटिलमेंट अफसरों ने इस मत की पुष्टि की थी कि भारत की भूमि कम उपजाऊ होती जा रही है। १९२९ में शाही कृषि कमीशन ने फिर इस प्रश्न का अध्ययन किया। कृषि कमीशन की भी यही राय थी कि भारत में भूमि की उर्वरा शक्ति कम होती जा रही है ऐसी

मान्यता तो बहुत प्रचलित है किन्तु इसके निश्चित प्रमाण नहीं मिलते। कमीशन का यह कहना था कि जो लोगों की यह धारणा बन गई है कि भूमि कमजोर हो गई है उसका मुख्य कारण यह है कि जो नई बञ्जर भूमि तोड़ी गई है वह उतनी अच्छी नहीं है और उस पर औसद पैदावार कम होती है, इसके अतिरिक्त जो भूमि बनों को साफ करके खेती के काम में लाई गई है वह आरम्भ में तो बहुत अच्छी फसल उत्पन्न करती है परन्तु क्रमशः पैदावार कम होने लगती है। क्योंकि फसलें उत्पन्न करने में उसमें वनस्पति का अंश कम होने लगता है जिससे पैदावार कम होती है। साथ ही कहीं-कहीं रेह प्रगट हो जाने या भूमि के कटाव होने से भी पैदावार कम हो गई है। इस कारण सर्व साधारण की यह धारणा बन गई है कि भूमि कमजोर होती जा रही है। किन्तु जिस भूमि के साथ ऐसी कोई विशेष बात नहीं है उसके कमजोर होने के कोई प्रमाण नहीं मिलते। इसके विरुद्ध उनका कथन था कि दोआब की भूमि जो कि अकबर के समय में जितनी पैदावार उत्पन्न करती थी उतनी ही आज करती है, इसके प्रमाण हैं। अस्तु कमीशन की राय में इस बात के प्रमाण नहीं मिलते कि भूमि कमजोर होती जा रही है।

साथ ही कमीशन की यह भी राय थी कि जो भी भारत में प्रयोग किये गए हैं उनसे यह पता चलता है कि यदि किसी भूमि पर लगातार फसलें उत्पन्न की जावें किन्तु उसमें खाद न डाली जावे तो भूमि एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाती है कि उससे कम उसकी उर्वरा शक्ति हो ही नहीं सकती। उस भूमि की उपजाऊ शक्ति स्थिर हो जाती है। कमीशन ने इस सम्बन्ध में अपना निर्णय देते हुए कहा था कि "यद्यपि भारत के प्रत्येक भाग में इस प्रकार के प्रयोगों के न होने के कारण कुछ निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता किन्तु हमारी सम्मति यह है कि भारत में भूमि की यह स्थिर उर्वरा शक्ति की स्थिति बहुत समय हुआ पहुँच गई और अब जिस प्रकार खेती हो रही है उससे भूमि के अधिक निर्बल होने की कोई सम्भावना नहीं है।"

किन्तु बङ्गाल प्रान्तीय बैंकिंग कमेटी ने १९३० में इस प्रश्न पर भिन्न मत दिया। कमेटी का कथन था कि भूमि क्रमशः कमजोर होती जा रही है क्योंकि उसको खाद नहीं मिलता। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने नीचे आंकड़े दिये हैं:—

बङ्गाल में प्रति एकड़ औसत पैदावार पौंडों में

वर्ष	गेहूँ	चावल	चना	सरसों
१६०६—०७	८०१	१२३४	८८१	४६२
१६११—१२	८६१	६८३	८८१	४६२
१६१६—१७	६६८	१०३६	८६७	४६०
१६२१—२२	६८८	१०२६	८२६	४८५
१६२६—२७	७२१	१०२२	८११	४८३

डाक्टर राधाकमल मुकर्जी ने संयुक्तप्रान्त के सम्बन्ध में लिखते हुए इसी मत का समर्थन किया है। उनके कथनानुसार अकबर के समय में संयुक्तप्रान्त में प्रति एकड़ १५५५ पौंड गेहूँ उत्पन्न होता था और अब केवल १००० पौंड गेहूँ प्रति एकड़ उत्पन्न होता है।

बङ्गाल प्रान्त के सिंचाई विभाग की कमेटी ने तो निश्चित रूप से कहा कि भूमि इतनी कम उपजाऊ होती जा रही है कि उसको रोकना कठिन है और यह प्रदेश जंगल और दलदल में परिणत हो जावेगा। बङ्गाल में जोती जाने वाली भूमि बराबर कम होती जा रही है। हुगली और बर्दवान जिलों में तो आधी खेती की भूमि पर खेती नहीं की जाती इसी से इस मत की पुष्टि होती है। बङ्गाल के सम्बन्ध में लिखते हुए डाक्टर राधाकमल मुकर्जी ने कहा है कि पानी के बहाव को अवैज्ञानिक ढङ्ग से नियंत्रण करने के कारण खेती की कल्पनातीत अवनति हुई है। श्री डियर महोदय ने "कैपिटल" में लिखते हुए कहा था कि बंगाल में कुछ ऐसे प्रदेश हैं कि जिन्हें भारत सरकार ने एक बाग के सदृश्य उपजाऊ पाया था और उसे मरुभूमि के सदृश्य बनाकर छोड़ दिया। इसी प्रकार पंजाब के सबन्ध में डाक्टर लैन्डर ने कहा है कि वहाँ "कालार" के कारण बहुत-सी भूमि खेती के लिए बेकार हो गई।

इस मत के विपरीत सर जॉन रसल का मत है कि इस सम्बन्ध में पूरी जाँच होने की आवश्यकता है तभी कोई मत दिया जा सकता है। चावल की भूमि के सम्बन्ध में लिखते हुए उन्होंने कहा था चावल पैदा करने वाली भूमि की उपज घट रही है किन्तु इसको प्रमाणित करने के लिए आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। यदि और अधिक जाँच से इस प्रकार की सम्भावना

की पुष्टि हो तो यह उचित होगा कि उन प्रदेशों में जहाँ आज के घटने की प्रवृत्ति है वहाँ पूरी जाँच करवाई जावे।

बड़े खेद की बात है कि आज ५४ वर्ष पूर्व डाक्टर वोयलकर महोदय ने इस सम्बन्ध में जाँच की आवश्यकता पर जोर दिया था किन्तु आज तक उस ओर ध्यान नहीं दिया गया। और आज भी सरकारी कर्मचारी इसी बात को दोहराते हैं कि बिना विश्वसनीय तथ्य प्राप्त हुए इस बारे में कोई निर्णय नहीं किया जा सकता।

नीचे दी हुई तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत की मुख्य फसलों की पैदावार प्रति एकड़ पहले से कम हो गई है।

मुख्य फसलों की पैदावार और क्षेत्रफल की तालिका

(१९१३—१४ = १००)

वर्ष	चावल		गेहूँ		कपास	
	क्षेत्रफल एकड़ों में	उपज	क्षेत्रफल एकड़ों में	उपज	क्षेत्रफल एकड़ों में	उपज
१९२७—२८	१०९ - ९८		११६ - ९१		१०२ - ११३	
१९३९—४०	१२१ - १०६		१२३ - १२८		८८ - ९५	
१९४०—४१	१२० - ९३		१२६ - ११९		९७ - ११५	

भूमि की उर्वरा शक्ति कम हो रही है अथवा नहीं इस पर मतभेद हो सकता है किन्तु इस बात में तनिक भी मतभेद नहीं है कि यदि भूमि में खाद डाली जावे, उसको सुधारा जावे, तो उपज बहुत बढ़ाई जा सकती है। हम प्रतिवर्ष भूमि पर लगातार फसलें उत्पन्न करके उसकी शक्ति को कम कर रहे हैं किन्तु हम उसकी खोई हुई शक्ति को पुनः वापस करने के लिए क्या करते हैं? भारतीय गांवों में जो गोबर के रूप में खाद उपलब्ध है वह जला कर नष्ट कर दिया जाता है। हड्डी तथा मछली का एक तो यहाँ खाद उपलब्ध नहीं है, दूसरे धार्मिक कारणों से उसका उपयोग नहीं होता। तिलहन को विदेशों में भेजकर हम उसकी खली जो खाद का काम देती है उसे भी विदेशों को भेज देते हैं। अस्तु जो देश कि प्रतिवर्ष अपनी फसलें और खाद (हड्डी का चूरा, तिलहन और खली) विदेशों को भेजता हो उसकी भूमि यदि कम उपजाऊ हो जावे तो क्या आश्चर्य है।

पर न बोकर वह फसलों का हेर-फेर करता रहता है जिससे भूमि की उपजाऊ शक्ति शीघ्र नष्ट न हो। केवल पूर्वी बंगाल के जूट की खेती करने वाले तथा बम्बई और बरार प्रदेश के कपास की खेती के किसान चाक्रिक प्रथा का उपयोग नहीं करते। इन किसानों की आदत यह है कि वह प्रति वर्ष अपने खेत पर यही फसलें बोता है और खेत की उपजाऊ शक्ति को खाद डालकर बनाये रखता है। बंगाल में तो प्रति वर्ष नदियाँ उपजाऊ मिट्टी लाकर बिछा देती हैं इस कारण वहाँ अधिक खाद की भी आवश्यकता नहीं होती।

किन्तु केवल फसलों के हेर-फेर या चाक्रिक प्रथा से ही भूमि की उपजाऊ शक्ति को बनाये नहीं रक्खा जा सकता; जब कि जनसंख्या के अधिक होने के कारण भूमि को तनिक भी विश्राम नहीं मिलता। ऐसी दशा में भूमि को खाद देना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। भारतवर्ष में जनसंख्या की वृद्धि के कारण गहरी खेती की नितान्त आवश्यकता है। और गहरी खेती के लिए खाद की अधिकाधिक आवश्यकता होगी। अस्तु, हम अब खाद के सम्बन्ध में लिखेंगे।

खाद

अच्छी फसल उत्पन्न करने के लिए खाद अत्यन्त आवश्यक है। यही नहीं कि अच्छी फसल उत्पन्न करने के लिए खाद की आवश्यकता होती है, वरन् भूमि की कमी को भी किसान बहुत सीमा तक खाद द्वारा पूरी कर सकता है। कहावत है कि यदि किसान के पास खाद और जल हो तो वह पहाड़ पर भी फसल उत्पन्न कर सकता है। भारतीय किसान अत्यन्त प्राचीन काल से खाद का प्रयोग जानता है। वह यह भी जानता है कि बिना यथेष्ट जल के खाद फसल को हानि पहुँचाती है। यदि यथेष्ट जल की व्यवस्था न हो तो खेत में खाद देना हानिकर होता है। यही नहीं, बिना खाद मिले सिंचाई से भी फसल को पूरा लाभ नहीं होता। भारतीय किसान जल और खाद के इस सम्बन्ध को भी जानता है। परन्तु कठिनाई यह है कि भारत में खाद का बहुत टोटा है। अब हम खाद के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक विचार करेंगे।

गोबर की खाद.

भारत में गोबर की खाद ही सबसे महत्वपूर्ण है। सच तो यह है कि भारतीय जो कुछ खाद खेत पर डालता है वह गोबर की ही होती है। अन्य देशों में किसान पशुओं के गोबर तथा कूड़ा-करकट की खाद जिसे फार्म की खाद कहते हैं—के अतिरिक्त कृत्रिम रूप से तैयार की हुई खाद का भी उपयोग करते हैं। परन्तु भारतीय किसान कृत्रिम रूप से तैयार की हुई खाद का प्रयोग प्रायः नहीं करता है।

किन्तु दुर्भाग्यवश भारतीय किसान के पास जितनी गोबर की खाद उपलब्ध है वह उसका उपयोग खाद बनाने में नहीं करता। वर्ष के अधिकांश भाग में वह गोबर के कंडे बनाकर या तो स्वयं जलाता है अथवा उन्हें बेंचता है। केवल वर्षा के महीनों में जब कि कंडे बनाने का धंधा चल ही नहीं सकता तब वह उसका उपयोग खाद बनाने में करता है और गोबर तथा कूड़े का ढेर लगा देता है। सर्व प्रथम सन् १८९३ में डाक्टर वोयलकर ने इस विनाशकारी प्रथा का विरोध किया था। उनका कथन था कि इस प्रकार किसान भूमि की उर्वरा-शक्ति को नष्ट कर डालता है। गोबर का उपयोग गांव में केवल जलाने में ही नहीं होता वरन् मकानों को लीपने तथा ईंटों को पकाने में भी होता है। यही कारण था कि डाक्टर वोयलकर ने इस ओर सभी लोगों का ध्यान आकर्षित किया था।

यदि किसान गोबर के कंडे बनाकर उन्हें जला डालता है या फिर उन्हें बेंच देता है तो उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह खाद के उपयोग को नहीं समझता। वह खाद के उपयोग को अच्छी तरह समझता है। परन्तु भारतीय गाँवों में ईंधन का नितान्त अकाल है। लकड़ी मिलती ही नहीं इस कारण कुछ दशाओं में तो उसे विवश होकर कंडे जलाने पड़ते हैं। किन्तु यह भी मानना होगा कि ग्रामीण स्त्रियाँ कंडों को जलाना पसन्द करती हैं। बर्मा में जो भारतीय बसे हैं वे लकड़ी की बहुतायत होते हुए भी कंडे जलाते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि कंडे की आग बहुत धीमी होती है और ग्रामीण स्त्रियों को कार्य अधिक रहने के कारण वे चूल्हे पर कोई वस्तु पकने के लिए चढ़ाकर इधर-उधर कार्य करने के लिए जा सकती हैं। परन्तु लकड़ी का उपयोग

करने पर उन्हें चूल्हे के पास ही बैठना पड़ता है। इस कारण वे कंडे को पसन्द करती हैं। फिर ग्रामीण केवल अपने जलाने के लिए ही कंडे नहीं बनाता है। कंडा थाप कर उसे बेंचना एक ग्रामीण धंधा बन गया है। आप प्रतिदिन गांव वालों को समीपवर्ती कस्बों और नगरों में कंडे ले जा कर बेंचते देख सकते हैं। यह स्थिति वास्तव में अत्यन्त अवाञ्छनीय है। इसका मुख्य कारण यह है कि किसान इतना निर्धन है कि वह कुछ रुपयों के तुरन्त लाभ के लिए बहुमूल्य खाद को नष्ट कर डालता है। भारतवर्ष में जब तक इस विनाशकारी पद्धति को रोका नहीं जाता तब तक खाद की समस्या हल नहीं हो सकती।

गांवों में वन लगाना

इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक गांव में जहाँ सम्भव हो ऊसर भूमि वन विभाग की देखरेख में गांव वन खड़ा करे। वन विभाग वहाँ की भूमि तथा जलवायु के अनुसार वृक्षों का चुनाव करे कि जो उस गांव में लगने चाहिए; और उसके बीज या पौधा लगवाये। वन लगाने में जो श्रम हो वह गांववाले करें और जब वन तैयार हो जावे तो उसकी व्यवस्था गांव की पंचायत करे। इन वनों में घास उत्पन्न करने का भी प्रयत्न किया जावे तो गांवों में चारे की समस्या भी हल हो सकती है। इस प्रकार गांवों में जितना भी ईंधन उत्पन्न हो सके करना चाहिए। फिर नहरों, सड़कों, तथा अन्य स्थानों का भी उपयोग वृक्ष उत्पन्न करने के लिए करना चाहिए। लकड़ी की अधिक उत्पत्ति तो आवश्यक ही है, साथ ही, ऐसे चूल्हे के आविष्कार की भी नितान्त आवश्यकता है जिसमें ईंधन की किफायत हो और गरमी व्यर्थ नष्ट न हो। आज जिस प्रकार से ईंधन चूल्हों में जलाया जाता है उसमें बहुत-सा ईंधन बेकार जलता है। अस्तु इस ओर भी ध्यान देने की नितान्त आवश्यकता है। यही नहीं, शहरों में भी साफ़ कोक तथा ईंधन की व्यवस्था होनी चाहिए कि जिससे कंडों की मांग कम हो जावे। गांव वालों को अरहर, सन, जूट इत्यादि की लकड़ियों को जलाने का अभ्यास डालना चाहिए। इतना करने पर भी गांवों में इस बात की खूब प्रचार की आवश्यकता पड़ेगी कि वे गोबर को जलाना छोड़ दें। उन्हें यह बतलाने की आवश्यकता है कि यह अत्यन्त हानिकर प्रथा है और

उसे त्याग देना उनके हित में है। किन्तु जब तक गांवों में यथेष्ट ईंधन उपलब्ध नहीं होता तब तक गोबर का खाद नष्ट होने से बचाया नहीं जा सकता।

हरा खाद

हरे खाद का भी खेती में बहुत महत्व है। कृषि विशारदों ने अब हरे खाद के महत्व को भली-भाँति समझ लिया है। कृषि बोर्ड के मिट्टी-विभाग की सभा में भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न विभागों से आये हुए कृषि-विशारदों ने हरे खाद के महत्व को भली प्रकार प्रगट किया था। ट्रावंकोर राज्य के कृषि विभाग के डायरेक्टर ने कहा था कि ट्रावंकोर राज्य में हरे खाद की फसलों की पैदावार करना नितान्त असम्भव है। परन्तु वे हरी खाद उत्पन्न करने वाले पेड़ उत्पन्न करते हैं और उनकी पत्तियों का खाद के रूप में सफलता पूर्वक उपयोग किया जा रहा है। सिंध सरकार ने भी भूमि की उर्वरा शक्ति को बनाये रखने के लिए हरी खाद की फसलें उत्पन्न करने की प्रथा को सिंचाई की दरों में कमी करके प्रोत्साहन दिया है। भारतवर्ष में कहीं-कहीं सन और ढ़ैंचा की फसल को उत्पन्न करके खेत में ही जोत देते हैं उससे भी भूमि की उर्वरा शक्ति में बहुत वृद्धि होती है। कृषि विशेषज्ञों ने हरी खाद की फसलों की उपयोगिता की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया है। विशेषज्ञों का कहना है कि हरे खाद देने से भूमि में नौषजन (Nitrogen) बड़ी ही सरलता से मिल जाता है। यह फसलें भूमि के लीजन या कटाव को रोकती हैं, वे भूमि के अन्य आवश्यक तत्वों की रक्षा करती हैं और मिट्टी की जल ग्रहण करने की शक्ति को बढ़ाती हैं। भारतवर्ष में हरी खाद का उपयोग अत्यन्त प्राचीन काल से होता रहा है। भारतीय किसान उर्द इत्यादि (Leguminous-crops) को बो कर उन्हें खेत में जोत देता है। अस्तु आवश्यकता इस बात की है कि कृषि-विशेषज्ञ ऐसी फसलों का चुनाव करें जो शीघ्र उत्पन्न हो सकें, सस्ती हों, और उनके पैदा करने में अधिक व्यय न हो और जो खाद के रूप में उपयोगी हो।

हड्डी और मछली की खाद

भारतवर्ष में हड्डी की खाद का बहुत कम उपयोग होता है। उसके मुख्य दो कारण हैं। एक तो भारतीय किसान हड्डी की खाद का उपयोग

धार्मिक भावना के कारण नहीं करना चाहता। तथा दूसरा कारण यह है कि हड्डी की खाद के सम्बन्ध में पूरी जानकारी भी नहीं है। इसके अतिरिक्त हड्डियों को तोड़कर बारीक चूरा करना भी एक कठिन समस्या है। आज से बहुत वर्ष हुए जब डाक्टर वोयलकर ने हड्डी की खाद के उपयोग के सम्बन्ध में अनुसंधान किये जाने की बात कही थी, कृषि कमशिन ने भी उसी बात को दोहराया। सबसे पहली बात तो यह है कि यह मालूम किया जाय कि हड्डी की खाद का मूल्य क्या होगा और किन-किन फसलों के लिए वह लाभदायक सिद्ध होगी। क्योंकि यह तो स्पष्ट ही है कि हड्डी की खाद अधिक खर्चीली होने के कारण सभी फसलों के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकती।

अभी तक इस सम्बन्ध में पूर्ण रूप से अनुसंधान नहीं हुआ है और प्रतिवर्ष भारतवर्ष से लगभग एक करोड़ रुपये की हड्डी विदेशों को भेज दी जाती है। भारतवर्ष में केवल समुद्रों के किनारे ही मछली की खाद का उपयोग होता है अन्यथा मछली की खाद का यहाँ विशेष उपयोग नहीं होता। प्रति वर्ष बीस लाख रुपये की मछली विदेशों को भेज दी जाती है।

तिलहन और खली

खली भी एक महत्वपूर्ण खाद है। परन्तु भारतवर्ष से अधिकांश तिलहन विदेशों को भेज दिया जाता है। दूसरे शब्दों में हम भूमि की उर्वरा शक्ति को विदेशों में भेज देते हैं। प्रति वर्ष भारतवर्ष से करोड़ों रुपये का तिलहन विदेशों को भेजा जाता है और कुछ खली भी विदेशों को भेज दी जाती है। शाही कृषि कमीशन के सामने बहुत से विद्वानों ने इस बात की माँग की थी कि तिलहन का विदेशों को भेजा जाना रोक दिया जाना चाहिए। उनका कहना था कि उसके परिणाम स्वरूप यहाँ तेल पेरने के कारखाने अधिक संख्या में स्थापित हो जावेंगे और धंधे के लाभ के अतिरिक्त खली देश में ही बच रहेगी। परन्तु कृषि कमीशन ने इस बात का समर्थन नहीं किया। कृषि कमीशन का कहना था कि यद्यपि भारत तिलहन निर्यात करने वाले देशों में प्रमुख स्थान रखता है किन्तु उसके और भी प्रतिस्पर्धी हैं, अतएव यदि भारत तिलहन भेजना बंद कर देगा तो फ्रांस

इत्यादि देश जो मुख्यतः तिलहन विदेशों से मँगाते है, अन्य देशों से तिलहन मँगाने लगेंगे। यदि भारत तिलहन देश में ही पेरने लगेगा तो उसे तेल विदेशों को भेजना पड़ेगा तेल भेजने में अधिक व्यय और कठिनाई होती है। अतएव जब तक भारत में ही साबुन इत्यादि धंधों की उन्नति नहीं हो जाती कि जिससे उनमें तेल की खपत हो सके तब तक तिलहन का विदेशों को भेजा जाना किसान के हितों के विरुद्ध होगा। क्योंकि उस दशा में भारतीय कारखाने ही तिलहन खरीदेंगे और किसान को उसका कम मूल्य मिलने की सम्भावना होगी। इस महायुद्ध के उपरान्त जो औद्योगिक उन्नति की योजनायें बनाई जा रही हैं उनके फलस्वरूप भारत में औद्योगिक उन्नति के स्पष्ट चिन्ह दृष्टिगोचर हो रहे हैं। अस्तु अब समय आ गया है कि जब सरकार को इस ओर ध्यान देना चाहिए। यदि देश में तेल पेरने का धंधा उन्नति कर जावे तो खली अनायास ही खाद के लिए बच रहेगी। यदि पशुओं को खाने के लिए अधिक खली दी जावेगी तो भी खली का अंश गोबर में रहेगा और उसका उपयोग भूमि की उर्वरा शक्ति बनाये रखने के लिए हो सकेगा।

खड्डी की खाद

भारतीय किसान मल की खाद के उपयोग से हिचकता है। वह खड्डी की खाद का उपयोग नहीं करना चाहता। इसका कारण उसकी अरुचि है। परन्तु क्रमशः अधिक प्रचार करने से इस प्रकार की खाद का उपयोग और प्रचार बढ़ाया जा सकता है। कृषि कमीशन का मत था कि खड्डी की खाद के उपयोग से किसान के हिचकने का मुख्य कारण यह है कि उसमें दुर्गंध होती है। अस्तु कमीशन ने इस बात की सिफारिश की थी कि म्यूनिस्पैल्टियों को चाहिए कि वे वैज्ञानिक क्रियाओं द्वारा मल की दुर्गंध को दूर करके उसे सुखा कर पाउडर बना लें और तब उसका खाद के रूप में आसानी से उपयोग हो सकता है। मल की दुर्गंध दूर करने तथा उसको सुखा कर पाउडर बनाने की कई वैज्ञानिक पद्धतियाँ है। नासिक में इसके कई सफल प्रयोग हुए हैं। आवश्यकता इस बात की है कि बड़े-बड़े नगरों की म्यूनिस्पैलटियों को इस प्रकार के प्लाट लगाने के लिए प्रोत्साहित किया जावे। इस प्रकार दुर्गंध रहित मल की खाद का उपयोग

करने से किसान नहीं हिचकेगा। यही नहीं छोटे-छोटे कस्बों तथा गांवों में भी यदि कूप-शौचगृहों का प्रचलन हो तो एक तो सफाई रहे और उत्तम खाद खेतों को मिल सके। साथ ही, किसानों में मल की खाद का उपयोग करने के लिए प्रचार करना आवश्यक होगा। किन्तु यह ध्यान में रखने की बात है कि मल की खाद नगरों के समीप ही उपलब्ध हो सकती है।

रसायनिक खाद—

भारतवर्ष जैसे निर्धन देश में जहाँ का किसान ऋण से दबा हुआ है, जिसके पास छोटे-छोटे और बिखरे हुए खेत हैं और जिसके पास अपनी बहुत कम पूंजी है उससे यह आशा करना कि वह कृत्रिम रसायनिक खाद मोल लेकर खेत में डालेगा यह एक दुराशा मात्र है। यही कारण था कि कृषि कमीशन ने इस धंधे के प्रति विशेष दिलचस्पी नहीं दिखलाई। अभी तक जो कुछ रसायनिक खाद भारतवर्ष में काम आता है वह चाय के बाग तथा अन्य बड़े-बड़े फार्मों पर ही उपयोग में आता है। इस महायुद्ध के समय सरकार ने विदेशी कंपनियों को यहाँ रसायनिक खाद उत्पन्न करने का अधिकार दिया है। अभी तक यह कह सकना कठिन है कि रसायनिक खाद का प्रयोग साधारण किसान कहाँ तक कर सकेगा। हो सकता है कि यदि यह खाद सस्ती मिले तो व्यापारिक फसलों के लिए इसका उपयोग बढ़ जाय।

ऊपर के विवरण से यह तो स्पष्ट हो गया होगा कि भारतवर्ष में साधारणतया किसान केवल गोबर, घास या कूड़े को सड़ा कर बनाये हुए खाद पर ही निर्भर रह सकता है। क्योंकि यह वस्तुएँ स्वयं उसके घर में मौजूद रहती हैं और यदि वह उनको नष्ट न कर दे तो वह यथेष्ट मिल भी सकती हैं। जो स्थान कि जंगलों के समीप हैं वहाँ वृक्षों की पत्तियों से हरा खाद तैयार किया जा सकता है और उसके लिए किसान को कुछ व्यय नहीं करना होगा। अस्तु, अधिकांश किसानों को अपनी भूमि की उर्वरा शक्ति बनाये रखने के लिए जितनी खाद की आवश्यकता होती है वह केवल गोबर और कूड़े से ही तैयार की जा सकती है।

खाद को तैयार करने का ढंग

भारतीय किसान केवल मूल्यवान खाद को जलाकर नष्ट ही नहीं कर देता है वरन् जो कुछ गोबर, कूड़ा—कचरा वह खाद में परिणित करता है वह भी उत्तम खाद नहीं होती। इसका मुख्य कारण यह है कि उसके खाद बनाने का ढंग अवैज्ञानिक है। अधिकांश किसान गोबर और कूड़े कचरे को एक ढेर के रूप में इकट्ठा करते जाते हैं और फिर खेत में डाल देते हैं। गाँव की सीमा पर जो बहुत से कूड़े के ढेर दिखलाई पड़ते हैं वे उस बात के प्रमाण हैं। यह अत्यन्त दोषपूर्ण पद्धति है क्यों कि उससे गाँव में मक्खियों और रोग के कीटाणुओं का बाहुल्य होता है, जो गाँव वालों के स्वास्थ्य पर अत्यन्त विनाशकारी प्रभाव डालता है। यही नहीं, ढेरों में खाद इकट्ठी करने से खाद भी बहुत खराब तैयार होती है। वर्षा का जल खाद के तत्वों को बहा ले जाता है और जो कुछ तत्व शेष रहते हैं वे कड़ी धूप में उड़ जाते हैं। इस प्रकार जो खाद तैयार होती वह भूमि को बहुत कम शक्ति प्रदान करती है। एक प्रकार से वह राख बन जाती है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि खाद बनाने के ढंग में सुधार किया जावे।

गड्ढों में खाद बनाने की पद्धति

गड्ढों में खाद बनाने का पद्धति अत्यन्त वैज्ञानिक है और उससे बहुत अच्छी खाद तैयार होती है। यही नहीं कि इस प्रकार खाद तैयार करने से उत्तम खाद तैयार होती है, वरन् गाँवों में सफाई भी रह सकती है। प्रत्येक किसान को दो बड़े गड्ढे (जिनकी लम्बाई १० फीट और चौड़ाई ५ फीट हो) खोद लेना चाहिए। पशुओं का गोबर, बचा हुआ चारा तथा कूड़ा-कचरा एक गड्ढे में डालते रहना चाहिए। जब वह गड्ढा भर जावे तो उसे ऊपर से मिट्टी से ढक देना चाहिए। तीन महीने में बढ़िया खाद तैयार हो जायेगी। जब तक एक गड्ढे में खाद तैयार हो तब तक दूसरे गड्ढे में किसान गोबर और कूड़ा-कचरा डालता रहेगा। जब पहले गड्ढे की खाद तैयार हो जावे तो किसान उस खाद को खेत में डालेगा और पहला गड्ढा खाली हो जावेगा। दूसरा गड्ढा जब भर जावे तो पहले में

गोबर इत्यादि डाला जावेगा। इस प्रकार किसान दो बड़े गड्ढों में अपने खेतों के लिए यथेष्ट उत्तम खाद तैयार कर सकता है।

पाश्चात्य देशों में पशुओं के मूत्र का भी उत्तम खाद तैयार किया जाता है। प्रतिदिन पशुओं के नीचे थोड़ी मिट्टी बिछा देने से वह मिट्टी मूत्र को सोख लेती है और किसान उस मिट्टी को भी गड्ढे में डाल देता है। भारतवर्ष में किसान इस ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता और खाद के लिए अत्यन्त मूल्यवान पदार्थ नष्ट हो जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय किसान को मूत्र के गुणों को बताया जावे और उसे प्रतिदिन पशुओं के मूत्र को मिट्टी बिछाकर एकत्रित करने के लिए प्रोत्साहित किया जावे। ऐसा करने से बहुत बढ़िया खाद तैयार हो सकेगी।

खेत में खाद डालने का ढंग

भारतीय किसान वर्षा से लगभग १० या १५ दिन पहले खेत में खाद डालता है। खाद को बिना जोते हुए खेत में लाकर किसान चारों तरफ उसकी छोटी-छोटी ढेरी बना देता है और उसे मिट्टी में मिला देने के लिए कम से कम एक या दो मूसलाधार वर्षा के उपरान्त वह उसे खेत को जोत देता है। यह विधि भी कुछ हद तक अवैज्ञानिक है और खाद डालने से जो पूरा लाभ होना चाहिए वह इस विधि से नहीं हो पाता। पानी गिरने से १० दिन पूर्व जो ढेरियाँ खेतों में रख दी जाती हैं उससे हानि यह होती है कि सूर्य की गरमी से जल कर बहुत-सा लाभकारी तत्व नष्ट हो जाता है और फिर वर्षा होने से उस खाद के बहुत से लाभदायक तत्व बह जाते हैं। यदि किसान खाद की ढेरियाँ बनाकर रखने के बदले, उस खेत में छोटी-छोटी खाइयाँ बनाकर नीचे दबा दें तो उस खाद के बहुत से लाभदायक तत्वों की इस प्रकार हानि न हो। ऐसा करने से कुछ अधिक समय और पैसा न लगेगा केवल एक प्राचीन विधि में कुछ परिवर्तन करना होगा। किसान अपनी कुछ भूमि को परती छोड़ देते हैं। उन्हें चाहिए कि वे परती छोड़ी हुई भूमि में बराबर दूरी पर एक फुट से डेढ़ फुट गहरी खाई खोदकर गोबर व कूड़े-कचरे को उसमें भर-भर कर ढकते जावें। इस प्रकार भीतर ही भीतर सड़कर वह खाद मिट्टी में मिल जावेगी। दूसरे वर्ष इस भूमि पर खेती होगी और दूसरी भूमि को परती छोड़कर उसमें भी बराबर-बराबर दूरी

पर खाइयाँ खोद कर ऊपर बताई हुई विधि से खाद जमा करनी चाहिए। इस प्रकार खाद बनाने से दो लाभ होंगे। एक तो किसान को दो बार खाद को ढोने का श्रम बचेगा, उसे गड्ढे या ढेर पर खाद न डालनी पड़ेगी दूसरे कूड़ा-कचरा गाँव से दूर हो जावेगा और गाँव अधिक शुद्ध तथा स्वच्छ रह सकेगा। जहाँ-जहाँ खाद इस प्रकार खेतों में डालने का प्रयोग किया गया है वहाँ भूमि की उर्वरा शक्ति में साधारण रीति से खाद डालने से दुगुनी और तिगुनी वृद्धि हुई है।

यदि बिखरे हुए खेतों की चकबन्दी हो जावे तो किसान को इस प्रकार खाद डालने में बहुत सुविधा हो सकती है। अभी तो उसके पास बहुत से छोटे-छोटे खेत होते हैं। फिर भी यदि किसान को इस प्रकार खाद डालने की विधि बताई जावे और वह उसे अपनावे तो बहुत लाभ हो सकता है।

भारतवर्ष में खेती की उन्नति के लिए खाद की समस्या को हल करना नितान्त आवश्यक है। पिछले महायुद्ध ने तो इस बात को भयंकर रूप में सिद्ध कर दिया कि भारत की बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए यथेष्ट भोजन उत्पन्न करने के लिए अधिक गहरी खेती होना नितान्त आवश्यक है। गहरी खेती के लिए यथेष्ट खाद मिलनी चाहिए। इसी उद्देश्य से भारत सरकार ने कुछ विदेशी कम्पनियों को भारत में कृत्रिम खाद तैयार करने के लिए कारखाने स्थापित करने को आमन्त्रित किया है। किन्तु जब तक यह खाद बहुत सस्ते दामों में नहीं बिकता तब तक यह आशा करना कि भारतीय किसान उसे खरीदेगा, दुराशा मात्र है। अस्तु खाद की समस्या तभी हल हो सकती है जब कि किसान गोबर को जलाना छोड़ दे और सारे गोबर, और कूड़े-कचरे को उत्तम खाद में परिणित करके खेत में डाले।

बीज

यह कहावत भारत में प्रसिद्ध है कि "जैसा बोयेगा वैसा काटेगा" किन्तु जिस प्रकार किसान अपने खेत में बीज बोता है उससे यह प्रमाणित नहीं होता कि वह इस "कहावत" के अनुसार खेती में बीज के महत्त्व को समझता है। यह सच है कि यदि किसान की आर्थिक स्थिति अच्छी हुई तो वह अगले वर्ष बोने के लिए बढ़िया बीज रख छोड़ता है। पर ऐसे

किसान बहुत कम हैं जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी है। अतएव अधिकांश किसान बीज के लिए महाजनों और साहूकारों पर ही निर्भर रहते हैं। और महाजन या साहूकार सवाये या ड्योढ़े पर बीज उधार दे देता है और फसल कटने के बाद जितना बीज दिया है उसका सवाया या ड्योढ़ा वसूल कर लेता है। महाजन को तो अपने सूद से मतलब होता है। वह बीज को छांटने और उसको शुद्धतथा सुरक्षित रखने की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता। इसका परिणाम यह होता है बीज विशुद्ध नहीं रहता। उसमें अन्य चीजें मिली रहती हैं। उसका चुनाव ठीक न होने के कारण उसके उत्पन्न होने की शक्ति कम होती जाती है और बीज को रखने में सावधानी न बरतने के कारण बीज रोग-युक्त हो जाता है जिससे सारी फसल खराब हो जाती है और फसलों में कीड़े या अन्य रोग लग जाते हैं।

महाजन जो बीज किसान को देता है वह कभी भी अच्छा नहीं हो सकता क्यों कि उसके पास तो भिन्न-भिन्न किसानों का बीज आता है। किसी का अच्छा होता है तो किसी का बुरा होता है। और वह उन सब बीजों को अपने भ्रसौरे या खत्ती में भर देता है। इस प्रकार सब तरह का बीज मिलाकर असावधानी से भर देने के कारण बीज कभी अच्छा रह ही नहीं सकता। अस्तु उत्तम और रोग रहित बीज उपलब्ध करना खेती की उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

भारतवर्ष में बीज के सम्बन्ध में केवल यही समस्या नहीं है कि वह जो बीज उधार लेता है वह अच्छा नहीं होता और बीज वितरण का ढङ्ग दोषपूर्ण है, वरन् सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न अच्छी जाति के उत्तम बीज उत्पन्न करने का है। लगातार वही बीज बोने से उसे मिलाकर असावधानी से भर कर रखने से बीज खराब होने लगता है और वह ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है कि उससे अच्छी फसल उत्पन्न हो ही नहीं सकती। अतएव खेती की उन्नति के लिए उत्तम जाति के बीज उत्पन्न करना नितान्त आवश्यक है।

उत्तम जाति के बीज उत्पन्न करने के लिए तीन विधियां हैं (१) चुनाव के द्वारा (Selection) (२) दो बीजों के संसर्ग से (Hybridisation) तथा विदेशी पौधे को अपने देश की जलवायु के अनुकूल बनाकर (Acclimatisation) चुनाव के द्वारा उत्तम बीज को उत्पन्न

करना सबसे सरल और शीघ्र फल देने वाला है उसमें बहुत अधिक अनुसंधान की आवश्यकता भी नहीं पड़ती और न उतनी वैज्ञानिक कुशलता की ही आवश्यकता पड़ती है। चुनाव में अन्वेषक को प्रचलित बीजों में से जो अच्छे बीज हों उनको छांटना पड़ता है और उन बीजों को उगा कर उनकी अच्छाई और बुराइयों का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार जो बीज दोषपूर्ण होता है उसे छांट दिया जाता है और जब थोड़े से उत्तम बीज रह जाते हैं जो कि सब तरह से अच्छे होते हैं तब उनको पैदा करके किसान को दिया जाता है।

दूसरे प्रकार की विधि अधिक समय लेती है और उस विधि से उत्तम बीज उत्पन्न करने में बहुत अधिक योग्यता और कुशलता की आवश्यकता पड़ती है। इस विधि में दो शुद्ध छांटे हुए बीजों के संसर्ग से एक नवीन उत्तम बीज उत्पन्न किया जाता है। इस प्रकार जो उत्तम बीज उत्पन्न किया जाता है उसमें दोनों बीजों के गुण मौजूद रहते हैं और दोष दूर हो जाते हैं। किन्तु इस विधि से बीज को सुधारने में ७ से १५ वर्ष तक लग जाते हैं, साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि चुनाव द्वारा बीज में एक सीमा तक ही सुधार हो सकता है उसके उपरान्त दो चुने हुए बीजों के संसर्ग से ही भविष्य में उन्नति और सुधार सम्भव है।

तीसरी विधि भी इतनी सरल नहीं है जितना कि चुनाव द्वारा बीज का सुधार। इसमें अन्य देशों में उत्पन्न होने वाले उत्तम बीजों को क्रमशः अपने देश के जलवायु के अनुकूल बनाकर उस बीज को अपने देश की जलवायु का ऐसा अभ्यस्त कर देते हैं कि वह उस देश में आसानी से उत्पन्न हो सके।

भारत की परिस्थिति को देखते हुए यहाँ चुनाव की विधि ही अधिक उपयुक्त जान पड़ती है। इस विधि से अधिक सरलतापूर्वक तथा थोड़े समय में ही बीजों में आशाजनक उन्नति हो सकती है। यही कारण है कि प्रान्तीय कृषि विभागों ने चुनाव की विधि से ही बीजों को सुधारने का प्रयत्न किया है और उन्हें विशेष सफलता भी मिली है।

उत्तम बीज की समस्या केवल एक बार बीज में सुधार कर देने से ही हल नहीं हो जाती क्योंकि बीज कालान्तर में फिर घटिया हो जाता है उसकी शक्ति घटने लगती है अतएव बीज को सुधारने का काम बराबर होते रहना आवश्यक है। जिससे कि पहला बीज जब अवनति के चिन्ह

प्रगट करने लगे तो दूसरा बढ़िया बीज किसानों को दिया जा सके। गन्ने और आलू इत्यादि की फसलें तो ऐसी हैं कि जिनका बीज बहुत जल्दी ही अवनति के चिन्ह प्रगट करने लगता है अस्तु इन फसलों के लिए तो बहुत जल्दी बीज बदलने की आवश्यकता पड़ती है। जिन फसलों का बीज शीघ्र ही खराब नहीं होता उनके बीज का सुधार कार्य भी बराबर होते रहना आवश्यक है किन्तु उन फसलों के नवीन उत्तम बीजों को तभी किसान को देना चाहिए जब कि यह निश्चय हो जावे कि नया बीज सब प्रकार से पहले बीज से बढ़िया है। बीज के सुधारने में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रति बीघा पैदावार भी अधिक हो और फसल अच्छी जाति की हो। यदि इन दोनों उद्देश्यों में विरोध हो तो उपज की ओर ध्यान न देकर अच्छी जाति की फसल की ओर ध्यान देना चाहिए।

उत्तम बीज उत्पन्न कर लेने के उपरान्त उस बीज को बड़ी राशि में उत्पन्न करके किसानों को देने का प्रश्न उपस्थित होता है। इसके लिए प्रत्येक प्रान्त में तीन प्रकार के फार्म होते है। अनुसंधान फार्म, (Research farms) प्रयोग करने वाले फार्म और प्रदर्शन तथा बीज फार्म। संयुक्तप्रान्त में एक चौथे प्रकार का फार्म मोडल फार्म भी होता है। अनुसंधान फार्मों पर पौधों की नस्ल में सुधार करने के लिए अनुसंधान किया जाता है। प्रयोग फार्म पर उत्तम जाति के बीजों का प्रयोग करकेदेखा जाता है कि वह बीज उस भूमि और जलवायु में अच्छी पैदावार देता है या नहीं। प्रयोग करने के अतिरिक्त इन फार्मों पर उत्तम बीज पैदा भी किया जाता है। इन बीजों को फिर प्रदर्शन तथा बीज फार्मों पर अधिक राशि में उत्पन्न किया जाता है और उनकी जाँच की जाती है। इस प्रकार कई बार जांच कर लेने के उपरान्त यह निश्चय हो जाता है कि यह सुधरा हुआ उत्तम बीज स्थानीय परिस्थिति के उपयुक्त हैं या नहीं। यह प्रदर्श फार्म खेती के वैज्ञानिक ढंग का प्रदर्शन करने का भी काम देते हैं। संयुक्त प्रान्त में मॉडल फार्म आधुनिक ढंग की खेती का प्रदर्शन करते हैं।

किन्तु केवल सरकारी फार्मों पर ही उत्तम बीज उत्पन्न किया जावे तो किसानों को उत्तम बीज नहीं दिए जा सकते इसके लिए निजी फार्मों का भी उपयोग किया जाता है। इन निजी फार्मों पर कृषि विभाग की देख-रेख में उत्तम बीज उत्पन्न किया जाता है। फिर भी देश में उत्तम बीज पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलता। अस्तु, आवश्यकता इस बात की है कि

अधिकाधिक निजी फार्मों पर उत्तम बीज उत्पन्न कराया जावे और किसान भी बीज को स्वयं उत्पन्न करने और उसको सुरक्षित रखने के लिए प्रोत्साहित किया जावे नहीं तो इतने विशाल देश में उत्तम बीजों का वितरण कर सकना सरल कार्य न होगा।

कुछ फसलों जैसे गेहूँ, चावल और जूट के बीज को अधिक समय तक शुद्ध और उत्तम बनाये रखना सरल है। परन्तु कपास तम्बाकू और ज्वार बाजरा इत्यादि का बीज शीघ्र ही अवनति के चिन्ह प्रगट करने लगता है। कपास में तो एक कठिनाई यह है कि कपास के पेंचों में सब तरह की कपास ओटी जाती है जिससे कि बीज में मिलावट हो जाती है। बीज की शुद्धता को बनाये रखने के लिए फार्मों पर ही उत्तम कपास को ओटा जाता है। इस बीज को कुछ रजिस्टर्ड बीज उत्पादकों को उत्पन्न करने के लिए दे दिया जाता है। इन रजिस्टर्ड उत्पादकों की कपास को भी कृषि-विभाग की देख-रेख में सरकारी पेंचों में ओटा जाता है इसके उपरान्त यह बीज विशेष किसानों तथा सहकारी कपास समितियों को दे दिया जाता है। इन विशेष किसानों तथा सहकारी कपास समितियों की कपास भी पृथक पेंचों में कृषि विभाग की देखरेख में ओटी जाती है। तब यह बीज साधारण किसान को दिया जाता है।

भारत में बीज का वितरण भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न प्रकार से होता है। विदेशों में फसलों के बीज को बेचने का कार्य बीज के विक्रेता करते हैं किन्तु भारत में बीज के विक्रेता नहीं है। विदेशों में बीज विक्रेता जल्दी-जल्दी नये और उत्तम जाति के बीजों को बाजार में रखते हैं। उनका लाभ इसी में है। किन्तु भारत में यदि जल्दी-जल्दी नये-नये बीज किसान को दिये गए तो बुद्धि-भेद उत्पन्न होने का भय है। भारतीय किसान निर्धन, और अशिक्षित है, उसके पास बहुत थोड़ी भूमि है और वह भी छोटे-छोटे टुकड़ों में बटी होती है। इस कारण नये-नये बीजों को जल्दी जल्दी किसान को देना भारत में उचित नहीं है। भारतीय किसान इतना निर्धन है कि वह बहुधा बीज मोल न लेकर उधार लेता है इस कारण वह बीज को जल्दी-जल्दी बदल नहीं सकता। भारत में बीज विक्रेता न होने के कारण किसान के पास बीज पहुँचाने का काम भी कृषि विभाग ही करता है। कृषि विभाग के अतिरिक्त सहकारी समितियाँ तथा ग्राम सुधार समितियाँ भी यह कार्य करती हैं। कहीं-कहीं जमींदार भी यह कार्य करते हैं। उदाहरण के लिए

पंजाब सरकार ने बहुत बड़ी संख्या में बीज फार्म स्थापित किये हैं जो कि केवल उत्तम जाति के बीजों को उत्पन्न ही नहीं करते वरन नहर उपनिवेशों की बड़ी-बड़ी जमींदारियों में जहाँ सरकारी बीज बोया जाता है उत्पन्न हुए बीज को वे मोल लेकर किसानों को बेंच देते हैं। मध्यप्रान्त में बड़े-बड़े मालगुजार उत्तम जाति के गेहूँ का बीज कृषि विभाग से खरीद लेते हैं और उसको अपने फार्मों पर उत्पन्न करके किसानों को सवाये पर दे देते हैं। संयुक्त प्रान्त में बीज फार्म सवाये पर या कीमत लेकर रजिस्टर्ड बीज उत्पन्न करने वालों को दे देते हैं और फिर उनकी फसल को वे मोल लेकर बीज को किसानों को दे देते हैं। प्रत्येक प्रान्त में कस्बों और गाँवों में बीज गोदाम स्थापित कर दिये गए हैं जो कि किसानों को उत्तम जाति का बीज देते हैं। फिर भी प्रत्येक किसान को उत्तम जाति का बीज सुगमता से नहीं मिल पाता क्योंकि एक तो जितने बीज गोदाम होने चाहिए उससे बहुत कम बीज गोदाम स्थापित किये गए हैं, साथ ही जितना बीज किसान चाहते हैं उससे बहुत कम बीज मिल पाता है। अभी बहुत समय तक कृषि विभाग को ही बीज को बेचना पड़ेगा क्योंकि यहाँ बीज विक्रेता नहीं हैं और न निकट भविष्य में यह आशा ही की जा सकती है कि यहां बीज विक्रेता प्रगट होंगे। इस कारण सरकारी कृषि विभागों का यह पहला कर्तव्य है कि वे अधिकाधिक उत्तम बीज उत्पन्न करें जिससे कि अच्छे बीज की कमी न पड़े और उस बीज को बेंचने के लिए अधिकाधिक बीज गोदामों की स्थापना होनी चाहिए।

उत्तम बीज को केवल उत्पन्न कर लेने मात्र से कृषि विभाग का कर्तव्य समाप्त नहीं हो जाता है। किसानों में उस बीज का प्रचार करना भी आवश्यक है इसके लिए प्रदर्शन और प्रचार आवश्यक होता है। किन्तु यह मानना होगा कि भारतीय किसान बहुत व्यवहारिक है और उत्तम बीज को उसने बिना किसी कठिनाई के सरलतापूर्वक स्वीकार कर लिया है। वह पुरातनवादी अवश्य है परन्तु वह अपनी हानि-लाभ को खूब समझता है। इस कारण जहां उसे कोई ऐसा सुझाव मिलता है जिससे उसे लाभ होने की सम्भावना हो तो वह उसे तुरन्त अपना लेता है। भारत में कृषि विभाग ने जो उत्तम बीज किसानों के सामने रक्खे उनका किसानों ने बहुत अच्छा स्वागत किया है।

किसान को स्वयं अपना बीज उत्पन्न करना चाहिए

यह तो ठीक है कि उत्तम जांति की फसलों के लिए उत्तम बीज की आवश्यकता होती है और नये-नये उत्तम बीजों को उत्पन्न करना बीजों में सुधार करने का काम कृषि विशेषज्ञों का है। किन्तु एक बार जब उत्तम बीज किसान को मिल गया तो कुछ वर्षों तक उसे वही बीज उत्पन्न करना होगा फिर कोई दूसरा उत्तम बीज बाजार में आवेगा। अस्तु उस समय में यदि किसान चाहे तो थोड़ी-सी सावधानी बरतने पर वह अपना बीज स्वयं उत्पन्न कर सकता है। सच तो यह है कि जब तक किसान यह नहीं करता तब तक बीज की समस्या पूर्ण रूप से हल नहीं हो सकती।

पाश्चात्य देशों का किसान स्वयं अपना बीज उत्पन्न करता है। इसके लिए वह दो बातों का विशेष रूप से ध्यान रखता है। प्रथम तो यह कि जब फसल खड़ी होती है तो उस फसल के सिवाय जो कुछ दूसरी फसल के पौधे उस खेत में उगे रहते है वह उन्हें उखाड़ कर फेंक देता है जिससे कि बीज में दूसरी फसल के बीज मिलने न पावें। और दूसरे यह कि फसल काटने से पहले उस खेत में उस फसल के अच्छे शक्तिवान दानेदार पौधों को वह अलग काट कर रख लेता है और उनको अलग से साफ करके अगली साल के लिए बोने को रख लेता है। भारतीय किसान बीज इकट्ठा करने में इन बातों पर ध्यान नहीं देते।

किन्तु केवल अच्छा बीज उत्पन्न कर लेने मात्र से ही बीज की समस्या हल नहीं हो जाती। बीज को सुरक्षित रखना भी अत्यन्त आवश्यक है। यदि बीज की घुन, सीलन, या अन्य कीटाणुओं से रक्षा न की जा सकी तो बीज खराब हो जावेगा और फसल नष्ट हो जावेगी। भारतवर्ष में किसान अपना बीज भुसौरों में रखता है। बीज को घुन से बचाने में वह राख मिलाता है। उरद, मूंग तथा सरसों के बीज को किसान मटकों में रखता है और उनकी रक्षा के लिए उनमें हींग का जल छिड़क देता है। साहूकार या महाजन के पास बहुत अनाज होता है वह उस अनाज को खत्ती या भूसौरों में भर देता है। इस प्रकार असावधानी से रक्खा हुआ बीज कभी भी अच्छी फसल उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि बीज में कोई कीड़ा लग जाता है तो जब फसल तैयार होती है तो वह कीड़ा फसल में प्रगट होकर सारी फसल को नष्ट कर डालता है। अस्तु बीज को सुरक्षित

रखना अत्यन्त महत्व की बात है। साधारणतः बीज गोदामों में भी बीज को इकट्ठा रखने का उचित प्रबंध नहीं होता। बीज की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि उसे सीलन, घुन तथा अन्य कीड़ों से बचाया जावे। जिन प्रान्तों में वर्षा अधिक होती है या भूमि में न भी रहती है वहां कंकरीट के कुठलों का प्रचार करने से बीज की सीलन से रक्षा की जा सकती है। यह कंकरीट के कुठले बहुत मजबूत और टिकाऊ होते हैं और उनमें बीज बहुत सुरक्षित रह सकता है। कीड़ों और घुन इत्यादि से बीज की रक्षा करने के लिए यह आवश्यक है कि कृषि विभाग किसानों में उन विधियों का प्रचार करे कि जिनके अपनाने से बीज को कीड़े हानि न पहुँचा सकें।

खेती के औजार

भारतीय किसान के खेती के औजार बहुत साधारण और सस्ते होते हैं। आज शताब्दियों से भारतीय किसान उन्हीं पुराने औजारों को काम में ला रहा है उनमें कोई परिवर्तन वह करना पसंद नहीं करता। किसान के पास नीचे लिखे औजार होते हैं— १. हल, (२) पटा या पटेला, (३) पुर या चरसा जिसे मोट भी कहते हैं, पुर की रस्सी और गिर्री, (४) खुरपा, फावड़ा, हंसिया, कुदाल, गंडासी इत्यादि छोटे मोटे औजार हैं जो कि भारतीय किसान के पास होते हैं। हल से वह जमीन जोतता है, पटेले से जुताई के उपरान्त जमीन बराबर की जाती है और मिट्टी के ढेलों को तोड़ा जाता है। पुर रस्सी और गिर्री कुयें से खेत सींचने के काम आती है। खुरपा, कुदाल, फावड़ा और हंसिया इत्यादि मिट्टी खोदने निराई करने और फसल काटने के काम आते हैं, इनके अतिरिक्त किसान चोगा या नाई नाम की वस्तु बीज बोने के काम में लाता है। यह बास या बेंत की बनी होती है और हल की मूठ के पास बंधी रहती है।

इन औजारों के कुछ विशेष गुण हैं जिनके कारण भारत में यह सर्वत्र प्रचलित हैं। भारतीय हल इत्यादि इतने सादे बने होते हैं कि वे प्रत्येक गांव में बनाये जा सकते हैं और गाँव का बढ़ई या लुहार उनकी सरलता से मरम्मत कर सकता है। यह औजार उन वस्तुओं से बनाये जाते हैं कि जो सरलतापूर्वक सब स्थानों में मिल जाती है। यह देशी हल और अन्य औजार बेहद सस्ते होते हैं। साथ ही देशी हल इतना हलका होता है कि किसान उसे कंधे पर रख कर एक खेत से दूसरे खेत पर आसानी से ले

जा सकता है साथ ही साधारण बैल भी इस हल्के हल को आसानी से चला सकता है।

किन्तु जहाँ देशी हल के ऊपर लिखे गुण हैं वहाँ उसके दोष भी हैं। उसका सबसे बड़ा दोष तो यह है कि उससे गहरी जुताई नहीं हो सकती। वह भूमि को खरोंचता भर है गहरा नहीं जोतता और उत्तम खेती के लिए गहरी जुताई की आवश्यकता है। देशी हल आध इंच से अधिक गहरी जुताई नहीं कर सकता साथ ही देशी हल से जोतने में बीच की भूमि बिना जुती रह जाती है। गहरी जुताई न होने के कारण मिट्टी नहीं पलटी जाती। परिणाम यह होता है कि पौधे ऊपरी सतह की ८-९ इंच भूमि से अपना भोजन खींच-खींच कर चूसते जाते है। नीचे की सतह की भूमि जैसे की तैसी पड़ी रहती है।

यही कारण है कि कृषि विभाग बराबर इस बात पर जोर देता है कि किसान को अच्छे हलों का उपयोग करना चाहिए कि जिससे भूमि गहरी जोती जा सके और मिट्टी पलटी जा सके। क्योंकि कृषि विभाग की सम्मति में गहरी जुताई से खेती की उन्नति होने की सम्भावना है। किन्तु कुछ विद्वानों का कथन है कि किसान अपने देशी हल को इस कारण नहीं छोड़ता क्योंकि अधिक गहरी जुताई से भूमि के जल के कड़ी धूप में भाप बन कर उड़ जाने का भय रहता है। भारतवर्ष में जल की कमी के कारण किसान जल का विशेष ध्यान रखता है और गहरी जुताई से जो लाभ होता है वह कई बार खेत जोतने से हल हो जाता है। फिर गहरी जुताई सब दशाओं में लाभदायक हो, ऐसा भी नहीं है। जिस जमीन पर पानी हलका गिरता है वहाँ जुताई गहरी करने से जमीन के भीतर पहली वर्षा से जो पानी जमा होता है वह सब बुरी तरह इधर-उधर हो जाता है। जिस जमीन पर पानी अधिक गिरता है वहाँ अधिक जुताई करने से इतना पानी भर जाता है कि उपज का हानि पहुँच सकती है। अस्तु आवश्यकता इस बात की है कि अपनी जमीन की विशेष परिस्थित को ध्यान में रख कर ही वह यह निर्णय कर सकता है कि उसके लिए कैसा हल उपयुक्त होगा।

हल के सम्बन्ध में देश के अन्दर दो मत हैं। एक मत तो यह है कि देसी हल बहुत घटिया है और उससे जुताई ठीक हो ही नहीं सकती। दूसरा मत यह है कि देसी हल इतना खराब नहीं है और भारतीय किसान की विशेष परिस्थितियों को देखते हुए वह उपयुक्त औजार है। इस सम्बन्ध में

शाही कृषि कमीशन का मत उल्लेखनीय है "भारत में खेती के औजार स्थानीय परिस्थितियों के लिए उपयुक्त हैं। वे हलके होने के कारण कमजोर बैलों द्वारा खींचे जा सकते हैं। किसान उन्हें अपने कंधे पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर आसानी से ले जा सकता है। वे बहुत सस्ते हैं। यह औजार इतने सादे होते हैं कि सब जगह वे बनाये जा सकते हैं और उनकी आसानी से मरम्मत हो सकती है और उनको बनाने का सामान सब कहीं मिलता है। यह सब गुण होते हुए भी यह निर्विवाद है कि इन औजारों में बहुत उन्नति की गुंजाइश है।"

श्री ऐलन महोदय ने भी नीचे लिखे शब्दों में देशी हलों का पक्ष समर्थन किया है "खेती के देसी औजार यद्यपि सादे और पुराने हैं और यद्यपि उनमें यथेष्ट सुधार किया जा सकता है फिर भी उस परिस्थिति में जहां श्रम की बचत करने वाले यंत्रों का कोई मूल्य नहीं है और जहां किसान के पास अपनी थोड़ी सी भूमि जोतने के लिए यथेष्ट समय है वे यथेष्ट कारगर सिद्ध होते हैं। यह औजार मिट्टी को खेती के योग्य बना देते हैं।" उनका कथन है कि यदि किसी किसान के पास बहुत अधिक भूमि हो तो उसको विशेष क्रियाओं के लिए विशेष औजारों की ज़रूरत पड़ सकती है किन्तु जिस स्थिति में वह खेती करता है उसमें साधारण औजार ही काम दे सकते हैं। यद्यपि विशेष औजार इन साधारण देसी औजारों से कहीं अधिक उपयोगी होते हैं और उसे काम कम व्यय में और अच्छा होता है परन्तु चार या पांच एकड़ भूमि के फार्म के लिए वे अत्यधिक खर्चीले और बेकार सिद्ध होंगे। यहीं नहीं कि किसान के पास भूमि बहुत थोड़ी होती है पर साथ ही वह छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटी होती है। इस कारण विशेष औजार और भी बेकार सिद्ध होंगे।"

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि खेती के औजारों का प्रश्न जटिल है। इसमें तो तनिक भी संदेह नहीं कि हमारे खेती के औजारों से गहरी खेती और वैज्ञानिक ढंग की खेती नहीं हो सकती। अतएव खेती की उन्नति के लिए औजारों में सुधार होना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु साथ ही औजारों का प्रश्न बैलों की शक्ति, वर्षा, भूमि, स्थानीय परिस्थितियों से जुड़ा हुआ है। अस्तु भारतवर्ष विदेशों में प्रचलित औजारों और यंत्रों का अधिक उपयोग नहीं कर सकता। भारतीय खेती की आवश्यकताओं को देखते हुए हमें अपने देश के लिए उपयुक्त औजारों का निर्माण करना

होगा तभी यह प्रश्न हल हो सकता है।

यह तो निर्विवाद सत्य है कि भारत में सस्ते सादे, और हल्के औजारों की आवश्यकता है। जिन औजारों में यह गुण होंगे वे अधिक प्रचलित नहीं हो सकते। किसान अत्यन्त निर्धन है इस कारण बहुत कीमती औजार वह नहीं ले सकता। उसके बैल निर्बल हैं इस कारण वह भारी औजारों को खींच नहीं सकते और खेत बिखरे हुए होने के कारण भी बहुत भारी औजारों का उपयोग अधिक नहीं हो सकता। यदि औजार बहुत ही पेचीदा हुए जिन्हें गांव का बढ़ई या लुहार मरम्मत न कर सका तो भी वे अधिक सर्व-प्रिय नहीं होंगे। अस्तु औजारों के सुधार को हाथ में लेते समय इन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है।

आवश्यकता इस बात की है कि कृषि विभाग का एक इंजिनियरिंग उप-विभाग हो जो प्रत्येक प्रान्त में वहाँ की स्थानीय परिस्थितियों को ध्यान में रखकर औजारों में सुधार करे। जब कोई उत्तम हल या औजार तैयार कर लिया जावें तो सरकार उसको बनाने के लिए एक या अधिक बड़े कारखाने स्थापित करे। जिससे कि वे औजार अधिक मात्रा में बनाये जाने के कारण सस्ते मूल्य पर किसानों को दिये जा सकें। उन औजारों के हिस्से भी बहुत बड़ी राशि में बनाये जावें कि जिससे कोई हिस्सा खराब हो जाने पर वह आसानी से बदला जा सके। साथ ही उन औजारों का प्रचार किया जावे। इस प्रकार औजारों की समस्या को हल किया जा सकता है। यदि हम चाहते हैं कि भारत में कृषि की उन्नति हो और वह लाभहीन पिछड़ा हुआ धंधा न रहे तथा भूमि की उपज में वृद्धि हो तो भारत को अधिकाधिक गहरी खेती को अपनाना होगा और गहरी खेती इन औजारों और हलों से नहीं की जा सकती।

औजारों की समस्या केवल इतना करने से ही हल नहीं हो जावेगी। गहरी खेती के लिए कुछ विशेष प्रकार के मूल्यवान औजारों की भी आवश्यकता हो सकती है जो कि एक किसान की शक्ति के बाहर होंगे। उनकी प्राप्ति के लिए दो ही तरीके हो सकते हैं। या तो कृषि विभाग बीज गोदामों की तरह उन कीमती औजारों को किराये पर देने के लिए यंत्र स्टेशन स्थापित करे अथवा सहकारी समितियों की स्थापना की जावे जो कि इन औजारों को मोल ले लें और उनके सदस्य कुछ फीस देकर उनका उपयोग करें।

रूस में जो खेती की आश्चर्यजनक उन्नति हुई है उसमें इन यंत्र-स्टेशनों का बहुत बड़ा हाथ है।

कृषि विभागों ने औजारों के सुधार की ओर अभी अधिक ध्यान नहीं दिया है इसी कारण इस दिशा में कुछ अधिक उन्नति नहीं हो सकी। केवल पंजाब तथा संयुक्तप्रान्त में क्रमशः राजा हल और मेस्टन हल बनाया गया है जो देशी हल से उत्तम है। मेस्टन हल लगभग देशी हल की तरह ही होता है पर उससे अधिक लाभदायक है। वह देशी हल की अपेक्षा अधिक गहराई तक भूमि में प्रवेश करता है और बेकार पौधों तथा घास को नीचे दबा देता है जिससे कि वे नीचे सड़कर खाद बन जाते हैं। जमीन के पलटने से उसकी उपजाऊ शक्ति बढ़ जाती है। यदि इस हल से जुताई की जावे तो साधारण देशी हल से डेढ़ गुना अधिक जुताई होती है। पंजाब का राजा हल मेस्टन-हल की तरह भूमि को पलट देता है किन्तु उससे अधिक गहराई तक प्रवेश करता है। कड़ी जमीन या ऐसी जमीन जिसमें बेकार पौधे निकल आया करते हैं, इन दोनों प्रकार की जमीनों के लिए वह विशेष उपयोगी है। यह हल देशी हल की अपेक्षा चौगुनी जुताई करता है। इस हल के साथ केवल यही एक कठिनाई है कि यह बहुत भारी होता है। इससे केवल वही किसान उसे काम में ला सकते हैं जिनके पास बहुत बढ़िया और मजबूत बैल हों।

औजारों के सुधार की ओर अभी तक पूरा ध्यान नहीं दिया गया है, यह खेद की बात है। केवल हलों तथा अन्य औजारों के सुधार मात्र से समस्या हल नहीं हो जावेगी। उत्तम औजारों का प्रदर्शन और प्रचार करना होगा तभी वे प्रचलित होंगे। किन्तु हमें एक बात न भूलनी चाहिए कि जब तक खेतों की चकबंदी न होगी, बैलों की नस्ल की उन्नति न होगी और किसान के पास पूंजी की सुविधा न होगी तब तक उत्तम औजार अधिक प्रचलित न हो सकेंगे। यह समस्यायें एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं। अतएव इनकी ओर भी ध्यान देना आवश्यक है।

खेती की विधि

भारतीय किसान निर्धन है और थोड़ी-सी भूमि पर खेती करता है। किन्तु इससे जो यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वह खेती की कला को नहीं

जानता, वे भूल करते हैं। डाक्टर वोयलकर महोदय ने भारतीय किसान के बारे में लिखते हुए कहा था, "जिन विषम परिस्थितियों में भारतीय किसान को खेती करनी पड़ती है उन्हें देखते हुए यह कहना पड़ता है कि वह अत्यन्त परिश्रमी और खेती की कला में दक्ष है।" एक दूसरे स्थान पर उन्होंने कहा है, "यह निश्चित है कि कम से कम मैंने ऐसी सुन्दर, परिश्रम और सावधानी से की गई खेती और कहीं नहीं देखी"। डाक्टर वोयलकर का मत था कि भारतीय किसान खेती का पूरा जानकार है। उसके खेती का ढङ्ग उत्तम है और उस ढङ्ग में केवल वैज्ञानिक अनुसंधान के द्वारा ही उन्नति कर सकने की सम्भावना है। साधरण रूप से उसकी खेती की विधि पूर्ण है। कृषि कमीशन ने भी इस मत की नीचे लिखे शब्दों में पुष्टि की है। "इतने प्राचीन देश में यह बात आश्चर्यजनक नहीं है कि अनुभव के आधार पर खेती की विधि इतनी अधिक पूर्ण बन गई कि अब उसकी उन्नति वैज्ञानिक अनुसंधान के द्वारा ही हो सकती है। बहुत से स्थानों पर खेती का जो ढङ्ग प्रचलित है वह बहुत उन्नत है, उदाहरण के लिए डेल्टा प्रदेशों में चावल की खेती बहुत उन्नत अवस्था में है और बहुत-सी कृषि सम्बन्धी कहावतों का वैज्ञानिक अनुसंधानों ने समर्थन किया है।"

कृषि विशेषज्ञ सर हैनरी काटन ने भी भारतीय किसान की प्रशंसा करते हुए लिखा है "बड़े-बड़े खर्चीले विभाग स्थापित किए गए किन्तु खेती के देशी ढङ्ग में किंचित मात्र भी उन्नति न हो सकी। भारतीय किसान को ऐसा सुन्दर व्यावहारिक ज्ञान और कुशलता प्राप्त है कि जो वैज्ञानिक और विशेषज्ञ पाने की आशा भी नहीं कर सकते। आगे सर हैनरी काटन कहते हैं "हम भारतीय किसान को खेती की वैज्ञानिक विधि बतलाते समय हम भूल जाते हैं कि वह जिस स्थित में अपने धंधे को चला रहा है वह अत्यन्त विषम है। भारतीय किसान वैज्ञानिक सुधारों को अपनाने के लिए बहुत निर्धन है। उन्हें गहरी जुताई करने के लिए कहा जाता है किन्तु ऐसा कहने वाले यह भूल जाते हैं कि उसके बैल गहरी जुताई के योग्य नहीं है। हम उनसे खेतों में अधिक खाद डालने के लिए कहते हैं; उससे खेती की पैदावार बढ़ेगी, इसमें कोई संदेह नहीं कि खाद डालने से पैदावार अवश्य बढ़ेगी। किसान जो कुछ भी गोबर का खाद जमा कर पाता है, खेत में डालता है। गोबर उसके जलाने के काम भी

आता है किन्तु उन कीमती खादों को वह खेत में डाल नहीं सकता जिनसे हम लोग अधिक परिचित हैं। उनसे उन कीमती खादों के उपयोग करने के लिए कहना ठीक वैसा ही है कि जैसा उनसे हाथियों द्वारा जुताई करने के लिए कहना। किसान की निर्धनता खेती की उन्नति मे स्थायी बाधा के समान खड़ी हुई है।"

इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतीय किसान अत्यन्त परिश्रमी है। और हजारों वर्षों के अनुभव ने उसे खेती की कला का पूरा जानकार बना दिया है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि जिन परिस्थितियों में वह अपने धंधे को करता है वे प्रतिकूल और विषम हैं अतएव खेती की अवनति के लिए हम उसे दोष नहीं दे सकते। परन्तु यह विधि उस समय के लिए सर्वथा उपयुक्त थी कि जिसमें खेती अत्यन्त सादी और सरल थी। किन्तु आज के युग में जब कि खेती वैज्ञानिक ढङ्ग से की जा रही है और उसमें आधुनिक यंत्रों का उपयोग होता है तब भारतीय किसान अपने पुराने ढङ्ग से खेती करने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में उन्नत देशों के किसानों की प्रतिस्पर्द्धा मे कठिनाई से टिक पाता है। क्योंकि उसका लागत व्यय अधिक होता है। अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में खेती की पैदावार का मूल्य अधिक कुशल और उन्नत किसानों की लागत से निर्धारित होता है; इस कारण भारतीय किसान को तो वही मूल्य मिलता है। उसका लागत व्यय अधिक होने के कारण उसकी आय पिछले दिनों में घटती गई है और वह अधिक निर्धन हो गया है। भारतीय किसान की निर्धनता उसे खेती की वैज्ञानिक उन्नत विधि नहीं अपनाने देती और पुराने ढङ्ग से लागत व्यय अधिक होता है। अस्तु हमें खेती की विधि में क्रमशः धीरे-धीरे सुधार करना होगा और किसान को वैज्ञानिक ढङ्ग से खेती करने के लिए प्रोत्साहन देना होगा तभी किसान की आर्थिक स्थिति में सुधार हो सकता है।

इसके लिए इस बात की आवश्यकता है कि प्रत्येक प्रान्त में भिन्न-भिन्न भौगोलिक परिस्थितियों, मिट्टी, जलवायु इत्यादि को ध्यान में रखकर वैज्ञानिक खेती की विधि स्थिर की जावे और फिर उसका किसानों में प्रचार किया जावे।

खेती की नवीन विधि को फैलाने के लिए प्रदर्शन और प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता है क्योंकि किसान अशिक्षित और निर्धन है; इस कारण

जब तक उसे नवीन विधि की श्रेष्ठता प्रमाणित नहीं कर दी जावेगी तब तक वह उसे स्वीकार नहीं करेगी। कृषि विभाग दो तरह से प्रदर्शन और प्रचार कार्य करते हैं। एक तो प्रदर्शन गाड़ी द्वारा। प्रदर्शन गाड़ी में चित्र चार्ट और ग्रामोफोन इत्यादि सामग्री रहती है। चुने हुए भाषण दिये जाते हैं, कुछ साहित्य भी रहता है, अच्छे औजार और उत्तम बीजों के नमूने भी रहते हैं। यह गाड़ी एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाती है, गाड़ी पर जो कृषि विभाग का कर्मचारी होता है वह सब बातों की जानकारी देता है और प्रदर्शन करता है।

प्रदर्शन और प्रचार का दूसरा तरीका अधिक लाभदायक होता है। इसमें कुछ गाँव छाँट लिए जाते हैं और उनमें उत्तम खेती करने वाली सहकारी समिति स्थापित की जाती है। खेती के सब सुधारों का इस समिति द्वारा गाँवों में प्रचार किया जाता है। उदाहरण के लिए यदि समिति उत्तम बीजों का प्रचार करना चाहती है तो वह दो किसानों के दो खेतों को छाँट लेगी। एक पर उत्तम बीज और दूसरे पर पुराना बीज बोया जावेगा। कई बार इसी प्रकार यह प्रयोग दुहराने से किसानों को उत्तम बीज की श्रेष्ठता का विश्वास हो जावेगा। उसी प्रकार से अच्छे औजार और खाद का प्रयोग भी किया जा सकता है।

एक तीसरा तरीका भी है जिससे खेती की नवीन विधि का प्रचार किया जा सकता है। कृषि विभाग प्रत्येक गाँव में एक किसान को उनके बताये हुए तरीके से खेती करने के लिए राजी करे। उसे यह आश्वासन दे दिया जाय कि यदि उसे हानि होगी तो सरकार उसकी पूर्ति कर देगी। फिर किसान कृषि विभाग की देख-रेख में अपने खेत पर खेती करे यदि उससे उपज अधिक होगी तो अनायास ही वह विधि किसान अपना लेंगे।

कृषि प्रदर्शनियों और कृषि मेलों से भी नवीन खेती की विधि का प्रचार किया जाता है। किन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि किसान के सामने ऐसा कोई सुझाव न रखना चाहिए कि जो अव्यावहारिक हो, किसान की शक्ति के बाहर हो या उसकी श्रेष्ठता पूर्ण रूप से सिद्ध न हुई हो। कभी-कभी कृषि विभाग के उत्साही कर्मचारी इस महत्वपूर्ण तथ्य को भूल जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि किसान उनके सुझावों को शंका की दृष्टि से देखने लगता है।

कृषि विभाग ने जो बड़े प्रदर्शन फार्म स्थापित किये उनका किसान पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा। क्योंकि उसने देखा कि उन पर बढ़िया इमारतें खड़ी हैं, मूल्यवान हल-बैल हैं और फार्म के दूसरे साधन भी उसकी शक्ति के बाहर हैं; फिर यह फार्म कभी भी लाभदायक सिद्ध नहीं हुए। अतएव किसान को यह फार्म आकर्षित नहीं कर सके।

रोग तथा कीड़ों से फसल की रक्षा

भारतवर्ष में फसलों के भंयकर शत्रु कीड़े-मकोड़े तथा रोगों से खेती को बहुत हानि पहुँचती है। अस्तु फसलों की इन शत्रुओं से रक्षा करना कृषि सुधार के लिए अत्यन्त आवश्यक है। विदेशों से आये हुए कीट पतंगों से तथा रोगों से यहां की फसल की रक्षा करने के लिए सरकार ने एक कानून बना दिया है जिसे "कीट-पतंग तथा रोग निवारण ऐक्ट" (१९४१) कहते हैं। इस कानून के द्वारा बाहर से आये हुए ऐसे पदार्थों की जाँच बंदरगाहों में होती है जिनके साथ हिन्दुस्तान के पौधों को नाश करने वाली बीमारियाँ आती हैं। यदि उन पदार्थों में ऐसे कोई हानिकारक कीट पतंग पाये जाते हैं तो उन्हें देश के अन्दर जाने देने से पूर्व वहाँ दवाइयों में भिंगों कर उन कीट पतंगों को नष्ट कर दिया जाता है। इस प्रकार विदेशों से आने वाले फसल के रोगों और कीट पतंगों से होने वाली हानि से खेती की रक्षा का प्रयत्न किया गया है। परन्तु कृषि विनाशक अनेकानेक कीट-पतंग तथा बीमारियाँ देश में ही वर्तमान हैं जिनसे किसानों की तथा वस्तुतः सारे देश की बहुत हानि होती है। अब हम कुछ ऐसे कीड़ों-बीमारियों तथा अन्य शत्रुओं का वर्णन करेंगे जिनसे फसलों को बहुत हानि होती है।

यदि खेत जंगलों के पास हुए तो उन्हें सुअर, लोमड़ी, सियार, नीलगाय तथा हिरन का भय रहता है। यह जंगली पशु फसलों को नष्ट कर डालते हैं। इन जंगली पशुओं से फसल की रक्षा करने के लिए इस बात की आवश्यकता है कि ऐसी झाड़ियां तथा पौधे ढूंढ़ निकाले जावें कि जो मजबूत और कांटेदार हों और जो सघन उत्पन्न होती हों। ऐसी झाड़ियों और पौधों की बाढ़ लगाने से खेती की रक्षा हो सकती है। ऐसे स्थानों पर किसान को शिकारी कुत्ते पालने के लिए कहा

जाय। शिकारी कुत्ते इन जानवरों को भगा देंगे। इसके अतिरिक्त जहाँ इस प्रकार के जंगली जानवर बहुत अधिक हों वहाँ बंदूकों का लाइसैंस अधिक दिया जावे जिससे कि गाँव वाले इन जङ्गली जानवरों का शिकार कर सकें। लोमड़ी, सियार और हिरन जैसे दब्बू जानवरों को किसान खेत में टीन बाँधकर उसकी आवाज से, गोफन से, तथा बाँस को कुरता पहिना कर मनुष्य की सूरत खड़ी कर देने से भी भगा देते हैं। इनके अतिरिक्त चिड़ियाँ भी खेती को नष्ट करती हैं उन्हें भी उपरोक्त विधि से किसान उड़ाता है। चूहे भी फसल को हानि पहुँचाते हैं किन्तु यदि किसान परिश्रम करे तो उन्हें भी नष्ट कर सकता है।

वास्तव में इन सब से फसलों को बचाना कोई अधिक कठिन काम नहीं है। परन्तु कीड़ों और फसल की बीमारियों से फसलों को अत्यन्त हानि होती है। कभी-कभी तो सारी फसल ही नष्ट हो जाती है और किसान का सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। टिड्डी, तितली, और कनकटे (Grass-hopper) इत्यादि बहुत से ऐसे कीड़े होते हैं जो फसलों को हानि पहुँचाते हैं। दीमक भी फसलों को कभी-कभी बहुत हानि पहुँचाती है। कृषि-विभाग का यह कर्तव्य है कि इन कीड़ों के नष्ट करने के सरल और प्रभावशाली उपाय ढूँढ़ निकाले और उनका गाँवों में प्रचार किया जाय। आवश्यकता इस बात की है कि गांव के छोटे लड़कों को कीड़े नष्ट करने की शिक्षा दी जाय और उनके दलों को इस कार्य के लिए तैयार कर दिया जाय। लड़के इस कार्य को चाव से और सरलता पूर्वक कर सकते हैं।

इन कीड़ों को नष्ट करने के कुछ उपाय नीचे लिखे हैं। कीड़ों को खाने वाली चिड़ियों को पालना। फसलों का हेर-फेर करना। कई प्रकार के कीड़े ऐसे होते हैं जो एक प्रकार की फसल पर ही रहते हैं और दूसरे प्रकार की फसल पर नहीं रहते। मान लीजिये कि "अ" खेत पर हम एक प्रकार की फसल पैदा करें और "ब" पर दूसरी प्रकार की फसल पैदा करें तो दोनों खेतों में भिन्न-भिन्न प्रकार के कीड़े आवेंगे। अब यदि दूसरे वर्ष इन खेतों की फसलों को बदल दिया जावे तो कीड़ों को खेतों में दूसरे प्रकार की फसलें मिलेंगी जिनपर वे जिंदा नहीं रह सकते। यह भी संभव है कि दूसरी फसल के कीड़े पहली फसल के कीड़ों को खा जावें। इस प्रकार फसलों के हेर-फेर से कीड़ों की समस्या कुछ हद तक हल हो सकती है।

फसल के बाद भी बहुत से कीड़े-मकोड़े भूमि के भीतर छिपे रहते हैं। जब खेत जोता जाता है और उसकी नीचे की मिट्टी ऊपर उठ आती है तो जो कीड़े पहले नीचे थे वे ऊपर आने के कारण हवा और रोशनी से मर जाते हैं। इससे कृषि को कीड़ों से बचाने में जुताई से बहुत लाभ होता है। जितनी गहरी जुताई हो उतना ही अच्छा है क्योंकि उतने ही नीचे के कीड़े ऊपर आकर मर जावेंगे। इन उपायों के अतिरिक्त खेतों में रोशनी और धुआँ करने से भी कीड़े मर जाते हैं।

कुछ ऐसी दवाइयाँ भी हैं जिनसे कीड़े मर जाते हैं। (१) कपड़ा धोने का विलायती साबुन एक सेर लेकर १० सेर पानी में खूब उबाले फिर उसमें बीस सेर मिट्टी का तेल डालकर मथ डाले बस नाशक दवा तैयार हो गई। उस दवा का एक हिस्सा ८ हिस्से पानी में मिलाकर खेतों में जहाँ जहाँ कीड़े हों वहाँ छिड़क दिया जावे तो कीड़े मर जावेंगे और पौधों को कोई हानि न पहुँचेगी। (२) एक हिस्सा तम्बाकू को उसके दस गुने पानी मे दिन भर भिगो कर रक्खो, फिर जितनी तम्बाकू हो उसका एक चौथाई साबुन उसमें मिला दो। इस दवा का एक हिस्सा सात हिस्से पानी में मिला कर छिड़क देने से कीड़े मर जाते हैं। (३) पौधे के बीज को पहले गोमूत्र में भिगोकर फिर गंधक और तूतिया के पानी में तर कर के सुखा देने से और उसके उपरान्त बोने से पौधों में कीड़े नहीं लगते। इस प्रकार और भी कुछ वस्तुएँ हैं जिनके घोल बना कर छिड़कने से कीड़े मर जाते हैं। उदाहरण के लिए नीला थोथा इत्यादि।

कीड़ों के अतिरिक्त फसलों पर बीमारी का भी आक्रमण होता है। पौधों की इस बीमारी को अँग्रेजी में फंगस (Fungus) कहते हैं। यह एक प्रकार की काई-सी होती है जो बहुधा पौधों पर जम जाती है। इससे पौधे पीले पड़ जाते हैं तथा उनमें के दाने कमजोर हो जाते हैं। यों तो इनकी भी कुछ दवाइयाँ हैं; परन्तु सबसे उत्तम तो यही होगा कि वे पौधे जड़ से उखाड़ कर जला दिये जावें, जिससे यह रोग फैलने न पावे क्योंकि यह अत्यन्त संक्रामक रोग होता है। यह रोग भिन्न-भिन्न पौधों पर भिन्न-भिन्न रंग में प्रगट होता है और उसके रंगों के अनुसार भिन्न-भिन्न नाम हैं परन्तु वस्तुतः वे एक ही हैं।

आवश्यकता इस बात की है कि सरकार के कृषि विशेषज्ञ तथा वैज्ञानिक इन रोगों के निवारण के लिए अनुसंधान करें और फसलों की रक्षा के लिए उपाय ढूंढ़ निकालें। हर्ष की बात है कि कृषि अनुसंधान समिति (Agriculture Research council) इस ओर प्रयत्नशील है और फसलों की इन बीमारियों से रक्षा करने के उपाय ढूँढ़े जा रहे हैं।

परिच्छेद — ४

भारत में ढोर समस्या

भारत में पशुओं का महत्व

संख्या की दृष्टि से संसार में हमारे देश में सबसे अधिक ढोर हैं। श्री नारमन राइट ने अपनी ढोर और दूध के धंधे सम्बन्धी रिपोर्ट में लिखा है कि संसार में ढोरों की कुल संख्या ६६ करोड़ है जिसमें लगभग बीस करोड़ ढोर केवल भारतवर्ष में हैं। इस प्रकार भारत में संसार के एक तिहाई ढोर निवास करते हैं। भारतवर्ष के बाद सोवियत रूस (६½ करोड़) तथा संयुक्तराज्य अमेरिका में (६ करोड़) सबसे अधिक ढोर हैं। किन्तु इन देशों में भारतवर्ष की तुलना में एक तिहाई ढोर से भी कम हैं। ब्रिटेन में तो केवल ७० लाख पशु हैं। इन आकड़ों से भारत में पशुओं का महत्व स्पष्ट हो जाता है।

अभी कुछ समय हुआ भारत में (१९३५) पशु गणना हुई थी उसके अनुसार भारत में लगभग २३ करोड़ पशु थे। भारतवर्ष में खेती के धंधे में केवल बैल का उपयोग होता है यद्यपि कहीं-कहीं निर्धन किसान भैंसे का भी खेती में उपयोग करते दिखलाई देते हैं किन्तु भैंसा खेती के लिए अधिक उपयुक्त सिद्ध नहीं होता। अस्तु उसका उपयोग खेती में बहुत कम होता है। केवल माल ढोने में उसका अधिक उपयोग होता है। अस्तु खेती केवल बैलों पर निर्भर है। यही कारण है कि भारत में गाय और बैल का इतना अधिक महत्व है।

खेती के धंधे में शक्ति का एकमात्र साधन बैल है। खेती की प्रारम्भिक क्रिया जुताई से लेकर पटेला देना, बीज बोना, फसल की सिंचाई करना; फसल कटने पर दांय चलाना और अन्त में फसल को गांव से मंडी तक ले जाना, सभी क्रियायें बैल की सहायता से ही होती हैं। बैल वास्तव में खेती के लिए नितान्त आवश्यक है और उसके हृष्ट पुष्ट और सबल हुए बिना गहरी वैज्ञानिक खेती नहीं की जा सकती।

राष्ट्रीय सम्पत्ति में पशु धंधे का स्थान

श्री नारमन राइट ने भारत में ढोरों द्वारा जो सम्पत्ति उत्पन्न की जाती है उसका मोटा हिसाब लगाकर यह सिद्ध किया है कि खेती के उपरान्त पशुओं का धंधा ही सबसे महत्वपूर्ण धंधा है। पशुओं के धंधे से होने वाली वार्षिक आय के अनुमान का लेखा इस प्रकार है :—

१. दूध और दूध की वस्तुएँ	३००	करोड़ रुपये
२. चमड़ा, इत्यादि	४०	,, ,,
३. पशुओं के श्रम का मूल्य	४००	,, ,,
४. खाद	२७०	,, ,,
कुल आमदनी	१०१०	करोड़ रुपये

ऊपर दिए हुए हिसाब से यह स्पष्ट हो जाता है कि १९३९ के पूर्व उस समय के मूल्य के आधार पर पशुओं के धंधे से होने वाली आय लगभग १००० करोड़ रुपये थी और उस समय कृषि से होने वाली आय १००० करोड़ रुपये के कूती जाती थी। उससे भी भारत के आर्थिक जीवन में पशुओं का महत्व स्पष्ट हो जाता है। और खेती के तो वे प्राण हो हैं।

पशुओं द्वारा होने वाली वार्षिक आय का डाक्टर वेयर ने भी हिसाब लगाया है* जो इस प्रकार है :—

दूध और दूध की वस्तुएँ	५४०	करोड़ रुपये
खेती में श्रम का मूल्य	४०८	,, ,,
खाद	१८०	,, ,,
खेती के सिवाय अन्य प्रकार के श्रम का मूल्य	१७२	,, ,,
चमड़ा हड्डी सींग इत्यादि	३०	,, ,,
विदेशों को भेजे जाने वाले पशुओं का मूल्य	०·१२	,, ,,
	१२६५	करोड़ रुपये

*Economic Problems of Modern India by Dr. R K. Mukerji page—149

इस प्रकार उनका अनुमान १००० करोड़ से अधिक का है। अस्तु यह मान लेने में कोई हानि नहीं है कि पशुओं से होने वाली आय एक हजार करोड़ रुपये के लगभग है। यह तो निर्विवाद सत्य है कि पशुओं का हमारे आर्थिक संगठन में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। बिना पशुओं का सुधार किये खेती की उन्नति नहीं हो सकती।

भारत में पशुओं की हीन दशा

यद्यपि संसार में सबसे अधिक पशु-संख्या हमारे देश में है। किन्तु जैसी हीन दशा भारतवर्ष में पशुओं की है वैसी सम्भवतः किसी भी देश में न होगी। गाय, जो खेती की एक मात्र शक्ति बैल को उत्पन्न करती है, दूध देने वाला पशु नहीं रही है। जहाँ डैनमार्क तथा अन्य पाश्चात्य देशों में गाय १८ या २० सेर दूध प्रतिदिन देती है वहां भारतीय गाय का औसत एक सेर के लगभग है। क्रमशः भारत में दूध के लिए गाय का स्थान भैंस लेती जा रही है। इस प्रकार देश को बैल उत्पन्न करने के लिए गायों को रखना पड़ता है और दूध के लिए भैंस को पालना पड़ रहा है। जहाँ यह दोनों कार्य एक ही पशु से हो सकते हैं वहाँ दो पशुओं का पालना राष्ट्रीय धन का अपव्यय करना है। भारत के पशुओं की हीन दशा का परिणाम है कि यद्यपि भारतवर्ष में समस्त योरोप (रूस सहित) के बराबर दुधारु पशु हैं परन्तु योरोप की तुलना में यहां २० प्रतिशत दूध उत्पन्न होता है। कनाडा में भारत की तुलना में केवल ६ प्रतिशत पशु है किन्तु वहाँ भारत का २५ प्रतिशत दूध उत्पन्न होता है। यह तो रही दूध की बात। इस सम्बन्ध में हम ग्राम्य उद्योग धंधों के परिच्छेद में अधिक विस्तार पूर्वक लिखेंगे। यहाँ तो हमें बैलों की शक्ति पर विचार करना है। क्योंकि खेती के लिए उनका विशेष महत्व है।

जिस प्रकार भारतीय गाय की दशा अत्यन्त शोचनीय है ठीक उसी प्रकार खेती के बैलों की दशा है। बंगाल, मध्यप्रान्त, बिहार और संयुक्तप्रांत में बैल बहुत ही निर्बल और नाटे होते हैं। ढोरों की इस अवनति का बुरा परिणाम यह हो रहा है कि खेती अच्छी तरह से नहीं हो सकती। शाही कृषि कमीशन ने इस सम्बन्ध में लिखते हुए कहा था "जो भी तथ्य हमारे

सामने है उनसे यह पता चलता है कि अच्छी गाय और बैलों का मिलना दिन प्रतिदिन कठिन होता जा रहा है। यद्यपि पशुओं की संख्या तो यथेष्ट है किन्तु खेती के योग्य अच्छे पशुओं की कमी होती जा रही है। खेती के लिए अच्छे पशुओं की माँग बढ़ रही है किन्तु अच्छे पशुओं की संख्या भी घटती जा रही है। यदि शीघ्र ही पशुओं की नस्ल को नहीं सुधारा गया तो जो कुछ अच्छी नस्लें शेष रह गई हैं वे भी नष्ट हो जावेंगी।"

पशुओं की नस्ल बिगड़ने के कारण

यथेष्ट और अच्छे चारे की कमी

ढोरों की अवनति का एक मुख्य कारण यह है कि भारत में पशुओं को भरपेट अच्छा पौष्टिक भोजन नहीं मिलता। पशु यहाँ भूखा रहता है इस कारण वह क्रमशः निर्बल होता जाता है और निर्बल और अशक्त गाय स्वस्थ और हृष्ट बछड़े कैसे उत्पन्न कर सकती है। यों तो दिसम्बर से जुलाई तक भारत के अधिकांश भागों में चारे की कमी रहती है परन्तु मार्च और जून के समय (चार महीने) तो पशु के लिए अत्यन्त संकट के होते हैं। यही नहीं कि भारतीय पशु को भरपेट भोजन नहीं मिलता, उसको जो कुछ भी खाने को मिलता है उसमें पौष्टिक तत्व बहुत कम होते हैं। मार्च से जून तक के चार महीनों में जलती हुई धूप भूमि पर घास का एक तिनका भी नहीं रहने देती। पशु व्यर्थ में चारे की तलाश में मैदान तथा खेतों के पास घूम कर अपनी भूख को बढ़ाते हैं।
किसान जो कुछ थोड़ा सूखा भूसा उसके सामने डाल देता है उसी पर पशु को गुजारा करना पड़ता है। इस प्रकार इन चार महीनों में पशु को कठिनाई से आधा पेट भोजन मिलता है। जुलाई में जब वर्षा होती है और समस्त भूमि कच्ची घास से ढक जाती है तो चार महीने का भूखा पशु उसको बुरी तरह खाता है और पेट के रोगों का शिकार होकर बहुत बड़ी संख्या में मरता है।

श्रीनारमन सी राइट ने अपनी रिपोर्ट में इसका समर्थन करते हुए लिखा है कि "इसमें कोई संदेह नहीं कि पशु भूखे रहते हैं। उनके भूखे रहने का प्रमाण तो उनका मांस-रहित निर्बल शरीर है, उनके भूखे रहने

का एक दूसरा प्रमाण भारतीय गाय का बहुत देर में बच्चा उत्पन्न करना भी है। भारतीय गाय चार या पांच वर्ष की आयु में पहला बच्चा उत्पन्न करती है और दो बछड़ों के बीच में ६०० दिन तक का अन्तर हो जाता है। यह भारतीय पशु की नस्ल की कमी नहीं है क्योंकि जिन स्थानों पर पशु को यथेष्ट पौष्टिक भोजन मिलता है वहाँ गायें जल्दी बच्चा उत्पन्न करती हैं। इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेखनीय बात है कि केवल अच्छा यथेष्ट भोजन देने से भारतीय गायों का दूध ६० प्रतिशत बढ़ जाता है। इसका अर्थ यह है कि भारतीय पशु को भरपेट भोजन नहीं मिलता।" शाही कृषि कमीशन ने ठीक ही कहा था कि "यह हमारा विश्वास है कि जब तक पशु को भर पेट अच्छा चारा नहीं मिलता तब तक नस्ल में कोई महत्वपूर्ण सुधार नहीं हो सकता।" अस्तु यह तो स्पष्ट है कि पशुओं की नस्ल का सुधार बिना चारे की समस्या को हल किये नहीं हो सकता।

भूमि या चरागाह

चारे की कमी का एक मुख्य कारण भारत में गोचर भूमि की कमी है। साधारण व्यक्ति जो भारत में बहुत सी बिना जुती हुई भूमि को देखते हैं अनुमान कर सकते हैं कि देश में यथेष्ट गोचर भूमि है। परन्तु वस्तुस्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। शाही कृषि कमीशन ने इस संबंध में जो आंकड़े इकट्ठे किये थे वे इस प्रकार हैं :—

प्रति १०० एकड़ खेती की जमीन के पीछे ढोरों की संख्या

प्रान्त	अनुमानित गोचर भूमि एकड़ों में	गाय बैल बछड़े	भैंस भैंसे तथा उनके बच्चे
आसाम	२४२	८७	१०
बंगाल	३३	१०४	४
बिहार-उड़ीसा	५६	६६	१३
बम्बई	३३	२४	७
सिंध	१६५	४२	११
मध्य प्रान्त	१०७	३६	८
मदरास	७६	४६	१७
पंजाब	६२	३७	१६

प्रान्त	अनुमानित गोचर भूमि एकड़ों में	गाय बैल बछड़े	भैंस भैंसे तथा उनके बच्चे
संयुक्तप्रान्त	५२	६४	२४
कुल ब्रिटिश भारत	६२	५३	१४

दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि यदि हम मान लें कि सारे ब्रिटिश भारत में कुल २१३ एकड़ भूमि है जिसमें केवल १०० एकड़ भूमि ऐसी है जिस पर खेती होती है, ६२ एकड़ भूमि ऐसी है जिस पर अभी खेती नहीं हो रही है और २१ एकड़ भूमि परती पड़ी रहती है जिसपर पशु चर सकते हैं; तो कुल २१३ एकड़ भूमि में ५३ गाय, बैल और बछड़े तथा १४ भैंस, भैंसे तथा उसके बछड़े कुल ६७ ढोरों का पालन-पोषण होता है।

ऊपर दी हुई तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में भूमि को देखते हुए ढोर अधिक हैं। और जब कि गोचर भूमि कम है और देश में यकेष्ट चारा नहीं है तो हमें ढोरों का पूरा उपयोग करना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता और प्रति किसान के पास जितनी भूमि होती है उसी पर ढोरों का उपयोग होता है। उदाहरण के लिए यदि एक अच्छी जोड़ी बैल से १०० बीघा भूमि पर खेती की जा सकती है किन्तु किसान के पास केवल २५ बीघा ही भूमि है तो भी उसे एक जोड़ी बैल तो रखना ही पड़ेगा। फिर भारतीय ढोर इतने निर्बल हैं कि उनमें से बहुत से खेती के लिए बेकार सिद्ध होते हैं।

भारत में जमीन को देखते हुए ढोरों की संख्या अधिक है यह तो इसी से सिद्ध हो जाता है कि जहाँ भारत में प्रति १०० एकड़ खेती की भूमि के पीछे ६७ ढोर हैं वहां मिश्र देश में १०० एकड़ खेती के पीछे केवल २५ ढोर हैं। यद्यपि मिश्र और पंजाब की खेती में बहुत अधिक समानता है किन्तु फिर भी दोनों में प्रति १०० एकड़ भूमि के पीछे ढोरों में बहुत अन्तर है।

संक्षेप में हम यहां कह देना चाहते हैं कि हिन्दुस्तान की ढोर विषयक समस्या अत्यन्त शोचनीय है। जिस स्थान पर ढोरों के पालन पोषण के लिए जितनी गिरी हुई हालत होती है, उतनी ही उसी स्थान में ढोरों की अधिक संख्या पाई जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि गायें बहुत ही निर्बल हो जाती हैं और उनके बछड़े भी निर्बल और ठिगने उत्पन्न

होते हैं। ऐसे निर्बल और निकम्मे बछड़े खेती के लिए उपयुक्त बैल नहीं बन सकते और उनसे किसानों को संतोष नहीं होता। किसान अच्छे बैल पैदा करने की चिन्ता में अधिकाधिक बच्चे पैदा कराते जाते हैं, जिससे कि बैलों की संख्या बढ़ती जाती है। जब ढोरों की संख्या बढ़ती जाती है तो एक ओर तो चारे की मांग बढ़ती है और दूसरी ओर जनसंख्या की वृद्धि के कारण अधिकाधिक गोचर भूमि पर खेती भी की जाने लगती है। इसका फल यह होता है कि चारे की कमी हो जाती है और गायें पहले से भी अधिक निर्बल होने लगती हैं। क्रमशः स्थिति ऐसी बिगड़ जाती है कि अच्छे बैल पैदा करने की आशा बहुत कम हो जाती है।

इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने योग्य है। यह नहीं समझना चाहिए कि जितने चारे की आवश्यकता वर्ष में १०० छोटे-छोटे निर्बल ढोरों के लिए होती है उतनी उन ढोरों से दुगने आकार और हृष्ट-पुष्ट बैलों के लिए। ठिगने और निर्बल ढोरों की अपेक्षा थोड़ा ही अधिक चारा आवश्यक होता है। चारे का एक निश्चित परिणाम जो छोटे आकार वाले १०० ढोरों को १२ महीने के लिये यथेष्ट होगा वह उनसे दुगने आकार वाले १०० बैलों को केवल ६ महीने के लिए काफी होगा। इससे ठिगने और निर्बल ढोरों की आवश्यक बढ़ी हुई संख्या भारत जैसे देश में जहाँ चारे की बहु कमी है एक बड़ा भारी बोझ है।

यह तो हम ऊपर ही कह आये हैं कि भारतीय ढोरों की शोचनीय अवस्था का मुख्य कारण चारे की कमी है और जब तक यह समस्या हल नहीं होती तब तक ढोरों की उन्नति नहीं हो सकती। हम ऊपर यह भी देख आये हैं कि भारत में गोचर भूमि की कमी है। इसका मुख्य कारण है कि भारत में जनसंख्या की वृद्धि होती गई, और भूमि पर जनसंख्या का भार बढ़ता गया। अन्य धंधे न होने के कारण जनसंख्या अधिकाधिक खेती पर निर्भर होती गई। इसका परिणाम यह हुआ कि गोचर भूमि कम होती गई, उस पर भी खेती की जाने लगी। जहाँ गोचर भूमि की कमी हो गई वहां ढोरों के लिए चारे की दूसरी व्यवस्था नहीं की गई। इसका परिणाम यह हुआ कि ढोरों की नस्ल खराब होती गई।

भारतवर्ष में प्राकृतिक गोचर-भूमि के अन्तर्गत "जंगल की भूमि", "खेती के योग्य बंजर भूमि" तथा "वह भूमि जो खेती के काम नहीं आ सकती"

तीन प्रकार की भूमि आती है। यदि इनका पूरा-पूरा उपयोग चारा उत्पन्न करने के लिए किया जावे तो स्थिति में सुधार हो सकता है। परन्तु फिर भी यह कहना होगा कि केवल इन्हीं पर निर्भर रहकर चारे की समस्या को हल नहीं किया जा सकता।

चारे की समस्या

चारे की समस्या ने सभी कृषि विशेषज्ञों का ध्यान उस ओर आकर्षित किया है। चारे की समस्या को हल करने के लिए तीन उपाय हैं। एक तो यह कि जितना चारा अभी उत्पन्न होता है उसका पूरा-पूरा लाभ उठाया जावे। दूसरा यह कि चरागाह के क्षेत्रफल में वृद्धि की जावे और उनमें अधिक चारा उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जावे। तीसरा यह कि किसानों को यह समझाया जावे कि उन्हें अपने खेतों के एक हिस्से पर चारा बोना चाहिए। अब हम इन उपायों पर विचार करेंगे।

आज जो भी चारा भारत में उत्पन्न होता है उसका पूरा-पूरा लाभ किसान नहीं उठाता। भारतवर्ष में बरसात के दिनों में और उसके बाद भी भूमि पर तरह-तरह की घास तथा अन्य चारे उत्पन्न होते हैं किन्तु किसान उनका पूरा लाभ नहीं उठाता वरन् उसे नष्ट हो जाने देता है। पाश्चात्य देशों में भूमि पर खड़ी हुई घास को काटकर और सुखाकर रखने का कार्य बहुत सावधानी से किया जाता है। इसे पयाल बनाना (hay making) कहते हैं। किसान इस प्रकार बहुत अधिक चारा इकट्ठा कर लेता है। किन्तु भारतवर्ष में किसान उन दिनों, जब कि वह खेती में नहीं लगा होता है, घास को खोद कर अपने जानवरों को डाल देता है किन्तु वह घास काटकर उसे सुखाकर रखने की क्रिया को नहीं करता। उसका परिणाम यह होता है कि अधिकांश घास नष्ट हो जाती है और पशुओं के काम नहीं आती। पयाल न बन पाने का यहाँ एक कारण भी है। वर्षा के अन्त में जब घास आधी पक कर कटने और पयाल बनाने लायक होती है उस समय मौसम इतना नम होता है कि उन दिनों पयाल नहीं बनाया जा सकता। वर्षा के बिलकुल अन्त में भी जब कि घास एक दम पक कर कठोर नहीं हो जाती और पयाल बनाने का अवसर रहता है तब

किसान स्वयं अपनी खेती में लगा रहता है। केवल उन्हीं स्थानों में पयाल बनाने में कठिनाई नहीं होती जहाँ कि वर्षा अधिक होती है किन्तु जहाँ वर्षा कम होती है वहां पयाल बनाने योग्य घास भी कम होती है। इन्हीं कारणों से भारत में पयाल बनाने की प्रथा उत्पन्न नहीं हुई। यह ठीक है कि यदि यथासमय पयाल बना लिया जावे तो उसमें पोषक-तत्व अधिक रहते हैं। परन्तु भारत में जहाँ चारे का अकाल रहता है और ढोरों को यथेष्ट चारा भी नहीं मिलता वहाँ पकी हुई घास को ही काट कर सुखा लेने से भी बहुत चारा मिल सकता है। सुखाई हुई घास भी भूखे ढोरों के लिए बहुत काम की चीज है, फिर उसको कुछ दिनों सुरक्षित रखकर खिलाने से और भी लाभदायक हो जावेगी। फिर किसानों के लिये पयाल बना लेना बिलकुल असम्भव नहीं है। वास्तव में पयाल बनाने में न तो धूप की कमी और न वर्षा की अधिकता ही बाधक होती है। वास्तविक बाधा तो किसान की चली आई रूढ़ियाँ हैं। भारतीय किसान की आदत पयाल बनाने की नहीं पड़ी है।

भारतीय किसान ने बदली हुई परिस्थिति में चारे की समस्या को हल करने का कभी गम्भीरता पूर्वक प्रयत्न ही नहीं किया। वह ढोरों को थान पर बाँध कर बहुत कम खिलाता है। यदि गाय दूध देती है और जब खेतों में बैलों को अधिक काम करना पड़ता है तब किसान उसे प्रातः और सायंकाल थोड़ा भूसा या अन्य चारा तथा कुछ दाना या खल इत्यादि देता है। अन्यथा वह ढोरों को अपना चारा स्वयं ढूँढ़ने के लिये मैदान में छोड़ देता है। जब वर्षा होती है और मैदानों में घास उगने लगती है तो यह चरने वाले गाँवों के ढोर उसको चरते हैं। ढोरों के चरने से घास बढ़ती नहीं। यही नहीं, इन ढोरों के खुरों से बहुत सी घास नष्ट हो जाती है और उसकी बढ़वार रुक जाती है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि गाँव के चरागाह या मैदान जिस पर घास उगती है उसके एक बड़े भाग को गाँव की पंचायत घास उत्पन्न करने के लिये सुरक्षित कर दे। उस मैदान में ढोर न चराये जावें और जब घास पयाल बनाने के लिये तैयार हो जावे उस गाँव के किसान उसे काट कर पयाल बनावें। कृषि विभाग को इस बात का अनुसंधान करना चाहिये कि किस समय पयाल बनाया जाना चाहिये और उसका किसानों में प्रचार करना चाहिये। पशुओं के स्वास्थ्य के लिये, उनके

घूमने-फिरने के लिये भी थोड़ी-सी भूमि छोड़ दी जानी चाहिये। किन्तु इस प्रकार सारे मैदान की घास को नष्ट करने की विनाशकारी प्रथा को रोकना होगा। यही नहीं, यदि गाँव की सुरक्षित गोचर भूमि के चारों ओर बहुत छोटी और कम ऊँची मेड़ बना दी जावे तो वर्षा का जल उस भूमि पर अधिक देर ठहरेगा और उस पर घास अधिक उत्पन्न होगी।

घास का पूरा लाभ उठाने के अतिरिक्त एक ओर हमें विशेष रूप से ध्यान देना चाहिये। किसान जो फसलें बोता है उससे भी चारा उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिये गेहूँ, ज्वार, बाजरा, मक्का इत्यादि फसलों से किसान को भूसा या चरी मिलती है और यह चारे का काम देता है। कृषि कमीशन ने इस सम्बन्ध में एक बहुत अच्छा सुझाव रक्खा था। कृषि कमीशन का कहना था कि कृषि विभाग को इस बात का अनुसंधान करना चाहिये कि फसल काटने का सबसे अच्छा और उपयुक्त समय कौन सा है। जिससे कि अनाज पर भी कोई बुरा प्रभाव न पड़े और चारा भी उत्तम मिल सके जिससे उसके पौष्टिक तत्व कम न हों। अभी तो किसान अपनी सुविधानुसार फसल को आवश्यकता से अधिक समय तक खड़ी रहने देता है। इसका परिणाम यह होता है किसी-किसी दशा में चारा इतना कड़ा हो जाता है कि ढोर उसको अच्छी तरह से नहीं खाते और उसका बहुत सा भाग नष्ट हो जाता है। खेद है कि अभी तक कृषि-विभागों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। श्री नारमन राइट ने भी अपनी रिपोर्ट में इस ओर ध्यान आकर्षित किया है। श्री नारमन राइट का कहना है कि कृषि विभागों को इस बात का अनुसंधान करना चाहिए कि फसलों को शीघ्र से शीघ्र कब काटा जा सकता है जिससे कि उनसे मिलने वाला भूसा या चारा पशु आसानी से चबा सकें और उसमें पोषक तत्व अधिक रहे। इसके अतिरिक्त श्री नारमन राइट का यह भी कहना है कि कृषि विभाग को इस बात का भी अनुसंधान करना चाहिए कि कौन-सी घास उत्पन्न करने से गोचर भूमि या गांवों की खाली भूमि पर अधिक चारा उत्पन्न किया जा सकता है। चारे की समस्या को हल करने के लिए इन दोनों प्रश्नों की ओर ध्यान देना नितान्त आवश्यक है।

जहाँ तक गोचर भूमि में वृद्धि करने का प्रश्न है जनसंख्या की वृद्धि के कारण यह व्यावहारिक नहीं है। हां, जैसा ऊपर लिखा जा चुका

है जो भी भूमि खेती से बची हुई पड़ी है उस पर अधिक से अधिक घास उत्पन्न करने और उस घास को उचित समय पर काट कर, जब कि उसमें पोषक-तत्व विशेष रूप से विद्यमान हों, गोचर भूमि का पूरा पूरा उपयोग करना चाहिए।

परन्तु इतना करने पर भी चारे की कमी रहेगी। अस्तु किसान को अपनी खेती की भूमि पर चारे की फसलें पैदा करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। कृषि कमीशन का यह सुझाव उल्लेखनीय है कि यदि किसान अपने खेत पर चारे की फसल उत्पन्न करे तो उससे आबपाशी न ली जावे या लगान में कुछ कमी कर दी जावे। चारे की समस्या को पूर्ण रूप से हल करने के लिए इस बात की आवश्यकता है कि कृषि विभाग भिन्न-भिन्न प्रान्तों की भूमि और जलवायु के उपयुक्त चारे की फसलें ढूँढ़ निकाले और किसानों में उनका प्रचार करे।

पाश्चात्य तथा अन्य देशों में कुछ ऐसी चारे की फसलें हैं जो बहुत जल्दी तैयार हो जाती हैं और वर्ष में कई बार काटी जा सकती हैं। उन देशों में एक छोटे से प्लॉट में उन फसलों को बो दिया जाता है और उससे किसान को वर्ष भर यथेष्ट चारा मिलता रहता है। इनमें से कुछ का वर्णन नीचे किया जाता है।

आस्ट्रेलियन चरी—यह मामूली चारे से अधिक ताजी और मीठी होती है। बरसात में बोई जा कर दिसम्बर तक हरी बनी रहती है। इसकी फसल तीन बार काटी जाती है। ढोरों के लिए यह बहुत लाभदायक भोजन है।

चीन का लुसरनि पौधा—यह पौधा अक्टूबर में बोया जाता है और आठ वर्ष तक लगा रहता है।

फ्रांसीसी या स्काटलैंड की जई

यह अक्टूबर और दिसम्बर के बीच में बोई जाती है और मई के महीने तक ताजी बनी रहती है और हरी रहती है। देशी जई से इसकी पैदावार बहुत अधिक होती है।

बरसीम घास

यह मिश्र देश से लाया हुआ पौधा है। यह अक्टूबर महीने में बोया

जाता है । जनवरी से मई तक इसकी पाँच फसलें काटी जाती हैं। यह बहुत अच्छा चारा ही नहीं है वरन् जिस खेत में बोया जाता है उसमें फसल के लिए लाभदायक नोषजन गैस भर जाती है । अतः वह खेत अगली फसल के लिए बहुत उपजाऊ हो जाता है ।

इस सम्बंध में वास्तविक कठिनाई चारे के लिए अच्छे पौधों के ढूँढ़ निकालने की नहीं है । असली कठिनाई तो इस बात की है कि किसान उसको स्वीकार करले और अपने खेत पर उनको बोये । इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि कृषि विभाग इस बात का खूब प्रचार करे और किसानों का चारे की फसल उत्पन्न करने के लिए प्रोत्साहन दे ।

सायलेज

केवल चारा उत्पन्न करने से ही यह समस्या हल नहीं हो जावेगी । चारे को सुरक्षित रखने और उसके पौष्टिक तत्वों के नष्ट न होने देने की भी आवश्यकता है । इसके लिए चारे का सायलेज बनाने की प्रथा का प्रचार होना चाहिए । सायलेज उस चारे को कहते हैं जो सायलो—चारा जमा रखने की खत्तियों—में रक्खा जाता है । हिन्दुस्तान में सरकारी फार्मों पर सूखे दिनों में ढोरों के लिए सायलेज बनाया जाता है और उससे ढोरों को बहुत लाभ पहुँचता है ।

सायलो या चारा जमा करने की जगह को नीचे लिखी विधि से बनाते हैं। जमीन में गड्ढा खोदते हैं और फिर उसे ईंट और चूने से पक्का बना देते हैं । कच्चा सायलो भी बनाया जाता है । कच्चे सायलो में भूसा या पयाल का पेठन दे देते हैं । चारा जब पकने के करीब होता है, अर्थात् न तो वह बिलकुल कच्चा रहता है और न वह बिलकुल पक ही जाता है, तो उसे बारीक काट कर सायलो में भर देते हैं । ऊपर से उसे इस प्रकार ढक देते हैं कि हवा और पानी उसमें बिलकुल न जा सके । ऐसे रक्खे हुए चारे को सायलेज कहते हैं । सूखे दिनों में जब चारा नहीं मिलता तब ढोर इसे चाव से खाते हैं । सायलेज उनके लिए विशेष लाभदायक होता है । मक्का, ज्वार, जई, सब तरह की घास और पेड़ों की पत्तियों का भी सायलेज बनाया जा सकता है । जो घास पक जाने पर ढोरों को कोई खास लाभ नहीं पहुँचाती वह सायलेज बन जाने पर उनके

लिए अधिक स्वादिष्ट और लाभदायक बन जाती है। जिन दिनों ढोरों को ताजा चारा नहीं मिल सकता उन दिनों सायलेज ही सबसे उत्तम चारा होता है।

बनों का उपयोग

भारतवर्ष के बनों में अनन्त राशि में चारा उत्पन्न होता है किन्तु उसका उपयोग नहीं हो पाता। उसका मुख्य कारण यह है कि जंगल विभाग के नियम इतने कड़े हैं कि ढोरों के लिए उनका बहुत ही सीमित उपयोग होता है। ढोरों के चरने से वृक्षों को हानि पहुँचती है इस कारण बहुधा बनों में पशुओं को चराने की आज्ञा नहीं दी जाती। जो बन कम मूल्यवान समझे जाते हैं उनमें नाम मात्र की फीस लेकर ढोरों को चराने की आज्ञा प्रदान कर दी जाती है। किन्तु नियम कठोर होने के कारण बनों का बहुत कम उपयोग होता है। अस्तु पहली बात तो यह है कि नियमों में कुछ परिवर्तन होना चाहिए जिससे कि बनों का अधिक उपयोग हो सके। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि ढोरों के चरने पर कोई नियंत्रण न हो। दूसरी बात यह है कि बनों में उत्पन्न होने वाली घास जो आज व्यर्थ खड़ी-खड़ी सूख जाती है उसका भी उपयोग होना चाहिए। नगरों में जो पशु रक्खे जाते हैं उनके लिए भी चारा गांवों में से ही आता है। अस्तु गांवों में ढोरों के लिए चारे की और भी कमी हो जाती है। अतएव इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि जंगल-विभाग जंगल की घास को काटकर सुखा ले और शहरों को दिया करे। साथ ही यदि किसी क्षेत्र में चारे का अकाल पड़ जावे तो वहां वह घास भेजी जावे। इसके लिए रेलवे को घास ले जाने के लिए किराये में छूट करनी चाहिए जिससे जंगल की घास भिन्न-भिन्न स्थानों पर ले जाई जा सके। जिस देश में चारे की इतनी अधिक कमी हो वहां जंगलों में उत्पन्न होने वाले चारे का कोई भी उपयोग न हो सके यह अत्यन्त खेद की बात है।

ढोरों की नस्ल में सुधार करना

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि भारतीय ढोरों की नस्ल बहुत गिर गई है। उनका आकार छोटा है। वे निर्बल होते हैं और गायें बहुत कम दूध देती हैं। इस स्थिति में सुधार होने की आवश्यकता है।

उत्तम सांड़ों की आवश्यकता

ढोरों की नस्ल में सुधार करने के लिए इस बात की नितान्त आवश्यकता है कि उत्तम जाति के साँड़ गांवों में दिये जावें। भारतवर्ष में पहले हिन्दुओं में यह धार्मिक प्रथा प्रचलित थी कि कुटुम्ब के बड़े बूढ़े की मृत्यु पर किसी अच्छी जाति के बछड़े को उसकी स्मृति में धार्मिक चिन्हों से अंकित करके सांड़ बनाने के लिए छोड़ दिया जाता था। इस प्रथा का यह लाभ था कि हमारे गांवों में अच्छी जाति के साड़ मिलने में कठिनाई नहीं होती थी। किन्तु अब यह प्रथा अत्यन्त दोषपूर्ण हो गई है। ऐसे अवसर पर बहुत सस्ता और घटिया जाति का बछड़ा ढूंढ़ लिया जाता है और उसी को साँड़ बनने के लिए छोड़ दिया जाता है। आज भारतवर्ष में लाखों की संख्या में ये घटिया सांड़ गौ वंश की नस्ल को नष्ट कर रहे हैं। यह तो साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है कि इन घटिया कमजोर साँड़ों के संसर्ग से अच्छी नस्ल के ढोर कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकते। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि इन निकम्मे साँड़ों को नपुंसक कर दिया जावे। इस सम्बन्ध में हिन्दू लोगों की धार्मिक भावना एक बड़ी रुकावट है। परन्तु यदि उन्हें बतलाया जावे कि ढोरों की उन्नति के लिए इन निकम्मे साँड़ों को नपुंसक बना देना आवश्यक है और, साथ ही, आधुनिक तेज औजारों से सांड़ को नपुंसक बनाया जावे तो इस आवश्यक सुधार का अधिक विरोध नहीं होगा। परन्तु फिर भी इसके लिए प्रचार अवश्य करना होगा। श्री नारमन राइट का यह सुझाव बहुत उपयोगी है कि जिन क्षेत्रों में अच्छी जाति के उत्तम सांड़ दिये जावें उन्हीं क्षेत्रों में पुराने और निकम्मे सांड़ों को नपुंसक कर दिया जावे। इस प्रकार क्रमशः सभी क्षेत्रों में यह सुधार साथ ही साथ चले तो कुछ समय में पशुओं की नस्ल में सुधार हो सकता है।

अच्छे सांड़ों को उत्पन्न करना

ढोरों की नस्ल में सुधार करने के लिए इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि उत्तम जाति के अच्छे सांड़ तैयार किये जावें। अच्छी नस्ल के उत्तम सांड़ तैयार करने का कार्य निर्धन किसान नहीं कर सकता। यह कार्य तो सरकारी विभाग तथा पशु सुधार समितियों को ही करना

होगा। प्रान्तीय सरकारों ने उत्तम सांड़ उत्पन्न करने के लिए कुछ फार्म स्थापित किये हैं जहां उत्तम जाति के बढ़िया सांड़ उत्पन्न किये जाते हैं और उन्हें गांवों में बांट दिया जाता है।

संयुक्तप्रान्त में उत्तम सांड उत्पन्न करने के लिए दो फार्म हैं। एक मथुरा के माधुरी कुंड नामक स्थान पर जहां हिसार सांड़ और मुर्रा भैंसे की नस्लें पैदा की जाती हैं। दूसरा खीरी जिले में मंझरा नामक स्थान पर है जहां साहीवाल व खैरागढ़ सांड़ तथा मुर्रा भैंसे की नस्ल उत्पन्न की जाती है।

बम्बई में गुजरात के चरौदी नामक स्थान पर एक फार्म है जहां कांकरेज नस्ल उत्पन्न की जाती है और दक्षिण महाराष्ट्र प्रदेश में वाकापुर नामक स्थान पर अमृतमहल नस्ल के उत्तम सांड़ तैयार किये जाते हैं। सिंध में करांची के पास फिहई नामक स्थान पर सिंधी नस्ल के उत्तम सांड़ तैयार किये जाते हैं।

मध्यप्रान्त में ग्वालो नामक नस्ल ही एक अच्छी नस्ल है इस कारण उसी की उन्नति का प्रयत्न किया गया है। कुछ समय नागपुर के तेलिन-खेड़ी नामक स्थान में साहीवाल नस्ल भी तैयार की जाने लगी है।

मद्रास में ओंग्लो तथा सिंधी नस्ल के सांड़ तैयार किये जाते हैं। इन प्रान्तों के सिवाय मैसूर में अमृतमहल, तथा बड़ौदा राज्य में काठियावाड़ नस्ल उत्पन्न की जा रही है। धार राज्य में सिंधी, मालवी और नीमाड़ी नस्लें पैदा की जा रही हैं।

यद्यपि भारतवर्ष में ढोरों की कल्पनातीत अवनति हुई है फिर भी ऊपर लिखी कुछ अच्छी नस्लें नष्ट होने से बच गईं। यदि भाग्यवश उपर लिखी नस्लें भी न बची होतीं तो भारत में नस्ल सुधारने का कार्य असम्भव हो जाता।

किन्तु भारतवर्ष जैसे विशाल देश में बहुत अधिक संख्या में सांड़ों की आवश्यकता है। शाही कृषि कमीशन के मतानुसार दस लाख सांड़ों की आवश्यकता है। और प्रति वर्ष २ लाख नये सांड़ चाहिए कि जो मरने वाले तथा वृद्ध सांड़ों का स्थान ले सकें। जहां प्रति वर्ष लगभग दो लाख नये अच्छे सांड़ों की आवश्यकता है वहां इन सारे सरकारी फार्मों से लगभग एक हजार सांड़ तैयार किये जाते हैं। सरकारी फार्मों के अतिरिक्त कुछ व्यक्ति

भी गांवों में अच्छी नस्ल तैयार करने का धंधा करते हैं और वे सांड़ रजिस्टर कर लिए जाते हैं। ऐसे स्वीकृत साड़ों की संख्या प्रति वर्ष दस हजार के लगभग होती है। ऊपर के आंकड़ों से यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि भारतवर्ष की आवश्यकताओं को देखते हुए उत्तम सांड़ों की उत्पत्ति दाल में नमक के बराबर भी नहीं है। सरकारी फार्मों पर प्रति वर्ष २ लाख नये उत्तम सांड़ उत्पन्न करना तो असम्भव ही प्रतीत होता है। अस्तु इस बात की आवश्यकता है कि सरकारी विभाग कुछ व्यक्तियों को लाइसेंस दे जो उत्तम सांड़ तैयार करने का धंधा गांवों में करें और सरकारी विभाग उन सांड़ों को स्वीकार करे। जब तक उत्तम सांड़ों की संख्या को इस प्रकार शीघ्रता पूर्वक बढ़ाया नहीं जावेगा तब तक ढोरों की नस्ल का सुधार सम्भव नहीं है।

कुछ मिलटरी डेयरियों में भारतीय गायों का दूध बढ़ाने के उद्देश्य से बिलायती सांड़ों और अच्छी जाति की देशी गायों के संसर्ग से एक नवीन नस्ल को उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया। आरम्भ में तो परिणाम बहुत अच्छा निकला। जो पहली पीढ़ी थी उसने बहुत अधिक दूध दिया किन्तु बाद की पीढ़ियों ने अच्छा परिणाम नहीं दिखलाया। साथ ही इन दोगली जाति के पशुओं में रोगों के सहने की शक्ति बहुत कम होती है। जहाँ कहीं कोई संक्रामक रोग फैला कि वह बहुत अधिक संख्या में मरते हैं। इस कारण विशेषज्ञों का मत है कि भारतीय ढोरों की नस्ल का सुधार विदेशी सांड़ों के संसर्ग से नस्ल उत्पन्न करने से नहीं होगा, वरन् भारतीय अच्छी नस्ल के पशुओं के संसर्ग से ही उसका सुधार हो सकेगा।

ढोरों की नस्ल में सुधार करते समय एक बात का और भी ध्यान रखना होगा। ढोरों की नस्ल की उन्नति करने का उद्देश्य क्या होना चाहिए। शहरों में तथा उनके समीपवर्ती क्षेत्र में जहाँ गाय के दूध की मांग अधिक होती है और दूध का मूल्य अधिक होता है वहां ऐसी गाय की मांग होती है जो दूध अधिक दे। उसके अच्छे बछड़े उत्पन्न करने की शक्ति का महत्व अधिक नहीं होता। गांवों में किसान ऐसी गाय चाहता है जो कि खेती के योग्य उत्तम बैल उत्पन्न कर सके। गांवों में किसान इस समय दूध के लिए भैंस पालते हैं और बैलों के लिए गाय रखते हैं। अस्तु किसान के लिए अच्छे बैल उत्पन्न करने वाली गाय का सबसे अधिक महत्व है। फिर भी यदि किसान को गाय से अधिक दूध मिल सके तो बहुत अच्छा हो।

प्रत्येक किसान गाय और भैंस दोनों ही नहीं पाल सकता। वह अत्यन्त निर्धन होता है। इस कारण बहुधा उसे दूध खाने को नहीं मिलता। यदि गाय की नस्ल में इस दृष्टि से सुधार किया जावे कि वह दोनों काम दे तो देश का बहुत बड़ा हित हो। अर्थात प्रयत्न इस बात का होना चाहिये कि ऐसी गाय की नस्ल उत्पन्न की जावे कि जो उत्तम बैल उत्पन्न कर सके और साथ ही अधिक दूध देने वाली हो। कृषि कमीशन की राय यह थी कि गाय की नस्ल को सुधारने में मुख्यतः अच्छे बैलों को उत्पन्न करने का उद्देश्य ही हमारे सामने होना चाहिये। कृषि कमीशन को भय था कि ऐसी नस्ल उत्पन्न करना कठिन है कि जो अच्छे बैल भी उत्पन्न करें और दूध भी अधिक दें। किन्तु हम इस मत का समर्थन नहीं कर सकते।

जो कुछ भी प्रयोग अभी तक हुए हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसी नस्लें पैदा की जा सकती हैं जिनसे अच्छे बैल और अधिक दूध दोनों ही प्राप्त हो सकें। भारतवर्ष जैसे देश में जहाँ किसान निर्धन है, उसके पास थोड़ी-सी भूमि है और चारे की कमी है, वहाँ गायों की नस्ल के सुधार का एकमात्र उद्देश्य यही होना चाहिये। इससे दो लाभ होंगे। किसान को अच्छे बैल मिल सकेंगे, किसान दूध से अपनी आय में वृद्धि कर सकेगा और गाँव के निर्धन परिवारों को भी दूध खाने को मिल सकेगा जिसके बिना हमारा राष्ट्रीय स्वास्थ्य बहुत गिर गया है। अस्तु नस्ल के सुधारने में विशेष ध्यान तो दो उद्देश्य वाली गायों को उत्पन्न करने की ही ओर होना चाहिए। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यदि कहीं स्थानीय परिस्थिति ऐसी हो कि केवल अधिक दूध देने वाली गायों की ही आवश्यकता हो तो वहां के लिये केवल दुधारू गायों की ही नस्ल उत्पन्न न की जावें। कृषि कमीशन का यह भय निर्मूल है कि यदि दो उद्देश्य वाली गायें उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जावेगा तो उत्तम बैल उत्पन्न नहीं होंगे। परन्तु यदि ऐसा प्रतीत हो कि दूध अधिक उत्पन्न करने की ओर ध्यान देने से अच्छे बैल नहीं पैदा हो सकते तो अवश्य ही नस्ल उत्पन्न करने की नीति में परिवर्तन होना चाहिए और अच्छे बैलों को उत्पन्न करने की ओर अधिक ध्यान देना चाहिये। राष्ट्रीय उत्तम धंधे खेती के लिये नितान्त आवश्यक हैं। परन्तु जैसा कि हमने पहले ही कहा है कि प्रयोगों से यह सिद्ध हो गया है कि दोनों कार्य सफलता पूर्वक करने वाली नस्ल पैदा करना कठिन नहीं है। अतएव हमारा प्रधान

लक्ष्य दो उद्देश्य वाली गाय उत्पन्न करना होना चाहिए।

किन्तु अच्छे सांड़ उत्पन्न कर देने मात्र से ही नस्ल का सुधार नहीं हो जावेगा। उन अच्छे सांड़ों को गांवों में पहुँचाना होगा। यह उत्तम सांड़ डिस्ट्रिक बोर्ड, गऊ-शालाओं तथा गांवों की पंचायतों को बेचे जावें। गांवों के जमींदारों पर यह दबाव डाला जावे कि वे सांड़ खरीद कर अपने गांवों में रक्खें। पंचायतें, ग्रामसुधार-समितियां और गांव की सहकारी समितियां भी इस कार्य में सहायक हो सकती हैं। इस बात का प्रयत्न होना चाहिये कि प्रत्येक गांव में एक अच्छा सांड़ पहुँच जावे तभी देश में गाय और बैलों की नस्ल का सुधार हो सकता है। उत्तम सांड़ को रखने का प्रबन्ध गांव की पंचायत करे। प्रत्येक किसान जो अपनी गाय का उत्तम सांड़ से संसर्ग करावे उससे १) एक रुपया फीस ली जावे। इस प्रकार से उसके रखने का व्यय आसानी से निकल सकता है।

इस कार्य में गऊ-शालाएं भी बहुत सहायक सिद्ध हो सकती हैं। हिन्दुस्तान में हजारों गऊ-शालाएं तथा पिंजरापोल हैं जिन पर हिन्दुओं का करोड़ों रुपया व्यय होता है। किन्तु उनसे कोई विशेष लाभ नहीं होता। आवश्यकता इस बात की है कि गऊ-शालाओं का नवीन संस्करण किया जावे। प्रत्येक गऊ-शाला एक उत्तम जाति का सांड़ रक्खे जिससे समीपवर्ती गांवों में पशुओं की नस्ल सुधरे। यही नहीं प्रत्येक गऊ-शाला का रूप पशु-सुधार-केन्द्र का-सा होना चाहिए। पशुओं का पालन किस प्रकार होना चाहिए, कौन-सा चारा उनके लिए लाभदायक होगा, चारे की कौन-सी फसल किसानों को उत्पन्न करना चाहिए, पशुओं के रोगों की चिकित्सा किस प्रकार होनी चाहिए; इन सब बातों का प्रदर्शन इन गऊ-शालाओं में होना चाहिए। यदि कृषि-विभाग और पशु-चिकित्सा-विभाग प्रयत्न करे और गऊ शालाओं का इस प्रकार उपयोग किया जावे तो वे देश के लिए अत्यन्त हितकर हो सकती हैं। समय-समय पर गऊ-शाला कमेटी अपने क्षेत्र के पशुओं की एक प्रदर्शनी करे। उससे उस क्षेत्र में इन बातों का प्रचार भी होगा और यह भी ज्ञात हो सकेगा कि उन उपायों से नस्ल में कहाँ तक सुधार हो रहा है। अभी तक जनता और सरकार का ध्यान इस ओर नहीं गया है। गौ-भक्तों को यह न भूलना चाहिए कि केवल वृद्ध गायों को जीवन रक्षा करने से ही गाय की रक्षा न हो सकेगी। हमें गाय को आर्थिक दृष्टि से

लाभदायक बनाना होगा। जहाँ सम्भव हो वहाँ गऊ-शालाओं को दूध का का काम हाथ में लेना चाहिए। आज देश की स्थिति ऐसी है कि शहरों में दूध मिलना कठिन हो रहा है।

गौ सेवा संघ

गौवंश का आर्थिक महत्व हमारे राष्ट्र के लिये इतना अधिक है कि बिना गाय और बैल की नस्ल में सुधार किये हम खेती की उन्नति की कल्पना भी नहीं कर सकते। महात्मा गाँधी की तीक्ष्ण दृष्टि इस अत्यंत महत्वपूर्ण समस्या की ओर गई और उन्होंने गौ-वंश की उन्नति के लिये गौ सेवा संघ की स्थापना की गई। वर्षों से गौ सेवा संघ गाँधी जी के नेतृत्व में काम कर रहा है। और उसको अच्छी सफलता भी मिली है।

गौ सेवा संघ ने अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से इस कार्य को करना आरम्भ किया है। उसकी नीति का आधार यह है कि भारत में गौ वंश की उन्नति तभी हो सकती है जबकि उसको भैंस की प्रतिस्पर्धा से मुक्त कर दिया जावे। दूसरे शब्दों में गौ सेवा संघ की नीति यह है कि भैंस के स्थान पर गाय को प्रधानता दी जावे। महात्मा जी का कहना बहुत अंशों में ठीक है कि जब तक भैंस का प्राबल्य रहेगा तब तक गाय की उन्नति नहीं हो सकती। साथ ही, उनका यह कहना भी सत्य है कि राष्ट्र के लिये भैंस की अपेक्षा गाय अधिक महत्व की है इस कारण हमें गाय को ही अपनाना चाहिये। यही कारण है कि गौ सेवा संघ का सदस्य वही व्यक्ति हो सकता है जो इस बात की प्रतिज्ञा ले कि वह आजीवन गाय का दूध और गाय के दूध से ही बने हुए अन्य दूध के पदार्थ जैसे घी, दही, रबड़ी, खोया इत्यादि काम में लावेगा। इस प्रकार गौ सेवा संघ गाय के दूध की माँग उत्पन्न करके देश में गायों को अधिक पाले जाने के लिये प्रचार कर रहा है।

इसके अतिरिक्त गौ सेवा संघ के प्रधान कार्यालय गौपुरी (वर्धा) में गौ पालन, दूध के धन्धे के सम्बन्ध में तथा गाय के नस्ल को सुधारने के प्रयोग चल रहे हैं। गौ सेवा संघ ने हिसार में एक बुल-फार्म भी स्थापित किया है जहाँ से उत्तम सांड़ गांवों तथा ऐसी संस्थाओं को दिये जाते हैं जिनका उद्देश्य गाय की नस्ल को सुधारना हो।

यह ध्यान देने की बात है कि गौ सेवा संघ ने भी गाय की नस्ल को

सुधारने में इस बात का ध्यान रक्खा है कि गाय ऐसी हो कि जो अच्छे खेती के योग्य बैल उत्पन्न कर सके और दुधारू हो। गौ सेवा संघ प्रति वर्ष विशेषज्ञों का सम्मेलन भी बुलाता है और इस सम्बन्ध में आवश्यक साहित्य भी प्रकाशित करता है। आशा है कि भविष्य में गौ सेवा संघ से बहुत कुछ कार्य हो सकेगा।

भैंस

भैंस भारत का मुख्य दूध देने वाला पशु है। वस्तुतः गाय तो दूध की दृष्टि से इस समय विशेष महत्व नहीं रखती यद्यपि संख्या में गाय भैंस से कई गुनी हैं। किन्तु अनुमानतः भैंस देश को दूध की कुल उत्पत्ति का ४५ प्रतिशत दूध उत्पन्न करती है। भैंस का महत्व तो इसी से स्पष्ट है कि १९१५-१६ से १९३५-३६ तक जहाँ गायों की संख्या में केवल ३ प्रतिशत की वृद्धि हुई वहाँ भैंसों की संख्या में १३ प्रतिशत की वृद्धि हुई। दूध के लिये किसान भैंस को ही पालता है, इसके बहुत से कारण हैं। एक तो यह साधारण गाय की अपेक्षा कहीं अधिक दूध देती है। भैंस के दूध में घी या मक्खन अधिक होता है और भैंस साधारण चारा खाकर भी अधिक दूध देने की क्षमता रखती है। अस्तु आज की स्थिति में जब अच्छे चारे की कमी है तब भैंस का महत्व स्पष्ट ही है। अस्तु अभी बहुत दिनों तक भैंस को अपने स्थान से हटाया नहीं जा सकता। कृषि कमीशन का मत था कि गाय और भैंस दोनों का ही भारतीय ग्राम में एक महत्वपूर्ण स्थान है। अस्तु दोनों की नस्ल को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिये। किन्तु सरकारी विभागों ने भैंस की उन्नति की ओर अधिक ध्यान अभी तक नहीं दिया है।

श्री नारमन राइट का मत है कि यदि चारे की कीमत कम हो तो भैंस घी या मक्खन उत्पन्न करने में किसी नस्ल की गाय को पराजित कर सकती है और साधारण भारतीय गाय को दूध और घी दोनों ही उत्पन्न करने में पराजित कर सकती है। किन्तु यदि उत्तम चारा उपलब्ध हो तब यह कह सकना कठिन है कि भैंस अच्छी नस्ल की गाय से अधिक दूध दे सकेगी। मिलिटैरी डेयरी फार्मों पर जो प्रयोग हुए हैं उनसे पता चलता है कि अच्छा चारा मिलने पर तथा भली प्रकार पालन होने पर साधारण शाहीवाल नस्ल की गाय भैंस के बराबर दूध देती है। किन्तु उत्तम और अधिक दुधारू नस्ल

की शाहीवाल गाय भैंस से ड्योढ़ा दूध देती है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि यदि गाय का अच्छे प्रकार पालन हो और उसे अच्छा चारा मिले तो वह दूध अधिक दे सकती है। फिर भी अभी बहुत समय तक भैंस को उसके स्थान से हटाया नहीं जा सकता। भैंस के साथ एक दोष यह है कि भैंसा खेती के काम में नहीं आता। अस्तु अन्ततः देश के हित में यही है कि गाय की ओर अधिक ध्यान दिया जावे। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि भैंस की नस्ल का सुधार ही न किया जावे। भैंस की नस्ल का सुधार भी आवश्यक है।

बकरी

भारत में बकरी का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। वह निर्धन की गाय कहलाती है। उसको रखने में कुछ भी व्यय नहीं होता और किसान दो-तीन बकरियाँ पाल कर अपनी आय में थोड़ी वृद्धि कर सकता है। भारत में बकरियों और बकरों की संख्या कुल मिलाकर साढ़े पाँच करोड़ के लगभग है। बकरियाँ अधिकांश में मद्रास, पंजाब, संयुक्तप्रान्त, बंगाल और बरार में पाई जाती हैं। भारतीय बकरियों की कई नस्लें हैं। कुछ नस्लें दूध देने वाली होती हैं। और सब मांस और खाल के काम आती हैं। सरकारी जाँच के अनुसार गाय, भैंस और बकरी के दूध का अनुपात इस प्रकार था :-

	संख्या लाख में	प्रति पशु पीछे दूध की उत्पत्ति पौंड में	वार्षिक उत्पति लाख मनों में
गाय	४, ५५	५२५	२८, ६१
भैंस	१, ०३	१२७०	३१, २७
बकरी	८८	१७०	१, ८०

बकरी के दूध कम देने का कारण यह है कि उसका भोजन बहुत निम्न श्रेणी का होता है और उसके पालन-पोषण की ओर कोई ध्यान भी नहीं देता। श्री नारमन राइट का कथन है कि बकरियों को उनके स्वामी घर पर कुछ खाने को नहीं देते। बेचारे पशुओं को चारे की खोज में मीलों घूमना पड़ता है। अस्तु उनके पास यदि दूध अधिक नहीं होता तो आश्चर्य की बात नहीं है। यही नहीं, बकरी की नस्ल को सुधारने की ओर भी

अधिक ध्यान नहीं दिया। संयुक्तप्रान्त में एटा बकरी के फार्म में अवश्य बकरियों की नस्ल के सुधारने का प्रयत्न किया गया है। पंजाब के हिसार फार्म पर भी अच्छी बकरी उत्पन्न करने का यत्न हो रहा है। किन्तु इस दिशा में और भी अधिक कार्य करने की आवश्यकता है।

भेड़

अब हम भेड़ के सम्बंध में विचार करेंगे। संख्या की दृष्टि से मदरास में भेड़ सबसे अधिक हैं। भारतवर्ष में जितनी भेड़ें हैं उनकी आधी केवल मदरास प्रान्त में हैं। किन्तु उनकी नस्ल बहुत घटिया है और उनका ऊन बहुत ही खराब होता है। कोयमबटूर तथा कुछ अन्य क्षेत्रों में अच्छी नस्ल की भेड़ें उत्पन्न की जाती हैं और वे साधारण ऊन उत्पन्न करती हैं। उत्तर पश्चिम भारत तथा राजपूताने की भेड़ें अच्छी होती हैं। कुछ नस्लें मांस के लिए और कुछ ऊन के लिए प्रसिद्ध हैं। बीकानेरी भेंड़ सब से अच्छा ऊन उत्पन्न करती है। भारतवर्ष में राजपूताने की भेंड़ अपेक्षाकृत अच्छी होती है। बम्बई, संयुक्तप्रान्त, बिहार, उड़ीसा और बंगाल की भेड़ें बहुत घटिया ऊन उत्पन्न करती हैं। भेड़ों को पालने का ढंग भी वैज्ञानिक नहीं है। खेद है कि सरकार ने अभी तक भेड़ों की नस्ल में सुधार करने का प्रयत्न नहीं किया। हाँ, राजपूताना तथा पंजाब के राज्यों का ध्यान इधर अवश्य गया है।

पशुओं के रोग और उनकी चिकित्सा

लेकिन केवल चारे का प्रबंध कर देने तथा नस्ल को सुधारने से ही पशु-पालन की समस्या हल नहीं हो जावेगी। भारतवर्ष पशुओं का रोग तथा महामारी इस भयंकर रूप में फैली हुई है कि साधारतः पशु का जीवन बहुत थोड़ा होता है। इन पशु रोगों के कारण लाखों की संख्या में पशु प्रति वर्ष मरते हैं। केवल पशुओं की मृत्यु से ही किसान को आर्थिक हानि नहीं होती। जो पशु बच जाते हैं उनकी भी कार्य शक्ति बहुत कम हो जाती है। वे जर्जर और अशक्त हो जाते हैं। इन पशु-रोगों से खेती को भयंकर हानि पहुँचती है। पशुओं के जल्दी-जल्दी मरने के कारण किसान ऋण-ग्रस्त हो जाता है। यदि किसानों से उनके ऋणी होने का कारण पूछा जावे तो पशुओं का मरना एक मुख्य कारण बताया जाता है। इसका कारण यह

है कि पशुओं की महामारियाँ प्रति तीसरे और चौथे वर्ष आती रहती हैं। और उनका प्रकोप ऐसा प्रबल होता है कि गांव के गांव पशु विहीन हो जाते हैं। किसान को फिर नये ढोर खरीदने पड़ते हैं। बेचारा निर्धन किसान कर्ज लेकर बैल खरीदता है क्योंकि बिना बैलों के खेती तो हो नहीं सकती।

भारत में पशुओं का जीवन बहुत थोड़ा है। हर तीन वर्ष के अन्दर महामारी का प्रकोप फैलता है और पशु मर जाते हैं इस कारण किसान सस्ते बैल खरीदता है। कीमती और उत्तम बैल खरीदने से अधिक हानि होने की सम्भावना रहती है। अस्तु किसान निर्बल घटिया और सस्ते बैलों से ही काम चलाता है। यदि पशुओं की इन रोगों से रक्षा न की गई तो पशुओं की नस्ल का सुधार असम्भव हो जावेगा। किसान कीमती पशु को तब तक नहीं खरीदेगा जब तक उसे विश्वास न हो जावे कि वह इतनी जल्दी नहीं मरेगा।

भारतवर्ष मे कुछ रोगों ने तो मानों स्थायी अड्डा बना लिया है। उनके कारण पशु जीवन का घोर ह्रास होता है। इन रोगों म रिंडरपेस्ट (Rinderpest) पैर और मुँह का रोग (Foot & mouth diseases) तथा सैप्टि सीमिया मुख्य हैं। इनमें रिंडरपेस्ट अत्यन्त संक्रामक और विनाशकारी रोग है। जहाँ रिंडरपैस्ट का किसी पशु पर आक्रमण हुआ कि वह शिथिल हो जाता है, खाना छोड़ देता है और फिर उसे ज्वर हो जाता है; तदुपरान्त वह मर जाता है। पहाड़ी ढोरों पर तो इस रोग का अत्यन्त भीषण परिणाम होता ही है, मैदानों के ढोरों में भी ३० प्रतिशत रोगी ढोर मर जाते हैं। जो ७० प्रतिशत बच जाते हैं वे भी जर्जर और शक्तिहीन हो जाते हैं। यह महामारी प्रति तीसरे वर्ष फैलती है। मुँह और पैर के रोगों से पशु इतने अधिक तो नहीं मरते हैं किन्तु अशक्त और निर्जीव बहुत हो जाते हैं। दूध देने वाले पशुओं का दूध सूख जाता है और खेती के बैल कुछ समय के लिए बेकार हो जाते हैं। इन रोगों से भी पशुओं को असीम हानि होती है। पशुओं के सभी महत्वपूर्ण रोग कुछ कीटाणुओं की देन हैं। किन्तु इन कीटाणुओं के सम्बंध में अभी भारतवर्ष में पूरी जानकारी और अनुसंधान नहीं हो पाया है। अभी तक भारतवर्ष में पशु जीवन की रक्षा करने का पूरा प्रबंध नहीं हुआ है। इसी कारण पशुओं की नस्ल का सुधार भी नहीं हो पाता। जब तक देश में पशु रोगों की चिकित्सा का समुचित

प्रबंध नहीं होता तब तक पशुओं की नस्ल का सुधार असम्भव होगा।

जहाँ तक रोगों के सम्बंध में अनुसंधान का प्रश्न है वह मुक्तेश्वर वेटीनैरी रिसर्च इंस्टिटयूट तथा उसकी ऐजटनगर शाखा में हो रहा है और रिंडरपैस्ट को रोकने के लिए विशेषज्ञों ने सिरम तैयार कर लिया है, जिसके टीके लगाने से पशु को रिंडरपैस्ट के आक्रमण का भय नहीं रहता। इसके अतिरिक्त अन्य रोगों के सम्बंध में भी वहाँ अनुसंधान हो रहा है।

किन्तु सबसे महत्वपूर्ण समस्या पशुओं की चिकित्सा की है। यद्यपि प्रत्येक प्रान्त में पशु चिकित्सा-विभाग स्थापित कर दिए गए हैं। परन्तु गाँव वालों को उनसे कितना लाभ होता है यह सब भली-भाँति जानते हैं। अधिकांश पशु चिकित्सालय जिला केन्द्रों तथा बड़े कस्बों में होते हैं। बीमार पशु को वहाँ ले जाना ही पहिले कठिन होता है फिर वहाँ के डाक्टर अत्यन्त असहानिभूतपूर्ण व्यवहार करते हैं। कहीं-कहीं तो बेचारे किसान को इनकी पूजा किये बिना दवा ही नहीं मिलती। कुछ गश्ती डाक्टर भी होते हैं। जो वर्ष में दो-चार बार गाँव में कुछ घंटों के लिए आते हैं। उनका मुख्य उद्देश्य पशुओं की चिकित्सा करना नहीं वरन् अपना भत्ता बनाना और कर्तव्य की खानापूरी करना होता है।

इसमें तनिक भी संदेह नहीं की जब कोई भयंकर महामारी फैलती है तब पशु-चिकित्सा विभाग अवश्य ही उस क्षेत्र में सावधानी और सतर्कता से काम करता है अन्यथा साधारण अवस्था में उससे किसानों को तनिक भी लाभ नहीं पहुँचता। अस्तु जब तक चिकित्सा विभाग का ठीक प्रकार से संगठन नहीं होता और किसान को गाँव में ही चिकित्सा की सुविधायें प्राप्त नहीं होतीं तब तक यह समस्या हल नहीं हो सकती।

पशु चिकित्सा की सुविधायें वास्तव में नहीं के बराबर हैं। गांवों में पशुओं के निजी प्रैक्टिस करने वाले डाक्टर तो होते नहीं हाँ बड़े-बड़े शहरों में पशुओं के डाक्टर अवश्य दिखलाई पड़ते हैं। जमींदारों और दानी व्यक्तियों ने भी पशु औषधालय और पशु चिकित्सा की ओर ध्यान नहीं दिया। शाही कृषि कमीशन ने हिसाब लगाया था कि प्रत्येक वेटीनैरी सर्जन के पीछे १५ लाख पशु थे और प्रत्येक असिस्टैंट सर्जन के पीछे एक लाख पशु थे। इनमें से अधिकांश डाक्टर शहरों में रहते हैं और उनका उपयोग शहर के रहने वालों के कुत्तों, घोड़ों और पशुओं के लिए ही

होता है। अस्तु किसान के लिए उनका कोई उपयोग नहीं है। एक तो किसानों के लिए पशु चिकित्सा की उचित व्यवस्था नहीं है और जो भी थोड़े, बहुत औषधालय हैं वे गाँवों से दूर होते हैं इस कारण किसान उनका उपयोग नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त पशु चिकित्सक अपने कर्तव्य की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते।

भारतवर्ष में निर्धन किसान से यह आशा करना व्यर्थ है कि वह अपने व्यय से पशु की चिकित्सा का प्रबंध कर सकेगा। यह कार्य तो राज्य को ही करना होगा। अस्तु, आवश्यकता इस बात की है कि राज्य एक ओर तो पशुओं की बहु-संख्यक बीमारियों के सम्बंध में अनुसंधान करावे और दूसरी ओर अधिक संख्या में पशु चिकित्सालय गाँवों में स्थापित करे। यदि धनाभाव के कारण प्रान्तीय सरकार जितने पशु चिकित्सक आवश्यक हों उतने चिकित्सक गाँवों में नियुक्त न कर सके तो गाँव के साधारण शिक्षित युवकों को लेकर उन्हें रिंडरपैस्ट इत्यादि का टीका लगाने तथा अन्य रोगों की चिकित्सा की शिक्षा देकर उन्हें गाँवों में थोड़ा भत्ता देकर रख दिया जावे। यह युवक अपने निजी काम करने के अतिरिक्त वैटीरिनैरी डाक्टरों की देख-भाल में काम करें।

भविष्य में जब भारतीय किसान की स्थिति कुछ सुधरे और पशुओं की नस्ल में भी सुधार हो जावे तथा रोगों को रोका जासके तो हिन्दुस्तान में सहकारी पशु बीमा समितियों की स्थापना की जा सकती है। किन्तु इस आन्दोलन के लिए अभी कोई सम्भावना अथवा अनुकूल परिस्थिति नहीं है।

पशुओं की समस्या का हल तीन बातों पर निर्भर है, चारा, पशुओं की नस्ल का सुधार तथा पशुओं की बीमारियों से रक्षा। जब तक यह तीनों समस्यायें हल नहीं हो जातीं तब तक पशुओं का सुधार नहीं हो सकता और पशुओं के सुधार के बिना खेती की उन्नति भी नहीं हो सकती।

——

परिच्छेद - ५

सिंचाई और जल विद्युत

भारत में सिंचाई का महत्व :

भारतवर्ष में वर्षा केवल वर्ष के तीन चार गरमियों के महीनों में होती है शेष ८ या ९ महीनों में वर्षा का सर्वथा अभाव रहता है। केवल मद्रास के समुद्र तट पर जाड़ों में वर्षा होती है। अतएव आसाम, बंगाल का कुछ भाग, तराई तथा पश्चिमीय समुद्र तट के मैदानों को छोड़ कर जहाँ वर्षा ६० इंच से अधिक होती है सारे देश में रबी का फसल उत्पन्न करने के लिए सिंचाई की आवश्यकता होती है। भारतवर्ष में वर्षा केवल मौसमी ही नहीं है वरन् अनिश्चित भी है। किसी वर्ष किसी भाग में वर्षा बहुत देर से आरम्भ होती है और जल्दी ही समाप्त हो जाती है। वर्षा का केवल समय ही अनिश्चित नहीं है, वरन् कितनी जलवृष्टि होगी यह भी अनिश्चित है। यदि किसी स्थान की औसत जल वृष्टि ५० इंच है तो वहाँ किसी वर्ष २५ या ३० इंच वर्षा भी हो सकती है और किसी वर्ष ७० या ८० इंच भी वर्षा हो सकती है। अस्तु भारतवर्ष में जहाँ ५० या ६० इंच से कम वर्षा होती है वहाँ खेती के लिए सिंचाई आवश्यक है। यही कारण है कि भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से नहरें, तालाब, बावड़ी, कुयें बनाने की परिपाटी चली आती है। सिंध, सीमा प्रान्त, पंजाब, संयुक्त-प्रान्त, राजपूताना, मध्यभारत, दक्षिण प्रायद्वीप, तथा बिहार सभी खेती के लिए सिंचाई पर निर्भर हैं। देश का दुर्भिक्ष से बचाने के लिए भी सिंचाई के साधनों की बहुत आवश्यकता है। उत्तर पश्चिम का सारा भाग सिंचाई पर ही निर्भर है वहाँ तो सिंचाई के बिना खेती सम्भव ही नहीं है।

जल वृष्टि के अनिश्चित और कम होने के कारण फसल को पैदा करने के लिए पानी की आवश्यकता की पूर्ति सिंचाई के द्वारा ही हो सकती है। यह तो हुई साधारण खेती की बात। किन्तु भारत में अधिक गहरी खेती करने और खेती की उन्नति की योजनायें बन रही हैं। उनके लिए सिंचाई

के साधनों की और भी अधिक आवश्यकता होगी। अस्तु सिंचाई का भारत में महत्व स्पष्ट ही है।

सिंचाई के साधन

भारतवर्ष में सिंचाई के चार साधन उपलब्ध हैं। नहरें, कुयें, तालाब तथा अन्य साधन। उत्तर-पश्चिम में नहरों की प्रधानता है, उत्तर के मैदानों में कुओं की बहुलता है और दक्षिण प्रायद्वीप में तालाबों और बांधों से अधिक सिंचाई होती है। यों कुएँ प्रत्येक प्रान्त में पाये जाते हैं। किस भाग में कौन-सा सिंचाई का साधन अधिक महत्वपूर्ण है यह वहाँ की भौगोलिक परिस्थिति पर निर्भर है। मनुष्य ने इन विभिन्न साधनों से जल को खेती के उपयोग के लिए प्राप्त किया है। नहरें नदियों के जल का उपयोग करती हैं जो कि व्यर्थ में समुद्र में जाकर गिरता है। कुओं से पृथ्वीतल से उस पानी का उपयोग करते हैं कि जो पृथ्वी सोख लेती है और तालाब या बांध वर्षा के जल को इकट्ठा करने की विधि है। अब हम यहाँ सिंचाई के इन साधनों का वर्णन करेंगे।

कुओं से सिंचाई

भारतवर्ष में जितनी भूमि सींची जाती है उसकी पांच प्रतिशत कुओं से सींची जाती है। नहरों के उपरान्त कुएँ ही सिंचाई के मुख्य साधन हैं। नीचे दिये हुए आंकड़ों से खेती के लिए कुओं का महत्व स्पष्ट है।

कुओं से होने वाली सिंचाई

प्रान्त	काम में आने वाले कुओं की संख्या	सींची जाने वाली भूमि एकड़ों में
मदरास	६,४६,५६६	१४,४४६००
बम्बई	२,६०,०३०	६,६८,६००
संयुक्तप्रान्त	११,३३,४४२	५३,०३,७००
पंजाब	३,३२,१८२	४३,४६,२००
मध्यप्रान्त	१,२८,६८२	१,१२,४००
सीमाप्रान्त	१३,१३८	७४,३००
सिंध	१७,१०१	५२,६००
राजपूताना	१६,६३२	५६,६००
जोड़	२५,८१,५८२	१,२६,१०,६५८

इनके अतिरिक्त ऊपर लिखे प्रान्तों में ५,८५,५५५ कुएँ ऐसे हैं जो काम में नहीं लाये जाते और १,७८,२०३ कुएँ बिलकुल बेकार हैं और छोड़ दिये गए हैं। कुओं का उपयोग न करना तथा उन्हें बेकार करके छोड़ देना राष्ट्रीय अपव्यय है और इसको जहाँ तक हो रोकना चाहिए। सिंचाई विभागों को इस प्रकार के कुओं का सिंचाई के लिए अधिकाधिक उपयोग हो इसके लिए प्रयत्न करना चाहिए। राज्य को इन कुओं को सिंचाई के योग्य बनाने के लिए आर्थिक सहायता देनी चाहिए।

ऊपर दिये हुए आंकड़ों से यह स्पष्ट हो जाता है कि संयुक्तप्रान्त में कुएं सबसे अधिक हैं और कुएं यहां की सिंचाई का एक प्रमुख साधन हैं, इसके उपरान्त पंजाब और मदरास प्रान्तों में क्रमशः कुओं की बहुलता है। किन्तु इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने की है। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में कुओं से होने वाली सिंचाई एक समान नहीं है। पंजाब में प्रति कुएँ पीछे १३ एकड़ भूमि की सिंचाई होती है। संयुक्तप्रान्त में एक कुआं केवल पांच एकड़ भूमि ही सींचता है सीमाप्रान्त में प्रति कुआं पीछे ५ एकड़ भूमि से अधिक पर सिंचाई होती है। अन्य प्रान्तों में प्रति कुआँ पीछे ५ एकड़ से भी कम भूमि सींची जाती है।

कुएँ कई प्रकार के होते हैं। कच्ची कुइयाँ, पक्के कुएँ तथा ट्यूब वैल। कच्चे कुएँ बहुत सस्ते होते हैं किसान स्वयं अपने तथा अपने कुटुम्बियों और मित्रों की सहायता से कुआँ खोद लेता है और एक दो वर्ष काम देने के उपरांत दूसरा कुआं खोद लिया जाता है। जहां कहीं नदी का किनारा होता है वहाँ तो यह कुएँ और भी सरलता और कम खर्च से खुद जाते हैं। छोटे और निर्धन किसान इन कच्चे कुओं से अपना काम चलाते हैं। पक्के कुओं में व्यय अधिक होता है। युद्ध के पूर्व एक कच्चे कुयें में ५ रु० से १० रु० तक व्यय होता था किन्तु पक्के कुओं का व्यय उत्तर भारत के मैदानों में २०० रु० के लगभग होता था परन्तु पठार के प्रदेश में जहाँ भूमि पथरीली है वहाँ एक कुयें का व्यय १००० रु० के लगभग होता है और केवल सम्पन्न किसान ही उतना धन व्यय कर सकते हैं। ट्यूब वैल बहुत अधिक खर्चीले होते हैं और केवल सरकार या बड़े जमींदारों के ही द्वारा उनका निर्माण होना सम्भव है।

पिछले चालीस वर्षों में भारत में कुओं द्वारा होने वाली सिंचाई में

कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। जहाँ १६०२ में ब्रिटिश भारत में एक करोड़ सोलह लाख एकड़ पर कुओं से सिंचाई होती थी वहाँ अब केवल एक करोड़ सत्ताईस लाख ऐकड़ भूमि सींची जाती है। इसका एक मात्र कारण यह है कि भारतीय किसान अत्यन्त निर्धन है उसके पास पूँजी नहीं है, फिर भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटी हुई है। छोटे-छोटे खेतों के लिए अलग-अलग कुएँ बनवाने से कभी भी लाभ नहीं हो सकता। यदि राज्य कुयें बनवावे और उस कुयें के समीप वाले किसानों को उसका जल काम में लाने दे तो वे लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं, या समीपवर्ती भूमि के सब किसान मिल कर एक कुआँ बनवा लें और उसके जल का मिलकर सिंचाई के लिए उपयोग करें तब वे लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं।

कुओं की वृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि प्रान्तीय सरकार, जो भी किसान कुआँ बनाना चाहे, उसे उचित सूद पर ऋण दे और किश्तों में वसूल करले। जहाँ भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों में बने होने के कारण किसान के लिये अपने छोटे छोटे खेतों पर पृथक-पृथक कुएँ बनाना लाभदायक नहीं हो सकता वहाँ सरकार स्वयं अपने व्यय से कुयें बनवावे और जो किसान उस कुयें के जल लें उनसे कुछ सिंचाई ले ली जावे। साथ ही सहकारिता द्वारा किसानों को सामूहिक कुयें बनाने के लिये भी उत्साहित किया जावे। भारत में गहरी खेती के लिए अधिक कुओं का होना नितान्त आवश्यक है और उनकी वृद्धि सहकारी कुओं तथा सरकारी कुओं के निर्माण से ही हो सकती है। खेद की बात है कि सरकार ने कुओं की ओर ध्यान नहीं दिया।

भारतवर्ष में कुओं का एक विशेष महत्व है। नहर में जब पानी आता है तभी किसान अपने खेत को सींच सकता है। कभी-कभी किसान को पानी की अत्यधिक आवश्यकता होती है किन्तु बम्बे में पानी नहीं आता और कभी-कभी जब कि उसे जल की इतनी अधिक आवश्यकता नहीं होती तब बम्बे में पानी आता है और किसान इस भय से कि अब जाने कब फिर पानी आवे वह खेत में आवश्यकता से अधिक पानी देता है। इससे फसल और भूमि दोनों को ही हानि होती है। और किसान सिंचाई विभाग पर जल के लिए निर्भर रहता है। कुएँ से किसान स्वावलम्बी हो जाता है। वह जब चाहे अपने खेत को पानी दे सकता है। फिर कुयें का पानी फसल और भूमि दोनों

के लिए ही नहर के पानी से उत्तम होता है। यही नहीं किसान स्वयं कुएँ बनवा सकता है इस प्रकार वह सिंचाई साधन का स्वयं मालिक बन सकता है। फिर सरकार चाहे कितना भी प्रयत्न करे नहरों का निर्माण बहुत शीघ्रता पूर्वक नहीं हो सकता क्योंकि नहरों के निर्माण में बहुत अधिक पूंजी लगानी पड़ती है और सरकार केवल उन्हीं नहरों को अधिकतर हाथ में लेना चाहती है कि जिनके बनाने से उसमें लगी हुई पूँजी पर उचित लाभ प्राप्त हो सके। इन सब बातों को देखते हुए यह कहना पड़ेगा कि भारत में सिंचाई के लिए कुओं का एक महत्वपूर्ण स्थान है और सरकार को उनके निर्माण करने का भार केवल किसान पर नहीं डाल देना चाहिए।

ट्यूब-वैल

सिंचाई के लिए ट्यूब वैल का उपयोग अभी थोड़े दिनों से ही होने लगा है। आरम्भ में यह ट्यूब वैल बड़े-बड़े जमींदारों के द्वारा उनके फार्मों पर बनाये गये थे संयुक्तप्रान्त में सरकार ट्यूब-वैल निर्माण करने वालों को आर्थिक सहायता भी प्रदान करती है। एक ट्यूब वैल में लगभग १४००० रुपये व्यय होते हैं किन्तु सरकार उसमें लगभग ६००० रु० की सहायता ट्यूब वैल बनाने वाले को देती है। अन्य प्रान्तों में सरकार इतनी अधिक आर्थिक सहायता नहीं देती। यही कारण है कि संयुक्तप्रान्त में जमींदारों द्वारा निर्मित निजी ट्यूब वैल अन्य प्रान्तों की तुलना में बहुत अधिक हैं।

किन्तु अभी कुछ वर्ष हुए संयुक्त प्रान्तीय सरकार ने बहुत बड़ी संख्या में बिजली द्वारा चलने वाले ट्यूब-वैल बनवाये हैं। संयुक्तप्रान्त में जब नहरों के जल से विद्युत बनाने की व्यवस्था हुई उसका उपयोग ट्यूब वैल से पानी निकालने में किया गया है। संयुक्तप्रांत के मेरठ, बुलन्दशहर, अलीगढ़, मुरादाबाद, बदायूँ, मुजफ्फरनगर तथा बिजनौर जिलों में लगभग दो हजार ट्यूब वैल खोदे गये हैं। युद्ध के उपरान्त सरकार अन्य जिलों में भी ट्यूब वैल खोदने की योजना बना रही है। एक ट्यूब वैल के बनाने में लगभग दस हजार रुपये लगते हैं और वह एक हजार एकड़ भूमि सींचता है। यह ट्यूब वैल गंगा नहर के पानी से उत्पन्न हुई बिजली से चलते हैं। जैसे-जैसे अन्य जिलों में जल विद्युत पहुँचती जावेगी वैसे ही वैसे वहाँ भी ट्यूब वैल खोदे जा सकेंगे। भविष्य में संयुक्तप्रांत में ट्यूब वैल

सिंचाई का एक महत्वपूर्ण साधन बन जायेगा।

ट्यूब वैल की सिंचाई के कुछ लाभ हैं (१) ट्यूब वैल को एक बार बना देने के उपरान्त उसकी देख-भाल तथा प्रबंध में बहुत कम व्यय होता है। इस कारण पानी सस्ते मूल्य पर दिया जा सकता है। (२) कुओं का पानी नहरों की अपेक्षा फसलों के लिए अधिक लाभदायक होता है (३) प्रत्येक ट्यूबवैल पर एक आपरेटर (कर्मचारी) रहता है जो किसान के मांगने पर कुंएँ को चलाकर पानी किसान को दे देता है। अर्थात् किसान को पानी की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। जब उसे आवश्यकता होती है तभी उसे ट्यूब वैल से पानी मिल जाता है। नहरों के जल के लिये कभी-कभी बहुत लम्बी प्रतीक्षा करनी पड़ती है। ट्यूब वैल पर मीटर लगा होता है अतएव किसान जितना पानी लेता है उतना नाप लिया जाता है और उसी के अनुसार किसान को आबपाशी देनी होती है। इसका फल यह होता है कि किसान पानी की किफायत करता है।

अन्य प्रान्तो में जहाँ भी जल विद्युत उत्पन्न की जा सके और बिजली गाँवों में ले जाई जा सके भविष्य में बिजली से चलने वाले ट्यूब वैल अवश्य बनाये जाने चाहिए जिससे कि प्रत्येक स्थान पर सिंचाई की व्यवस्था हो सके। भावी भारत में कृषि की योजना बनाते समय हम बिजली से चलने वाले ट्यूब वैल को उपेक्षा नहीं कर सकते।

तालाब

तालाब भी सिंचाई का एक महत्वपूर्ण साधन है। दक्षिण प्रायद्वीप और विशेष कर मदरास में तालाबों से सिंचाई होती है। मदरास में लगभग ३५,००० तालाब हैं जिनसे प्रति वर्ष लगभग ३,०००,००० एकड़ भूमि सींची जाती है। राजपूताना, मध्यभारत, हैदराबाद तथा मैसूर राज्यों में बड़े-बड़े बाँध बनाकर कृत्रिम झीलें बनाई गई हैं जिनमें वर्षा का जल इकट्ठा कर लिया जाता है जिससे सिंचाई होती है। राजपूताने में उदयपुर, अलवर, भरतपुर, मध्यभारत में तथा इंदौर, भूपाल और ग्वालियर राज्यों में विशाल जलाशय बनाए गए हैं जो विस्तृत क्षेत्रफल को सींचते हैं। उदयपूर का जयसमुद्र हैदराबाद का निजामसागर, तथा मैसूर का कृष्ण राजासागर नामक तालाबों से बहुत सिंचाई होती है। मैसूर के कृष्ण

राजासागर के पानी से बिजली उत्पन्न होने के अतिरिक्त १,२०,००० एकड़ भूमि की सिंचाई होती है। दक्षिण-भारत, मध्य भारत, दक्षिण राजपूताना तथा उत्तरी बिहार में तालाबों से सिंचाई होती है।

बड़े-बड़े बांध और तालाब तो राज्य बनवाता है किन्तु छोटे-छोटे तालाब गाँव की पंचायत ही निर्माण करती है और वही उसका प्रबंध करती है। बम्बई और मदरास में तो छोटे तालाब भी राज्य के हैं। तालाब यद्यपि कुओं से कम महत्वपूर्ण हैं परन्तु फिर भी भारत जैसे देश में जहाँ खेती के लिए जल की अत्यन्त आवश्यकता रहती है वर्षा के जल को एकत्रित करके रखने और फसल को समय पर जल देने का वे अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। अभी तक सरकार ने तालाबों की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। आवश्यकता इस बात की है कि जहाँ भी तालाब बनाने की सुविधा हो तालाब बनवाने का प्रयत्न किया जावे। सिंचाई के इस साधन का यथाशक्ति पूरा उपयोग करना चाहिए।

नहरें

अत्यन्त प्राचीन काल से भारत में नहरों का उपयोग सिंचाई के लिए होता रहा है। वर्षा का मौसमी होना, वर्षा का कभी-कभी न होना या अत्यन्त कम होना खेती के लिए भयंकर स्थिति उत्पन्न कर देता है। इस अनिश्चितता से मुक्ति पाने के लिए नहरों का भारत में निर्माण किया गया। नहरें बनाने के लिए जल को एकत्रित करके रखने की आवश्यकता पड़ती है। हिमालय पर प्रकृति अनन्त राशि में जल को हिम के रूप में एकत्रित कर देता है जो गरमियों में पिघल-पिघल कर नदियों को पानी देता है और नहरें उनसे अपना पानी प्राप्त करती हैं। इस प्राकृतिक जलाशय में अनन्त राशि में जल इकट्ठा रहता है।

नदियों से निकलने वाली नहरों को हम दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं (१) स्थायी नहरें (perenial canal) (२) बाढ़ की नहरें (Inundation canals)। स्थायी नहरों को बनाने के लिए जहाँ से नहर निकाली जाती है वहाँ बाँध बनाकर और उसमें लोहे के फाटक इत्यादि लगाकर नदी के जल पर नियंत्रण स्थापित किया जाता है। इस प्रकार नहर-विभाग के अधिकारी जितना जल चाहते हैं नदी में जाने देते हैं और

जितना चाहते हैं नहर में ले लेते हैं। इस प्रकार बांध बनाने से नहरों की उपयोगिता स्थायी हो जाती है क्योंकि यदि किसी वर्ष या वर्ष के किसी मास में नदी में पानी कम भी हो तो भी नहर में पानी दिया जा सकता है।

बाढ़ की नहरों में यह कठिनाई होती है कि यदि नदी में जल खूब होता है तब तो नहर में पानी आता है और यदि नदी में पानी कम हो जाता है तो नहर में पानी नहीं पहुँचता। वह सूख जाती है और सिंचाई के लिए बेकार हो जाती है। इन नहरों का तभी उपयोग होता है जब कि नदी में बाढ़ होती है। यही कारण है कि यह नहरें सिंचाई के लिए अधिक महत्वपूर्ण नहीं होती। क्योंकि जब नदियों में पानी कम हो जाता है तभी खेती को जल की विशेष आवश्यकता होती है। यही कारण है कि सिंध की नहरें तथा सतलज की नहरें जो पहले बाढ़ वाली नहरें थीं उन्हें बांध बना कर स्थायी कर दिया गया है। पंजाब, सिंध, संयुक्तप्रान्त की नहरें स्थायी नहरें हैं।

नहरों के आर्थिक परिणाम के आधार पर उन्हें तीन श्रेणियों में बांटा जाता है (१) लाभ देने वाली नहरें (productive canals) (२) दुर्भिक्ष से रक्षा करने वाली नहरें (protecive canals) (३) छोटी नहरें (minor works)। लाभ देने वाली नहरें वे कहलाती हैं कि जिनका पानी बेंचने से नहर का प्रबन्ध उसकी मरम्मत इत्यादि का सब खर्चा निकल आवे और नहर में लगी हुई पूंजी पर सूद और पूँजी प्राप्त हो सके। अर्थात लाभ देने वाली नहरें एक व्यापारिक धंधा है जिसमें लगी हुई पूँजी पर उचित लाभ मिलना चाहिए। दुर्भिक्ष से रक्षा करने वाली नहरों से लाभ प्राप्त करना उद्देश्य नहीं होता वरन उस प्रदेश में जहाँ वे नहरें निकाली जाती हैं। दुर्भिक्ष न पड़ने देना उनके निकालने का उद्देश्य होता है।

यही कारण है कि लाभ देने वाली नहरों के बनाने के लिए ऋण लेकर पूँजी लगा दी जाती है किन्तु दुर्भिक्ष से रक्षा करने वाली नहरों के बनाने में दुर्भिक्ष-कोष के रुपये को ही काम में लाया जाता है। छोटी नहरें वे होती हैं जो कि इन दोनों श्रेणियों में नहीं आतीं।

भारतवर्ष में अधिकांश नहरें पहली श्रेणी की हैं और प्रतिवर्ष उनसे दो करोड़ साठ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होती है। दुर्भिक्ष से रक्षा करने

वाली नहरों से केवल ३० लाख एकड़ भूमि पर ही सिंचाई होती है।

भारतवर्ष की प्रमुख नहरें

स्वात की नहरें—सीमाप्रान्त में स्वात नदी से दो नहरें निकाली गई हैं। (१) लोअर स्वात नहर (२) अपर स्वात नहर। लोअर स्वात नहर १६०,००० एकड़ भूमि को सींचती है। यह नहर १८८५ में निकाली गई थी। अपर स्वात नहर १९१४ में निकाली गई और लगभग दो लाख एकड़ भूमि को सींचती है।

पंजाब की नहरें—बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में पंजाब के पश्चिमी जिले आधे रेगिस्तान थे। लायलपुर, शाहपुरा, झंग तथा मांटगोमरी जिलों में वर्षा बहुत कम होती थी। अतएव नहरों के निकलने से पूर्व सारा प्रदेश सूखा नजर आता था। नहरों के निकल जाने से यह प्रदेश अब हरा-भरा दिखलाई देता है। पंजाब में सबसे पहली नहर "बारी दोआब नहर" (१८६० में) रावी नदी से निकाली गई। यह नहर लाहौर और अमृतसर जिलों को सींचती है। दस वर्ष बाद जमुना से एक नहर निकाल कर दक्षिण पंजाब को दिया गया। इन प्रदेशों में पहले कुओं से सिंचाई होती थी। नहरें निकल जाने से सिंचाई की सुविधा अवश्य हो गई किन्तु नई भूमि खेती के योग्य नहीं बनाई गई।

सबसे पहले (१८८८) मुलतान जिले को पानी देने के लिए सतलज नदी से एक नहर निकाली गई जिससे १,७७,००० एकड़ मरुभूमि पर खेती होने लगी और पास के राज्यों और जिलों से किसान आकर बस गए। इसके उपरान्त (१८९२) लोअर मिनाब नहर निकाली गई जो कि २५ लाख एकड़ से अधिक भूमि को सींचती है। इसके उपरान्त पंजाब में बड़ी तेजी से नहरें निकाली जाने लगीं। १९०० में "लोअर झेलम नहर" निकाली गई और उसके पानी से शाहपुर जिले के रेतीले मैदानों पर लहलहाते खेत दिखलाई देने लगे।

इसके उपरान्त प्रसिद्ध ट्रिपिल प्रोजेक्ट बनाई गई। लाहौर के दक्षिण पश्चिम में मांटगोमरी की मरुभूमि पड़ी हुई थी किन्तु उसके निकट रावी नदी में उसे सींचने के लिए जल नहीं था। पंजाब में केवल झेलम नदी ही ऐसी थी जिसमें आवश्यकता से अधिक पानी था। किन्तु झेलम नदी सौ

मील उत्तर में थी और बीच में चिनाब और रावी नदियां पड़ती थीं अतएव समस्या यह थी कि झेलम का पानी चिनाब और रावी नदियों को पार करके मांटगोमरी में किस प्रकार लाया जावे। इस समस्या को हल करने के लिए तीन नहरें निकाली गईं (१) "अपर झेलम नहर" जो झेलम का फिजूल पानी चिनाब में डाल देती है और रास्ते में ३५०,००० एकड़ भूमि सींचती है। झेलम के पानी से चिनाब में आवश्यकता से अधिक पानी हो जाता है। अतएव दूसरी नहर "अपर चिनाब नहर" निकाली गई जो रास्ते में गुजरानवाला तथा शेखूपूर जिलों में ६,५०,००० एकड़ भूमि को सींचती है। अन्त में यह नहर रावी पर एक पुल बनाकर उसके ऊपर से निकाली गई है। एक तीसरी नहर "बारी दोआब नहर" इस नहर के पानी को ले जाकर मांटगोमरी को सींचती है। इस नहर के द्वारा सींची हुई मरुभूमि पर अब "लोअर बारी दोआब नहर" बस गई है।

इन नहरों के द्वारा सींची हुई भूमि पर तीन बड़ी (लायलपूर, शाहपुर, और मांटगोमरी) कालॉनी, जिनका क्षेत्रफल ४५ लाख एकड़ है, बसाई गईं। इनके अतिरिक्त ६ छोटी कालोनियाँ, जिनका क्षेत्रफल पचास हजार एकड़ है, बसाई गईं। सरकार ने इन नहरों के निकालने में जितनी पूँजी व्यय की है उस पर २५ प्रतिशत प्रतिवर्ष सरकार को लाभ होता है।

इन नहरों के निकलने से पंजाब के पश्चिमी जिले जो कि पहले वीरान थे अब बहुत उपजाऊ हो गए हैं। यहाँ के किसानों की हालत पहले से बहुत अच्छी है। पूर्व के घने आबाद जिलों से आकर किसान यहीं बस गए हैं। इन नहरों के कारण ही पंजाब में इतनी अधिक गेहूँ की खेती होती है। १९३७ में पंजाब में हवेली प्रोजेक्ट बनना आरम्भ हुई और १९३९ में उससे सिंचाई होने लगी।

सतलज की नहरें—पंजाब के दक्षिण में सतलज नदी बहती है। उसके दोनों ओर ब्रिटिश पंजाब तथा बहालपुर राज्य है। पहले सतलज से निकलने वाली बाढ़ वाली नहरों से इन प्रदेशों में सिंचाई होती थी। इन बरसाती नहरों से केवल उन्हीं दिनों सिंचाई होती थी जब कि नदी में बाढ़ आती थी शेष दिनों में नहरें सूखी रहती थीं। इस समस्या को हल करने के लिए सतलज से स्थाई नहरें निकाली गईं। इन नहरों के निकल जाने से मरुभूमि उपजाऊ बन गई। वीरान तथा शुष्क प्रदेश में लहलहाती खेती

दिखलाई पड़ती है।

सतलज नदी पर चार स्थानों (फीरोजपुर, सुलेमानकी, इसलाम; और पंचनद) पर बांध बनाकर सतलज को रोक दिया गया है और नदी के दोनों ओर ग्यारह नहरें निकाली गई हैं। इन नहरों से पचास लाख एकड़ भूमि सींची जाती है। इसमें बीस लाख एकड़ भूमि पंजाब में, सत्ताइस लाख एकड़ भूमि बहालपूर राज्य में और शेष बीकानेर राज्य में सींची जाती है। इन नहरों से एक बड़ा लाभ यह हुआ कि लगभग ४७ लाख एकड़ मरुभूमि जिस पर पहले तनिक भी पैदावार नहीं होती थी अब उपजाऊ भूमि बन गई है।

सिंध की नहरें—सिंध भारतवर्ष का सबसे अधिक सूखा प्रान्त है। सिंध नदी की बाढ़ वाली नहरें पहले आस-पास की भूमि को सींचती थीं। किन्तु अब सक्खर का विशाल बांध बनाकर नदी को रोक दिया है। इस विशाल बांध से ७ नहरें निकाली गई हैं। तीन दाहने किनारे और चार बायें किनारे से। इन सातों नहरों तथा उनकी शाखाओं की लम्बाई ७००० मील है। जब सक्खर बांध की नहरों के पानी का पूरा-पूरा उपयोग होने लगेगा तब इन नहरों के द्वारा साठ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होगी। सक्खर बांध की नहरों का महत्व तो इसी से स्पष्ट है कि नील नदी की नहरों के द्वारा मिस्र में केवल ५.४ लाख एकड़ भूमि ही सींची जाती है। किन्तु अभी सक्खर बांध की नहरों का पूरा विस्तार नहीं हो पाया है।

संयुक्त प्रान्त की नहरें—संयुक्तप्रान्त में साधारणतः वर्षा अच्छी होती है और कुयें बहुत होते हैं इस कारण नहरों के बिना भी खेती हो सकती है। पंजाब और सिंध की भाँति संयुक्तप्रान्त नितान्त नहरों पर ही निर्भर नहीं है। संयुक्तप्रान्त में गंगा की दोनों नहरें अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं वे अपर गंग और लोअर गंग नहर के नाम से प्रसिद्ध है। संयुक्तप्रान्त की तराई में वर्षा अधिक होने के कारण बहुत सी छोटी-छोटी नदियां तराई से निकल कर गंगा के मध्य में मिलती हैं। इससे यह लाभ होता है कि गंगा के ऊपरी भाग में नहर निकल जाने से पानी की जो कमी हो जाती है वह पूरी हो जाती है और मध्य में से लोअर गंग नहर निकाली जा सकी जो गंगा की घाटी के मध्य भाग को सींचती है। संयुक्तप्रान्त की सभी बड़ी नदियों के साथ यही बात है। जमुना से भी दो नहरें निकाली गई हैं। पूर्वी जमुना नहर और

आगरा नहर। यह नहरें जमुना के दायें और बायें किनारे के भाग को सींचती हैं। कुछ वर्ष हुए रुहेलखंड और अवध के प्रदेश को सींचने के लिए शारदा नहर निकाली गई है जो लगभग १३ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई करती है। आगे चलकर लोअर शारदा नहर निकालने का भी विचार है।

संयुक्तप्रान्त में नहरों से ३५ लाख एकड़ भूमि सींची जाती है। अतएव सिंचाई की दृष्टि में यहाँ कुयें नहरों से अधिक महत्वपूर्ण हैं। हाँ, पश्चिमी जिलों में नहरें अधिक महत्वपूर्ण हैं। संयुक्तप्रान्त में जोती जाने वाली भूमि की ८३ प्रतिशत भूमि पर सिंचाई होती है। संयुक्तप्रान्त में कुछ नहरें दुर्भिक्ष रोकने की दृष्टि से बनवाई गई हैं, इनमें केन, घासन, घाघरा तथा गाराई नहरें मुख्य हैं। केन और घासन क्रमशः १३०,००० एकड़ और एक लाख एकड़ भूमि सींचती हैं।

मदरास की नहरें—मदरास प्रान्त में भी नहरें महत्वपूर्ण सिंचाई के साधन हैं। मदरास में जितनी भूमि सींची जाती है उसकी एक तिहाई नहरों से सींची जाती है। यह नहरें महानदी, गोदावरी कृष्णा तथा कावेरी के डेल्टों में हैं। इन नदियों के डेल्टों में इतनी नमी नहीं है कि सिंचाई की आवश्यकता ही न पड़े। पूर्वी तट पर वर्षा अधिकतर जाड़ों में होती है। इस कारण गर्मियों की फसलों को सिंचाई की आवश्यकता होती है। बंगाल की खाड़ी में गिरने वाली नदियाँ (गोदावरी, महानदी, कृष्णा, कावेरी इत्यादि) उन प्रदेशों से निकली हैं जहाँ गर्मियों में वर्षा होती है। अतएव गर्मियों (जुलाई, अगस्त, सितम्बर तथा अक्टोबर) में इन नदियों में खूब पानी रहता है। यही कारण है कि यह नहरें गरमियों में सिंचाई के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होती हैं। इन नहरों का उपयोग माल लाने तथा ले जाने में भी होता है क्योंकि डेल्टा प्रदेश में रेलों का अधिक विस्तार नहीं हुआ है। सींची जाने वाली फसलों में चावल, ज्वार, बाजरा और कपास मुख्य हैं। कावेरी के डेल्टा में पहले बाढ़ वाली नहरें थीं। इस कारण सिंचाई में असुविधा होती थी। इस कारण मदरास सरकार ने कावेरी पर मैट्टूर में एक बहुत बड़ा बांध बनवाया जो कि ६०,००० क्यूब फीट पानी को रोक सकेगा। इस बांध के बन जाने से दस लाख एकड़ भूमि जिसकी पहले सिंचाई ठीक तरह से नहीं होती थी अब भली प्रकार सींची जाती है। और तीन लाख एकड़ भूमि और भी अधिक सींची जाती है जिस पर अब

चावल की खेती होती है।

दक्षिण की अन्य नहरें—इनके अतिरिक्त दक्षिण में प्रवरा और नीरा की नहरें उल्लेखनीय हैं। प्रवरा की नहरों से बंबई प्रांत के अहमदनगर जिले की सिंचाई होती है और नीरा नहर से शोलापुर के जिले में सिंचाई होती है। इन नहरों के अतिरिक्त दक्षिण में पैरियर की नहर विशेष महत्वपूर्ण है यह नहर मदरास के तिनेवैली तथा मदरास जिलों को सींचती है। परियर नदी कारडैमन पहाड़ियों से निकल कर अरबसागर में गिरती थी। किन्तु पूर्वी जिलों को पानी की बहुत आवश्यकता थी। अतएव पश्चिम की ओर एक बड़ा बाँध बनाकर नदी को एक झील में परिणित कर दिया गया। इस झील से १५० मील लम्बी एक नहर निकाली गई है जो कि पहाड़ में १½ मील लम्बी सुरंग बना कर पूर्व की ओर लाई गई है और पूर्व के शुष्क जिलों को सींचती है।

मध्यप्रान्त की नहरें—मध्यप्रान्त में अधिकांश नहरें दुर्भिक्ष रोकने के लिए हैं। इनमें चार नहरें मुख्य हैं। महानदी की नहर जो रायपूर जिले के एक भाग को सींचती है। वेनगंगा की नहर बालाघाट तथा भांदरा जिलों के एक भाग को सींचती है। तेंदुला की नहर रायपूर और दुर्ग जिलों को सींचती है इनके अतिरिक्त मध्यप्रान्त में रामटेक नहर भी उल्लेखनीय है।

बंगाल और बिहार की नहरें—ऊपर दी हुई नहरों के अतिरिक्त कुछ नहरें बिहार और बंगाल में भी हैं। बिहार की त्रिवेनी नहर एक लाख एकड़ भूमि को सींचती है। अभी कुछ वर्ष हुए बंगाल में दामोदर नहर निकाली गई है जो बर्दवान और हुगली जिलों में २ लाख एकड़ भूमि को सींचती है। इनके अतिरिक्त बंगाल में सोन रूपनारायन और वेमका नदियों से जो नहरें निकाली गई हैं इनमें से कुछ का उपयोग चावल की फसलों को सींचने में होता है। किन्तु सिंचाई की दृष्टि से यह नहरें अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं। इनका उपयोग अधिकतर माल ढोने, पानी के लिए पानी देने तथा नीचे मैदानों के व्यर्थ पानी को बहा ले जाने के लिए होता है।

नहरों की सिंचाई—यह पहले ही कहा जा चुका है कि नहरों के पानी का अत्यन्त अपव्यय होता है। इसके मुख्य दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि किसान को आबपाशी (सिंचाई) जितना पानी वह

लेता है उसके हिसाब से नहीं देनी पड़ती, सिंचाई, फसल और क्षेत्रफल के हिसाब से देनी पड़ती है। यदि कोई किसान पानी को किफायत से खर्च करे तो उसको उतनी ही आबपाशी देनी होगी और यदि वह मनमाना पानी ले तो भी उसे उतनी ही सिंचाई देनी होगी। ऐसी दशा में किसान पानी का अपव्यय करता है। यह प्रथा अत्यन्त दोषपूर्ण है। होना यह चाहिए कि नम्बों पर मोटर लगा कर यह मालूम किया जावे कि किसान ने कितना पानी लिया है और उसी के हिसाब से उसको आबपाशी देनी हो। तभी किसान पानी किफायत से खर्च करेगा।

पानी का अपव्यय होने का एक दूसरा भी कारण है। नहर में पानी कब दिया जावेगा यह निश्चित नहीं रहता। इस कारण किसान जब नहर में पानी आता है तो वह खेत में अधिक से अधिक पानी भर देता है कि यदि आगे बहुत समय तक नहर में पानी न आवे तो भी उसका काम चल जावे। इससे केवल पानी का ही अपव्यय नहीं होता वरन फसल और भूमि को भी हानि पहुंचती है। इसमें सुधार होने की आवश्यकता है। एक निश्चित समय के उपरान्त नहर में अवश्य पानी दिया जाना चाहिए जिससे कि किसान की यह कठिनाई दूर हो जावे।

सिंचाई विभाग के कर्मचारियों का किसानों से व्यवहार अच्छा नहीं होता। छोटे कर्मचारी तो घूस भी लेते हैं और किसानों को हर तरह से तंग करते हैं। सिंचाई विभाग और किसानों का अधिक सम्पर्क होना आवश्यक है। इसके लिए प्रत्येक प्रान्त में एक सिंचाई सलाहकार समिति की स्थापना होनी चाहिए। जिसमें सिंचाई विभाग, कृषि विभाग, और रैवन्यू विभाग के प्रतिनिधि हों किन्तु बहुमत किसानों के प्रतिनिधियों का हो। यह समिति सिंचाई विभाग को किसानों की आवश्यकताओं से अवगत करती रहेगी

जल विद्युत

अभी तक भारतवर्ष में जल-विद्युत बहुत कम उत्पन्न की जा सकी है। जो कुछ जल-विद्युत उत्पन्न होती है वह अधिकतर उद्योग धंधों में काम आती है। अभी तक गांवों में बहुत कम उसका उपयोग हुआ है। केवल संयुक्तप्रान्त, मदरास, तथा मैसूर में जल-विद्युत का उपयोग कस्बों और

गांवों में सिंचाई इत्यादि के लिए हुआ है। संयुक्तप्रान्त के ट्यूब वेल जल-विद्युत से ही चलते हैं। यदि जल-विद्युत का देश में अधिक विस्तार हो तो उसका गांवों में सिंचाई तथा धंधों के लिए उपयोग किया जा सकता है। वैसी दशा में खेती की पैदावार को अर्ध तैयार माल में परिणित करने वाले धंधे अनायास ही वहां स्थापित हो जावेंगे। यदि जल-विद्युत हमारे गांवों में पहुँच सके तो गांवों के पुनरुद्धार में बहुत बड़ी सहायता मिल सकती है। भविष्य में जल-विद्युत की उन्नति पर ही देश की औद्योगिक उन्नति सम्भव है।

जल-विद्युत(Hydro-electricty) पानी की बहुतायत तथा पृथ्वी के धरातल की बनावट पर निर्भर है। जल शक्ति निम्नलिखित स्थानों पर उत्पन्न की जा सकती है। जहां जल प्रपात हों जहां नदियों में पानी अधिक घटता तथा बढ़ता न हो क्योंकि बाढ़ आने से प्लाट को हानि पहुँचती है और जल कम हो जाने से कारखाने को बद करना पड़ता है। बात यह है कि यदि पानी अधिक घटे और बढ़ेगा तो बिजली बनाने का काम अच्छी तरह से नहीं हो सकता। यह ध्यान रखने की बात है कि जल-शक्ति उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि पानी बहुत अधिक ऊंचाई से गिरे। बात यह है कि कितनी बिजली उत्पन्न होगी यह जल राशि और वह कितनी ऊंचाई से गिरता है इस पर निर्भर है। अस्तु जितनी बिजली एक हजार पौंड पानी १०० फीट की ऊंचाई से गिर कर उत्पन्न करता है उतनी ही बिजली सौ पौंड पानी १००० फीट से गिर कर अथवा १०, ००० पौंड पानी दस फीट की ऊंचाई से गिर कर उत्पन्न करेगा। पानी तेजी से बहता है या धीरे बहता इसका बिजली पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि थोड़ा भी जल बहुत अधिक ऊंचाई से गिराया जावे तो अधिक विद्युत उत्पन्न हो सकती है।

जल-विद्युत भाप से अधिक लाभदायक है। यही नहीं कि वह सस्ती होती है बल्कि वह भाप से अधिक उपयोगी भी है। कोयले का उपयोग करने का परिणाम यह हुआ है कि संसार में औद्योगिक केन्द्र मुख्यतया कोयले के क्षेत्रों के समीप ही केन्द्रित हैं। धंधों के इस केन्द्रीयकरण (Centralisation of industries) का दुष्परिणाम यह होता है कि औद्योगिक केन्द्रों में मजदूरों के रहने के लिए मकानों की समस्या

अत्यन्त कठिन हो जाती है और इस भीड़-भाड़ से रोग, गंदगी तथा अन्य बुराइयाँ फैलती हैं। कोयले का उपयोग करने से धुआं और गंदगी मजदूरों तथा नगर-वासियों के स्वास्थ्य को नष्ट करती है। परन्तु सबसे बड़ा दोष यह है कि ग्रामवासी अपने गांवों को छोड़ कर इन औद्योगिक केन्द्रों में नारकीय जीवन व्यतीत करने जाते हैं। जल-विद्युत के द्वारा धंधों का विकेन्द्रीयकरण Decentralisation होने से धंधे गांवों तथा छोटे नगरों में भी स्थापित हो सकेंगे और औद्योगिक केन्द्रों के दोष दूर हो सकेंगे।

संसार की जल-शक्ति

फ्रांस की सरकार ने अपने देश की जल-शक्ति का अनुमान करने के लिए विशेषज्ञों की एक कमेटी बिठाई थी। उस कमेटी ने संसार के अन्य देशों की जल-शक्ति का भी अनुमान किया है जो इस प्रकार है :—

संसार की जल-शक्ति

देश	देश की जल शक्ति के आंकड़े जो भविष्य में उत्पन्न की जा सकेगी (घोड़ों की शक्ति में)
संयुक्तराज्य अमेरिका	२, ८०, ००, ०००
कनाडा	२, ००, ००, ०००
फ्रांस	४७, ००, ०००
नार्वे	५, ५१, ००, ०००
स्वीडन	४५, ००, ०००
इटली	३८, ००, ०००
स्विटजरलैंड	१४, ००, ०००
जर्मनी	१३, ५०, ०००
जापान	६०, ००, ०००
स्पेन	४०, ००, ०००
मैक्सिको	६०, ००, ०००
ब्राजील	२, ५०, ००, ०००
ब्रिटेन	५, ८५, ०००
भारतवर्ष	२, ७०, ००, ०००
बैलजियम कांगो	६, ००, ००, २००

देश	देश की जलशक्ति के आँकड़े जो भविष्य में उत्पन्न की जा सकेगी (घोड़ों की शक्ति में)
फ्रैंच कांगो	३, ५०, ००, ०००
चीन	२, ००, ००- ०००
सायबेरिया	८०, ००, ०००
नामगेरिया	६०, ००, ०००
फ्रैंच कैमरून	१, ३०, ००, ०००

भारत में कोयले की कमी

भारत कायले की दृष्टि से धनी देश नहीं है। अभी कुछ वर्ष हुए जब भारत सरकार ने एक कोयला-कमेटी बिठाई थी। उस कोयला कमेटी ने यह अनुमान किया था कि भारत में जितना कोयला आज खपता है उसके हिसाब से भारतीय खानों का घटिया कोयला ३५० वर्षों में और बढ़िया कोयला १०० वर्षों से कम में समाप्त हो जावेगा। यही नहीं कि भारत में कोयला कम है, वरन् साथ ही, भारत का कोयले का क्षेत्र एक पूर्वीय कोने में स्थिति है। अस्तु कोयले को भारत के भिन्न-भिन्न सुदूर प्रान्तों में ले जाने में इतना अधिक व्यय होता है कि शक्ति को उत्पन्न करने की लागत बहुत अधिक होती है। अस्तु भविष्य में देश की औद्योगिक उन्नति और विशेष कर गाँवों के उद्योग धंधों की उन्नति कोयले पर निर्भर रह कर कभी भी नहीं हो सकती। अतएव भारतवर्ष को अपने उद्योग-धंधों की उन्नति और गाँवों के पुनरुद्धार के लिए जल-विद्युत उत्पन्न करनी होगी।

भारत जल-विद्युत की दृष्टि से धनी देश है

जहाँ तक जल-विद्युत उत्पन्न करने का प्रश्न है, भारतवर्ष के पास प्रकृति की अत्यधिक देन है और अभी तक भारतवर्ष में जितनी जल-विद्युत उत्पन्न की जा सकती है उसकी केवल दो प्रतिशत ही उत्पन्न की है। शेष जल-विद्युत नदियों के सहारे बहकर नष्ट हो रही है।

भारतवर्ष के बहुत से भागों में वर्षा यथेष्ट होती है। आसाम, हिमालय तथा पश्चिमी घाट पर वर्षा यथेष्ट होती है। साथ ही धरातल ऊबड़-खाबड़ है। इस कारण नदियाँ बहुत से स्थानों पर ऊपर से नीचे तल पर गिरती हैं। अतएव जहाँ तक पहली दो आवश्यकताओं का सम्बन्ध है,

वे पूरी हो जाती हैं। परन्तु भारतवर्ष में वर्षा प्रत्येक मौसम में नहीं होती। इस कारण नदियों में किन्हीं महीने में तो अत्यधिक पानी होता है और उनमें बाढ़ आ जाती है और गरमी तथा जाड़े में नदियों में बहुत कम पानी रह जाता है। इस कारण यहाँ बिजली उत्पन्न करने के लिए बड़े-बड़े बाँधों को बनाकर जल इकट्ठा करना पड़ता है। वर्षा का जल इकट्ठा करके इन बाँधों में रोक लिया जाता है और उसको ऊँचाई से गिराकर विद्युत उत्पन्न की जाती है। यदि बाँध बनाकर पानी न इकट्ठा किया जावे और जहाँ नदियाँ ऊँचाई से मैदान पर आती हैं वहाँ स्लाट लगाया जावे तो विद्युत उत्पन्न करना कठिन हो जाये। क्योंकि यदि स्लाट इतना बड़ा खड़ा किया जावे कि वह बाढ़ के समय जो अत्यधिक जल नदी में आयेगा उसका उपयोग कर सके तो तीन महीने के उपरान्त जब पानी बहुत कम रह जायेगा तो स्लाट बेकार हो जायेगा। और यदि छोटा स्लाट लगाया जावे तो वह बाढ़ के समय बेकार हो जावेगा। अतएव भारतवर्ष में बाँध बनाकर पानी को रोकना आवश्यक हो जाता है। इन बाँधों को बनाने में करोड़ों रुपये व्यय होते हैं। इस कारण बिजली उत्पन्न करने में अन्य देशों की अपेक्षा यहाँ व्यय अधिक पड़ता है। भारतवर्ष में कोयला सस्ता है इस कारण उत्तर भारत के नगरों में कोयले से ही बिजली उत्पन्न की जाती है। जो स्थान कि कोयले की खानों के समीप हैं वहाँ कोयले से बिजली उत्पन्न करने में कम व्यय होता है।

पहाड़ी प्रदेशों और दक्षिण प्रायद्वीप के उन भागों में जो कोयले के क्षेत्र से बहुत दूर हैं कोयले को ले जाने में व्यय अधिक होता है। अतएव उन भागों में जहाँ बिजली की माँग है जल-विद्युत उत्पन्न की जा रही है। भारतवर्ष में जल विद्युत उत्पन्न करने के लिये बड़े-बड़े कारखाने उसी समय स्थापित किये गए जब कि कोयले का मूल्य बढ़ गया।

भारतवर्ष में तीन प्रकार के जल-विद्युत उत्पन्न करने के कारखाने हैं (१) तथा वे कारखाने जो बड़े-बड़े औद्योगिक तथा व्यापारिक केन्द्रों को बिजली देते हैं। (२) वे कारखाने जो नहरों के जल से विद्युत उत्पन्न करते हैं। (३) वे कारखाने जो पहाड़ी स्थानों को रोशनी देने के लिए बिजली उत्पन्न करते हैं।

पहले प्रकार के कारखानों में नीचे लिखे मुख्य हैं :—

पश्चिमी घाट के कारखाने

भारतवर्ष में सबसे महत्वपूर्ण जल-विद्युत उत्पन्न करने के कारखाने पश्चिमी घाट के समीप स्थित हैं। पश्चिमी घाट पर घोर वर्षा होती है, उस जल को पहाड़ पर लोनावला, वलव्हान, तथा शिरवता नामक तीन बड़ी झीलों में इकट्ठा किया जाता है। यह झीलें पहाड़ पर बाँध बनाकर बनाई गई हैं। यहाँ से पाइप लाइनों द्वारा पानी १७७५ फीट की ऊँचाई से खपोली के शक्ति-गृह के पास गिराया जाता है और खपोली के शक्ति-गृह में बिजली उत्पन्न होती है। इस शक्ति-गृह में लगभग पचास हजार घोड़ों की शक्ति के बराबर बिजली उत्पन्न होती है।

पश्चिमी घाट पर दूसरा बड़ा शक्ति-गृह आंध्रा वैली पावर सप्लाई कंपनी का है। तोकेरवादी पर बांध बना कर आंध्रा नदी को रोक दिया गया है। इस बांध के बन जाने से लगभग १२ मील लम्बी झील बन जाती है। इस झील का पानी पाइप लाइनों द्वारा १७५० फीट की ऊंचाई से भिवपुरी पावर स्टेशन पर गिराया जाता है। यह शक्ति-गृह एक लाख घोड़ों की शक्ति के बराबर विद्युत उत्पन्न करता है।

पश्चिमी घाट पर तीसरा शक्ति-गृह भिरा नामक स्थान पर बनाया गया है। मुलशी नामक स्थान पर एक बहुत बड़ा बांध बना कर निलामुला नदियों को रोक दिया गया है। इस झील से १७५० फीट की ऊंचाई से भिरा शक्ति-गृह के लिए पानी गिराया जाता है।

यह तीनों जल-विद्युत के कारखाने प्रसिद्ध व्यवसायी ताता एण्ड संस कंपनी के हैं और इनसे उत्पन्न होने वाली विद्युत से बम्बई नगर में रोशनी होती है, कपड़े इत्यादि के कारखाने चलते हैं तथा बी० बी० एण्ड सी० आई० तथा जी० आई० पी० रेलवे चलती हैं।

निलामुला के १०० मील दक्षिण कोनया नदी के जल से भी विद्युत उत्पन्न करने का विचार है। जब कभी यह योजना कार्य रूप में परिणत होगी तो उससे साढ़े तीन लाख घोड़ों की शक्ति के बराबर विद्युत उत्पन्न होगी।

दक्षिण के जल-विद्युत उत्पन्न करने वाले शक्ति-गृह

मद्रास प्रान्त का दक्षिणी भाग तथा मैसूर राज्य कोयले के क्षेत्र से बहुत दूर हैं। इस कारण कोयले को मँगवाने में अधिक व्यय होता है।

शक्ति उत्पन्न करने में अधिक व्यय होने के कारण यहां उद्योग धंधों की उन्नति नहीं हो सकती थी। जब से दक्षिणी भाग में जल-विद्युत उत्पन्न होने लगी है तब से मद्रास प्रान्त के दक्षिणी भाग तथा मैसूर के दक्षिणी प्रदेश में तेजी से उद्योग-धंधे उन्नति कर रहे हैं।

मदरास के दक्षिण भाग में जल-विद्युत उत्पन्त करने के लिए बहुत से उपयुक्त स्थान हैं। उनमें से कुछ स्थानों को चुन कर वहां शक्ति-गृह स्थापित किये गए हैं। इनमें नीलगिरी पहाड़ियों में स्थिति पायकारा विशेष महत्वपूर्ण है। पायकारा नदी को रोक कर जल-विद्युत उत्पन्न की जाती है। जब यह योजना विकसित हो जावेगी तो इस शक्ति-गृह में एक लाख घोड़ों की शक्ति उत्पन्न होगी। पायकारा से उत्पन्न हुई जल-विद्युत के कारण तामिल प्रदेश में उद्योग-धंधों में जैसे जीवन आ गया है। अनेक छोटे-बड़े कस्बों और नगरों को बिजली इसी शक्ति-गृह से दी जाती है। पायकारा की बिजली के कारण इस प्रदेश में आश्चर्यजनक आर्थिक उन्नति हुई है। कोयम-बटूर भी कपड़े की मिलों का एक महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया है।

पायकारा के अतिरिक्त मैसूर, पायनासम, पालिनी पहाड़ियां तथा पैरियर शक्ति-गृहों से भी बिजली उत्पन्न की जाती है। इन सभी स्थानों पर बांध बना कर जल को रोक दिया गया है और उसका उपयोग बिजली उत्पन्न करने में किया जाता है। मदरास सरकार का विचार है कि पायकारा, मैटूर तथा पापनासम की लाइनों को जोड़ दिया जाय जिससे कि विद्युत की एक बड़ी लाइन (Electric grid) बन जावे। दक्षिण मद्रास में इन शक्ति-गृहों की विद्युत ले जाने वाली लाइनों का एक जाल-सा बिछा है। मद्रास, चिंगलपेट, पांडीचेरी, विलुपुरम, वैल्लोर, रानीपेट, सेलम, त्रिपुर, डिंडीगुल, मदूरा, साटूर, तूतीकोरन, तिनेवली, कोचीन, त्रिचूर, कोयम्बटूर, कालीकट तथा अन्य बहुत से नगरों और कस्बों में इन शक्ति-गृहों में उत्पन्न हुई बिजली पहुँचती है। इन शक्ति-गृहों के कारण थोड़े समय में ही दक्षिण भारत में उद्योग-धंधों की आशातीत उन्नति हुई है।

मैसूर में जल-विद्युत

भारतवर्ष में सबसे पहले जल विद्युत उत्पन्न करने का श्रेय मैसूर राज्य को है। सन् १९०२ में कावेरी नदी पर शिवसामुंदरम जलप्रपात के

के समीप शक्ति-गृह स्थापित किया गया-शिवसामुंदरम की बिजली ९२ मील दूर कोलार के सोने की खानों में काम आती है। यहाँ की बिजली मैसूर तथा बंगलौर में भी कारखानों तथा रोशनी के काम में आती है। शिवसामुंदरम शक्ति-गृह से केवल २५, ००० घोड़ों की शक्ति उत्पन्न की जा सकती थी। किन्तु बिजली की मांग अधिक होने के कारण कृष्ण-राजासागर नामक बाँध बनाकर कावेरी के जल को रोक लिया गया है और इस प्रकार शिवसामुंदरम शक्ति-गृह से अधिक शक्ति उत्पन्न की जा रही है। मैसूर में दो योजनायें और विचाराधीन हैं। पहली योजना के अनुसार कावेरी की सहायक शिम्सा नदी के जल से विद्युत उत्पन्न की जावेगी। दूसरी योजना मेकाडाट् के नाम से प्रसिद्ध है। शिवसामुंदरम के दक्षिण में २५ मील पर कावेरी के जल से बिजली उत्पन्न की जावेगी। जब यह योजनायें पूरी हो जावेंगी तो मैसूर राज्य में यथेष्ट शक्ति उत्पन्न हो जावेगी और मैसूर में तेजी से औद्योगिक उन्नति हो सकेगी। इस समय भी बिजली के कारण ही मैसूर में बहुत से धंधे खड़े है।

काश्मीर

काश्मीर में झेलम नदी के जल से बड़ामुल्ला नामक स्थान पर विद्युत उत्पन्न की जाती। बड़ामुल्ला से वहाँ की राजधानी श्रीनगर ५५ मील है जहाँ बिजली का उपयोग होता है। यह शक्ति-गृह २०, ०००, घोड़ों की शक्ति उत्पन्न करता है।

उत्तर भारत में "मंडी" का जल-विद्युत का कारखाना अधिक महत्वपूर्ण है। शिमला की पहाड़ियों के समीप जोगेन्द्रनगर के समीप बिजली उत्पन्न की जाती है। मंडी-योजना बहुत बड़ी योजना है। इसके तीन भाग हैं। अभी केवल एक ही पूरा हुआ है। इसके द्वारा उत्पन्न होने वाली बिजली पंजाब के लगभग २० कस्बों को दी जा रही है। फिरोजपुर और लायलपुर को यही बिजली मिलती है। जब कभी यह योजना पूरी होगी तो उससे उत्पन्न होने वाली बिजली शिमला, अम्बाला, पटियाला, सियाल-कोट, गुजरानवाला, देहली, मेरठ, सहारनपुर, तथा करनाल जिलों को दी जावेगी। अभी तक योजना का एक भाग ही पूरा हुआ है। मंडी योजना से जैसी आशा थी वह उतनी सफल नहीं हुई।

सिंचाई की नहरों से सम्बन्धित जल-विद्युत के कारखानों में गंगा की नहर से बिजली उत्पन्न करने की योजना सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। गंगा की नहर के बहुत से जल-प्रपातों (अफसरनगर, चितौरा, सुमेरा,) से बिजली उत्पन्न की जाती है। अफसरनगर के पास ही बहादुराबाद मुख्य शक्ति-गृह है जहां से बिजली उत्पन्न करके भिन्न-भिन्न स्थानों को भेजी जाती है। बहादुराबाद के अतिरिक्त गाजियाबाद के समीप "भोला" तथा बुलंदशहर के दक्षिण में "पालरा" शक्ति-गृह है जिसमें शक्ति उत्पन्न की जाती है। इस सभी जल-प्रपातों तथा शक्ति-गृहों में उत्पन्न होने वाली बिजली की बड़ी लाइन Electric crid से सम्बन्धित कर दी गई है। जिसके द्वारा संयुक्तप्रान्त के पश्चिमी जिलों को बिजली मिलती है। गंगा-ग्रिड योजना का महत्व इसलिए है कि उसके द्वारा उन जिलों में सिंचाई होती है। यही नहीं कि इन जिलों में बिजली के द्वारा ट्यूब वेल चलते हैं, वरन् नहरों को भी पानी मिलता है। गंगा नहर की अनूपशहर वाली शाखा में पानी बहुत कम रहता था। इस कारण उससे ठीक तरह सिंचाई नहीं होती थी। अब बिजली के द्वारा कालिंद्री नदी का जल उस नहर में डाल दिया और जाता है। इस प्रकार नहर में यथेष्ट जल हो जाने से सिंचाई अच्छी तरह से अधिक क्षेत्र में हो सकती है।

इसके अतिरिक्त कावेरी के मैटूर बांध से निकलने वाली नहरों के जल से तथा कावेरी के मुहानो में नहरों के जल से भी बिजली उत्पन्न की जाती है।

युद्धोपरान्त देश की औद्योगिक उन्नति की जो योजनायें बनी हैं उनमें जल-विद्युत् उत्पन्न करने की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है। क्योंकि भारतवर्ष कोयले और पैट्रोलियम की दृष्टि से धनी नहीं है। अस्तु, देश की भावी औद्योगिक उन्नति जल-शक्ति पर ही निर्भर है। इसके अतिरिक्त गांवों में यदि हम खेती अथवा गृह-उद्योग धंधों के लिए यांत्रिक शक्ति का उपयोग करना चाहें अथवा छोटे-छोटे कारखानों को गांवों में ले जाने का प्रयत्न किया जावेगा तो जल-शक्ति को गांव में उपलब्ध करना आवश्यक होगा। अस्तु गांवों की दृष्टि से जल-शक्ति की उन्नति आवश्यक है।

इस समय प्रान्तों में जो उत्तरदायी मंत्रि-मंडल स्थापित हुए हैं वे शक्ति उत्पन्न करने की बात सोच रहे हैं। संयुक्तप्रान्तीय सरकार मिर्जापुर

में एक नदी के जल से शक्ति उत्पन्न करके उसे गांवों में तथा कानपुर तक ले जाना चाहती है। बिहार सरकार भी जल-विद्युत् उत्पन्न करने की योजनाओं पर विचार कर रही है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रान्तों तथा देशी राज्यों में भी इस ओर प्रयत्न हो रहा है।

भारत में इस समय एक अरब किलोवाट से अधिक बिजली उत्पन्न होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में १ खरब १५ अरब किलोवाट, जर्मनी में ५५ अरब किलोवाट, ब्रिटेन में ३१ अरब, कनाडा में २६ अरब किलोवाट और फ्रांस में २० अरब किलोवाट बिजली की शक्ति उत्पन्न होती है। ऊपर के आंकडों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतवर्ष में बहुत कम बिजली उत्पन्न होती है।

भारतवर्ष में नवीन जल विद्युत योजनायें

युद्धोपरान्त भारत के उद्योग धंधों की उन्नति करने के लिए जो योजनायें तैयार की गई हैं उनमें जल विद्युत की योजनाओं का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि बिना शक्ति के न तो उद्योग धंधे ही उन्नति कर सकते हैं और न खेती में ही सुधार हो सकता है। भारत में गृह उद्योग-धंधों की उन्नति तथा उन धंधों की गांवों और कस्बों में स्थापना तभी हो सकती है, जो कि खेती से सीधा सम्बंध रखते हैं, जब कि देश भर में जल-विद्युत का एक जाल-सा बिछ जावे। जल-विद्युत का इस प्रकार विस्तार होने से केवल धंधों का ही देश में विस्तार नहीं होगा वरन खेती को भी बहुत लाभ होगा। जल-विद्युत का उपयोग सिंचाई के लिए भी हो सकेगा। इसी उद्देश्य से भारत सरकार ने 'शक्ति तथा सिंचाई बोर्ड' की स्थापना की है। जो प्रान्तीय सरकारों तथा भारत सरकार को इस सम्बंध में अपनी सलाह देता है।

अभी तक भारतवर्ष में जो भी जल-विद्युत की योजनायें हैं वे केवल जल-विद्युत ही उत्पन्न करती हैं और जो सिंचाई की योजनायें हैं वे केवल सिंचाई के लिए जल की व्यवस्था करती हैं किन्तु अब भारत में संयुक्तराज्य अमेरिका की टिनैसी घाटी की योजना के आदर्श पर ऐसी बहुमुखी योजनायें हाथ में ली जा रही हैं कि जिनसे बिजली भी उत्पन्न की जा सकेगी, सिंचाई भी हो सकेगी, नदियों की बाढ़ों को भी रोका जा सकेगा तथा उनका

उपयोग नौकाओं के द्वारा माल एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने के लिए हो सकेगा। अभी तक जो बहुत बड़ी सिंचाई की योजनायें इस देश में तैयार की गईं उनका केवल सिंचाई के लिए उपयोग हो सकता है। उनसे बिजली नहीं उत्पन्न की जाती। इस अदूरदर्शिता का फल यह हुआ है कि देश एक बहुत बड़े लाभ से वंचित रह गया। अब हम उन योजनाओं का उल्लेख करेंगे जिन्हें प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकार ने स्वीकार कर लिया है और जो शीघ्र ही तैयार हो रही हैं।

दामोदरघाटी की योजना

देश के कृषि तथा औद्योगिक पुनर्संगठन के इतिहास में दामोदर-घाटी की योजना एक नया अध्याय है। देश में अब तक कोई ऐसी नदी-योजना को कार्यान्वित नहीं किया गया जिससे नदी के जल द्वारा आधुनिक शास्त्रीय रीति से नदी क्षेत्र के निवासियों की बहुमुखी उन्नति हुई हो। एक ही योजना के अन्तर्गत बाढ़ नियंत्रण, सिंचाई, विद्युत शक्ति सृजन, जहाजरानी इत्यादि का समावेश कर समाज की सर्वांगीण उन्नति करना आधुनिक सिंचाई शास्त्र का मूल सिद्धान्त है। दामोदर-घाटी की योजना का निर्माण इसी नवीन सिद्धान्त पर किया गया है। दामोदरघाटी-योजना वास्तव में अमेरिका की टिनैसी की घाटी की योजना के आदर्श पर तैयार की जा रही है अतएव हम यहां टिनैसी-घाटी की योजना का संक्षिप्त विवरण देते हैं।

टिनैसी-घाटी की योजना

टिनैसी नदी उत्तर अमेरिका की सात पश्चिमी रियासतों में बहकर मिसिसिपी नदी में मिलती है। इसकी पांच सहायक नदियाँ हैं। उसका मार्ग गहरी घाटियों, बनों और कहीं-कहीं ऊसर मैदानों में से है। समस्त घाटी का क्षेत्रफल इङ्गलैंड तथा स्काटलैंड के बराबर है और जनसंख्या ४५ लाख है।

इस नदी पर २१ बांध बांधे गए हैं और १२० खरब किलोवाट बिजली उत्पन्न की जाती है। इस शक्ति का कारखानों, औद्योगिक भट्ठियों, मोटरों, धातु-शोधन, भारी रसायनिक पदार्थों, लकड़ी के उद्योग, हवाई जहाज, गैस मास्क तथा बम बनाने तथा अन्य धंधों में उपयोग होता है।

इस क्षेत्र में ८५,००० विशाल फार्म हैं जिनमें से प्रत्येक फार्म पर बिजली का उपयोग होता है। टिनैसी-घाटी ने निवासियों का गार्हस्थ्य जीवन को विद्युन्मय कर दिया गया है। बिजली के पम्प, आटा पीसने की चक्कियाँ, हिम-कारक यंत्र (रिफ्रिजिरेटर), फल सुखाने के यंत्र, पशु-शालायें इत्यादि टिनैसी-घाटी के निवासियों के लिए साधारण-सी वस्तु बन गई है।

पहले प्रति वर्ष टिनैसी घाटी के खेतों कारखानों गाँवों, शहरों, रेल तथा सड़कों को बाढ़ का खतरा बना रहता था। अब बाँध बनाकर इस खतरे को दूर कर दिया गया है। सन् १९४२ की बाढ़ सबसे बड़ी और भयंकर बाढ़ थी किन्तु टिनैसी के केन्द्रीय कार्यालय ने सब स्थानों को तार दे दिया। हिवासी बाँध के नियंत्रण कार्यालय में सूचना आई—हिवासी नदी का सारा जल रोक रक्खो। कार्यालय के संचालक ने बटन दबाया लोहे के फाटक बन्द हो गए और हिवासी नदी का जल टिनैसी में जाने से रुक गया। इस प्रकार टिनैसी की बाढ़ रोक दी जाती है।

टिनैसी योजना के फल स्वरूप वहाँ के निवासी अब दरिद्रता को कोई दैवी घटना नहीं समझते। रोग अकाल और बाढ़ अब उनके लिए दैवी प्रकोप नहीं है। इस परिवर्तित विचार शैली के फलस्वरूप वहाँ के निवासियों के भौतिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया है। बाढ़ भरी टिनैसी के स्थान पर नियंत्रित नहरें, ऊसर भूमि के स्थान पर उपजाऊ खेत, नदी की घाटियों के स्थान पर जहाजरानी के योग्य जल मार्ग, गृह-भट्ठियों के स्थान पर विद्युत-यंत्रों से सुसज्जित रसोई घर और कमरे, भूख और महा मारी के स्थान पर पोषक पदार्थ और आरोग्य केन्द्र, ऊबड़-खाबड़ मार्गों के स्थान पर रेल तथा मोटर के मार्ग। सारांश में दुखी जीवन को इस योजना ने सुखी और समृद्धिशाली जीवन में परिणित कर दिया है। टिनैसी-घाटी योजना कोई एकांगी योजना नहीं है। वह बहुमुखी योजना है, यही उसकी विशेषता है। और उसी के अनुरूप दामोदर-घाटी की योजना तैयार की जा रही है।

दामोदर घाटी योजना

दामोदरघाटी का उद्गम छोटा नागपुर प्रान्त में पालामऊ तथा रांची जिलों से घिरे पठार से होता है। इसी पठार के घने जंगलों की गहरी

घाटियों और घने जंगलों से निकल कर २५ मील बहने के उपरान्त वह हजारीबाग में प्रवेश करती है। कुछ मील बढ़ने के उपरान्त इसमें कोनोर नदी मिल जाती है। लगभग ३५ मील की यात्रा के उपरान्त यह बंगाल प्रान्त में घुसती है जहां उससे बारकर नदी, जो उत्तर से आती है, मिलती है। लगभग ८५०० वर्ग मील में दामोदर नदी तथा उसकी सहायक नदियों का क्षेत्र फैला है।

दामोदर नदी अब तक बिहार तथा बंगाल का शोक रही है। प्रति वर्ष दामोदर-घाटी के किसी न किसी क्षेत्र में बाढ़ आती रहती है। इन बाढ़ों से खेती, धन और जन की अपार हानि होती है। अतएव दामोदर की बाढ़ों को रोकने के लिए ७ बड़े बांध बनाये जावेंगे (१) बारकर नदी पर मलथान स्थान पर, (२) दामोदर नदी के ऊपर तानोलापुर स्थान पर जो बारकर और दामोदर के संगम से ५ मील दूर है, (३) बारकर नदी पर देवलबारी स्थान पर, (४) बारकर नदी के तिलम्मा स्थान पर, (५) दामोदर नदी पर अय्यर स्थान पर (६) बोकारो नदी पर बोकारो स्थान पर तथा (७) मध्य कोनार पर। इन बांधों में आज तक आई बाढ़ से दुगनी बाढ़ नियंत्रण करने की क्षमता रहेगी इस प्रकार अब तक जो बाढ़ों से धन और जन की अपार हानि होती है वह सर्वथा रोकी जा सकेगी।

सात बांधों के अतिरिक्त एक और बांध केवल जल-विद्युत उत्पन्न करने के लिए बनाया जावेगा इन आठ बांधों के निर्माण के फल स्वरुप दामोदर घाटी में ३००,००० किलोवाट विद्युत-शक्ति उत्पन्न की जावेगी। यह विद्युत-शक्ति दक्षिणी बिहार, सोन घाटी, पटना, डालमियानगर, जमशेदपुर तथा कलकत्ता तक पहुँचाई जा सकेगी। सस्ती बिजली के उपलब्ध होने के कारण इस क्षेत्र के अनेक धंधों को प्रोत्साहन मिलेगा। अल्यूमीनियम, धातु शोधन नकली अमोनिया, कृत्रिम खाद तथा रसायनिक पदार्थों के उद्योग बढ़ाये जा सकेंगे। कृषि उन्नति छोटे धंधों के विकास, यतायात तथा दामोदार घाटी के निवासियों के दैनिक जीवन में सस्ती बिजली के उत्पन्न होने से क्या परिवर्तन होगा उसकी आज केवल कल्पना मात्र ही की जा सकती है। उसका आर्थिक महत्व आज आंका नहीं जा सकता।

इस योजना के पूरा हो जाने पर ७६०,००० एकड़ अनुर्वरा भूमि पर

धान की फसल उत्पन्न होगी और प्रति वर्ष इस क्षेत्र के किसानों को ६ या ७ करोड़ रुपये का लाभ होगा। अब तक इस क्षेत्र में कभी वर्षा की अत्यधिकता के कारण और कभी पानी की कमी के कारण फसल खराब होती रही है और इसके फल स्वरुप इस क्षेत्र में अकाल, भूख और महामारी साधारण-सी वस्तु बन गई; परन्तु दामोदर घाटी की बहुमुखी योजना के कार्यान्वित होने से अकाल के सब कारण समाप्त हो जावेंगे।

नौका

आज दामोदर नदी नौका संचालन के काम की नहीं है। आज स्थिति यह है कि वर्षा काल में नदी का बहाव बहुत तेज और ऊबड़-खाबड़ घाटियों में से होता है और शीतकाल में जल इतना कम हो जाता है कि नदी नौका संचालन के योग्य नहीं रहती। दामोदर योजना में प्रस्तावित बांध नदी का तेज बरसाती बहाव रोक कर बांधों और जलकुंडों में जल एकत्र किया जावेगा और यह जल शीतकाल में नदी में काफी जल रखने के लिए छोड़ दिया जावेगा। इस प्रकार दामोदर नदी वर्ष भर नौका संचालन के योग्य बनी रहेगी। मुहाने से लेकर आसनसोल तक दामोदर नदी नौका संचालन के योग्य बन जावेगी।

दामोदर योजना के कार्यान्वित होने के उपरान्त इस क्षेत्र के निवासियों की कायापलट हो जावेगी और यहाँ खेती तथा उद्योग धंधों की तेजी से उन्नति होगी।

पंजाब का भाकर बाँध

पूर्वीय पंजाब में झेलम नदी पर बांध बना कर एक विशाल झील का निर्माण हो रहा है। झेलम का पानी इसमें एकत्रित किया जावेगा इस योजना के पूर्ण हो जाने पर पूर्वीय पंजाब में ४५ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी, जिस पर गेहूँ के लहलहाते खेत खड़े होंगे। इसके अतिरिक्त इससे दो लाख किलोवाट जल-विद्युत उत्पन्न की जावेगी जो पूर्वीय पंजाब को विद्युन्मय बना देगी और वहाँ उद्योग-धंधों का तेजी से विस्तार होगा। इस योजना पर काम प्रारम्भ हो गया है।

रिहान्द बांध

संयुक्तप्रान्तीय सरकार ने अभी हाल में इस योजना को स्वीकार

कर लिया है और शीघ्र ही यह कार्यान्वित होगी। मिर्जापुर जिले में सोन नदी की सहायक रिहान्द नदी पर एक बहुत बड़ा बाँध बना कर एक बड़ी झील (१८० वर्ग मील) बनाई जावेगी जिसमें नदी का पानी एकत्रित किया जावेगा। उससे लगभग ४० लाख एकड़ अनुर्वरा भूमि को उपजाऊ बनाया जावेगा तथा २ लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न होगी। इसके बनाने में १६ करोड़ रुपये व्यय होंगे। जब यह योजना बन कर तैयार हो जावेगी तो संयुक्तप्रान्त के पूर्वी जिलों में गांव-गांव बिजली पहुँच जावेगी तथा इस क्षेत्र में सीमेंट इत्यादि के कारखाने खड़े हो सकेंगे।

नैयर बांध

गढ़वाल जिले में इस बांध के द्वारा बिजली उत्पन्न की जावेगी जो समीपवर्ती प्रदेश में उद्योग-धंधों की उन्नति का साधन उपलब्ध करेगी। यह गंगा की सहायक नैयर नदी पर बाँधा जावेगा।

इनके अतिरिक्त निम्नलिखित योजनायें दक्षिण में कार्यान्वित की जा रही हैं। महानदी, तुंगभद्रा तथा गोदावरी की योजनायें इनमें मुख्य हैं। संयुक्तप्रान्त में शारदा नहर से बनबसा के समीप बिजली उत्पन्न करने की योजना कार्यरूप में परिणित की जा रही है।

आवश्यकता इस बात की है कि जल-विद्युत उत्पन्न करके ग्रिड-प्रणाली के अनुसार देश भर में बिजली की लाइनों का एक जाल बिछा दिया जाय। जब देश भर में गांवों और कस्बों में बिजली पहुँच जावेगी तो खेती की उन्नति होगी, सिंचाई के साधन उपलब्ध हो सकेंगे, कृत्रिम खाद का धंधा पनप सकेगा तथा ग्रामीण धंधों को नवीन स्फूर्ति प्राप्त होगी। बिजली की सहायता से मृत-प्राय गृह-उद्योग धंधों का पुनर्संगठन हो सकेगा तथा बड़े-बड़े धंधों का विकेन्द्रीयकरण हो सकेगा। भारतीय गाँव समृद्धिशाली हो सकेंगे।

भारत में खेती की उन्नति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि भूमि पर से जनसंख्या का भार हलका हो। यह तभी हो सकता है कि जब जल-विद्युत का प्रसार गाँवों में भी हो जावे और गाँवों का औद्योगीकरण हो। गाँवों की औद्योगिक उन्नति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि जल-विद्युत उत्पन्न की जावे और उसको गाँवों तक फैला दिया जाय।

परिच्छेद—६

ग्रामीण ऋण

भारतवर्ष में ग्रामीण ऋण ग्राम्य अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए एक अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्या है। अधिकांश ग्रामीण आज ऋणी हैं। भारतीय ग्रामीण के सम्बंध में यह कहावत बिलकुल सच है कि वह ऋणी जन्म लेता है, जीवन भर ऋणी रहता है, ऋणी मरता है और अपने पुत्र पौत्रों के लिए ऋण छोड़ जाता है। बहुतेरे तो गले तक कर्ज में डूब गए हैं। कर्ज इतना अधिक हो गया है कि वह उनकी शक्ति से अधिक है। वे उसे चुका नहीं सकते। इसके अतिरिक्त वर्षा की अनिश्चितता, पुराने ढंग की खेती तथा बीमारी और पशुओं की मृत्यु उसे और भी कर्जदार बनाये रहती है। जब किसान की फसल साधारणतः अच्छी होती है तब भी उसके पास ऋण चुकाने के लिए कुछ नहीं होता किन्तु प्रति तीसरे वर्ष उसकी फसल नष्ट हो जाती है और उसको अपने परिवार के भरण पोषण के लिए और ऋण लेना पड़ता है फलतः ऋण बढ़ता जाता है। यह प्रश्न हो सकता है कि जब खेती लाभदायक धंधा नहीं है तब किसान उसमें लगा क्यों है। परन्तु किसान के लिए और कुछ करने को है ही नहीं। एक प्रकार से किसान विवश है। बिना कर्ज किये उसका काम नहीं चलता और उसे चुका सकने का कोई उपाय नहीं दिखता। ऐसी दशा में वह भाग्यवादी बन जाता है। उसका उत्साह मन्द पड़ जाता है और पुरुषार्थ की भावना नष्ट हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि वह खेती का सुधार करने में कोई रुचि नहीं दिखलाता। कर्जदारी केवल किसान को उदासीन कृषक ही नहीं बनाती, वरन् उसका नैतिक पतन भी करती है। वह बेईमानी, झूठ, और फरेब सीखता है। ग्रामीण ऋण के फल स्वरूप भारतीय गांवों का आर्थिक, नैतिक और सामाजिक ह्रास हुआ है, इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हर्ष की बात है कि पिछले दिनों में प्रान्तीय सरकारों का इस समस्या की ओर ध्यान गया है और उन्होंने इसको हल करने का प्रयत्न भी किया है।

ग्रामीण ऋण

ग्रामीण ऋण कुल कितना है इस सम्बंध में बहुत कुछ छान-बीन हो चुकी है। सर्व प्रथम १८८० में दुर्भिक्ष कमीशन ने अनुमान लगाया था कि एक तिहाई किसान ऐसी बुरी तरह ऋण ग्रस्त हैं कि उनका छुटकारा नहीं हो सकता। और एक तिहाई साधारण कर्जदार हैं तथा लगभग एक तिहाई ऋण मुक्त हैं। १९११ में सर ऐडवर्ड मैकलेगन ने समस्त ब्रिटिश भारत के ग्रामीण ऋण को ३०० करोड़ रुपये के लगभग कूता था। १९२४ में डार्लिंग ने ब्रिटिश भारत के ग्रामीण ऋण का अनुमान ६०० करोड़ रुपये के लगभग किया था। ऊपर दिये हुए सब आंकड़े केवल अटकलें और अनुमान मात्र थे। सर्व प्रथम १९२९ में प्रान्तीय बैंकिंग इनक्वायरी कमेटियों ने अपने-अपने प्रान्त में ग्रामीण ऋण का जो लेखा तैयार किया वह प्रमाणिक है। प्रान्तीय बैंकिंग इनक्वायरी कमेटियों के हिसाब से नीचे लिखे अनुसार ग्रामीण ऋण था :—

आसाम—	२२ करोड़ रु०	
बंगाल—	१०० ,,	,,
बिहार-उड़ीसा—	१५५ ,,	,,
बम्बई—	८१ ,,	,,
बर्मा—	५० से ६० करोड़ रु०	
केन्द्रीय सरकार द्वारा शासित प्रदेश—	१८ करोड़	रुपये
मध्यप्रान्त—	३६ ,,	,,
मदरास—	१५० ,,	,,
पंजाब—	१३५ ,,	,,
संयुक्तप्रान्त—	१३६ ,,	,,
ब्रिटिश भारत	लगभग ९०० करोड़ रुपये	

अभी तक किसी कमेटी ने देशी राज्यों के ग्रामीण ऋण का पता नहीं लगाया और न देशी राज्यों ने ही यह जानने का प्रयत्न किया कि उनके किसानों पर कितना ऋण है। देशी राज्यों के किसानों की आर्थिक स्थिति ब्रिटिश भारत के किसानों से भी गिरी हुई है। अतएव देशी राज्यों का ग्रामीण

ऋण ब्रिटिश भारत के ग्रामीण ऋण का एक तिहाई माना जा सकता है। क्योंकि देशी राज्यों की जन-संख्या भी एक तिहाई के लगभग है। अतएव १९२९ में समस्त देश का ग्रामीण ऋण १, २०० करोड़ रुपये के लगभग था।

१९२९ के उपरान्त खेती की पैदावार का मूल्य तेजी से गिरने लगा। इस कारण ऋण का भार बेहद बढ़ गया। अर्थशास्त्रियों तथा रिजर्व बैंक की रिपोर्ट का अनुमान था कि १९३५ के लगभग ब्रिटिश भारत का ग्रामीण ऋण १८०० करोड़ से २००० करोड़ तक था। यदि हिसाब लगाकर देखा जावे तो भारत में ग्रामीण ऋण बराबर बढ़ता ही गया। जिन गांवों के सर्वे हुए हैं उनसे भी यही ज्ञात होता है कि पिछले पचास वर्षों में ग्रामीण ऋण बराबर बढ़ता गया है और आज वह पहले से कई गुना हो गया है। अस्तु १९३९ के पूर्व जब कि वर्तमान महायुद्ध शुरू हुआ समस्त भारत का ग्रामीण ऋण लगभग २५०० करोड़ रुपये के था।

१९३९ के उपरान्त खेती की उपज का मूल्य बड़ी तेजी से बढ़ा। किसान को अपनी पैदावार का मूल्य बहुत अधिक मिलने लगा। किन्तु उसकी लगान नहीं बढ़ी। और क्योंकि वह अधिकांश में अपना भोजन स्वयं उत्पन्न करते हैं और उनकी अन्य आवश्यकताएँ कम होती हैं। इस कारण उसकी आमदनी के अनुपात में खर्च अधिक नहीं बढ़ा। यह एक ऐसा स्वर्ण अवसर उपस्थित हुआ था कि यदि किसान को समझाया जाता कि वह इस बढ़ी हुई आमदनी को बेकार कामों में नष्ट न करे और उसको बचाये, साथ ही प्रत्येक जिले में ऋण समझौता बोर्ड स्थापित करके किसान के महाजनों से उसके ऋण के सम्बंध में समझौता करके किसान को यदि किश्तों में रुपया अदा करने की सुविधा प्रदान करदी जाती तो इस महायुद्ध के लम्बे समय में बहुत कुछ ग्रामीण ऋण चुक जाता। किन्तु ऐसा नहीं हुआ। सरकार ने किसान की पैदावार का जो ऊंचा मूल्य मिला उसका एक बहुत बड़ा भाग युद्ध के चंदों के रूप में उससे झपट लिया। शेष किसान ने विवाह, तीर्थ यात्रा तथा अन्य सामाजिक और धार्मिक कृत्यों पर मनमाना व्यय कर दिया। इसके अतिरिक्त कुछ सोने और चांदी के जेवर पर भी किसान ने अपना धन व्यय किया। अतएव जो लोगों का अनुमान है कि युद्ध-काल की अच्छी आर्थिक स्थिति से लाभ उठाकर किसान ने अपने

खेती की आमदनी कम होने से ऋण लेने के अतिरिक्त पुराने ऋण को चुका दिया, यह अनुमान ठीक नहीं है। अभी तक इस सम्बंध में कोई खोज नहीं हुई है और जब तक कि इस संबंध में प्रामाणिक आंकड़े प्राप्त न हों तब तक यह कहना कठिन है कि ग्रामीण ऋण कितना चुका दिया गया। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि महायुद्ध के द्वारा उत्पन्न हुई स्थिति ने किसान की आर्थिक स्थिति में अवश्य सुधार किया है और ग्रामीण ऋण पहले से कम हुआ है।

किसान के ऋणी होने के कारण

किसान के ऋणी होने के कारण बहुत से हैं। हम उनके सम्बंध में नीचे लिखेंगे:—

(१) **खेती की पैदावार कम होना:**—भारत में खेती का धंधा अत्यन्त गिरी हुई अवस्था में है। खेती का ढंग अवैज्ञानिक है। इस कारण पैदावार बहुत कम होती है जिससे कि किसान के परिवार का भरण-पोषण नहीं हो सकता।

(२) **भूमि का छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटे होना:**—खेती की गिरी हुई दशा का एक मुख्य कारण भूमि का छोटे छोटे टुकड़ों में बंटे होना है। भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ो में बंटे होने के कारण जितनी पूंजी और श्रम नष्ट होती है उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। सच तो यह है कि लाभदायक धंधा नहीं रह गया है। कृषि कमीशन ने ठीक ही कहा था कि "भारत में कृषि एक धंधा नहीं रह गया है। वह जीवन निर्वाह का एक साधन मात्र है।" जब कि किसान खेत की पैदावार से अपने पालन नहीं कर पाता तो विवश होकर उसे ऋण लेना पड़ता है। जब तक किसान के पास आर्थिक जोत नहीं होगी तब तक उसकी यही दशा रहेगी।

(३) **भूमि पर जनसंख्या का अत्यधिक भार होना**—भी किसान के ऋणी होने का एक प्रधान कारण है। भारतवर्ष की जनसंख्या आज चालीस करोड़ के लगभग है किन्तु उद्योग धंधों की उन्नति इस तीव्र गति से नहीं हुई। उसका परिणाम यह हुआ कि धंधे हमारी बढ़ती हुई जन संख्या काम न दे सके। अस्तु, खेती पर जन-संख्या का भार बढ़ता गया। प्रति किसान पीछे और भी कम भूमि रह गई और खेती की आमदनी कम होती गई। खेती की आमदनी कम होने से किसान के लिए ऋण लेने के अतिरिक्त

कोई चारा नहीं रहा।

(४) ग्रामीण ऋण का अधिकांश में अनुत्पादक होना—ऋण लेना कोई आर्थिक हीनता का सूचक नहीं है। बड़े-बड़े व्यवसायी और व्यापारी पूंजी उधार लेकर अपने व्यापार और व्यवसाय में लगाते हैं और उससे लाभ कमाते हैं। सच तो यह कि आधुनिक व्यापारिक-जगत् में बिना उधार लिए सफलता पूर्वक व्यापार हो हो नहीं सकता। जब व्यवसायी पूंजी उधार लेता है तो वह पाँच प्रतिशत सूद देकर बीस प्रतिशत लाभ कमाता है। परन्तु किसान अधिकतर ऋण अनुत्पादक कार्यों के लिए लेता है। मुकदमेबाजी, जीवन निर्वाह और सामाजिक कृत्यों के लिए ऋण लेने से उसके खेत की पैदावार तो बढ़ नहीं सकती। अस्तु, ऋण लेने से उसकी आर्थिक स्थिति में सुधार होने के स्थान पर उसकी स्थिति और भी गिरती है। कल्पना कीजिये कि एक व्यक्ति की आमदनी उसके खर्च के लिए पूरी नहीं होती और वह कर्ज लेकर अपना काम चलाता है अब उसको साधारण खर्च के अतिरिक्त उधार लिए हुए धन पर सूद भी देना होगा और आमदनी में कोई वृद्धि नहीं हुई तो फिर अब उसका काम कैसे चल सकता है। अब तो ऋण बिना उसका निस्तार हो नहीं हो सकता। अस्तु अनुत्पादक ऋण लेना अपने को दिवालिया कर देना है। अधिकांश ग्रामीण ऋण अनुत्पादक है। बहुत सी प्रान्तीय बैंकिंग कमेटियों का यही मत था कि लगभग ७० प्रतिशत ग्रामीण ऋण अनुत्पादक कार्यों के लिए लिया गया है। किसान यदि बीज, खाद, हल बैल इत्यादि के लिए ऋण ले तो वह उत्पादक माना जावेगा किन्तु अधिकांश ग्रामीण ऋण अनुत्पादक है, इस कारण किसान की आर्थिक स्थिति और भी खराब हो गई।

(५) सामाजिक कृत्य—सामाजिक तथा धार्मिक कृत्यों पर भी किसान को अपनी स्थिति को देखते हुए अधिक व्यय करना पड़ता है। यों तो इन अवसरों पर जो व्यय होता है वह अधिक नहीं होता। किन्तु किसान को तो अपना जीवन निर्वाह करना ही कठिन होता है। इस कारण उसके पास कुछ बचत तो होती नहीं। अतएव उसे जब ऐसे अवसरों पर कुछ व्यय करना पड़ता है तो ऋण लेने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रहता। कुछ लेखकों ने सामाजिक कृत्यों पर किसान के अत्याधिक व्यय कर देने को उसके ऋणी होने का मुख्य कारण माना है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि

भारतीय-रीति रस्मों में जकड़ा हुआ बिरादरी के दबाव से किसान इन अवसरों पर कर्ज लेकर भी व्यय करता है, किन्तु यह किसान के ऋणी होने का मुख्य कारण नहीं है। हां, सहायक कारण अवश्य है। किसान की स्थिति ऐसी है कि बिना कर्ज लिए तो उसका काम चलता नहीं; फिर वह थोड़े से रुपयों के लिए बिरादरी में हंसी क्यों करावे। यदि वह यह व्यय न करके ऋण-मुक्त रह सकता तो फिर वह सामाजिक कृत्यों पर ऋण लेकर व्यय करने से हिचकता। फिर विवाह इत्यादि कृत्य जीवन में कभी-कभी ही होते हैं और उन पर थोड़ा व्यय अनिवार्य है। हां, कभी-कभी किसान ऐसे अवसरों पर आवश्यकता से अधिक व्यय कर देता है।

(६) **फसल का नष्ट हो जाना**—फसलों का नष्ट हो जाना भी किसान के ऋणी होने का एक प्रधान कारण है। कभी वर्षा के न होने से तो कभी अत्यधिक वर्षा होने या बाढ़ आने से, कभी टिड्डी के आजाने से, या ओले पड़ जाने से या फिर फसल के कीड़ों द्वारा फसल नष्ट हो जाने से किसान को विवश होकर ऋण लेना पड़ता है। साधारणतः ऐसा अनुमान किया जाता है कि पांच वर्षों में एक वर्ष अच्छी फसल होती है, एक वर्ष फसल नष्ट हो जाती है और तीन वर्ष साधारण फसल होती है। जिस वर्ष फसल अच्छी होती है उस वर्ष तो किसान को ऋण लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती परन्तु जिन वर्षों में साधारण फसल होती है अर्थात् न तो अच्छी और न बहुत बुरी, उन वर्षों में भी किसान को थोड़ा बहुत कर्ज लेना पड़ता है फिर जिस वर्ष फसल नष्ट हो जाती है उस वर्ष का तो कहना ही क्या। उस वर्ष तो वह केवल कर्ज पर ही जीवन निर्वाह करता है। खेती के इस अनिश्चित होने के परिणाम स्वरूप किसान कर्ज से दबा रहता है।

(७) **पैतृक ऋण**—पैतृक ऋण भी किसान के ऋणी होने का एक मुख्य कारण है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि किसान ऋणी जन्म लेता है। जीवन में ऋण को बढ़ा कर अपने पुत्र के लिए ऋण विरासत में छोड़ जाता है। अस्तु, प्रत्येक किसान आरम्भ से ही ऋणी होता है। यह पैतृक ऋण साधारण नहीं, वरन् बहुत अधिक होता है और उस पर सूद भी बहुत अधिक देना पड़ता है। महाजन के चंगुल में किसान पहले से

ही फंसा होता है। पैतृक ऋण पर सूद ही इतना अधिक हो जाता है कि किसान उसको नहीं दे पाता फिर वह मूल को तो दे ही कैसे सकता है। इसका परिणाम यह होता है कि किसान सदैव महाजन के चंगुल में फंसा रहता है और कभी ऋण-मुक्त नहीं हो पाता।

पैतृक ऋण के सम्बंध में जहां तक कानूनी स्थिति है वह तो यह है कि किसान को अपने मृत पिता से जो जायदाद मिलती है पैतृक ऋण केवल उसी से वसूल किया जा सकता है। जब महाजन देखता है कि जो पैतृक जायदाद किसान को मिली है वह पैतृक ऋण से कम है तो वह किसान से पूरे ऋण के लिए नया ऋण-पत्र लिखा लेता है। किसान कुछ तो अज्ञानतावश, कुछ अपने पिता के प्रति भावना होने के कारण कि वह स्वर्ग में शान्ति से नहीं रह सकते और कुछ इस भय से कि यदि वह पूरे कर्जे को स्वीकार नहीं करता तो महाजन भविष्य में उसे कर्ज नहीं देगा, नये ऋणपत्र पर अंगूठा लगा देता है और सारे कर्ज को स्वीकार कर लेता है। यह स्पष्ट है कि किसान इस पैतृक ऋण को चुकाने में सर्वथा असमर्थ होता है। वह ऋण-भार उसकी शक्ति के परे होता है। वह यह मानने लगता है कि ऋणी होना स्वाभाविक है। उसकी मनोवृत्ति ऋण की ओर से उदासीन हो जाती है और वह महाजन का कृति दास बन जाता है। जहां किसान को यह विश्वास हो कि ऋणी होना एक स्वाभाविक नियम है, वह कभी ऋण-मुक्त हो ही नहीं सकता। तो फिर उसका पुरुषार्थ नष्ट हो जाता है और अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने का उत्साह उत्पन्न ही नहीं होता। जहाँ स्थिति ऐसी दयनीय हो गई है वहाँ खेती की उन्नति कैसे हो सकता है। वास्तव में पैतृक ऋण किसान की दुर्दशा का एक मुख्य कारण है।

(८) **ऋण मिलने की सुविधा और अत्यधिक सूद**—भारतीय ग्रामीण ऋण जो इतना अधिक बढ़ गया उसका एक प्रधान कारण यह है कि यहां ऋण मिलने की बहुत सुविधा है और सूद अत्यधिक देना पड़ता है। किसान साहूकार, सहकारी साख समिति और सरकार से ऋण लेता है। यद्यपि सहकारी साख समितियाँ सरकार (तकावी ऋण) उचित मूल्य पर सूद देते हैं और अधिकतर उत्पादक ऋण ही दिया जाता है परन्तु यह दोनों संस्थायें किसान को बहुत कम ऋण देती हैं। आज भी गाँवों में साहूकार

का एकछत्र राज्य है और ६० प्रतिशत ऋण साहूकार ही देता है। सब कुछ प्रयत्न करने पर भी साहूकार का गाँवों में साख (Credit) देने का आधिपत्य नष्ट नहीं किया जा सका है। आज भी किसान साहूकार पर ही साख के लिए निर्भर है। जिन गाँवों में सहकारी-साख समितियाँ स्थापित हो चुकी हैं, वहाँ भी साहूकार ८० या ६० प्रतिशत व्यक्तियों को ऋण देता है।

खेती में साख की आवश्यकता है। यह तो निर्विवाद सत्य है, किन्तु साहूकार का जो वहाँ एकाधिपत्य है उसके कुछ विशेष कारण हैं। साहूकार गाँव में ही रहता है। वह प्रत्येक किसान की आर्थिक स्थिति और चाल-ढाल से अवगत होता है। जब किसान उसके पास ऋण लेने आता है तो बिना अधिक पूंछ-तांछ किये साहूकार उससे अंगूठा लगवाकर उसे तुरन्त ऋण दे देता है। सहकारी समितियों से एक तो किसान को पूरा ऋण नहीं मिलता। फिर वे अधिकतर उत्पादक कार्यों के लिए ही ऋण देती हैं और जो कुछ ऋण मिलता है वह बहुत देर के उपरान्त मिलता है। किसान को जिस समय आवश्यकता होती है समिति से उसे ऋण नहीं मिल पाता। फिर समिति से ऋण लेने से किसान की कर्जदारी का गांव भर में विज्ञापन हो जाता है, जो कि किसान कभी नहीं चाहता। महाजन किसान के कर्जदारी के भेद को प्रगट नहीं करता। महाजन किसान को अधिक ऋण लेने के लिए उत्साहित करता है कि जिससे वह उसके चगुल में बुरी तरह से फंस जावे और वह उसका अनवरत शोषण कर सके।

महाजन केवल आसानी से ऋण ही नहीं देता, वरन् उसके सूद की दर अत्यन्त भयंकर होती है। एक बार जहां किसी ने ऋण लिया कि सूद इतनी तेजी से बढ़ता है कि किसान ऋण में डूब जाता है। वह कभी ऋण-मुक्त हो ही नहीं सकता। सूद की दर भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न है। बड़े बड़े जमींदारों को तो ऋण कुछ कम सूद पर अर्थात् १२ प्रतिशत पर मिल जाता है क्योंकि उसकी जमानत अच्छी होती है। किन्तु छोटे-छोटे किसानों को बहुत अधिक सूद देना पड़ता है। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में सुरक्षित ऋण पर १२॥ प्रतिशत से ५० प्रतिशत तक सूद लिया जाता है और अरक्षित ऋण पर २५ प्रतिशत से १०० प्रतिशत तक। कहीं-कहीं तो इससे भी अधिक सूद लिया जाता है। गांवों में दो पैसा प्रति रुपया महीना और पिछड़े हुए क्षेत्रों

में एक आना प्रति रुपया महीना सूद साधारण बात है। भारतीय अदालतों में ऐसे मुकदमें आये हैं जिनमें सूद की दर एक हजार प्रतिशत से भी अधिक थी। यही नहीं कि साहूकार किसान से अत्यधिक सूद लेता है वरन् वह हिसाब में भी गड़बड़ करता है। बात यह है कि अपढ़ किसान हिसाब को तो समझता नहीं वह तो जो कुछ कर्ज के चुकाने में दे पाता है साहूकार को देता रहता है। किन्तु ऊंचे सूद की दर के कारण ऋण इतनी तेजी से बढ़ता है कि बराबर रुपया चुकाने पर भी वह बढ़ता ही जाता है। किसान की स्थिति तो ऐसी दयनीय हो गई है कि वह जानता है कि ऋण चुकना नहीं है, अस्तु वह हिसाब की ओर से उदासीन रहता है जो कुछ वर्ष में दे पाता है, देता जाता है। एक प्रकार से किसान साहूकार का कृति दास बन जाता है। वर्ष में वह जितना कुछ कमाता है उसका अधिकांश भाग साहूकार को दे देता है। फिर भी साहूकार का ऋण घटने के बजाय बढ़ता है। किसान के पास तो वर्ष भर का भोजन भी कठिनाई से बचता है। किसान ऋण ली हुई पूंजी पर इतना अधिक सूद देकर कभी भी पनप नहीं सकता। इसका परिणाम यह होता है कि किसान नितान्त निराशावादी और भाग्य-वादी बन गया है। वह ऋण को ही नियम मान बैठा है। यह बात उसकी समझ में ही नहीं आती कि वह ऋण मुक्त भी हो सकता है।

फसल काटने के उपरान्त अपने लेनदारों को निबटाने पर किसान के पास वर्ष भर का भोजन भी नहीं बचता। जिस वर्ष फसल खराब होती है उस वर्ष महाजन को भी कम लेकर ही संतोष करना पड़ता है और जिस वर्ष फसल अच्छी होती है उस वर्ष महाजन की मांग भी अधिक होती है। किसान तो जानता है कि फसल अच्छी होने से उसकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। उसे तो केवल वर्ष भर जीवन निर्वाह के लिए ही अन्न प्राप्त होगा, अधिक कुछ नहीं। एक प्रकार से वह साहूकार के लिए खेती करता है। यदि फसल अच्छी हुई तो साहूकार को उस वर्ष अधिक मिल जाता है और यदि फसल खराब हुई तो साहूकार घाटे में रहता है। किसान के पास तो प्रत्येक दशा में केवल दस बारह महीने का भोजन बचता है क्योंकि फसल के खराब होने पर महाजन को किसान के पास वर्ष भर का भोजन तो अपने स्वार्थवश छोड़ना ही पड़ता है। नहीं तो सोना देने वाली मुर्गी ही समाप्त हो जावे और आगे कुछ मिलने की आशा न रहे। ऐसी दशा में यदि किसान घोर निराशावादी

और भाग्यवादी है तो आश्चर्य की कौन-सी बात है। यही नहीं, किसान की इस दयनीय अवस्था के कारण उसमें खेती के सुधार, ग्राम-सुधार इत्यादि की ओर रुचि नहीं है।

इस सम्बंध में श्री हैनरी वुल्फ ने ठीक ही कहा है "यह भयंकर सूदखोरी किसान के रुधिर को चूस लेती है और उसको अत्यन्त निर्धन और निस्सहाय बना देती है। इसका परिणाम यह होता है कि आर्थिक दृष्टि से उसकी स्थिति निराशाजनक हो जाती है और खेती की दशा अत्यन्त गिर जाती है। किसान घोर निराशावादी और भाग्यवादी बन जाता है और अपना जीवन बिना किसी उद्देश्य के व्यतीत करता है"। सच तो यह है भारतीय ग्रामीण ऋण के भयंकर बोझ से दब कर अपना पुरुषार्थ खोता जा रहा है और वह साहूकार का कृति दास बन गया है।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि साहूकार से किसान को तनिक भी लाभ नहीं है और उसको तुरन्त नष्ट कर देना चाहिये। हम पहले ही कह चुके हैं कि महाजन किसान को आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त ऋण देता है। किसान को जितनी आवश्यकता होती है साहूकार से उसे उतना ऋण मिल जाता है। सहकारी सिमितियां तो किसान को ६ या ७ प्रतिशत ऋण ही देती हैं। तक़ावी ऋण किसान लेना पसंद नहीं करता। इस कारण गांवों में साहूकार ही साख का एक मात्र श्रोत है। जब तक कि सरकार किसानों के लिए साख का उचित प्रबंध नहीं करती तब तक साहूकार की आवश्यकता बनी ही रहेगी। साहूकार की उपयोगिता को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। किन्तु उसके विरुद्ध दोष यह है कि वह अत्यधिक सूद लेता है और उसका महाजनी का ढंग ऐसा है कि उसके चंगुल में फंस कर किसान की आर्थिक मृत्यु हो जाती है। आवश्यकता इस बात की है कि गांवों में न तो ऋण प्राप्त करना बहुत सरल हो और न अत्यधिक सूद ही लिया जावे। इस सम्बंध में जो कानून अभी कुछ वर्ष हुए प्रान्तीय सरकारों ने पास किये हैं वे महत्वपूर्ण हैं। उन कानूनों का मुख्य उद्देश्य महाजनी का उचित सीमाओं के अन्दर नियंत्रण करना है।

(६) मुकदमाबाजी—लेखक का मत है कि मुकदमाबाजी भी भारतीय ग्रामीण के ऋणी होने का एक प्रमुख कारण है। यदि हिसाब लगाया जावे तो जितना रुपया प्रति वर्ष किसान लगान के रूप में सरकार को देता है

उससे अधिक रुपया वह मुकदमेबाजी में व्यय कर देता है। भारतीय ग्राम्य अर्थशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान श्री डार्लिंग महोदय ने तो यहां तक कह दिया है कि "ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे मुकदमेबाजी भारतीयों का राष्ट्रीय खेल हो।" यदि इसको अतिशयोक्ति भी मान लिया जाय तो भी यह तो स्वीकार ही करना होगा कि भारतीय ग्रामीण मुकदमेबाजी में बहुत अधिक धन व्यय करता है और कर्जदार बन जाता है।

भारतीय गांवों में मुकदमेबाजी का इतना अधिक प्राबल्य होने का कारण गांवों की गिरी हुई आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक दशा है। भूमि-सम्बन्धी कानून ऐसे दोषपूर्ण और निकम्मे हैं कि उनसे किसान को मुकदमेबाजी के लिए विवश होना पड़ता है। फिर जमींदार, पटवारी तथा पुलिस के कर्मचारी भी गांवों में मुकदमेबाजी को प्रोत्साहन देते हैं। एक दूसरे के खेतों में से निकलने पर, खेतों की मेड़ों पर, अपने पशुओं को दूसरे के खेतों में छोड़ देने पर, दूसरे का पेड़ काट लेने पर, स्त्रियों के भगाने पर, तथा अन्य ऐसी ही बातों पर बहुधा गांवों में भयंकर फौजदारी हो जाती है और बहुत खर्चीले मुकदमे लड़े जाते हैं जिनमें अनापशनाप व्यय होता है और मुकदमा लड़ने वाले नष्ट हो जाते हैं। इसका एक मात्र कारण यह है कि गाँवों की आर्थिक हीनता के कारण उनका सामाजिक जीवन भी अत्यन्त गिरा हुआ है। इस कारण वहाँ ईर्ष्या और द्वेष का एक-छत्र राज्य है। पैतृक वैर-भाव गाँवों एक साधारण बात हो गई है; फिर जमींदार, पटवारी तथा पुलिस कर्मचारी अपने लाभ के लिए इस द्वेष को बढ़ाते और प्रोत्साहन देते रहते हैं। कुछ विद्वानों ने गांवों के नीरस तथा निर्धन जीवन को मुकदमेबाजी का कारण बतलाया है। उनका कहना है कि मनोरंजन के कोई साधन न होने के कारण ग्रामीण को मुकदमेबाजी में ही आनन्द आता है, विजय का सुख अनुभव करता है और लड़ाई भी उसके आकर्षण की वस्तु बन जाती है। जो कुछ भी हो, यह सच है कि भारतीय ग्रामीण मुकदमेबाजी में बहुत फंसा रहता है और भारतीय अदालतों का न्याय जितना मंहगा होता है वह तो किसी से छिपा नहीं है। निर्धन किसान मुकदमा लड़ने के जोश में अपनी आर्थिक स्थिति को भूल जाता है और ऋण लेकर भी वकीलों और अदालती लुटेरों की जेब भरता है।

१०. ढोरों की मृत्यु—यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि यहाँ पशुओं के रोग इतने अधिक और भयंकर हैं कि किसान के ढोर बहुत जल्दी मर जाते हैं। किसान की बहुमूल्य पूँजी यही ढोर होते हैं और बिना ढोरों के उसका काम चल नहीं सकता। इस कारण जब उसके बैल मर जाते हैं तो उसे ऋण लेकर भी बैल लेना पड़ते हैं। तीन वर्ष में उसके बैल मर जाते हैं। अस्तु बैलों की मृत्यु भी उसको ऋणी बनाने का एक कारण होती है।

११. लगान—भी किसान के ऋणी होने का एक कारण है। सरकार की मालगुजारी वसूल करने की पद्धति अत्यन्त दोषपूर्ण है। अधिकांश किसानों के पास इतनी कम भूमि है कि उस पर खेती करके लाभ नहीं कमाया जा सकता। यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि भारतीय किसान के पास आर्थिक जोत न होने कारण खेती में लाभ तनिक भी नहीं होता। वह तो वास्तव में एक धंधा न होकर जीवन निर्वाह का एक साधन मात्र रह गया है। लगान का सिद्धान्त यही है कि आर्थिक लगान तभी प्रगट होता है कि जब खेती में लाभ हो। जब खेती में लाभ ही नहीं है तो आर्थिक बचत या लगान का प्रश्न ही नहीं उठता। अस्तु किसान को लगान अपनी मजदूरी में से देना पड़ता है। यही कारण है कि अधिकांश किसान लगान नहीं दे पाते और उन्हें लगान देने के लिए ऋण लेना पड़ता है है। यही नहीं कि लगान बहुत अधिक है, वरन् तीस वर्ष के लिए लगान और मालगुजारी पहले से निश्चित कर देने के कारण जब फसल नष्ट हो जाती है तो किसान को मालगुजारी देना कठिन हो जाता है। उसे ऋण लेकर मालगुजारी और लगान देना पड़ता है। यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि किसान को आर्थिक लगान से अधिक लगान देना पड़ता है तो वह खेती को छोड़ क्यों नहीं देता। इसका एक मात्र कारण यह है कि उसके लिए अन्य कोई धंधा ही नहीं है। यदि वह खेती न करे तो वह भूखा मर जावे।

लगान की दोषपूर्ण पद्धति के कारण केवल किसान को कर्ज ही नहीं लेना पड़ता, वरन् और भी हानि उठानी पड़ती है। लगान की वसूली अत्यन्त कड़ाई से होती है। किसान को विवश होकर सरकारी मालगुजारी या जमींदार का लगान देने के लिए तथा अन्य लेनदारों का ऋण चुकाने के लिए अपनी पैदावार को तुरन्त ही बाजार में बेंचना पड़ता है। जिस

समय फसल तैयार होती है उस समय बजार में खेती की पैदावार का मूल्य गिरा होता है अस्तु किसान को अपनी पैदावार का उचित मूल्य नहीं मिलता। यदि किसान तीन-चार महीने बाद अपनी फसल को बेचे तो उसे अपनी पैदावार का अधिक मूल्य मिल सकता है। क्योंकि तब खेती की उपज का मूल्य ऊँचा हो जाता है।

आज अधिकांश अर्थशास्त्री मालगुजारी को लगान (Rent) न मान कर (Tax) कर मानते हैं। कर तो करदाता की कर देने की योग्यता के अनुसार ही लगाया जा सकता है। यह निर्विवाद सत्य है कि अधिकांश किसानों में जिनके पास आर्थिक जोत नहीं है, कर देने की तनिक भी क्षमता नहीं है। अस्तु उन किसानों पर जिनके पास आर्थिक जोत नहीं है मालगुजारी या लगान के रूप में कर लगाना कभी भी उचित नहीं कहा जा सकता। ऐसी दशा में सरकार का यह कहना कि लगान किसान के ऋण होने का कारण नहीं है ठीक नहीं माना जा सकता।

ऋणी होने से हानियाँ

यह तो हम पहले ही कह आये हैं किसान के बुरी तरह ऋण-भार से दबे रहने के कारण उसमें उसका दृष्टिकोण निराशावादी बन गया है, उसमें तनिक भी उत्साह और आशा नहीं है। वह असीम भाग्यवादी बन गया है। यही कारण है कि खेती की उन्नति नहीं हो पाती और ग्रामीण जनता का सर्वांगीण पतन हो रहा है। सच तो यह है कि ग्रामीण ऋण एक ऐसे भयंकर रोग के समान है जो ग्रामीण समाज रूपी शरीर को जर्जर करके नष्ट किये डाल रहा है। हम यहाँ ग्रामीण ऋण से उत्पन्न होने वाली बुराईयों का संक्षेप में वर्णन करेंगे।

किसान के पास पूंजी न होने के कारण उसके पास खेती के लिए आवश्यक साधन नहीं जुट पाते और यही कारण है कि किसान बिखरी खेती (Extendsive cultivation) करने पर विवश होता है। भारतवर्ष में जन संख्या इतनी घनी होने पर यहाँ गहरी खेती आवश्यक है परन्तु पूँजी की कमी के कारण किसान खेती के उचित साधन उपलब्ध नहीं कर पाता। इसका परिणाम यह होता है किसान अच्छा बीज, खाद, हल, बैल इत्यादि का प्रबन्ध नहीं कर पाता और खेती की पैदावार बहुत कम

होने का एक कारण यथेष्ट पूँजी का न होना तो है ही, साथ ही, किसान की कुशलता में कमी, वर्षा का न होना, खेती की पैदावार का मूल्य कम हो जाना तथा फसल और पशुओं की बीमारियाँ भी खेती की आयु को कम कर देती हैं और इसका फल होता है किसान की कर्जदारी। दूसरे शब्दों में भारत में किसानों की स्थिति एक ऐसे व्यक्ति के समान है जो कि भँवर में फंस गया हो। पूंजी के न होने से खेती की आयु कम होती है और आयु कम होने से कर्जदारी बढ़ती है।

किसान खेती की ओर से उदासीन हो जाता है क्योंकि वह जानता है कि यदि वह अधिक परिश्रम करेगा तो उसका लाभ साहूकार को होगा, न कि स्वयं उसे। इस कारण खेती की ओर से उसे विशेष रुचि नहीं होती और न वह खेती के सुधार की ओर ही विशेष ध्यान देता है। कर्ज को तो वह अवश्यम्भावी और स्वाभाविक समझता है। जब तक किसान की ऐसी मनोवृत्ति है तब तक खेती की उन्नति हो सकना असम्भव है।

ऋणी होने का दूसरा भंयकर परिणाम यह हुआ है कि किसान के पास से भूमि निकल कर साहूकार के पास पहुँच गई और किसान भूमि-रहित श्रमी बन गया। क्रमशः गांवों में भूमि-रहित मजदूरों और किसानों कि संख्या बढ़ती जा रही है। इसका परिणाम यह होता है कि खेती की और भी अवनति हो रही है, और किसान और भी अधिक उदासीन होता जा रहा। यही नहीं, भूमि निकल जाने से किसान में असंतोष उत्पन्न होता है और उसका नैतिक पतन होता है। कहीं-कहीं तो भूमि रहित किसान की दशा दास की-सी हो जाती है।

शाही कृषि कमीशन ने बिहार-उड़ीसा में प्रचलित कम्यौती-पद्धति तथा मदरास में पन्नेयाल पद्धति का उल्लेख करते हुए इस दास प्रथा का अत्यन्त सजीव चित्र खींचा है। सारांश में कम्यौती पद्धति इस प्रकार है। जब कोई व्यक्ति, साहूकार या जमींदार से सौ या दो सौ रुपया लेता है तो उस पूंजी पर सूद नहीं लिया जाता किन्तु कम्यौत—अर्थात् ऋण लेने वाले को इस आशय का अहदनामा लिखना पड़ता है कि वह जब भी ऋण दाता चाहेगा उसका काम करेगा। जब खेती में काम होता है तब साहूकार या जमींदार कम्यौत से अपने खेत पर काम करने के लिए कहता है और उन दिनों वह एक बार मोटा भोजन और दो आना मजदूरी देता है।

जिन दिनों लेनदार के खेत पर काम नहीं होता उस समय वह कम्यौत का काम नहीं देता और न उसे वह मजदूरी ही मिलती है। उनदिनों गांव में भी काम नहीं मिलता। अस्तु वह कम्यौत लकड़ी इकट्ठी करके, घास-खोद कर या पास के कस्बों में मजदूरी करके अपनी उदर पूर्ति करता है। जो ऋण कि कम्यौत लेता है उसे चुकाना नहीं पड़ता किन्तु जब तक वह उस ऋण को चुका न दे इस दासता से मुक्त नहीं हो सकता। कम्यौत अपने जीवन-काल में कभी भी इतना रुपया इकट्ठा नहीं कर पाता कि वह अपना ऋण चुका सके। उसके लिए एक ही उपाय है कि वह और किसी से उधार लेकर अपना पहला कर्ज चुका दे। उस दशा में वह अपने नये साहूकार का कम्यौत बन जावेगा। कम्यौत का पुत्र अपने पिता के कर्ज के बदले कम्यौत बनने पर विवश नहीं किया जाता परन्तु उसके विवाह के अवसर पर उसे स्वयं ऋण लेना पड़ता है और वह स्वयं कम्यौत बन जाता है।

मदरास की पन्नेयाल पद्धित लगभग ऐसी ही है। ऋणी व्यक्ति अपने साहूकार का क्रीत दास बन कर रहता है। दक्षिण राजपूताना, मध्य भारत, तथा बम्बई प्रान्त के भील प्रदेश में महाजन अपने कर्जदार से अपना काम लेता है और उसे केवल भोजन देता है। जिन स्थानों में निर्धनता अधिक है वहाँ इस प्रकार की अर्ध-दासता प्रचलित है। यद्यपि कानून बना कर इस प्रकार के ऋण को गैर-कानूनी बना दिया गया है परन्तु निर्धन और अशिक्षित ग्रामीण अब भी व्यवहार में अपने साहूकारों के क्रीत दास बने हुए हैं। यह स्थिति कुछ कम या अधिक सारे देश में उत्पन्न हो गई है। गुजरात में दुबलास और संयुक्तप्रान्त के खेत-मजदूर की स्थिति कुछ इससे भिन्न नहीं है। अस्तु जब तक ग्रामीण ऋण की समस्या हल नहीं होती तब तक ग्रामों की आर्थिक और सामाजिक दशा में नहीं हो सकता।

ऋणी होने का एक दुष्परिणाम यह भी होता है कि किसान अपनी आर्थिक स्वतंत्रता खो देता है। अधिकतर महाजन खेती की उपज का व्यापारी भी होता है। वह ऋण देते समय किसान से यह शर्त कर लेता है कि किसान अपनी फसल महाजन के हाथ ही बेचेगा। उस दशा में किसान को अपनी फसल का मूल्य और भी कम मिलता है। यदि यह शर्त ऋण देते समय न भी की गई हो तो भी महाजन व्यापारी का किसान पर इतना अधिक प्रभाव होता है कि वह अपनी फसल को उसी के हाथ सस्ते में

बेंच देता है। यदि किसान समीपवर्ती मंडी में फसल बेंचने जाता है तो वहां दलाल, अड़तिया और व्यापारी उसे लूटते हैं। साथ ही फसल कटने के थोड़े दिनों बाद तक बाज़ार भाव मंदा रहता है और महाजन का ऋण चुकाने के लिए किसान को अपनी फसल मंदे भाव पर बेंच देनी पड़ती है। जूट, गन्ना, कपास इत्यादि औद्योगिक कच्चे माल उत्पन्न करने वाले किसान तो खड़सारियों, जूट तथा कपास के व्यवसायियों के चिर-दास बने रहते हैं। हैं। खड़सारी फसल बोने के समय कुछ रुपया किसान को पेशगी दे देता है और उससे तय कर लेता है कि इस कमीत पर तुम्हें गन्ना या रस हमें देना होगा। गन्ने या रस का मूल्य पहले से ही निश्चित हो जाता है जो बाजार भाव से बहुत कम होता है। निर्धन किसान को गन्ने की फसल बोने के लिए रुपया चाहिए और उसे खड़सारियों से रुपया लेना ही पड़ता है। वास्तव में स्थिति तो यह है कि किसान परिश्रम करता है और उसका लाभ उठाते हैं महाजन। अधिकतर किसानों की स्थिति तो यह है कि फसल कट चुकने के उपरान्त, जमींदार, सरकार, तथा महाजन का देना चुकाने के उपरान्त उनके पास कठिनाई से वर्ष भर का भोजन बच रहता है। वर्ष के पिछले महीनों में किसान को महाजन सेसवाये डयोढ़े पर अनाज उधार लेना पड़ता है। जो प्रदेश कि पिछड़े हुए हैं, जहाँ रेल इत्यादि यतायात के साधन नहीं हैं, वहाँ के वे ग्रामीण जो खेती-मजदूर हैं, जिनके पास भूमि नहीं है वे अपने महाजन के क्रीत दास की भाँति जीवन व्यीत करते हैं, यह हम ऊपर लिख चुके हैं।

इसी प्रकार कारीगर भी महाजनों के चंगुल में फंसे हुए हैं और महाजन उनका अनवरत शोषण करता है। बुनकारों का ही धंधा ले लीजिये। निर्धन बुनकर कपड़े तथा दरी के व्यापारी से सूत उधार लाता है तथा कर्घे इत्यादि आवश्यक वस्तुओं के लिए भी रुपया लेता है। कपड़े तथा दरी का व्यापारी सूत का भी व्यापारी होता है, वह सूत का मूल्य अधिक लेता है। बुनकर को अपना तैयार माल उसी के हाथ बेंचना पड़ता है कहीं-कहीं व्यापारी बुनकरों को कुछ रुपया एक साथ दे देता है जिसे बाकी कहते हैं। बुनकर को उसके बदले उसी व्यापारी से सूत खरीदना पड़ता है और उसी व्यापारी के हाथ तैयार माल बेंचना पड़ता है। व्यापारी सूत का दाम अधिक लेकर तथा तैयार माल का कम मूल्य देकर बुनकर को लूटता है। जब तक कि बुनकर बाकी का रुपया न चुका दे तब तक वह दूसरे

व्यापारी के पास नहीं जा सकता। इस प्रकार महाजन कारीगरों का शोषण करते हैं। जब तक कि पूंजी के उचित मूल्य पर तैयार माल के बिकने का प्रबंध सहकारी समितियों द्वारा नहीं किया जाता तब तक गृह-उद्योग धंधे पनप नहीं सकते।

ग्रामीण-ऋण की समस्या को हल करने का प्रयत्न

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि इस भंयकर ऋण को न सह सकने के कारण किसानों की भूमि उनके हाथ से निकल कर महाजनों के हाथ में जाने लगी। इस भंयकर परिस्थिति की ओर भारत सरकार का ध्यान सर्वप्रथम किसान विद्रोह ने आकर्षित किया। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त (१८७७-७८) में दक्षिण भारत, अजमेर-मेरवाड़ा तथा छोटा नागपुर डिवीजन में किसान विद्रोही हो उठे। उन्होंने महाजनों के घर जला दिये और उन्हें मार डाला तथा बही-खातों को जला कर भस्म कर दिया। सरकार ने एक कमीशन दक्षिण के किसानों के विद्रोह के कारणों की जाँच करने के लिए नियुक्त किया। कमीशन की सम्मति में किसानों की गिरी हुई आर्थिक दशा और भंयकर सूद की दर ही इन विद्रोहों का कारण थी। शान्तिप्रिय किसान जब महाजन का अत्याचार न सह सके तो विद्रोही हो उठे। सरकार ने किसानों की रक्षा के लिए एक ऐक्ट बनाना जिससे अदालतों को यह अधिकार दे दिया गया कि वे किसी भी नालिश के मुकदमें में न्यायोचित सूद की ही डिगरी दें, फिर किसान ने महाजन को चाहे कितना अधिक सूद देने का इकरार क्यों न किया हो। किन्तु इस कानून का कोई फल न हुआ, क्योंकि किसान निर्धन है और न्यायालयों में व्यय अधिक होता है। साथ ही, अदालतों ने इस ओर विशेष ध्यान भी नहीं दिया। पहले तो इस प्रकार के मुकदमें अदालतों में जाते ही नहीं थे फिर दूसरे अदालतों ने इस अधिकार का कोई विशेष उपयोग नहीं किया। अस्तु, कानून के इस सुधार से किसान के लिए कोई विशेष लाभ नहीं हुआ।

सरकार ने फसल नष्ट होने पर मालगुजारी तथा लगान में छूट करने की नीति को अपनाया, किन्तु इससे भी किसान को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। सरकार एक तो छूट बहुत कम देती है और उस छूट

में भी शर्त यह लगाई जाती है कि यदि किसान एक निश्चित तिथि तक लगान नहीं दे देगा तो छूट नहीं मिलेगा। फल यह होता है कि किसान को महाजन से कर्ज कर लगान देना पड़ता है। भारत सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया गया कि भारतीय किसानों में मितव्ययिता का भाव जागृत करना चाहिये। अस्तु पोस्ट-आफिस सेविंग बैंक खोले गए। किन्तु इन पोस्ट आफिस सेविंग बैंकों ने किसानों में मितव्ययिता का कितना प्रचार किया है, यह तो पाठक भली-भाँति जानते हैं। अशिक्षित किसान भला उन पोस्ट आफिस सेविंग बैंकों से कैसे लाभ उठा सकता है जिसका कार्य विदेशी भाषा में होता है और जो अधिकतर शहरों और बड़े कस्बों में होते हैं। जिस देश में किसानों को मनीआर्डर और तार की लिखाई दो आना और खत की लिखाई एक आना देनी पड़ती हो, वहाँ भला पोस्ट आफिस सेविंग बैंक किस प्रकार किसानों को अपनी ओर आकर्षित कर सकते हैं। सरकार ने कई बार कानून में इस दृष्टि से सुधार किये कि किसान को कुछ सुविधा दी जावे किन्तु कानूनों के द्वारा किसान को सरकार कुछ भी सहायता न पहुँचा सकी।

सरकार ने देखा कि किसान को खेती-बारी का धंधा करने के लिए साख की आवश्यकता होती है। किसान को दो प्रकार की साख चाहिए, अर्थात् थोड़े समय के लिए तथा अधिक समय के लिए। किसान को फसल तैयार करने के लिए जो कर्ज लेना पड़ता है वह लगभग एक वर्ष के लिए लिया जाता है। फसल के लिए किसान को बीज, खाद, हल तथा अन्य औजारों और मजदूरों की मजदूरी का प्रबन्ध करना पड़ता है। किसान इनके लिए कर्ज लेकर फसल कटने के उपरान्त चुका सकता है, किन्तु कुछ कार्य ऐसे हैं जिनमें पूंजी लगाने से तुरन्त लाभ नहीं होता, जैसे कुंआ खोदना, खेती के लिए मूल्यवान यंत्र मोल लेना, तथा भूमि को अधिक उपजाऊ बनाना इत्यादि। इन कार्यों के लिए अधिक समय के लिए कर्ज चाहिए। अस्तु सरकार ने दो ऐक्ट बनाकर प्रांतीय सरकारों को यह अधिकार दे दिया कि वे किसान को दोनों प्रकार की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए कर्ज दे सकती हैं। इस सरकारी कर्ज को तकावी कहते हैं। किन्तु तकावी से भी यह समस्या हल नहीं हुई और न किसानों ने तकावी का अधिक उपयोग ही किया। इसका मुख्य कारण यह है कि एक तो किसानों

को समय पर रुपया नहीं मिलता, दूसरे इसमें सबसे बड़ा दोष यह है कि किसानों को तकावी पटवारी, कानूनगो, नायब-तहसीलदार इत्यादि रैवन्यू-विभाग के कर्मचारियों की सिफारिश से ही मिलती है। इस कारण किसान को तकावी मिलने में कठिनाई होती है। साथ ही उसे कुछ भेंट-पूजा भी चढ़ानी पड़ती है। आवश्यकतानुसार समय पर तकावी मिलने में कठिनाई होने तथा वसूली में अत्यन्त कड़ाई होने के कारण तकावी का अधिक प्रचार न हो सका।

आश्वयकता इस बात की है कि तकावी-ऋण के प्रबंध में सुधार हो, किसान को बिना विलम्ब के यथेष्ट ऋण मिल जावे और उसे भेंट-पूजा न चढ़ानी पड़े। साथ ही ऋण को वसूल करने में इतनी कड़ाई न की जावे। दुर्भिक्ष पड़ जावे तथा अन्य कारणों से फसल नष्ट हो जावे तो सूद छोड़ दिया जावे और तकावी ऋण बिना सूद लिए दिया जावे।

कर्जदार होने के कारण किसानों के हाथ से भूमि महाजनों के पास चली जाती है और किसान उस पर मजदूर की भाँति काम करता है। पंजाब में इस समस्या ने भीषण रूप धारण कर लिया था। इस कारण वहाँ एक कानून बनाकर इसको रोक दिया गया। पंजाब भूमि हस्तांतर कानून (पंजाब लैंड-एलीनियेशन ऐक्ट) के अनुसार कुछ जातियां किसान मान ली गई हैं और ऐसा कानून बना दिया गया है कि किसान के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति खेती की भूमि को न तो खरीद सकता है और न बीस वर्षों से अधिक के लिए गिरवी ही रख सकता है। इस कानून से यह लाभ अवश्य हुआ कि महाजन कर्ज की डिगरी करा कर अब किसान की भूमि नहीं ले सकता। यद्यपि इस कानून के बन जाने से महाजन किसानों की भूमि नहीं ले सकता और किसानों के हाथ से भूमि नहीं निकलती। किन्तु उससे छोटे किसान को विशेष लाभ नहीं हुआ। किसान जातियों में ही जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी है वे महाजनी का कार्य करने लगे और छोटे किसानों की भूमि उनके अधिकार में जाने लगी है। इसी प्रकार का एक ऐक्ट सीमाप्रान्त में बना है। उस कानून के फल-स्वरूप किसानों की भूमि जो तेजी से महाजनों के हाथ में जा रही थी वह बिलकुल रुक गई है।

पंजाब के अनुरूप ही संयुक्तप्रान्त के बुंदेलखंड प्रदेश के लिए

बुंदेलखंड लैंड-ऐलीनियेशन ऐक्ट बनाया गया है जिससे किसानों को विशेष लाभ हुआ है। मध्यप्रान्त में भी इसी तरह का एक लैंड ऐलीनियेशन ऐक्ट है जो कि केवल छत्तीसगढ़ डिवीजन में लागू है जहां अधिकांश जंगली जातियां निवास करती हैं। इन कानूनों का परिणाम अच्छा ही हुआ है। आवश्यकता इस बात की है इस प्रकार के कानून अन्य प्रान्तों में भी प्रचलित किये जावें।

इन ऐक्टों से भूमि का किसान के हाथ से निकलना तो रुक गया किन्तु ऋण समस्या जैसी पहले थी वैसी ही बनी रही। इस बीच भारत सरकार का ध्यान सहकारिता आन्दोलन की ओर आकर्षित हुआ और सहकारिता आन्दोलन का आरम्भ सरकार के द्वारा भारतवर्ष में किया गया। जर्मनी और इटली में साख-समितियों ने किसानों की आर्थिक स्थिति सुधारने में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की थी। भारत सरकार ने भी ऋण-समस्या हल करने के लिए सहकारिता आन्दोलन की शरण ली। इस देश में ४० वर्षों के ऊपर इस आन्दोलन को चलते हो गए। सहकारिता आन्दोलन कहां तक सफल हुआ है और भविष्य में उससे क्या आशा है यह तो आगे के पृष्ठों में लिखा जावेगा। किन्तु अनुभव से यह स्पष्ट हो गया है कि किसानों का पिछला कर्ज चुकाने तथा अधिक लम्बे समय के लिए किसान को कर्ज देने का कार्य सहकारी साख समितियां सफलता-पूर्वक नहीं कर सकतीं। और जब तक किसान पुराने कर्ज के बोझ से दबा रहेगा तब तक उसकी आर्थिक उन्नति नहीं हो सकती। यदि किसान सहकारी समिति का सदस्य बन जाता है और पुराना ऋण नहीं चुकाता तो महाजन उसे तंग करता है। फिर सहकारी साख-समितियां किसान को समय पर और यथेष्ट ऋण नहीं दे पाती हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुत कारण हैं जिनसे कि सहकारी साख-समितियां किसानों को आकर्षित न कर सकीं और महाजन की तुलना में वे बहुत कम साख देती हैं। साख समितियों के अधिक सफल न होने के कारण तथा पैतृक ऋण के भार में दबे रहने के कारण सहकारी साख आन्दोलन से ऋण समस्या का हल न हो सका। पुराने ऋण की समस्या को हल करने लिए भूमि बंधक बैंक (Land Mortgage Banks) स्थापित करने का आयोजन किया जा रहा है। यह बैंक भी केवल उन्हीं किसानों का पिछला कर्ज चुका सकेंगे जिनको अपनी भूमि को बंधन रखने का कानूनी

अधिकार प्राप्त है। अभी देश में बहुत कम भूमि-बंधक स्थापित हो सके हैं। यह बैंक सदस्य की भूमि को बंधक रखकर उसको ऋण दे देते हैं जिससे कि वह अपना पुराना ऋण चुका दे; और फिर २० या २५ वर्षों में वह रकम किश्तों में चुका दी जाती है। अभी इन बैंकों को स्थापित हुए अधिक समय नहीं हुआ इस कारण उनकी सफलता के संबन्ध में कुछ कह सकना कठिन है। परन्तु बैंक भी उन्हीं किसानों को ऋण दे सकेंगे कि जिन्हें भूमि-बंधक रखने का अधिकार है। बहुत से प्रान्तों में किसान का भूमि पर स्वामित्व ही नहीं है। वहां यह बैंक किसानों की सहायता न कर सकेंगे।

ऋण परिशोध

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि पुराने कर्ज की समस्या बहुत कठिन है। अधिकतर यह ऋण पैतृक होता है और एक पीढ़ी पर से दूसरी पीढ़ी पर आता है। किसान की आर्थिक स्थिति इतनी शोचनीय हो गई है कि वह इस कर्ज को चुका नहीं सकता। जब साधारण रूप से फसल तैयार करने के लिए महाजन अथवा सहकारी साख समिति के लिए हुए कर्ज को देकर उसके पास वर्ष भर के लिए खाने को नहीं रहता, तब वह किस प्रकार पुराने ऋण को चुका सकता है। जिस वर्ष फसल खराब हो जाती है, बैल मर जाते हैं अथवा और कोई अनिवार्य व्यय आ जाता है तो ऋण अधिक बढ़ जाता है। जब तक पुराने कर्ज का चुका नहीं दिया जाता अथवा उसको गैर-कानूनी नहीं बना दिया जाता तब तक किसान की आर्थिक स्थिति सुधर नहीं सकती। शाही कृषि कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में इस विषय पर लिखा है कि इस ऋण की ओर से उदासीन रहना बहुत भयंकर होगा।

सेंट्रल बैंकिंग इनक्वायरी कमेटी की सम्मति में सरकार को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए और नीचे लिखी योजना के अनुसार काम करना चाहिए। प्रान्तीय सरकार इस कार्य के लिए विशेष कर्मचारी नियुक्त करे जो गांवों में दौरा करके महाजन को इस बात पर राजी करे कि वह किसानों से एक मुश्त अथवा किश्तों में रुपया लेकर उन्हें ऋण मुक्त कर दे। इनका यह भी कर्तव्य होगा कि वे किसानों को यह बतलावें कि कानून द्वारा निश्चित सूद की दर को घटवाया जा सकता है।

जब कर्मचारी महाजन से यह तय कर ले कि वह कम से कम कितना

रुपया लेकर किसान को ऋण मुक्त कर देगा, तब किसान को सरकारी साख-समिति का सदस्य बनवा दिया जावे। समिति उसका कर्ज इकट्ठा अथवा किश्तों में चुका दे तथा खेती-बारी के लिए किसान को आवश्यक साख दे।

जब महाजन रुपया वार्षिक किश्तों में लेना स्वीकार करे तो जितना किसान स्वयं अदा कर सकता हो, कर दे और बाकी ऋण समिति-सदस्य की जमा के रूप में, अपने यहां लिख ले और प्रति वर्ष किसान किश्त का रुपया अदा करे तो जमा किया हुआ रुपया कम कर दिया जावे।

यदि महाजन एक मुश्त रुपय मांगे तो सरकार को उधार दे देना चाहिए। समिति उस कर्ज को वार्षिक किश्तों में चुका दे। तदुपरान्त यह निश्चय किया जावे कि किसान प्रति वर्ष कितनी किश्त अदा करेगा। यदि किसान रुपया अदा न कर सके और समिति को हानि हो जावे तो सरकार उस हानि को पूरा कर दे।

यह भी सम्भव है कि महाजन कर्ज के लिए इस प्रकार चुकाये जाने के लिए तैयार न हो और समझौता न करे। ऐसी परिस्थिति में उन्हें कानून बनाकर समझौते के लिए मजबूर किया जावे क्योंकि राज्य किसानों को ऋण-मुक्त कर देना चाहता है। पहले तो महाजन इस समझौते के लिये तैयार नहीं हुए, किन्तु जब उन्होंने देखा कि राज्य किसानों को ऋण-मुक्त करने पर तुला हुआ है और हमारे द्वारा इस प्रस्ताव को न मानने का यह फल होगा कि राज्य ऐसा कानून बना देगा कि उन्हें अपना ऋण वसूल करना कठिन हो जावेगा, तो वे राजी हो गए। राज्य ने २०, ५६, ४७३ रु० देकर सब किसानों को महाजनों के ऋण से मुक्त कर दिया। ध्यान रहे कि भावनगर राज्य के किसान उस तमाम ऋण पर हर साल २५ लाख रुपये केवल सूद में दे देते थे। राज्य ने एक साल के सूद की रकम से भी कम देकर किसानों को बिलकुल ऋण-मुक्त कर दिया। राज्य ने किसानों से यह रकम किश्तों में लगान के साथ वसूल करना आरम्भ कर दिया है और थोड़े ही दिनों में किसान अपना सारा कर्जा अदा कर देंगा। इसका फल यह हुआ है कि किसान बिना किसी के कहे अच्छे हल, बैल, खाद इत्यादि का उपयोग करने लगा है। उसने कुयें खोदकर वैज्ञानिक ढङ्ग की गहरी खेती को अपनाया है क्योंकि अब उसको विश्वास हो गया है कि उनकी पैदावार उसके पास रहेगी। राज्य को एक बड़ा लाभ यह हुआ है

कि अब उसे बिना किसी कठिनाई के मालगुजारी मिल जाती है। भविष्य में किसान फिर महाजन के चंगुल में न फंस जावे, इसलिए राज्य में एक कानून (खेडूत-रक्षा कानून) बना कर किसान की साख को बहुत सीमित कर दिया है। वह केवल कुछ विशेष कार्यों के लिए, और कुछ विशेष अवस्थाओं में राज्य की जानकारी में ही कर्ज ले सकेगा। खेती-बारी के लिए आवश्यक साख का प्रबन्ध राज्य ने ही किया है। राज्य ने तकावी देने का समुचित प्रबन्ध किया है और सूद बहुत कम लिया जाता है।

भावनगर का प्रयोग एक देशी राज्य में हुआ है। शाही कृषि कमीशन ने भी पैतृक ऋण के सम्बन्ध में अपनी सम्मति दी थी। कमीशन की राय थी कि एक 'ग्रामीण दिवालिया कानून' (Rural insolvency Act) बनाया जावे। इससे यह लाभ होगा कि जो ग्रामीण ऋण के बोझ से इतना दबा हो कि उसकी सम्पत्ति के बिक जाने पर भी वह कर्ज अदा न कर सके तो वह दिवालिया होने का प्रार्थना-पत्र दे। अपनी सम्मति लेनदारों को देकर ऋण-मुक्त हो जावे और स्वतंत्र रूप से आजीविका उपार्जन करे, चाहे उसकी सम्पत्ति से लेनदार का आधा रुपया भी वसूल न हो सके। वह भविष्य में किसान से रुपया वसूल नहीं कर सकता। किसान सदा के लिए उस ऋण से मुक्त हो जायेगा। 'ग्रामीण दिवालिया कानून' बन गया है, किन्तु उसका लाभ साधारण किसान नहीं उठा सकता, क्योंकि ऐक्ट में विशेष प्रकार के किसान अर्थात् जो अधिक मालगुजारी या लगान देते हैं, केवल उन्हें ही यह सुविधा दी गई है।

ऋण-परिशोध के प्रयत्न

भारतवर्ष में सर्वप्रथम किसानों को सर्वथा ऋण-मुक्त करने का श्रेय काठियावाड़ की एक छोटी-सी रियासत भावनगर को है। वहां के दीवान स्वर्गीय सर प्रभाशंकर पट्टनी ने एक आज्ञा निकाल दी कि जिस किसी महाजन का किसान पर कर्जा हो वह राज्य को उसकी सूचना निश्चित तारीख तक दे दे, नहीं तो उसका कर्ज गैर-कानूनी घोषित कर दिया जायगा। जब राज्य भर के सभी किसानों के ऋण के आंकड़े आ गए तो राज्य ने हिसाब लगाकर देखा कि तमाम किसानों का ऋण ८६, ३८, ८७४ रुपये था। स्वर्गीय प्रभाशंकर पट्टनी ने महाजनों के सामने यह प्रस्ताव

रक्खा कि राज्य उस तमाम ऋण के बदले २०, ५६, ४७३ रु० देगा। ब्रिटिश भारत में सरकार पर प्रतिक्रियावादी वर्ग का प्रभाव होने के कारण यह कार्य उतना सरल नहीं है फिर भी पिछले वर्षों में प्रान्तीय मंत्रिमंडलों ने इस ओर विशेष ध्यान दिया और किसान की रक्षा के लिए कुछ कानून बनाये। यह कानून चार श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं (१) महाजनी कार-बार पर नियंत्रण स्थापित करना (२) पुराने ऋण को कम करना (३) पुराने ऋण को चुका देना (४) अन्य कानून।

लेन-देन पर नियंत्रण

प्रान्तीय कानूनों ने महाजन की परिभाषा की है जिसके अनुसार जो व्यक्ति कि लेन-देन करता है वह महाजन है। इन कानूनों में एक मुख्य बात यह है कि महाजन को लायसैंस लेना पड़ता है और अपनी रजिस्टरी करानी पड़ती है। मध्यप्रान्त में महाजन को अपनी रजिस्टरी करा कर एक रजिस्टरी का प्रमाण-पत्र लेना पड़ता है। रजिस्टरी की फीस १८ रु० है और प्रमाणपत्र ४ वर्ष के लिए होता है। बिहार में रजिस्टरी की फीस २५ रु० है और प्रमाणपत्र ५ वर्ष तक काम देता है। बिहार में रजिस्टरी करवाना अनिवार्य नहीं है। महाजन की स्वेच्छा पर है परन्तु जो महाजन अपनी रजिस्टरी नहीं करवाता वह अपने रुपये की वसूली के लिए अदालत में कर्जदार पर दावा नहीं कर सकता। पंजाब के कानून के अनुसार प्रत्येक महाजन को रजिस्टरी कराने और लायसैंस लेने की सुविधा दी गई है, किन्तु जो अपनी रजिस्टरी नहीं करवाता उसे अपना रुपया वसूल करने के लिए कर्जदार पर अदालत में दावा करने का अधिकार नहीं मिलता। बंगाल में कानून के अनुसार प्रत्येक महाजन को रजिस्टरी कराना और लायसैंस प्राप्त करना आवश्यक है। यदि कोई व्यक्ति बिना लायसैंस प्राप्त किये लेन-देन करे तो वह अपने रुपये के लिए अदालत में दावा नहीं कर सकता और उस पर जुर्माना हो सकता है। संयुक्तप्रान्त में भी महाजन के लिए लायसैंस प्राप्त करना आवश्यक है। जो महाजन लेन-देन करता है किन्तु लायसैंस प्राप्त नहीं करता उस पर एक हजार रुपये तक जुर्माना किया जा सकता है और वह अदालत, में अपने कर्ज के लिए दावा नहीं कर सकता। रजिस्टरी को यह भी अधिकार है कि वह किसी महाजन को

लेन-देन का अधिकार न दे या उससे लायसैंस छीन ले। बम्बई में भी महाजन के लिए लायसैंस प्राप्त करना आवश्यक है। यदि वह बिना लायसैंस के लेन-देन का कार्य करे तो उसको दंड दिया जाता है और वह अदालत में अपना रुपया वसूल करने का दावा नहीं कर सकता। वहाँ महाजन की पूंजी के अनुसार २,००० से कम की पूंजी वाले महाजन को १ रु० फीस देनी होती है और इसी प्रकार फीस पूंजी के अनुसार बढ़ती जाती है। यहाँ तक कि दस लाख रुपये से ऊपर १००० रु० फीस देनी होती है।

इन कानूनों में महाजन के हिसाब पर भी नियंत्रण रखने का विधान है। कानून के अनुसार प्रत्येक महाजन को लेन-देन का ठीक हिसाब रखना पड़ता है। प्रत्येक ऋण का हिसाब उसे प्रथम रखना होता है और प्रति ६ मास पीछे महाजन को अपने कर्जदार को ऋण का एक ब्योरा देना पड़ता है जिसमें उस दिन तक उस ऋण का पूरा हिसाब लिखा होता है। अर्थात् कितना ऋण बाकी था, कितना उस समय के बीच लिया गया कितना सूद हुआ और कितना रुपया चुका दिया गया और कितना शेष है; यह सारा ब्योरा उस लेखे में दिया होता है। प्रान्तीय सरकार नियम बना कर महाजनों को हिसाब एक विशेष प्रकार से रखने पर विवश कर सकती है और महाजन को उसी तरह से अपना हिसाब रखना होता है। यही नहीं, प्रान्तीय सरकार उस लेखे का भी रूप निर्धारित करती है कि जो महाजन ६ महीने में अपने कर्जदार को देता है। यदि कोई महाजन सरकार द्वारा निर्धारित ढङ्ग से अपना हिसाब न रक्खे तो अदालत महाजन द्वारा दावा करने पर सूद को आंशिक रूप में या पूरा रद्द कर सकती है। यदि कर्जदार के हिसाब की नकल लेनदार न दे तो उस समय के सूद को रद्द कर दिया जावेगा। पंजाब, मदरास, मध्यप्रान्त, आसाम, बंगाल, बम्बई, तथा संयुक्तप्रान्त में इसी प्रकार के हिसाब पर नियंत्रण रखने वाले कानून बन गए हैं। किन्तु चतुर महाजन इन कानूनों को अवहेलना करता है। वह अशिक्षित कर्जदार से हिसाब की नकल पाने की स्वीकृत पर अंगूठा लगवा लेता है किन्तु उसे हिसाब नहीं देता। ग्रामीण जानता भी नहीं कि कोई ऐसा कानून भी है कि महाजन को हिसाब जुमाही देना चाहिए। किसान महाजन को नाराज भी नहीं करना चाहता क्योंकि गांव में उसके

अतिरिक्त और कहीं से साख नहीं मिल सकती। तीसरे महाजन के कारबार का निरीक्षण करने के लिए कोई कर्मचारी नियुक्त नहीं किये गए हैं। इन कारणों के अतिरिक्त जो महाजन इस कानून की अवहेलना करता है और पकड़ जाता है उसको बहुत हलका दंड दिया जाता है। इन्हीं सब कारणों से इस कानून की खूब अवहेलना होती है।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि महाजन निर्धन व्यक्तियों से मनमाना सूद लेते थे इस कारण भिन्न-भिन्न प्रान्तों में कानून बनाकर सूद की दर निर्धारित कर दी गई जिससे अधिक सूद कोई नहीं ले सकता। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में सूद की दर नीचे लिखे प्रकार है :—

	सुरक्षित ऋण		अरक्षित ऋण	
प्रान्त	सादा-सूद	सूद दर सूद	सादा सूद	सूद दर सूद
मदरास	६¼%	...	६¼%	...
बम्बई	६%	मना है	१२%	मना है
बंगाल	१५%	१०%	२५%	१०
पंजाब	१२%	६%	१८%	१४%
बिहार	६%	मना है	१२%	मना है
मध्यप्रान्त	७%	५%	१०%	५%
आसाम	१२½%	मना है	१८¾%	मना है

संयुक्तप्रान्त में व्याज की दर ऋण की रकम पर निर्भर है और इस प्रकार है :—

	सुरक्षित ऋण		अरक्षित ऋण	
रकम	सादा सूद	सूद दर सूद	सादा सूद	सूद दर सूद
५०० रु० से कम	५½%	३%	१०½%	७½%
५०१ रु० से ५००१ रु० तक	४½%	२½%	८%	७%
५००१ रु० से २०,००० रु० तक	३½%	२%	६½%	४½%
२०,००० से अधिक	२½%	१½%	५½%	३%

यह दर १९३४ के बाद के लिए हुए ऋण पर ही लागू होगी। इसके पहले लिए हुए ऋण पर सूद की दर दूसरी है।

	सुरक्षित		अरक्षित	
रकम	सादा सूद	सूद दर सूद	सादा सूद	सूद दर सूद
५०० रु० से कम	९½%	७%	१३%	१०½%
५०१ से ५,००० रु० तक	८½%	६½%	१२%	९%
५,००० से २०,२०० से अधिक	७½%	६%	१०½%	७%
२०,००० रु० से अधिक	६½%	५½%	९%	७%

संयुक्तप्रान्त के कृषि ऋण परिशोध बिल (Agriculture) (Dabt Redemption Bill) १९३९ के अनुसार यह प्रस्ताव किया गया था कि अदालतें सूद का हिसाब लगाते समय सुरक्षित ऋण पर ४½ प्रतिशत और अरक्षित ऋण पर ६ प्रतिशत सूद लगावें किन्तु यह बिल कानून न बन सका।

मदरास प्रान्त में कृषि रिलीफ ऐक्ट १९३२ में पास किया गया। इस ऐक्ट से सूद की की दर में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इस कानून से पहले लिए हुए ऋण पर जो सूद इकट्ठा हो गया हो उसके सम्बन्ध में किसानों को विशेष सुविधायें प्रदान की गईं। छोटे किसानों द्वारा जो ऋण १९३२ के अक्टूबर के पूर्व लिया गया हो उस पर जो भी सूद अक्टूबर १९३७ तक देना रह गया हो रद्द कर दिया गया। अक्टूबर १९३७ से इस कानून के लागू होने के बीच के समय में जो ऋण लिया गया हो उस पर केवल ५ प्रतिशत सूद देना होगा और यदि किसान ने पांच प्रतिशत से अधिक सूद अपने ऋण पर पहले ही दे दिया हो तो पांच प्रतिशत से जितना भी सूद अधिक दिया गया होगा वह मूलधन (ऋण) की अदायगी के रूप में माना जावेगा। इस ऐक्ट के लागू होने के उपरान्त लिए हुए ऋण पर केवल ६¼ प्रतिशत सादा सूद लिया जावेगा। इससे अधिक सूद नहीं लिया जा सकता।

मध्यप्रान्त में कांग्रेस मंत्रिमंडल ने १९३६ और ३८ में जो ऋण सम्बन्धी कानून बनाये उसके अनुसार अदालतों को यह अधिकार दे दिया कि जो भी ऋण १ जनवरी १९३२ से पिछले १२ वर्षों में लिया गया हो उसका फिर से विचार किया जावे और उस पर ७ प्रतिशत सादा सूद या ५ प्रतिशत सूद दर सूद लिया जावे यदि वह सुरक्षित ऋण हो और यदि वह अरक्षित

ऋण हो तो उस पर १० प्रतिशत सूद दिलाया जावे।

बंगाल में मनीलैंडर ऐक्ट (१६३३) के अनुसार सुरक्षित ऋण पर १५ प्रतिशत सादा सूद और १० प्रतिशत सूद दर सूद निश्चित किया गया था, और अरक्षित ऋण पर २५ प्रतिशत सादा सूद और १० प्रतिशत सूद दर सूद नियत किया गया था। किन्तु १६३८ के मनीलैंडर्स ऐक्ट के अनुसार अदालतों को यह अधिकार दे दिया गया है कि वे सुरक्षित ऋण पर ८ प्रतिशत और अरक्षित ऋण पर १० प्रतिशत सूद दिलवावें। इस कानून के अनुसार यदि ऋण अनाज इत्यादि में लिया हो नकदी में न लिया गया हो तो सुरक्षित ऋण पर १५ प्रतिशत और अरक्षित ऋण पर २५ प्रतिशत सूद लिया जा सकता है। वैसे नकद दिये हुए ऋण पर साधारण रूप से सुरक्षित ऋण पर ६ प्रतिशत सूद की इजाजत दी गई है।

बम्बई में १६३८ के मनीलैंडर्स बिल के अनुसार सुरक्षित ऋण पर ६ प्रतिशत और अरक्षित ऋण पर १२ प्रतिशत सूद का विधान किया गया है और सूद दर सूद मना कर दिया गया है। इसी बीच वहां १६३६ में कृषि ऋण परिशोध कानून (Agricultural debt relief act) पास हो गया उसके अनुसार १ जनवरी १६३१ के पूर्व लिए हुए ऋण पर बारह प्रतिशत के हिसाब से सूद लगाया जावेगा और इस प्रकार लगाया गया। १ जनवरी १६३१ तक का जो कुछ सूद होगा यदि वह १ जनवरी १६३० के पहले लिया गया हो तो सूद की रकम ४० प्रतिशत कम कर दी जावेगी और यदि १ जनवरी १६३० और १ जनवरी १६३१ के बीच में लिया गया हो तो सूद की रकम ३० प्रतिशत कम कर दी जावेगी। १ जनवरी १६३२ के आगे और छूट मिलने के लिए प्रार्थना पत्र देने की तारीख तक ६ प्रतिशत दर के हिसाब से सूद लगाया जावेगा।

प्रान्तीय सरकारों ने "दाम दुपत" का भी नियम सूद की दर का नियंत्रण करने में स्वीकार किया है। इस नियम के अन्तर्गत कोई भी अदालत बकाया सूद के लिए डिगरी देते समय मूलधन से दुगने की डिगरी नहीं दे सकती। पंजाब, बिहार, और आसाम में तो दाम दुपत का नियम उन ऋणों के लिए भी लागू कर दिया गया है कि जो इन कानूनों के पास होने के पहले के थे। मध्यप्रान्त और बंगाल में इन कानूनों के बनने के पहले लिए हुए ऋण के सम्बन्ध में दाम दुपत का ऋण लागू नहीं होता।

संयुक्तप्रान्त में दाम दुपत का नियम बिलकुल लागू नहीं होता।

. सूद की दर निश्चित करके किसान को जो सुविधा देने का प्रयत्न किया गया है वह आंशिक रूप में सफल हुआ है। बड़े-बड़े जमींदारों तथा सुरक्षित ऋण का जहाँ तक सम्बन्ध है, यह निश्चित की हुई दर अधिक कारगर हुई हैं। किन्तु छोटे जमींदारों, किसानों तथा निर्धन व्यक्तियों के लिए यह दरें लागू नहीं होतीं। जिनके पास भूमि नहीं है उनकी स्थिति तो इस सम्बन्ध में और भी खराब है। इन कानूनों से उसे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। चतुर महाजन यदि कर्जदार १०० रुपया उधार मांगता है तो केवल ७० या ८० देता है और १०० रुपया का प्रोनोट लिखाता है। एक दूसरी युक्ति भी महाजन करता है। उदाहरण के लिए कानूनी दर केवल ६ प्रतिशत है महाजन १८ प्रतिशत लेना चाहता है तो वह कर्ज लेने वाले को १०० रुपया देकर २०० रुपया पर अँगूठा लगवावेगा और केवल १०० रुपया पर १८ प्रतिशत सूद लेगा तथा मूलधन लेते समय केवल १०० रुपया लेकर ही ऋण चुकता कर देगा। कारण यह है कि निर्धन किसान को और कहीं से ऋण तो मिल नहीं सकता। इस कारण उसे विवश होकर महाजन की बात माननी पड़ती है जब तक गांवों में उचित सूद पर साख देने का प्रबन्ध नहीं होता तब तक केवल कानून बना देने से निर्धन ग्रामीण का शोषण नहीं रुक सकता। अस्तु इन कानूनों की सफलता के लिए यह नितान्त आवश्यक है साख का दूसरा उचित प्रबन्ध किया जावे, एक विभाग इन महाजनों की जालसाजियों को पकड़ने के लिए स्थापित किया जावे और जो महाजन गैर-कानूनी ढंग से काम करें उन्हें कड़ा दंड दिया जाय।

ऋण को घटाने के प्रयत्न

प्रान्तीय सरकारें कुछ समय के उपरान्त यह भली-भाँति समझ गईं कि केवल लेन-देन के धंधे का नियत्रण कर देने से ही ऋण की समस्या हल नहीं हो जावेगी। ग्रामीण जनता पर पुराने ऋण का भार इतना अधिक था कि यदि अदालतें कानून द्वारा निर्धारित दरों से उस ऋण की डिग्री देतीं तो भी वह इतनी अधिक रकम होती कि किसान उसे चुकाने में सर्वथा असमर्थ होता। अस्तु यह आवश्यक समझा गया कि ऋण को घटाया जावे और कर्जदार को उसे चुकाने की सुविधायें प्रदान की जावें। इस धारणा को भावनगर

राज्य के क्रान्तिकारी प्रयोग से भी बहुत बल मिला।

ऋण को घटाने के लिए दो ढंग काम में लाये गए। एक में तो कानून द्वारा ऋण की रकम को घटा कर लेनदार को उसे स्वीकार करने पर विवश किया गया। दूसरे में ऋण की रकम को घटना लेनदार की इच्छा पर छोड़ दिया गया।

जहाँ स्वेच्छा से ऋण की रकम को घटाने का प्रश्न है वहाँ कर्जदार और लेनदार के बीच समझौता कराने के लिए ऋण समझौता बोर्ड (Debt conciliation Boards) स्थापित किये गये हैं जो दोनों पक्षों में समझौता कराते हैं।

ऋण समझौता बोर्ड

यह बोर्ड कानून द्वारा स्थापित किये जाते हैं और इनका उद्देश्य कर्जदार और महाजन में समझौता कराना होता है। उन्हें कुछ दीवानी अदालतों के भी अधिकार प्राप्त होते हैं। प्रत्येक ऋणी व्यक्ति इन बोर्डों को अपने ऋण के सम्बन्ध में समझौता कराने के लिए प्रार्थना-पत्र दे सकता है। अर्जी आने पर बोर्ड को यह अधिकार है कि वह उस ऋणी के सब महाजनों से अपनी सारी रकम जो कि उस प्रार्थना-पत्र देने वाले कर्जदार पर है उसका पूरा हिसाब मांगे। जो रकम कि लेनदार के हिसाब में जो कि वह समझौता बोर्ड को देगा सम्मिलित न होगी वह फिर स्वीकार नहीं की जावेगी। उसे चुकता मानली जावेगी। प्रत्येक रकम के दावे का कानूनी कागजी सबूत होना चाहिए। जिस रकम का कोई पुर्जा या कागज नहीं होगा उसको स्वीकार नहीं किया जावेगा और आगे भी किसी कानूनी दावे में उसको स्वीकार नहीं किया जावेगा। कर्जदार को भी अपनी सारी सम्पति का लेखा तथा कर्ज का हिसाब देना होता है। जब समझौता बोर्ड के पास सब आवश्यक जानकारी इकट्ठी हो जाती है तो बोर्ड एक उचित रकम की डिग्री दे देता है और उस रकम को बीस या पच्चीस किस्तों में अदा करने की आज्ञा देता है। बोर्ड जितनी रकम दिलाना चाहता है लेनदार उसे स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं है परन्तु यदि लेनदार बोर्ड के उचित समझौते को अर्थात् कम की हुई रकम को स्वीकार नहीं करता तो बोर्ड उस ऋणी को उस ऋण के सम्बन्ध में

एक प्रमाण-पत्र दे देगा जिसका फल यह होगा कि उस ऋण के सम्बन्ध में कभी लेनदार के द्वारा अदालत में दावा करने पर मुकदमे का खर्च नहीं मिल सकेगा और उस ऋण पर ६ प्रतिशत से अधिक सूद प्रमाण-पत्र मिलने के उपरान्त नहीं दिया जावेगा। इसके अतिरिक्त जो लेनदार की बोर्ड द्वारा निर्धारित हुई रकम को स्वीकार कर लेंगे उन्हें पहले ऋण की रकम अदा की जावेगी। जब तक कि उन लेनदारों की रकम नहीं चुक जावेगी तब तक बोर्ड के द्वारा दिये हुए फैसले को न मानने वाले लेनदार को अपनी रकम नहीं मिल सकेगी और न वह उसके लिए दावा ही कर सकेगा। यह तो हुआ साधारण विवरण किन्तु भिन्न-भिन्न प्रान्तों में कानून में कुछ भिन्नता है।

पंजाब में समझौता बोर्ड समझौता हो जाने पर उसको लिख कर उसकी रजिस्ट्री कर सकता है किन्तु तब तक कर्जदार को प्रमाण-पत्र नहीं दे सकता, जब तक कि वे लेनदार जिनका कर्ज किसान के कुल ऋण का ४० प्रतिशत हो बोर्ड के फैसले को नहीं मान लेते। ठीक यही विधान मध्यप्रान्त समझौता बोर्ड ऐक्ट में है कि जब ४० प्रतिशत ऋण के स्वामी लेनदार फैसले को मानें तभी बोर्ड प्रमाण-पत्र दे सकता है। बंगाल के ऐक्ट में भी समझौता बोर्ड तभी प्रमाण-पत्र दे सकता है जब ४० प्रतिशत ऋण के लेनदार बोर्ड के फैसले को स्वीकार कर लें। आसाम के कानून के अनुसार यदि लेनदार बोर्ड के उचित फैसले को स्वीकार न करें तो बोर्ड प्रमाण-पत्र दे सकता है। मदरास समझौता बोर्ड ऐक्ट के अनुसार यदि ५० प्रतिशत ऋण के लेनदार बोर्ड के फैसले को स्वीकार कर लें तो उसकी लिखित रजिस्ट्री करवा दी जाती है और उसका वही मूल्य होता है जो कि अदालत दीवानी की डिग्री का होता है। इसके साथ ही बोर्ड को यह अधिकार भी दे दिया गया है कि वह समझे कि कोई लेनदार उचित फैसले को मानने के लिए तैयार नहीं है जो उसके ऋण के सम्बन्ध में कर्जदार को प्रमाण-पत्र दे दे। सिंध में बोर्ड उस समय तक प्रमाण-पत्र नहीं दे सकता जब तक पचास प्रतिशत ऋण के लेनदार समझौते को स्वीकार न कर लें।

यद्यपि इन समझौता बोर्डों से कर्जदारों को कुछ लाभ अवश्य हुआ है। बहुतों का ऋण घट गया और उन्हें किस्तों में घटी हुई रकम के अदा करने की सुविधा मिल गई। किन्तु फिर भी इन बोर्डों से विशेष लाभ नहीं हुआ। इस असफलता के मुख्य कारण यह हैं :—(१) लेनदार बोर्ड के उचित

फैसले को भी मानने से इनकार करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि बोर्ड के अधिकार और शक्ति बहुत सीमित हैं। (२) इसके अतिरिक्त बोर्ड के गैर सरकारी सदस्यों को कोई वेतन नहीं दिया जाता इस कारण वे बोर्ड के कार्यों में दिलचस्पी नहीं लेते और उनकी अनुपस्थिति के कारण कभी-कभी तो कोरम तक पूरा नहीं होता। (३) बोर्ड प्रतिवर्ष निर्मित होता है इस कारण बोर्ड की नीति एक सी नहीं रह पाती। आवश्यकता इस बात की है कि बोर्ड पाँच वर्ष के लिए बनाया जावे। और गैर सरकारी सदस्यों को भी कुछ अलाऊंस दिया जावे। यही नहीं बोर्ड को यह भी अधिकार होना चाहिए कि यदि वे देखें कि कोई कर्जदार घटी हुई रकम को भी देने में असमर्थ है तो उसे दिवालिया घोषित कर दें। और लेनदार को उचित रकम जो बोर्ड निर्धारित करे लेने पर विवश किया जावे।

बाधित समझौता

ऊपर के विवरण से यह तो स्पष्ट हो गया कि यदि समझौते को लेनदार की इच्छा पर छोड़ दिया जावेगा तो उसमें सफलता होना कठिन है। यही कारण है उपरोक्त ढंग से किसान के पुराने ऋण की समस्या हल न हो सकी। इसी कारण कुछ प्रान्तों में सरकारों ने कानून बना कर ऋण की रकम को कम करने का प्रयत्न किया है।

मध्यप्रान्त में १९३९ में ऋण सम्बन्धी कानून (Relief of indebtedness Act) पास हुआ इस ऐक्ट के अनुसार ऋण समझौता बोर्ड के स्थान पर ऋण रिलीफ कोर्ट स्थापित करने का आयोजन किया गया। जो भी ऋण १ जनवरी १९३२ के १२ वर्ष पूर्व तक का हो उस पर ऋण रिलीफ कोर्ट फिर से विचार कर सकती है। ऐक्ट के अन्दर इस बात का विधान किया गया है कि कर्जदार ने जो मूल ऋण लिया है उस पर ५ प्रतिशत सूद दर सूद या ७ प्रतिशत सादा सूद सुरक्षित ऋण पर और १० प्रतिशत सूद अरक्षित ऋण पर लगा कर यह हिसाब लगाया जावेगा कि कर्जदार को कितना रुपया चुकाना चाहिए। उस रकम में से जितना भी कर्जदार ने चुका दिया है उसको घटा कर यह मालूम किया जावे कि कर्जदार को कितनी रकमें देना शेष है। यदि ऋण १ जनवरी १९३२ के पूर्व लिया गया है तो उस रकम को नीचे लिखे अनुसार घटा दिया जावेगा। यदि ऋण ३१ दिसम्बर १९२५ के पूर्व लिया गया हो तो निर्धारित सूद से हिसाब

लगाकर जो रकम देनी है उसको ३० प्रतिशत कम कर दिया जावेगा। जो ऋण ३१ दिसम्बर १९२५ के बाद लिया गया हो किन्तु ३१ दिसम्बर १९२९ के पूर्व लिया गया हो वह २० प्रतिशत घटा दिया जावेगा। और ३१ दिसम्बर १९३१ के बाद लिए हुए ऋण की शेष रकम में १५ प्रतिशत की कमी कर दी जावेगी। कर्जदार को कितनी रकम देनी है यह निश्चित हो जाने के उपरान्त कोर्ट किस्तें बांध देगी जो कि कर्जदार अपने लेनदार को देगा। यदि कर्जदार किस्तें समय पर अदा न करे तो उसे अरक्षित ऋण पर ४ प्रतिशत और सुरक्षित ऋण पर ३ प्रतिशत सूद देना होगा। यदि कोई किसान कर्जदार अपनी किस्तों को नहीं चुकाता तो वह मालगुजारी के रूप में उससे वसूल किया जा सकता है।

यद्यपि यह कानून किसानों के हित का है और अदालतों को समझौता बोर्डों से अधिक अधिकार प्राप्त हैं फिर भी इस कानून में कुछ दोष हैं। पहला दोष तो यह है कि फसल के नष्ट हो जाने पर कर्जदार को किस्तें देने में अत्यन्त कठिनाई होती है. इस कारण यह विधान कि किस्तें मालगुजारी की भाँति वसूल की जा सकतीं हैं, बहुत कठोर है। साथ ही ऋण रिलीफ कोर्ट के फैसले के विरुद्ध अपील करने का अधिकार देना भी उचित नहीं है क्योंकि इससे व्यर्थ में मुकदमेबाजी को प्रोत्साहन मिलता है। इसके अतिरिक्त कानून में कोर्टों को इस बात का अधिकार नहीं दिया गया है कि वह कर्जदार की कर्ज चुकाने की क्षमता को देख कर ऋण की रकम को कम कर सकें। यह जो प्रतिशत रकम घटाने का विधान है वह बहुत ही अवैज्ञानिक है। चौथा दोष इस कानून में यह है कि कोर्टों को किसी कर्जदार को जो कि कर्ज को चुका ही नहीं सकता दिवालिया घोषित कर देने का अधिकार नहीं है।

१९३९ के ऐग्रीकलचरल डैट रिलीफ ऐक्ट के अन्तर्गत ऋण बोर्डों को यह अधिकार दिया गया है कि वह कर्जदार की कर्ज चुकाने की क्षमता की जांच करे और कर्जदार की कर्ज चुकाने की जितनी क्षमता हो उसकी ८० प्रतिशत रकम उसका कर्ज निर्धारित किया जावे। ऐक्ट में यह भी विधान है कि यदि लेनदार अपने ऋण को कर्जदार की लेनी (Assets) अर्थात् सम्पत्ति के ५० प्रतिशत तक घटा दे तो महाजन को प्रान्तीय भूमि बन्धक बैंक के बोर्डों के रूप में उस रकम को चुका दिया जावे। इसके साथ

ही कानून में यह भी विधान है कि जिस ऋण के संबन्ध में कोई समझौता नहीं किया जावेगा वह चुक गया मान लिया जावेगा। कर्जदारों को दिवालिया घोषित करने का भी इस कानून में विधान किया गया है।

संयुक्तप्रान्त में ऋण परिशोध कानून (Dett Redemption Act) १९४० में बना। इस कानून के अनुसार लिए हुए सुरक्षित ऋण पर ४½ प्रतिशत सूद लगा कर और अरक्षित ऋण पर ६ प्रतिशत सूद लगा कर रकम निर्धारित करदी जावेगी। कर्जदार केवल इस निर्धारित रकम का देनदार होगा। निर्धारित रकम पर ३ प्रतिशत सादा सूद देना होगा।

मदरास किसान रिलीफ ऐक्ट १९३८ में भी किसानों के ऋण को घटाने का विधान है सच तो यह है कि सबसे पहले मदरास में ही किसानों के ऋण का कानून बना कर घटाने का प्रयत्न किया गया। १ अक्टूबर १९३२ के पूर्व के सब ऋण नीचे लिखे अनुसार कम किये जावेंगे :—(१) १ अक्टूबर १९३७ तक जितना भी ऋण पर सूद होगा वह चुकता मान लिया जावेगा। और केवल मूलधन या उसका बचा हुआ भाग ही केवल देना होगा। (२) यदि किसी कर्जदार ने लिए हुए ऋण के मूलधन का दुगना सूद या मूलधन की अदायगी के रूप में चुका दिया है तो उसका सम्पूर्ण शेष कर्ज चुकता मान लिया जावेगा। (३) यदि कर्जदार ने जो कुछ रकम लेनदार को चुकाई है वह मूलधन के दुगने से कम है तो जितनी कमी हो उतना देकर वह ऋण से छुटकारा पा सकता है। जो ऋण १ अक्टूबर १९३२ के बाद लिया गया हो वह इस प्रकार कम किया जावेगा। ऐक्ट के लागू होने की तारीख तक ऋण पर ५ प्रतिशत सादा सूद लगाया जावेगा, और जो भी सूद के रूप में कर्जदार ने रुपया दिया है वह घटा दिया जावेगा। जो शेष रहेगा केवल वही रकम कर्जदार को देनी होगी। मदरास में इस कानून के लागू होने से किसानों को यथेष्ट लाभ हुआ है।

ग्रामीण दिवालिया कानून

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि शाही कृषि कमीशन ने एक ग्रामीण दिवालिया कानून बनाये जाने की सिफारिश की थी। किन्तु जो कानून बनाया गया वह साधारण किसान के लिए व्यर्थ सिद्ध हुआ। बंगाल में अवश्य ही यह कानून बनाया गया है कि यदि ऋण समझौता बोर्ड समझे कि

कर्जदार का ऋण इतना अधिक है कि उसे कम करने पर भी किसान की इतनी क्षमता नहीं है कि वह बीस वर्षों में भी उस कम किये हुए ऋण को चुका सके तो ऋण समझौता बोर्ड को यह अधिकार है कि वह किसान को दिवालिया घोषित कर दे। किसान को दिवालिया घोषित करने के उपरान्त बोर्ड को यह अधिकार होगा कि वह किसान के ऋण को घटा कर इतना कम कर दे कि जो उसकी राय में कर्जदार २० वर्षों में अदा कर सके। यदि बोर्ड समझे कि उस कर्जदार का ऋण घटाने से कोई लाभ न होगा तो बोर्ड उस कर्जदार की सम्पति को बेचे जाने के लिए आज्ञा दे देगा और लेनदारों में वह धन बांट दिया जावेगा। जब कि कर्जदार की सम्पत्ति बिक जावे या कर्जदार घटे हुए ऋण को चुका दे तो बोर्ड उसको एक ऋण मुक्त का प्रमाणपत्र दे देगा।

बम्बई के डैटर्स रिलीफ ऐक्ट १९३९ के अनुसार यदि बोर्ड यह समझे कि कोई कर्जदार २५ वर्षों में अपने अपने ऋण नहीं चुका सकता तो उसको दिवालिया घोषित किया जा सकता है। दिवालिया घोषित होने पर कर्जदार की आधी भूमि तुरन्त बेंच दी जावेगी। और यदि बची हुई आधी भूमि ६ एकड़ सींची जाने वाली, १८ एकड़ सूखी भूमि से अधिक है या उसकी मालगुजारी ३०) रु० से अधिक है तो इतने से जितनी भूमि अधिक है वह बेंच दी जावेगी दुर्भाग्यवश यह कानून सारे प्रान्त में लागू नहीं किया गया है।

लेखक की योजना

ऊपर दिये हुए विवरण से यह तो स्पष्ट होगा कि अभी तक जो कुछ भी प्रयत्न किसान को ऋण मुक्त करने के लिए किये गए हैं वे सफल नहीं हुए क्योंकि फुटकर कानून बनाने, कर्ज की अदायगी के लिए कुछ सुविधायें कर देने से कुछ भी काम नहीं चलेगा। यदि हम चाहते हैं कि किसान महाजनों की आर्थिक दासता से स्वतंत्र होकर खेती बारी की उन्नति करे, ग्रामीण उद्योग धंधों की सहायता से अपनी आय बढ़ावे और मनुष्यों जैसा जीवन व्यतीत करे तो उसे ऋण मुक्त करना होगा। इसके लिए सरकार को दृढ़तापूर्वक क्रान्तिकारी तरीकों को अपनाना होगा थिगरे लगाने से और थोड़ी बहुत सुविधायें देने से काम नहीं चलेगा। इसके लिए एक

क्रान्तिकारी योजना को अपनाये बिना काम नहीं चल सकता। लेखक भारतीय किसानों को ऋण मुक्त करने की एक योजना यहाँ उपस्थित करता है:—

सरकार किसानों के ऋण की जांच करावे और जिन किसानों की दशा इतनी अधिक शोचनीय हो कि वे अपने कर्ज को चुकाने में असमर्थ हों, उन्हें एक सरल और सादा ग्रामीण दिवालिया कानून बनाकर ऋण मुक्त कर दिया जाय। इसके लिए एक विशेष प्रकार का दिवालिया ऐक्ट बनाना होगा। उसके अनुसार एक परिवार को पालन करने योग्य भूमि, किसान के बैल, खेतों के औजार ६ महीने का भोजन बीज और खाद लेनदार नहीं ले सके। इनके अतिरिक्त किसान के पास जितनी भी अधिक भूमि हो और जो भी कुछ सम्पत्ति हो उसको बेंच कर लेनदारों में बांट दिया जाय हमारा अनुभव है कि अधिकांश किसी प्रकार के होंगे शेष किसान जो कुछ हद तक कर्ज को दे सकते हों उनके ऋण को घटा कर कर्जदार की अदायगी की क्षमता के अनुसार कम कर दिया जाय और उस घटी हुई रकम की अदायगी की जिम्मेदारी सरकार अपने ऊपर ले ले। प्रश्न यह हो सकता है कि सरकार इतना रुपया कहां से लावे। इसके लिए दो उपाय काम में लाये जा सकते हैं। पहला उपाय यह है कि सरकार इस कार्य के लिए कर्ज ले और महाजनों को कम की हुई रकम चुका करके किसानों को ऋण मुक्त कर दे और वह रकम किसानों से छोटी छोटी किस्तों में वसूल कर ली जावे। दूसरा उपाय यह है कि सरकार कम की हुई रकम के लिए प्रत्येक महाजन को बौंड दे दे जिस पर सरकार ३ प्रतिशत सूद दे और यह शर्त रहे कि सरकार जब चाहेगी, तभी उन बौंडस् का भुगतान कर देगी। तदुपरान्त प्रत्येक किसान को जिसका कर्ज सरकार ने महाजन को दे दिया है अपना कर्ज सरकार को किस्तों में अदा करना होगा। किन्तु इससे पूर्व कि इस प्रकार की योजना हाथ में ली जावे ऋण की जांच कर लेना आवश्यक है। इसमें प्रत्येक प्रान्त के विश्वविद्यालयों तथा कालेजों के अर्थ शास्त्र विभागों से सहायता ली जा सकती है।

जो हो, यह निर्विवाद सत्य है कि किसान को बिना ऋण मुक्त किये उसकी दशा नहीं सुधर सकती किन्तु ऋण मुक्त कर देने ही से समस्या हल नहीं होगी। एक कानून बना कर किसान की साख को बहुत मर्यादित कर

देना होगा। जिससे भविष्य में वह महाजन के चंगुल में न फंसे। साथ ही सहकारी साख समितियों का एक जाल बिछा कर सरकार को खेती बारी के लिए आवश्यक साख का उचित प्रबन्ध करना होगा। इसके अतिरिक्त सामाजिक कृत्यों (विवाह, मृतक, भोज, तीर्थ, पर्व इत्यादि) पर व्यर्थ व्यय न करने तथा मुकदमेबाजी में लेकर व्यय न करने के लिए गांवों में खूब प्रचार कार्य करना होगा किसानों को यह भली भाँति समझाना होगा कि इस प्रकार के व्यर्थ व्यय को न करना चाहिए। गाँव वालों में मितव्ययिता की भावना को उदय करना होगा तभी वे व्यर्थ व्यय से बच सकेंगे। उन्हें शिक्षित करना होगा तभी वे ऋण मुक्त हो सकेंगे।

किन्तु केवल किसान के पुराने ऋण को चुका देने, सहकारी साख समितियों के द्वारा साख का प्रबन्ध करने तथा फिजूल खर्ची के विरुद्ध प्रचार करने मात्र से ऋण की समस्या हल नहीं होगी। किसी को ऋणी होने से बचाने के लिए उसकी आय को बढ़ाना होगा कि जिससे उसकी उदरपूर्ति हो सके। आज तो उसकी स्थिति यह है कि उसके वार्षिक बजट में सदैव घाटा रहता है ऐसी अवस्था में चाहे कितना उपाय क्यों न किया जावे चाहे कितनी साख समितियाँ क्यों न खोली जावें किन्तु उसको ऋणी होने से नहीं बचाया जा सकता। इसके लिए खेती के सुधार तथा सहायक उद्योग धंधों की उन्नति की नितान्त आवश्यकता है। तभी किसान के बजट में बचत दिखाई दे सकती है और वह अनुत्पादक ऋण लेने से बच सकता है।

कुछ लोग इस प्रकार की योजनाओं को अन्यायपूर्ण और समाजवादी कह कर बदनाम करते हैं स्थिर स्वार्थ वाले लोग यह कहते नहीं थकते कि इससे बायदे की पवित्रता नष्ट हो जावेगी। किन्तु किसान के ऋण के सम्बन्ध में बायदे की दुहाई देना स्वार्थपरता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। क्या अशिक्षित किसान से मनमानी रकम लिख कर अँगूठा लगवा लेना न्याय है, क्या जरूरत के समय निर्धन किसान से जितना चाहें सूद ले लेना न्याय है और क्या किसान का लगातार शोषण करते रहना न्याय है। यदि जरूरत के समय किसान १०० रु० कर्ज लेकर १५० रु० या २०० रु० पर अंगूठा लगा देता है, अथवा ७५ प्रति सैकड़ा सूद देने पर राजी हो जाता है तो इसमें बायदे की पवित्रता का प्रश्न कहाँ उठता है।

स्थिर स्वार्थ वाला वर्ग तो किसान को किसी प्रकार की सुविधा दिए जाने पर इसी प्रकार का आन्दोलन करेगा। अतएव राष्ट्रीय सरकार को उसकी तनिक भी चिंता न करके इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय समस्या को हल कर ही देना चाहिए।

महायुद्ध और ग्रामीण ऋण

महायुद्ध के फल स्वरूप खेती की पैदावार का मूल्य आकाश छूने लगा और किसान की आर्थिक स्थिति अच्छी प्रतीत होने लगी। इससे अर्थ-शास्त्रियों की यह धारणा होने लगी कि या तो गाँव वालों का ऋण बिलकुल ही चुक गया होगा अथवा बहुत कम शेष रह गया होगा। किन्तु इस सम्बन्ध में कोई प्रमाणिक आंकड़े प्राप्त नहीं थे कि जिसके आधार पर कुछ कहा जा सके। हर एक व्यक्ति केवल अटकल से काम लेता था। अगस्त-१९४३ में रिजर्व बैंक ने सब प्रान्तीय सरकारों को एक पत्र लिख कर ग्रामीण ऋण की जांच की आवश्यकता बतलाई और प्रान्तीय सरकारों का ध्यान इस समस्या की ओर आकर्षित किया। रिजर्व-बैंक का कहना था कि युद्ध के फल स्वरूप खेती की पैदावार का मूल्य बहुत बढ़ गया है इस कारण गांवों के रहने वालों और विशेष कर किसानों के ऋण का भार हलका हो गया होगा अस्तु यदि इस समय किसी योजना के अनुसार इस समस्या को हल करने का प्रयत्न नहीं किया गया तो यह बहुत सम्भव है कि किसान फिर भयंकर ऋण में डूब जाय अस्तु ग्राम ऋण के सम्बन्ध में जांच की जावे और ऐसे उपाय किये जावें कि किसान फिर १९३९ की स्थिति में न पहुँच जावें। इस पत्र के आधार पर केवल मदरास प्रान्त की सरकार ने १९४४ में डाक्टर नायडू को ग्राम ऋण की जांच के लिए नियुक्त किया। डाक्टर नायडू ने प्रान्त के १६० गांवों के ऋण की जांच करके प्रान्त भर के ऋण का अनुमान लगाया। गाँव के परिवारों को पांच श्रेणियों में बांटा गया और उनके ऋण की जांच की गई।

ऋण सम्बन्धी इस जांच का परिणाम यह निकला कि जहाँ इन गांवों का १९३९ में १२७-१९ लाख रुपये ऋण था वहाँ अब केवल ११.७७ लाख रुपये था। इस हिसाब से प्रान्त भर का ऋण इस समय २१८ करोड़ रुपये है जब कि १९३९ में २७२ करोड़ रुपये था। प्रति मनुष्य पीछे जहाँ १९३९

में ५१ रु० ऋण था वहाँ अब ४०८ रुपये प्रति मनुष्य पीछे ऋण है। अस्तु कुल ऋण तथा प्रति मनुष्य पीछे ऋण २० प्रतिशत घट गया है। यह कमी कुछ ऐसी बड़ी कमी नहीं है कि जिससे यह मान लिया जावे कि किसान समृद्धिशाली हो गया है यदि इस सम्बन्ध में प्रान्तीय सरकारों ने और विशेष रूप से प्रयत्न नहीं किया तो इसका परिणाम यह होगा कि जब खेती की पैदावार का मूल्य घटेगा तो उसकी स्थिति अत्यन्त दयनीय हो जावेगी और वह फिर भंयकर ऋण के दलदल में जा फंसेगा। आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक प्रान्तीय सरकार ग्रामीण ऋण की जांच करावे। कानून द्वारा उसको कम करके जो उचित ऋण रह जावे उसको चुकाने का प्रबंध करे नहीं तो जो दशा किसान की १९३९ में थी वह दशा फिर होने वाली है।

———

परिच्छेद---७

सहकारी साख समितियां और बैंक

(Cooperative credit Sociaties)

आधुनिक आर्थिक संगठन में साख (credit) का अत्यन्त महत्व है, बड़े से बड़ा व्यवसायी और छोटे से छोटा कारीगर भी बिना साख के अपना कार्य नहीं चला सकता। बड़े बड़े व्यवसायी आरम्भ में लाखों रुपये लगाकर मिल खड़ी करते हैं, जब मिल चलने लगती है और तैयार माल बिकने लगता है तब कहीं मिल मालिक को रुपया मिलता है। व्यवसायियों को औद्योगिक बैंकों से आरम्भ में पूंजी मिल जाती है और मजदूरों के वेतन इत्यादि के लिए वे व्यापारिक बैंकों से पूंजी उधार ले लेते हैं व्यापारी तथा दलालों को, जो तैयार माल का अथवा खेती बारी की पैदावार का व्यापार करते हैं, माल लेते समय तो उन्हें उसका मूल्य देना पड़ता है परन्तु वह माल बहुत दिनों बाद बिकता है। यदि उन्हें कहीं से साख न मिले तो उनका व्यापार चौपट हो जावे। अस्तु व्यापारिक बैंक उन्हें साख देने का प्रबंध करते हैं। जो व्यापारी विदेशों से व्यापार करते हैं उन्हें ऐक्सचेंज बैंकों (विनिमय बैंकों) से साख मिलती है। साख के साथ जोखिम भी है। जो बैंक या व्यक्ति किसी को ऋण देता है वह पूंजी के मारे जाने की जोखिम भी उठाता है। अस्तु बिना ज़मानत के साख नहीं दी जाती साख और जमानत का साथ है बिना साख के जमानत नहीं मिल सकती। एक निर्धन किसान अथवा छोटे कारीगर जिनके पास अपनी निजी पूंजी नहीं होती इन बैंकों से ऋण नहीं पा सकता क्योंकि उसके पास अच्छी जमानत नहीं होती। बड़े बड़े व्यापारियों और व्यवसायियों के पास निजी पूंजी यथेष्ट होती है। इस कारण वे बैंकों को उचित जमानत दे सकते हैं।

निर्धन किसानों के पास इतनी पूंजी नहीं होती कि उसमें उनकी साख हो। इसके अतिरिक्त एक कठिनाई और भी उपस्थित होती है उनकी पूंजी की मांग इतनी थोड़ी होती है कि बड़े व्यापारिक बैंक ऐसा काम लेना पसन्द ही नहीं करते। मान लीजिये कि एक हजार किसान जो कि भिन्न

भिन्न गांवों में रहते हैं बैंक से फसल बोने के समय कुल पचास हजार रुपया उधार लेना चाहते हैं। यदि बैंक इन किसानों को ऋण देना स्वीकार करे तो कई कर्मचारी उनकी हैसियत जांच करने के लिए नियुक्त करने होंगे कि जिससे उन किसानों की हैसियत, ईमानदारी और साख की योग्यता मालूम हो सके। प्रत्येक बैंक कर्ज देने से पूर्व कर्ज लेने वाले की आर्थिक स्थिति वह ईमानदार है या नहीं, उसका कारबार कैसा चल रहा है इत्यादि बातों की पूरी जांच करता है तब कहीं कर्ज देता है। बड़े बड़े व्यापारियों की आर्थिक स्थिति की जांच सरलता से हो सकती है। किन्तु भिन्न भिन्न गांवों में बिखरे हुए किसानों की आर्थिक स्थिति को जांच करना कठिन ही नहीं व्यय साध्य भी है। इसके अतिरिक्त एक हजार किसानों का हिसाब रखना तथा उनसे समय पर रुपया वसूल करना भी कठिन और व्यय साध्य होता है। यदि एक व्यापारी पचास हजार रुपये उधार लेता है तो बैंक उसकी स्थिति की जांच भी कर लेता है और उसके हिसाब के रखने तथा उससे रुपया वसूल करने में न तो अधिक कठिनाई और न अधिक व्यय ही करना पड़ता है इन्हीं कारणों से किसान छोटे कारीगर, तथा अन्य निर्धन लोग इन बड़े बैंकों से कर्ज नहीं पासकते। किन्तु पूंजी की आवश्यकता तो किसान और कारीगर को भी होती है। उनकी आवश्यकता को महाजन और साहूकार पूरा करते हैं।

महाजन किस प्रकार किसान और कारीगर का दोहन करते हैं, महाजन का कर्जदार बन कर किस प्रकार किसान और कारीगर उनका चिरदास बन जाता है यह तो पहले ही लिखा जा चुका है। यह स्थिति केवल भारतवर्ष में ही नहीं है जहाँ जहाँ किसानों और छोटे कारीगरों के लिए विशेष साख का प्रबंध नहीं किया गया वहाँ वहाँ किसान और कारीगर साहूकार का क्रीत दास बन गया। किसान और कारीगर को इस आर्थिक दासता से मुक्त करने के लिए और उसे उचित मूल्य पर पूंजी देने का प्रबंध करने के लिए सर्व प्रथम जर्मनी में सहकारी साख आन्दोलन का जन्म हुआ जर्मनी में रैफीसन और शुल्ज नामक दो सज्जनों को निर्धन किसानों और कारीगरों की अत्यन्त शोचनीय आर्थिक स्थिति ने आकर्षित किया और दोनों ने ही लगभग एक ही समय देश के भिन्न भिन्न भागों में दो प्रकार की सहकारी साख समितियाँ स्थापित कीं।

रैफीसन सहकारी साख समितियां

रैफीसन सहकारी साख समितियों के संस्थापक रैफीसन महोदय को सिविल सर्विस में एक जिले के जिलाधीश की हैसियत से किसानों की दयनीय दशा देखने का अवसर मिला उन्होंने देखा कि वर्ष भर कठिन परिश्रम करते रहने पर भी निर्धन किसान को भर पेट भोजन नहीं मिलता और वह कर्जदार ही रहता है। यहूदी साहूकार किसान को जोक की भाँति चूसता था और सरकार का उस ओर ध्यान भी नहीं था। जर्मन किसान की अवस्था भारतीय किसान से कुछ अच्छी नहीं थी। रैफीसन का हृदय इस नग्न निर्धनता को देख कर अत्यन्त दुखी हुआ और उसने निर्धनता और भयंकर कर्जदारी के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। क्रमशः रैफीसन ने देश में सहकारी साख समितियों का एक जाल सा फैला दिया। यह ध्यान में रखने की बात है कि रैफीसन को सहकारी सहायता अथवा सहानुभूति प्राप्त नहीं हुई। आन्दोलन सफल हो गया तो भी उन्होंने सरकारी सहायता लेना पसंद नहीं किया। सहकारी साख समितियों ने जर्मनी की काया पलट दी किसान साहूकारों के चंगुल से निकल कर ऋण मुक्त हो गए और उनकी आर्थिक स्थिति बहुत सुधर गई। रैफीसन पद्धति की सहकारी साख समितियों की निम्नलिखित विशेषतायें हैं:—

रैफीसन महोदय एक गांव में एक ही साख समिति की स्थापना ठीक समझते हैं। रैफीसन का मत है कि साख समिति के सदस्य बनाने में बहुत छान बीन की आवश्यकता है। अधिक सदस्यों की इतनी आवश्यकता नहीं जितनी कि चरित्रवान सदस्यों की।

सदस्यों में चाहे कितनी आर्थिक विषमता हो परन्तु गरीब और अमीर को समिति के प्रबंध में समान अधिकार हैं।

सब सदस्यों की सभा को साधारण सभा कहते हैं। साधारण सभा समिति की नीति निर्धारित करती है और वही प्रबन्ध कारिणी समिति के सदस्यों को चुनती है। साधारण सभा प्रबन्ध कारिणी समिति को कार्य चलाने तथा सभा द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार कार्य करने का अधिकार देती है। साधारण सभा अपने में से ही एक निरीक्षण कौंसिल का चुनाव करती है। निरीक्षण कौंसिल प्रबंध कारिणी समिति के कार्यों का निरीक्षण करती

है। प्रबंध कारिणी समिति के सदस्यों तथा निरीक्षण कौंसिल के सदस्यों को कोई वेतन-फीस या कमीशन नहीं दिया जाता। केवल कैशियर को थोड़ा वेतन दिया जाता है किन्तु उसको कोई अधिकार नहीं होता। वह केवल समिति का नौकर होता है।

रैफ़ेसिन के अनुसार साख समितियों के सदस्यों से न तो फीस लेने की आवश्यकता है और न उन्हें समिति का हिस्सा खरीदने की। जब जर्मन सरकार ने यह कानून बना दिया कि सदस्यों को हिस्से खरीदने चाहिए तब भी रैफ़ेसिन सहकारी साख समितियों ने अपने हिस्सों का मूल्य नाम मात्र रक्खा। इसका उद्देश यह है कि गरीब किन्तु ईमानदार किसान समिति के सदस्य बनने से न रह जावें।

रैफ़ेसिन समिति के लाभ को बांटने नहीं देता। उसका कथन है कि यदि सदस्यों में लाभ बाँटा जावेगा तो उनमें लालच बढ़ जावेगा। वार्षिक लाभ रक्षित कोष में जमा होना चाहिए। रक्षित कोष के क्रमशः बढ़ते रहने पर रैफ़ेसिन ने बहुत जोर दिया है। वह कहता था कि रक्षित कोष ही इस आन्दोलन का स्तम्भ है। यदि किसी वर्ष समिति को हानि हो तो इस कोष से पूरी की जा सकती है। इसके अतिरिक्त इसका सबसे बड़ा लाभ यह है कि अधिक कोष हो जाने से समिति को ऋण नहीं लेना होगा। इसका फल यह होगा कि समिति सूद की दर को घटा सकेगी। और सदस्यों को कम सूद पर ऋण मिल सकेगा।

यदि रक्षित कोष अधिक हो जावे तो यह रुपया गांव में किसी सार्वजनिक हित के कार्य में व्यय किया जाता है। यदि कभी समिति टूट जावे तो भी सदस्य रक्षित कोष को आपस में नहीं बांट सकते, समिति के टूट जाने पर कोष में जमा किया हुआ रुपया किसी ऐसी सार्वजनिक संस्था के पास जमा कर दिया जाता है कि जो भविष्य में यदि उस गांव में दूसरी साख समिति स्थापित हो तो उसको दे दे। कुछ समय व्यतीत हो जाने पर भी कोई दूसरी सहकारी साख समिति स्थापित न हो तो वह रुपया उसी गाँव के सार्वजनिक हित के कार्यों पर व्यय कर दिया जावे। रैफ़ेसिन ने यह नियम इसलिए बनाया कि कहीं ऐसा न हो कि कोष अधिक जमा हो जाने पर सदस्य समितियों को तोड़ कर कोष का धन बाँट लें।

रैफ़ेसिन ने सदस्यों के दायित्व को अपरिमित* रखने पर जोर दिया।

*कार्यशील पूंजी Working capital हिस्सा पूंजी share capital

उनका कहना था कि निर्धन किसान के पास सम्पत्ति तो होती नहीं कि जो वह साख के लिए अच्छी जमानत दे सके और न समितियों के हिस्सा पूंजी* ही होती है कि उसकी जमानत पर समिति को ऋण मिल सके। इस कारण उसने कहा कि समिति के सदस्यों को लेने में उनके चरित्रवान होने की शर्त पर जोर देना चाहिए। ऐसे चरित्रवान व्यक्तियों को यदि हम अपरिमित दायित्व के सूत्र से बांध देंगे तो समिति की साख बहुत ऊँची हो जावेगी और समिति उचित सूद पर ऋण पा सकेगी। रैफसिन के अनुसार वास्तविक सहकारिता वही है जहाँ प्रत्येक सदस्य अपने को समिति रूपी बड़े कुटुम्ब का सदस्य समझे और उन सदस्यों का आदर्श हो—"एक सबके लिए और सब एक के लिए।" इस आदर्श को वास्तविक रूप देने के लिए अपरिमित दायित्व को अपनाना नितान्त आवश्यक है। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक सदस्य समिति के समस्त ऋण को सम्मिलित तथा व्यक्तिगत रूप में देने के लिए जिम्मेदार है। अपरिमित दायित्व रैफसिन सहकारिता आन्दोलन का आधार स्तम्भ है, जिस पर इतना बड़ा आन्दोलन खड़ा किया गया है।

कर्ज देने के लिए रैफसिन ने यह सिद्धान्त निश्चित किया कि समिति उत्पादक कार्यों के लिए ही ऋण दे। अनुत्पादक तथा अन्य व्यर्थ के कार्यों के लिए रुपया न देना चाहिए। सदस्य को अपनी आवश्यकताओं के सम्बंध में प्रबंध समिति को विश्वास दिलाना पड़ता है। जब समिति एक बार सदस्य की आवश्यकता के विषय में छान-बीन करके कर्ज दे दे तब यह देखना चाहिए कि जिस कार्य के लिए सदस्य ने कर्ज लिया है उसके अतिरिक्त और किसी अन्य कार्य में तो व्यय नहीं किया। निरीक्षण कौंसिल प्रत्येक तीन महीने के उपरान्त सदस्य और उसके जमानत देने वालों की आर्थिक स्थिति, तथा उस रुपये के उपयोग की जांच करती है। यदि यह ज्ञात हो कि सदस्य ने कर्ज का ठीक उपयोग नहीं किया है तो उससे फौरन रुपया वापस मांगना चाहिए। समिति की आर्थिक स्थिति को मजबूत बनाये रखने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है।

समिति केवल सदस्य को ही कर्ज देती है। सदस्य को कर्ज देते

---

*अपरिमित दायित्व unlimited liability

समय ही, उस पर सूद का हिसाब लगा कर किश्तें बांध दी जाती हैं। रैफसिन ने किश्तों को ठीक समय पर वसूल करने के लिए बहुत जोर दिया है।

उसका कहना है कि समिति इस नियम का कड़ाई के साथ पालन करे। सदस्य को ठीक समय पर ही किश्त का रुपया अदा कर देना चाहिये। इससे सदस्यों को एक बहुत बड़ा लाभ यह होता है कि वे अपने कर्ज को ठीक समय पर चुका देने के लिए बाध्य होते हैं।

रैफसिन का मत था कि सदस्य को कर्ज देने का काय ऐसी सरलतापूर्वक होना चाहिए कि सदस्य को कोई कठिनाई न हो और न कर्ज मिलने में देरी हो।

जर्मनी में रैफसिन सहकारी साख समितियों ने देश की दशा ही पलट दी। जर्मनी की ग्रामीण जनसंख्या कर्जे के भयंकर बोझ से दबी हुई आर्थिक दासता को भोग रही थी वही निर्धन किसान-वर्ग रैफसिन सहकारी समितियों की सहायता से स्वावलम्बन का पाठ सीख गया। और यहूदी साहूकारों की दासता से स्वतंत्र होकर सुखी जीवन व्यतीत करने लगा। सच तो यह है कि श्री रैफसिन महोदय ने इस आन्दोलन को जन्म देकर जर्मन देश नही हीं संसार के सभी देशों के किसानों का महान कल्याण किया। यही कारण है कि आज भी जर्मनी में किसान रैफसिन को पिता रैफसिन के नाम से पुकारते हैं और उनके प्रति अपनी श्रद्धा प्रगट करते हैं।

जब जर्मनी में सहकारी साख समितियां फैल गईं तो उत्पादक, क्रय-विक्रय, दूधसहकारी समितियां तथा अन्य सभी प्रकार की समितियां स्थापित हो गईं। सहकारी समितियां अधिक हो जाने के कारण समिति के समूहों की यूनियन स्थापित की गई हैं। जर्मनी में १३ यूनियन हैं जो रैफसिन सहकारी समितियों का संरक्षण करती है इन यूनियनों के ऊपर भी एक कौंसिल है जो रैफसिन सहकारिता आन्दोलन की बागडोर संभालती है। कौंसिल की देख-भाल में एक केन्द्रीय बैंक भी स्थापित किया गया है जो साख समितियों की आवश्कताओं को पूरा करता है।

शुल्ज सहकारी समितियां

शुल्ज सहकारी समितियों का अध्ययन करते समय यह बात ध्यान में रखने की है कि यह आन्दोलन मध्यय श्रेणी के मनुष्यों और विशेषकर

कारीगरों के लिए चलाया गया था। अस्तु इन समितियों के सदस्य भिन्न-भिन्न धंधों और पेशों में लगे होने तथा एक नगर में दूर-दूर रहने के कारण एक दूसरे से उतने घनिष्ट रूप से सम्बंधित नहीं होते कि जितने गांव में रहने वाले किसान जो कि केवल खेती करते हैं। साथ ही भिन्न-भिन्न धंधों और पेशों की आर्थिक समस्याएँ भी भिन्न होती हैं। इस कारण थुल्ज ने अपरिमित दायित्व को आवश्यक नहीं माना और अधिकतर यह समितियाँ परिमित दायित्व वाली होती हैं।

थुल्ज ने अपने आन्दोलन को चरित्र-सुधार का साधन भी नहीं बनाया। उसने केवल सदस्यों की आर्थिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया। इन समितियों में अत्यन्त निर्धन व्यक्तियों के लिए स्थान नहीं है; क्योंकि इन समितियों में सदस्यों को हिस्सा अवश्य खरीदना पड़ता है और हिस्से का मूल्य अधिक होता है। उसका मत यह था कि समिति के पास अपनी यथेष्ट पूंजी होनी चाहिए कि जिसकी जमानत पर समिति बाहर से ऋण ले सके। अपरिमित दायित्व न होने के कारण समिति के पास पूंजी की ही जमानत हो सकती थी।

थुल्ज समितियों की विशेषता यह है कि वे अपनी यथेष्ट पूंजी इकट्ठी करना चाहती हैं। इसी कारण सदस्यों के लिए हिस्सा खरीदना अनिवार्य रक्खा गया। इसके अतिरिक्त थुल्ज ने रक्षित कोष को जमा करने पर बहुत जोर दिया। क्योंकि उसका उद्देश्य समिति की कार्यशील पूंजी को किसी प्रकार बढ़ाना था। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि यह समितियां लाभ नहीं बाँटती। लाभ का कुछ भाग (२५ प्रतिशत) सुरक्षित कोष में जमा करने के उपरान्त शेष लाभ सदस्यों में बाँट दिया जाता है।

थुल्ज ने व्यक्तिगत जमानत पर कर्ज देने के सिद्धान्त को अपनाया है तथा कर्ज को समय पर वसूल करने पर बहुत जोर दिया है। इन समितियों में सदस्य अपनी वार्षिक बैठक में एक कमेटी निर्वाचित करते हैं और वह कमेटी अपने सदस्यों में से एक कार्य-कारिणी समिति का निर्वाचन करती है। कार्य-कारिणी समिति समिति का कार्य चलाती है तथा कमेटी उसके कार्य का निरीक्षण करती है। थुल्ज कार्यकारिणी समिति के सदस्यों तथा पदाधिकारियों के वेतन देने के पक्ष में हैं।

वास्तव में इन सहकारी साख समितियों का क्षेत्र विस्तृत होता है।

इस कारण वे बहुत कुछ व्यापारिक संस्थाओं की भाँति होती हैं। व्यापारिक कार्य सफलता पूर्वक करने के लिए अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है; और कार्य की देख-भाल करने वाले सदस्यों को वेतन देना होता है तथा उनके अतिरिक्त भी वेतन भोगी कर्मचारी रखने पड़ते हैं।

यदि वास्तव में देखा जावे तो रैफसिन और थुल्ज सहकारी साख समितियां भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्तियों और क्षेत्रों के लिए हैं। उस कारण उनके संगठन में मौलिक भेद है। किन्तु उनका मूल सिद्धान्त एक है। अर्थात् सहकारिता के द्वारा निर्धन व्यक्ति भी उचित मूल्य पर आवश्यक साख प्राप्त कर सकते हैं और साहूकारों के चंगुल से बच सकते हैं।

भारत में सहकारिता आन्दोलन का आरम्भ

ग्रामीण ऋण के परिच्छेद में हम यह बतला चुके हैं कि ऋण की समस्या को सुलझाने के उद्देश्य से सरकार ने सहकारी साख समितियों को स्थापित करने का निश्चय किया था। जर्मनी में साख समितियों की सफलता से आकर्षित होकर मदरास सरकार ने श्री फ्रैडरिक निकलसन को जर्मनी में सहकारिता आन्दोलन का अध्ययन करने के लिए भेजा। निकलसन ने जर्मनी के आन्दोलन का अध्ययन करने के उपरान्त एक रिपोर्ट लिखी और उसमें यह बतलाया कि यदि भारतीय किसान की आर्थिक दशा को सुधारना हो तो देश में "रैफीसन को ढूंढ़ निकालो।" इसके उपरान्त संयुक्तप्रान्त के श्री डयूपरने ने जर्मनी और इटली के सहकारिता आन्दोलन की ओर आकर्षित हुआ और उसने एक कमेटी इस विषय पर बिचार करने के लिए बैठाई। इस कमेटी की सम्मति के अनुसार १६०४ में प्रथम सहकारिता ऐक्ट पास हो गया।

१६०४ का कानून:—२५ मार्च सन् १६०४ को भारतवर्ष में सहकारिता आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। इस कानून के अनुसार किसानों, गृह उद्योग धंधों में लगे कारीगरों तथा नीची श्रेणी के लोगों के लिए साख समितियों के खोलने का आयोजन किया गया। ऐक्ट सक्षेप में इस प्रकार था :—

'अठारह वर्ष के प्रायः दस मनुष्य सहकारी साख समिति स्थापित कर सकते हैं। सदस्यों का एक ही गांव या स्थान का होना आवश्यक है, जिससे वे एक दूसरे के विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त कर सकें।

समितियाँ दो प्रकार की होंगी—ग्राम समितियाँ और नगर समितियाँ। ग्राम समिति में ८० प्रतिशत सदस्यों का किसान होना और नगर समितियों में ८० प्रतिशत कारीगरों तथा अन्य पेशे वालों का होना आवश्यक है। ग्राम समितियों के सदस्यों का दायित्व अपरिमित होगा, किन्तु नगर समितियों का दायित्व यदि वे निश्चित कर लें तो परिमित भी हो सकता है। ग्राम समिति का सारा लाभ सुरक्षित कोष (Reserve fund) में जमा करना आवश्यक है। हाँ, जब सुरक्षित कोष एक निश्चित रकम से ऊपर पहुँच जावे तो तीन चौथाई लाभ सदस्यों में बाँटा जा सकता है। किन्तु उसके लिए प्रान्तीय सरकार से आज्ञा लेनी होगी। नगर समितियों में लाभ बाँटने पर कोई भी रुकावट नहीं लगाई गई। हाँ, यह नियम अवश्य बनाया गया कि २५ प्रतिशत लाभ सुरक्षित कोष में जमा किया जावे। समितियाँ व्यक्तिगत जमानत पर रुपया दे सकती हैं परन्तु चल सम्पत्ति पर रुपया नहीं दे सकतीं। समितियों के आय-व्यय की जाँच रिजस्ट्रार द्वारा भेजे हुए आय-व्यय परीक्षकों के द्वारा होगी। ऐक्ट ने समितियों को कुछ सुविधाएँ भी प्रदान कीं। समितियों के लाभ पर आय कर नहीं लिया जाता। समितियों को स्टाम्प फीस नहीं देनी पड़ती। और किसी भी सदस्य के व्यक्तिगत ऋण के लिए उसका (समिति में) हिस्सा कुर्क नहीं कराया जा सकता।

प्रथम सहकारिता कानून पास होते ही सब प्रान्तों में प्रान्तीय सरकारों ने रजिस्ट्रार नियुक्त कर दिये, जिन्होंने प्रान्तों में सहकारिता आन्दोलन की देखभाल आरम्भ कर दी। रजिस्ट्रार आरम्भ में समितियों का संगठन, उनकी देखभाल तथा उनको रजिस्ट्रर करने की देखभाल करता था। किन्तु थोड़े ही समय के उपरान्त रजिस्ट्रार तथा अन्य कार्यकर्ताओं को ऐक्ट के दोषों का अनुभव होने लगा। कई बार सब प्रान्तों के सहकारिता विभागों के सम्मेलन हुए और उन्होंने ऐक्ट के संशोधन की आवश्यकता बतलाई। १६०४ के ऐक्ट के अनुसार साख समितियों Credit socities के रजिस्ट करने की तो व्यवस्था हो गई, किन्तु गैर साख समितियों, सेंट्रल सहकारी बैंक, बैंकिंग यूनियन तथा सुपरवाइजिंग यूनियन के रजिस्टर करने की व्यवस्था नहीं हुई। १६०४ के उपरान्त जब देश में साख समितियों की स्थापना होने लगी, उसी समय यह आवश्यक समझा गया कि साख समितियों का निरीक्षण करने के लिए तथा उनको पूंजी देने के लिए सेन्ट्रल

बैंक तथा बैंकिंग यूनियन की स्थापना की जावे। क्योंकि साख समितियों के पास सदस्यों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए यथेष्ट पूंजी नहीं थी। सेंट्रल बैंकों की स्थापना कम्पनी ऐक्ट के अनुसार ही हो सकती थी न कि सहकारिता ऐक्ट के अनुसार। साथ ही, इस बात का भी अनुभव हुआ कि देश को गैर-साख समितियों की भी अत्यन्त आवश्यकता है। उदाहरण के लिए, उद्योग धंधों को प्रोत्साहन देने के लिए, खेती की पैदावार को उचित मूल्य पर बेचने के लिए, तथा उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर वस्तुएँ देने के लिए सहकारी समितियों की स्थापना आवश्यक प्रतीत हुई। किन्तु १६०४ के कानून में गैर-साख समितियों के संगठन के लिए कोई भी सुविधा न थी। इन सब दोषों को देखते हुए यह आवश्यक समझा गया कि एक नया कानून बनाया जावे। अस्तु, सन् १६१२ में दूसरा ऐक्ट बनाया गया जो भारतवर्ष में अब तक प्रचलित है।

यद्यपि अब लगभग सभी प्रान्तों ने अपने पृथक सहकारिता कानून बना लिए हैं, किन्तु वे मूलतः १६१२ के भारतीय कानून पर ही आश्रित हैं। केवल अपनी सुविधा के लिए प्रान्तों ने कहीं कहीं थोड़ा हेर-फेर करली है। अस्तु उनमें और १६१२ के भारतीय सहकारिता कानून में कोई विशेष भेद नहीं है।

१६१२ का सहकारिता कानून

१६१२ के ऐक्ट के अनुसार प्रत्येक प्रान्त सहकारिता आन्दोलन की देखभाल कर सकता है। रजिस्ट्रार का कार्य केवल समितियों की देखभाल करना ही नहीं है, वरन् उसका निरीक्षण तथा उनके आय-व्यय की जांच करना भी है। यदि वास्तव में देखा जावे तो सहकारिता आन्दोलन का सर्वेसर्वा रजिस्ट्रार ही होता है। सहकारिता आन्दोलन के एक प्रसिद्ध विद्वान के शब्दों में वह आन्दोलन का मित्र, पथ-प्रदर्शक तथा उपदेशक है। वास्तव में रजिस्ट्रार सहकारी समितियों को जन्म देने वाला, उनका पालन-पोषण करने वाला और उनको नष्ट करने वाला है। रजिस्ट्रार की आधीनता में डिप्टी रजिस्ट्रार से ले कर आय-व्यय निरीक्षकों (आडिटरों) तक बहुत से कर्मचारी हैं, जो आन्दोलन की देखभाल करते रहते हैं (धारा ३)।

रजिस्ट्रार को पंचायत के भी अधिकार प्राप्त हैं। समितियों के झगड़ों को या तो वह स्वयं सुन कर निर्णय दे देता है या और किसी को नियुक्त कर देता है। जब कोई समिति टूट जाती है तो रजिस्ट्रार लिक्वीडेट (Liquidator) हिसाब पटाने वाला नियुक्त कर देता है।

ऐक्ट के अनुसार कोई भी समिति जो अपने सदस्यों की आर्थिक उन्नति का प्रयत्न सहकारिता के सिद्धान्तों के अनुसार करने के लिए स्थापित की गई हो रजिस्टर की जा सकती है। बड़े-बड़े व्यवसायी और पूंजीपति इस ऐक्ट की आड़ में अपने धंधों का संगठन सहकारी समितियों के रूप में न कर लें इसलिए वही सहकारी समितियां रजिस्टर की जा सकती हैं जिनके सदस्य किसान, कारीगर अथवा छोटी हैसियत के आदमी हों (धारा ४)।

समितियों के सदस्यों का दायित्व परिमित (Limited Liability) भी हो सकता है तथा अपरिमित (unlimited Liability) भी। यदि समिति साख (credit) का काम करती है और उसके सदस्य समितियां न हो कर व्यक्ति हैं और अधिकांश सदस्य किसान हैं तो ऐसी साख समिति के सदस्यों का दायित्व अपरिमित होगा। अपरिमित दायित्व का अर्थ यह है कि प्रत्येक सदस्य केवल अपना कर्ज ही चुकाने का जिम्मेवार नहीं है, वरन् उसको समिति का सारा कर चुकाना होगा। उदाहरण के लिए मान लिया जावे कि अनन्तपुर नामक ग्राम में एक सहकारी साख समिति स्थापित की गई जिसमें सदस्यों का दायित्व अपरिमित है। कालान्तर में यदि वह साख समिति दिवालिया हो जाती है और उसकी लेनी (Assets) से देनी (Liabilities) अधिक हो जाती है तो उस समय समिति का कोई भी लेनदार (Creditor) समिति के किसी एक सदस्य से अपना सारा ऋण वसूल कर सकता है। मान लीजिये कि अनन्तपुर साख समिति के और सब सदस्य अत्यन्त निर्धन हैं केवल दो या तीन सदस्य धनी हैं तो समिति के सारे लेनदार उन सदस्यों से अपना सारा रुपया वसूल कर सकते हैं और उन सदस्यों को अपनी सारी सम्पति देकर भी समिति का ऋण चुकाना होगा।

यदि सहकारी समिति ऐसी है कि उसके सदस्य व्यक्ति भी हैं और समितियां भी हैं या फिर समिति के सदस्य अधिकतर किसान नहीं हैं

तो उस समिति के सदस्यों का दायित्व उनके हिस्सों के मूल्य से अधिक नहीं होगा। यदि किसी सदस्य ने किसी परिमित दायित्व वाली समिति में दस रुपये का हिस्सा लिया है और उसने अपने हिस्से का पूरा मूल्य चुका दिया है तो उसको किसी दशा में भी अधिक कुछ नहीं देना होगा। (धारा ४)

इस आशंका को दूर करने के लिए कि कहीं कोई व्यक्ति समिति पर अपना एकाधिपत्य न जमा ले यह नियम बना दिया गया है कि परिमित दायित्व वाली समितियों में कोई भी एक सदस्य समिति की कुल पूँजी की २० प्रतिशत पूँजी के हिस्से (यदि कोई समिति चाहे तो उपनियम बनाकर इससे भी कम रकम नियत कर सकती है) या एक हजार रुपये के हिस्से (इनमें जो रकम भी कम हो) खरीद सकता है। बम्बई प्रान्तीय सहकारिता कानून के अनुसार यह रकम ३ हजार रुपये तथा गृह निर्माण समितियों के लिए दस हजार रुपये निश्चित की गई है। किन्तु यह पाबन्दी केवल व्यक्तियों के लिए है। समितियों के लिए कोई भी पाबन्दी नहीं है। सदस्य समितियां चाहे जितने मूल्य के हिस्से खरीद सकती हैं। (धारा ५)

जिन समितियों के सदस्य व्यक्ति हैं, वे तभी रजिस्टर की जा सकती हैं जब नीचे लिखी बातें पूरी हों। (धारा ६)

(क) समिति के कम से कम दस सदस्य हों और उनकी आयु १८ वर्ष से कम न हो।

(ख) यदि समिति साख का काम करना चाहती हो तो सदस्यों का एक ही गांव, समीपवर्ती गांवों के समूह, अथवा एक कस्बे का होना आवश्यक है। यदि सदस्य एक ही स्थान के निवासी नहीं हैं तो उनका एक ही जाति पेशे अथवा कौम का होना आवश्यक है। किन्तु रजिस्ट्रार को यह अधिकार है कि यदि वह चाहे तो ऐसी समिति भी रजिस्टर कर ले जिसमें भिन्न भिन्न जातियों के सदस्य हों।

(ग) समिति का ध्येय अपने सदस्यों की आर्थिक स्थिति को सहकारिता के द्वारा सुधारना होना चाहिए।

जिन समितियों के सदस्य और समितियां भी हैं, और व्यक्ति भी हैं उनके लिए यह शर्तें लागू नहीं है।

जिन समितियों के केवल व्यक्ति ही सदस्य हों उनकी रजिस्ट्री के लिए कम से कम दस व्यक्तियों को अपने हस्ताक्षर करके रजिस्ट्रार को प्रार्थना

पत्र देना चाहिए। जिन समितियों में व्यक्ति तथा समितियों दोनों ही हों उनकी रजिस्टरी के लिए समितियों के प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर होना आवश्यक है। प्रार्थना पत्र के साथ ही समिति के उपनियमों को भी भेजना चाहिए। (धारा ८) जब रजिस्ट्रार को यह निश्चय हो जाता है कि सब कार्य नियम पूर्वक हुआ है तो वह समिति को रजिस्टर कर लेता है और रजिस्ट्री का प्रमाण पत्र दे देता है। (धारा ६ और १०) यदि रजिस्ट्रार किसी कारण वश समिति को रजिस्टर करने से इनकार करता है तो समिति के सदस्य दो मास के अन्दर प्रान्तीय सरकार से इस सम्बंध में अपील कर सकते हैं। (धारा ६)

जो समितियां परिमित दायित्व वाली होंगी, उनके नाम के आगे लिमिटेड लिखा रहेगा और रजिस्ट्रार किन्हीं दो समितियों को एक ही नाम न रखने देगा। समिति का सदस्य वही व्यक्ति होगा, जो या तो समिति के रजिस्टर किये जाने के समय हस्ताक्षर करने वालों में से हो अथवा उपनियमों के द्वारा बनाया गया हो। भारतवर्ष के कुछ प्रान्तों में ऐसी समितियाँ हैं जिनमें हिस्से होते हैं, कहीं-कहीं हिस्से नहीं भी होते केवल प्रवेश फीस होती है।

सब प्रकार की सहकारी समितियों में एक व्यक्ति का एक ही वोट होता है। सहकारी समितियों में हिस्सों के मूल्य के अनुपात में वोट देने का अधिकार नहीं होता जब कोई समिति किसी दूसरी समिति की सदस्य होती है तो वह अपने किसी प्रतिनिधि को उस समिति के कार्य में भाग लेने भेजती है। (धारा १३)

भूतपूर्व सदस्य, सदस्य न रहने के दो वर्ष उपरान्त तक अपरिमित दायित्व वाली साख समिति के ऋण के लिए उत्तरदायी होता है। वह केवल उस समय तक के लिए हुए ऋण के लिए ही उत्तरदायी होता है जब तक कि वह सदस्य था। (धारा २३)

स्वर्गीय सदस्य की सम्पत्ति, अथवा उसके उत्तराधिकारी एक वर्ष तक मृत सदस्य के व्यक्तिगत ऋण को चुकाने के लिए उत्तरदायी हैं। (धारा २४)

समिति के हिस्से स्वतंत्रता पूर्वक बेचे नहीं जा सकते। समिति के हिस्सों को बेचने के विषय में कुछ प्रतिबन्ध लगाये गए हैं। अपरिमित दायित्व वाली समितियों का कोई सदस्य तब तक अपना हिस्सा दूसरे को नहीं दे सकता जब तक उसको हिस्सा लिए एक वर्ष न हो गया हो।

फिर भी उसे हिस्सा समिति को अथवा समिति के किसी सदस्य को देना होगा किसी बाहरी आदमी को वह हिस्सा नहीं बेच सकता। (धारा १४)

रजिस्टर्ड समितियों को अपना आय व्यय रजिस्ट्रार द्वारा निश्चित किये हुये ढंग पर रखना होता है। और रजिस्ट्रार द्वारा मनोनीत किया हुआ आय व्याय निरीक्षक (आडिटर) हिसाब की जांच करता है (धारा ८)

सहकारी समितियों को कानून से निम्नलिखित सुविधाएँ प्राप्त हैं :—

यदि समिति ने किसी वर्तमान सदस्य अथवा भूतपूर्व सदस्य को बीज अथवा खाद उधार दी है, अथवा बीज और खाद मोल लेने के लिए रुपया उधार दिया है तो समिति को उस रुपये अथवा खाद और बीज के द्वारा उत्पन्न की हुई फसल से अपना रुपया वसूल करने का प्रथम अधिकार होगा यदि वह सदस्य और किसी का भी कर्जदार है तो वह लेनदार उस फसल को, जो समिति के बीज या खाद से पैदा की गई है कुर्क नहीं करवा सकता। इसी प्रकार यदि समिति ने सदस्यों को बैल, चारा, खेती-बारी तथा उद्योग-धंधों में काम आने वाले यंत्र और उद्योग धंधों के लिए कच्चा माल उधार दिया है, अथवा इन वस्तुओं को खरीदने के लिए रुपया उधार दिया है तो इन वस्तुओं पर तथा उस कच्चे माल से तैयार किये हुए माल पर समिति का प्रथम अधिकार होगा। बम्बई प्रान्त में समिति को केवल ऊपर लिखी हुई वस्तुओं के लिए दिये हुए ऋण पर ही प्रथम अधिकार नहीं होता वरन् सब प्रकार की चीजों के वास्ते दिये हुए ऋण पर अधिकार होता है। (धारा १६)

समिति के सदस्य का हिस्सा कोई भी लेनदार अपने ऋण के लिए कुर्क नहीं करवा सकता। किसी भी वर्तमान अथवा भूतपूर्व सदस्य के जमा किये हुये रुपये तथा लाभ के हिस्से को ऋण के बदले में ले लेने का समिति को अधिकार है। बाहरी लेनदार कुर्की कराकर उस रुपये को नहीं ले सकता। (धारा २० और २१)

सहकारी समिति के लाभ पर आय कर Income tax तथा सुपरटैक्स नहीं लिया जाता और न सदस्यों के लाभ पर कर लिया जाता है।

सहकारी साख समिति केवल अपने सदस्यों को ही कर्ज दे सकती है। रजिस्ट्रार की आज्ञा लेकर समिति दूसरी समितियों को कर्ज दे सकती है। (धारा २६)

सहकारी साख समितियां अपने उपनियमों के द्वारा निश्चित रकम से अधिक ऋण और डिपॉजिट नहीं ले सकती। इसी कारण प्रत्येक समिति प्रतिवर्ष अपनी साख निर्धारित करती है। सहकारी साख समितियाँ उन व्यक्तियों का रुपया जमा कर सकती हैं जो सदस्य नहीं हैं। (धारा ३०)

समितियाँ निम्नलिखित स्थानों में अपना रुपया जमा कर सकती हैं :— (१) पोस्ट आफिस सेविंग्स बैंक में, (२) ट्रस्टी सिक्यूरिटियों में। (३) किसी अन्य सहकारी समिति के हिस्सों में। (४) किसी बैंक में जिसमें रुपया जमा करने की आज्ञा रजिस्ट्रार ने दे दी हो। (धारा ३२)

साधारणतया समिति का लाभ तथा उसका जमा किया हुआ कोष बाँटा नहीं जा सकता। केवल निम्नलिखित दशाओं में वह बाँटा जा सकता है:—

परिमित दायित्व वाली समितियों में एक चौथियाई लाभ रक्षित कोष (रिजर्वफंड) में जमा करने के उपरान्त सदस्यों में बाँटा जा सकता है। किन्तु इसके लिए भी रजिस्ट्रार की अनुमति लेनी होती है। दायित्व वाली समितियों में लाभ प्रान्तीय सरकार की आज्ञा से ही बाँटा जा सकता है। रक्षित कोष समिति के भंग हो जाने पर भी, सदस्यों में बांटा नहीं जा सकता। रक्षित कोष या तो समिति के कारबार में लगाया जाता है, या रजिस्ट्रार के पास रहता है अथवा रजिस्ट्रार की आज्ञा से और कहीं जमा कर दिया जाता है। समिति के भंग हो जाने पर समिति के ऋण को चुकाने पर जो रुपया बचे, उसका उपयोग समिति के निर्णय के अनुसार होगा। यदि समिति इसका निर्णय न कर सके तो रजिस्ट्रार जिस प्रकार उस धन का उपयोग करना चाहे कर सकता है। कुछ प्रान्तों में यह नियम है कि यदि समिति किसी अन्य संस्था की सदस्य हो तो रक्षित कोष उसे दे दिया जाता है।

ऐक्ट के अनुसार प्रत्यक समिति, चौथियाई लाभ रक्षित कोष में रखने के उपरान्त लाभ का १० प्रतिशत दान तथा सार्वजनिक हित के कार्यों में व्यय कर सकती है। (धारा ३४)

यदि जिलाधीश जाँच करने लिए प्रार्थना करे, पंचायत प्रार्थना-पत्र भेजकर जांच करवाना चाहे, अथवा समिति के एक तिहाई सदस्य जाँच करवाना चाहें तो रजिष्ट्रार को उस समिति की अवश्य जाँच करवानी होगी।

वैसे रजिस्ट्रार को अधिकार है कि वह जब चाहे समिति की जाँच करा सकता है। (धारा ३५)।

समिति का लेनदार भी जाँच का खर्च पेशगी जमा करके समिति की जांच करवा सकता है। (धारा ३६)

निम्नलिखित दशाओं में समिति भग हो जाती है:—

(१)—यदि किसी लेनदार की प्रार्थना पर जाँच कराने से यह प्रतीत हो कि समिति को भंग कर देना चाहिए तो रजिस्ट्रार उसे भंग कर सकता है। (२) यदि समिति के तीन चौथाई सदस्य समिति को भग कर देने की प्रार्थना करें तो वह समिति को भंग कर सकता है। (३) यदि समिति के सदस्यों की संख्या १०से कम हो जावे तो समिति स्वतः ही भंग हो जाती है। (धारा ३६ और ४०)

जब समिति भंग हो जाती है तो रजिस्ट्रार एक लिक्विडेटर नियुक्त कर देता है जो उस समिति का हिसाब पटाता है। (धारा ४१ और ४२)

रजिस्ट्रार को पंचायत के भी अधिकार प्राप्त हैं। वह नीचे लिखे झगड़ों का निबटारा स्वयं या पच नियुक्त करके कर सकता है—(१) जिनसे समिति के कारबार का सम्बंध है। (२) जिनमें सदस्यों का आपस में किसी बात पर झगड़ा हो, भूतपूव सदस्यों में कोई झगड़ा हो या समिति के पंचों में कोई झगड़ा हो अन्य झगड़ों के लिए साधारण अदालत में जाना होगा। (धारा ४३)।

रजिस्ट्रार की आज्ञा के विरुद्ध दो अवस्थाओं में प्रान्तीय सरकार से अपील की जा सकती है। (१) जब किसी समिति को वह रजिस्टर करने से इनकार कर दे। (२) जब वह किसी समिति को भग कर दे। आज्ञा से दो महीने तक अपील हो सकती है।

मल्टी यूनिट कोआपरेटिव सोसायटीज़ ऐक्ट (१९४२)

भारत सरकार ने २ मार्च १९४२ को सहकारी समितियों के सम्बन्ध में एक ऐक्ट पास किया है जिसका सम्बन्ध उन सहकारी समितियों से है, जिनका कार्य क्षेत्र जिस प्रान्त में वे रजिस्टर की गई हैं, उनसे बाहर भी है। यदि कोई सहकारी समिति जिसके सम्बन्ध में यह एक्ट लागू होता है किसी प्रान्त में रजिस्टर हो चुका है और उसका कार्य क्षेत्र दूसरे प्रान्त में भी है

तो वह उस प्रान्त में भी रजिस्टर्ड समझी जावेगी और उसके सम्बंध में वे ही सारे नियम लागू होंगे जो उस प्रान्त में प्रचलित हैं जहाँ कि समिति रजिस्टर्ड हुई है। जो समितियाँ इस ऐक्ट के बनने के उपरान्त रजिस्टर हों, उनके सम्बंध में भी यही नियम लागू होगा कि जिस प्रान्त में वे रजिस्टर होंगी उस प्रान्त के ही सारे नियम लागू होंगे। लेकिन वह जिन दूसरे प्रांतों में कार्य करेंगी, वहाँ भी रजिस्टर समझी जावेंगी। इस ऐक्ट के अनुसार केन्द्रीय सरकार इस प्रकार की सहकारी समितियों का एक केन्द्रीय रजिस्ट्रार नियुक्त कर सकती है। यदि केन्द्रीय रजिस्ट्रार नियुक्त हो गया तो फिर उन समितियों का रजिस्ट्रेशन, नियंत्रण इत्यादि सब उसके अधिकार में होगा। प्रान्तीय रजिस्ट्रारों को इन समितियों से कोई वास्ता न होगा।

कृषि साख सहकारी समितियाँ (Primary Credit Co-operative Societies)

इन समितियों के सदस्य वे ही हो सकते हैं जो खेती बारी में लगे हो तथा एक ही गाँव में रहते हों। प्रत्येक गाँव के निवासी एक दूसरे की आर्थिक स्थिति से भलीभाँति परिचित होते हैं तथा एक दूसरे के चरित्र के संबन्ध में भी जानकारी रखते हैं। इसी कारण वे अपरिमित दायित्व (unlimited liability) स्वीकार कर सकते हैं। अपरिमित दायित्व के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक सदस्य समिति के ऋण को व्यक्तिगत रूप से तथा सामूहिक रूप से चुकाने के लिए बाध्य है। यही कारण है कि नवीन सदस्य तभी समिति में लिया जा सकता है कि जब दूसरे सब सदस्य उसको सदस्य बनाने के पक्ष में हों। सहकारी साख समिति का सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक सदस्य दूसरे सदस्यों के कार्यों का उत्तरदायी बन जाता है, इस कारण किसी नवीन सदस्य को सर्व सम्मति से ही चुना जाता है।

प्रायः एक गाँव में एक ही साख समिति स्थापित की जाती है। समिति का प्रबन्ध करने का अधिकार साधारण सभा तथा प्रबन्ध कारिणी सभा अर्थात् पंचायत को होता है। साधारण सभा सब महत्वपूर्ण प्रश्नों पर अपना स्पष्ट मत देती है और पंचायत साधारण सभा की आज्ञाओं का पालन करती है। वस्तुतः साधारण सभा केवल नीति निर्धारित करती है और पंचायत सारा कार्य करती है।

प्रबन्ध कारिणी समिति नीचे लिखे कार्य करती है :—

१—वह सदस्यों को हिस्से देती है तथा उनको समिति का सदस्य बनाती है।

२—वह गाँव में डिपाँजिट लेने का प्रयत्न करती है, तथा सेंट्रल बैंक से ऋण लेने का प्रबन्ध करती है। उसका सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वह सदस्यों तथा अन्य ग्रामनिवासियों को समिति में रुपया जमा करने के लिए उत्साहित करे।

३—जब कभी आवश्यकता होती है, वह साधारण सभा का आयोजन करती है।

४—वह यह भी निश्चय करती है कि किन सदस्यों को कितने समय के लिये रुपया उधार दिया जावे। साथ ही, वह उस अवधि के अन्त में ऋण के रुपये को वसूल करती है।

५—वह समिति के आय-व्यय का हिसाब रखती है।

६—वह समिति सम्बन्धी कार्यों में रजिस्ट्रार से लिखा-पढ़ी करती है।

७—वह समिति के उन सदस्यों के लिए, जो सम्मिलित रूप से आवश्यक वस्तुओं को खरीदना चाहते हैं तथा खेती की पैदावार को बेचना चाहते हैं, दलाल का काम करती है।

वह सरपंच तथा मन्त्री का निर्वाचन करती है। सरपंच समिति के सारे कार्य की देखभाल रखता है तथा मन्त्री समिति का हिसाब रखता है।

समिति प्रवेश फीस, हिस्सों का मूल्य, जमा, तथा ऋण के द्वारा कार्यशील पूँजी (Working Capital) उगाहती है। समिति का रक्षित कोष (Reserve Fund) भी समिति की कार्यशील पूँजी को बढ़ाता है। प्रवेश फीस नाम मात्र की होती है और समिति की स्थापना के समय प्रारम्भिक व्यय के लिए ली जाती है। कुछ प्रान्तों में सदस्यों को हिस्से खरीदने पड़ते हैं और कुछ प्रान्तों में हिस्से नहीं होते। पञ्जाब, संयुक्तप्रान्त, तथा मद्रास में समितियाँ हिस्से वाली होती है। अन्य प्रान्तों में हिस्से और गैर हिस्से दोनों तरह की समितियाँ होती हैं।

साख समिति का कोई सदस्य एक निश्चित रकम से अधिक के हिस्से नहीं खरीद सकता। प्रत्येक सदस्य को केवल एक वोट देने का अधिकार होता है। प्रवेश फीस तथा हिस्सों के मूल्य में समिति के पास नाम मात्र

की पूंजी इकट्ठी होती है। इस कारण समितियाँ अधिकतर ऋण तथा डिपाजिट से काम चलाती हैं। कोई समिति जितनी अधिक डिपाजिट आकर्षित करे उतनी ही उसकी सफलता समझी जानी चाहिये। क्योंकि डिपाजिट तभी अधिक जमा होगी जब कि जनता को समिति का भरोसा होगा। और आर्थिक स्थिति मे विश्वास होगा। जब तक कि साख समितियाँ डिपाजिट आकर्षित करके, अपनी आवश्यकता के अनुसार पूंजी जमा नहीं कर सकतीं, उनको निर्बल ही समझना चाहिये। जमा करने से ग्रामीण जनता तथा सदस्यों में मितव्ययिता का भाव जागृत होता है।

भारतवर्ष में अभी तक बम्बई प्रान्त को छोड़ और किसी प्रान्त में समितियाँ डिपाजिट आकर्षित नहीं कर पाई हैं। जब तक समितियाँ यथेष्ट पूंजी डिपाजिट के रूप में आकर्षित नहीं करतीं तब तक वे निर्बल ही समझी जावेंगी। साख समितियाँ गैर सदस्यों से भी ऋण लेती हैं। किन्तु सेन्ट्रल बैंकिंग इनक्वायरी कमेटी का यह मत है कि सहकारी साख समितियों को गैर सदस्यों से उस समय तक डिपाजिट न लेना चाहिये कि जब तक उनकी आर्थिक स्थिति दृढ़ न हो जावे।

समिति के पंचों को कोई वेतन नहीं मिलता। यदि सदस्य ही मन्त्री होता है तो उसे भी वेतन नहीं मिलता। हाँ, यदि समिति का हिसाब रखने के लिए ऐसा व्यक्ति मंत्री बनाया जावे कि जो समिति का सदस्य न हो तो उसे थोड़ा वेतन मिलता है। यदि मन्त्री उसी गाँव का रहने वाला हो तो अच्छा है, क्योंकि वह सदस्यों से भलीभांति परिचित होगा। परन्तु पटवारी को किसी भी अवस्था में मंत्री न बनाना चाहिए। क्योंकि उसका गांव पर बहुत प्रभाव होता है। सम्भव है कि वह पंचायत के अनुशासन में न रहे। यदि गांव की समिति में कोई शिक्षित सदस्य हो तो उसे मंत्री बनाना चाहिए, यदि कोई सदस्य शिक्षित न हो तो गांव के शिक्षक को मंत्री बनाना चाहिए।

सहकारी साख समितियों का प्रबंध-व्यय बहुत कम होने के कारण तथा लाभ न बांटने के कारण रक्षित-कोष (Reserve Fund) यथेष्ट जमा हो जाता है। जब तक समिति के पास यथेष्ट रक्षित-कोष न हो जावे तब तक वह सबल नहीं बन सकती। रक्षित कोष का उपयोग समिति के कार्य में हानि होने पर उसे पूरा करने में होता है। यदि किसी देनदार (debtor) से रुपया वसूल नहीं हुआ अथवा अन्य कोई हानि हो गई

तो रक्षित कोष से उसे पूरा किया जाता है। यदि समिति भंग हो जाती है तो या तो रक्षित कोष अन्य किसी सहकारी समिति को दे दिया जाता है या रजिस्ट्रार की अनुमति से अन्य किसी सार्वजनिक कार्य पर व्यय कर दिया जाता है। अपरिमित दायित्व वाली समितियां रक्षित कोष के धन को अपने निजी कार्य में लगाती हैं, बाहर जमा नहीं करतीं।

साधारण सभा अपनी मीटिंग में समिति की साख निर्धारित करती है, पंचायत उससे अधिक ऋण नहीं ले सकती। समिति की साख निर्धारित करने के लिए यह आवश्यक है कि सदस्यों की सम्पत्ति का एक चौथियाई से आधी तक समिति की साख निर्धारित की जाती है। समिति एक हैसियत रजिस्टर रखती है, जिसमें प्रत्येक सदस्य की हैसियत का लेखा रहता है। हैसियत रजिस्टर का प्रति वर्ष संशोधन होता है और प्रत्येक सदस्य की हैसियत का यथार्थ लेखा रखने का प्रयत्न किया जाता है।

इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित कर दिया जाता है कि प्रत्येक सदस्य अधिक से अधिक कितना उधार ले सकता है। किसी भी अवस्था में सदस्य को सम्पत्ति का ५० प्रतिशत से अधिक ऋण नहीं दिया जा सकता। रुपया उधार देने के समय पंचायत कर्जा लेने का उद्देश्य तथा सदस्य की चुकाने की शक्ति का अनुमान लगा कर ही कर्ज देने का निश्चय करती है।

सहकारिता का सिद्धान्त है कि ऋण अनुत्पादक कार्यों के लिए न दिया जावे। किन्तु भारत में समितियां सामाजिक तथा धार्मिक कार्यों के लिए भी ऋण दे देती हैं। पंचायत का यह मुख्य कर्तव्य है कि वह इस बात की जांच करे कि सदस्य कर्ज किस कार्य के लिए ले रहा है। साथ ही पंचायत को इस बात का भी पता लगाना चाहिए कि सदस्य ने उसी कार्य में धन लगाया है जिसके लिए कर्ज दिया गया था अथवा अन्य किसी कार्य में। यदि सदस्य ने अन्य किसी कार्य में रुपया लगाया है तो पंचायत को रुपया वापस ले लेना चाहिए।

सहकारी समितियों के सदस्यों को एक दूसरे पर दृष्टि रखनी चाहिए कि वे धन का दुरुपयोग तो नहीं करते समय पर कर्ज चुकाते हैं अथवा किस्तें को टालने का प्रयत्न करते हैं। पंचायत ऋण देते समय ही सदस्यों की स्थिति को दृष्टि में रखते हुए किस्तें बांध देती है, क्योंकि सदस्यों को किस्तें

के द्वारा ऋण चुकाने में सुविधा होती है। पंचायत का यह मुख्य कर्तव्य है कि वह देखे कि सदस्य समय पर किस्तें चुकाता है या नहीं। किन्तु यदि किसी कारणवश (फसल के नष्ट हो जाने पर) किस्त न चुका सके तो उसकी मियाद बढ़ा देनी चाहिए।

समितियां अधिकतर नीचे लिखे कार्यों के लिए ऋण देती हैं:— (१) खेती बारी के लिए, तथा लगान के लिए। (२) भूमि का सुधार करने के लिए। (३) पुराने ऋण को चुकाने के लिए। (४) गृहस्थी के कार्यों के लिए (५) व्यापार के लिए। (६) भूमि खरीदने के लिए। यह कहना बहुत कठिन है कि किन कार्यों के लिए कितना रुपया लिया जाता है बहुधा सदस्य प्रार्थनापत्र में तो खेती-बारी के लिए रुपये लेने की बात लिखता है और रुपये का व्यय करता है किसी सामाजिक कार्य पर। समितियों ने अभी तक इस दोष की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है।

प्रान्तीय बैंकिंग इनक्वायरी कमेटियों की सम्मति है कि कृषि साख समितियाँ अपने सदस्यों को तीन वर्षों से अधिक के लिए ऋण नहीं दे सकतीं। सहकारिता आन्दोलन में कार्य करने वालों की भी यही धारणा है। क्योंकि कृषि साख समितियाँ अधिकतर सैंट्रल बैंकों से ऋण लेती हैं और यह बैंक अधिकतर तीन वर्ष तक के ही लिए जमा लेते हैं। अस्तु इससे अधिक समय के लिए सदस्यों को ऋण देना उचित नहीं समझा जाता। लम्बे समय के लिए ऋण देने का कार्य सहकारी भूमि बन्धक बैंक (Mortgage Banks) ही कर सकते हैं। यही कारण है कि कृषि साख समितियाँ अब लम्बे समय के लिए ऋण नहीं देतीं।

सहकारी साख समितियों की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि सदस्य सहकारिता के सिद्धान्तों को समझें। इस लिए समिति का संगठन करते समय सहकारिता के सिद्धान्तों की शिक्षा देनी चाहिए। भारतवर्ष में अभी तक ग्रामीण सदस्य यह समझता है कि साख समिति सरकारी बैंक है जो उसे ऋण देते हैं। वह यह नहीं सोचता कि वह उसकी समिति है। जब तक सदस्यों में स्वावलम्बन की भावना जागृत नहीं होती तब तक सहकारिता आन्दोलन सफल नहीं हो सकता।

समितियों का आय-व्यय निरीक्षण रजिस्ट्रार की आधीनता में होता है। वह सहकारी विभाग के आय-व्यय निरीक्षकों से जाँच कराता है।

आडिटर इस बात की भी जाँच करता है कि कितना रुपया सदस्यों पर उधार है, जिसके चुकाने की अवधि समाप्त हो गई। वह समिति की लेनी-देनी का हिसाब देखता है। वह यह भी देखता है कि समिति का कार्य सहकारिता के सिद्धान्तों के अनुसार हो रहा है या नहीं। उसे देखना चाहिए कि ऋण उचित समय के लिए उचित कार्यों के लिए दिए गए हैं या नहीं तथा आवश्यक जमानत ली गई है या नहीं। उसे यह भी देखना चाहिये कि सदस्य ठीक समय पर ऋण चुकाते हैं या नहीं। कहीं ऐसा तो नहीं होता कि सदस्य ठीक समय पर ऋण न चुकाते हों किन्तु हिसाब में रुपया जमा कर लिया जाता हो और उतना ही ऋण फिर दे दिया जाता हो। कहने का तात्पर्य यह है कि निरीक्षक को पूरी जाँच करनी चाहिये। भारतवर्ष में आय-व्यय निरीक्षण का कार्य भलीभाँति नहीं हो रहा है।

यद्यपि प्रत्येक प्रान्त में आय-व्यय निरीक्षण का कार्य रजिस्ट्रार की देख-रेख में ही होता है परन्तु किन्हीं-किन्हीं प्रान्तों में प्रान्तीय सहकारी यूनियनों के आडिटर जिन्हें रजिस्ट्रार लाइसेन्स दे देता है इस कार्य को करते हैं और कहीं-कहीं सहकारी विभाग के आडिटर ही यह कार्य करते हैं।

अप्रैल १९२१ में आल इंडिया कोआपरेटिव कानफ्रेन्स ने समस्त भारत में आय-व्यय निरीक्षण की एक ही पद्धति चलाने का निश्चय किया। उस योजना के अनुसार समितियों का निरीक्षण कार्य सेन्ट्रल बैङ्कों के हाथ में ही रहना चाहिए। आय व्यय निरीक्षण प्रान्तीय संस्थाओं के हाथ में रहना चाहिए। प्रान्तीय संस्था प्रत्येक जिले में जिला आडिट यूनियन स्थापित करे। उस जिले की सारी सहकारी समितियां तथा सेंट्रल बैंक उस आडिट यूनियन से सम्बंधित हों। प्रान्तीय इंस्टिट्यूट तथा जिला आडिट यूनियन के कर्मचारियों की नियुक्ति तथा देखभाल प्रान्तीय इंस्टिट्यूट करे। प्रारम्भिक सहकारी समितियों का आय-व्यय निरीक्षण जिला आडिट-यूनियन के आडिटर करें और सेंट्रल तथा प्रान्तीय सहकारी बैंक का आय व्यय निरीक्षण प्रान्तीय इंस्टिट्यूट के आडिटर करें।

प्रान्तीय इंस्टिट्यूट तथा जिला आडिट यूनियन के आडिटर वही लोग नियत किये जावे जिन्होने इस कार्य की शिक्षा पाई है और जिनको रजिस्ट्रार ने लायसैंस दे दिया है। प्रान्तीय इंस्टिट्यूट नगर सहकारी बैंक तथा सेंट्रल बैंकों से आडिट फीस वसूल करेगी किन्तु कृषि साख समितियों

का आय-व्यय निरीक्षक निःशुल्क होना चाहिए। इस कारण प्रान्तीय इंस्टिट्यूट को आर्थिक सहायता प्रदान करे। अभी तक प्रारम्भिक समितियों से थोड़ी आडिट फीस ली जाती है। समितियों की देख-रेख तथा उनका नियंत्रण रजिस्ट्रार तथा प्रान्तीय सहकारी संस्था दोनों करते हैं।

ब्रिटिश भारत में लगभग १,२०,००० कृषि सहकारी समितियां हैं, जिनमें लगभग ८५ प्रतिशत साख समितियां हैं। सब कृषि सहकारी समितियों के सदस्यों की संख्या ४१ लाख से ऊपर तथा कार्यशील पूंजी ३० करोड़ से अधिक है। इस पूंजी में लगभग ४० प्रतिशत समितियों की हिस्सा-पूंजी और रक्षित कोष है, शेष ६० प्रतिशत उधार ली हुई पूंजी है, जिसमें ८ प्रतिशत के लगभग तो डिपाजिट और शेष ५३ प्रतिशत सेंट्रल बैंकों से लिया हुआ ऋण है। इन आंकड़ों से ऐसा प्रतीत होता है कि आन्दोलन की स्थिति संतोषजनक है, किन्तु असल में ऐसा नहीं है।

भारतवर्ष में साख समितियों का यह एक मुख्य दोष है कि वे अधिकतर बाहरी पूंजी पर अवलम्बित रहती हैं। सेंट्रल बैंक शहरों में डिपाजिट आकर्षित करते हैं और वह पूंजी समितियों को ऋण स्वरूप दी जाती है।

साख समितियों की आडिट रिपोर्ट से यह प्रतीत होता है कि ५० प्रतिशत से अधिक ऋण ऐसा होता है कि जिसकी अदायगी की तिथि कभी कि निकल गई और सदस्यों ने उसको नहीं चुकाया। जब मूल ऋण की अदायगी की यह दशा है तब उस पर जो सूद इकट्ठा हो गया है उसका तो कहना ही क्या। बरार इत्यादि में जब सेंट्रल बैंकों ने कर्ज के बदले सदस्यों की भूमि ले ली तो उसका प्रबन्ध करना कठिन हो गया। अन्य प्रान्तों में ऋण वसूल करने में बहुत कठिनाई हुई। इन सबका परिणाम यह हुआ कि मध्यप्रान्त, बरार, उड़ीसा, बिहार और बंगाल में आन्दोलन नितान्त बलहीन और निष्प्राण हो गया। सन् १९४० में नया ऋण सात करोड़ रुपये से भी कम दिया गया। इसके बाद नया ऋण और भी कम कर दिया गया। निदान साख पहले से बहुत ही सीमित और मर्यादित कर दी गई। युद्ध के फलस्वरूप पिछला ऋण बहुत कुछ वसूल हो गया है।

भारतवर्ष में प्रतिवर्ष आय-व्यय निरीक्षण होता है। तब आय-व्यय निरीक्षक उनकी आर्थिक स्थिति के अनुसार समितियों का वर्गीकरण करता है। 'ए' वर्ग की समितियां बहुत अच्छी समझी जाती हैं। 'बी' वर्ग की अच्छी

'सी' वर्ग की साधारण, 'डी' वर्ग की बुरी और 'ई' वर्ग की समितियां बहुत बुरी समझी जाती हैं। 'ई' वर्ग की समितियों को दिवालिया कर दिया जाता है। रिपोर्टों से ज्ञात होता है कि समितियों की एक बहुत बड़ी संख्या 'डी' और 'ई' वर्ग में हैं। 'ए' और 'बी' वर्ग में १० प्रतिशत से भी कम समितियां हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि साख समितियों की दशा शोचनीय है। रिपोर्टों से यह भी ज्ञात होता है पिछले वर्षों में ६ प्रतिशत के लगभग समितियां प्रतिवर्ष दिवालिया होती रहीं। डालिंग महोदय के अनुसार सहकारिता आन्दोलन के आरम्भ से आज तक जितनी समितियां स्थापित हुईं उनकी २५ प्रतिशत दिवालिया हो गईं।

सरकारी साख समितियों से जैसी आशा थी, वे सफल नहीं हुईं। यह तो इसी से विदित है कि पुरानी और सफल साख समितियों के सदस्यों की संख्या बढ़ नहीं रही है। गांव के रहने वाले समिति का सदस्य बनने के लिए कोई विशेष उत्साह नहीं दिखलाते। चालीस वर्ष के उपरान्त भी आन्दोलन निर्जीव और निस्तेज क्यों है उसके कारण अन्त में लिखे जावेंगे।

सेंट्रल बैंक तथा बैंकिंग यूनियन

आरम्भ में यह आशा की जाती थी कि साख समितियां यथेष्ट डिपॉज़िट आकर्षित कर सकेंगी और इस प्रकार पूंजी की समस्या हल हो जावेगी। किन्तु यह आशा कि गांवों की जनता इन समितियों में रुपया जमा करेगी पूरी नहीं हुई। क्योंकि एक तो किसान ऋणी है दूसरे वह बैंक में रुपया रखने का अभ्यस्त नहीं। अस्तु इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि ऐसे सहकारी बैंक खोले जावें जो नगरों में प्रारम्भिक सहकारी समितियों के लिए धन इकट्ठा करें। अस्तु १९१२ का सहकारिता कानून बनाया गया और सेंट्रल बैंक स्थापित करने की सुविधा हो गई। इस समय सेंट्रल बैंकों की संख्या ६०० है और उनसे सम्बन्धित १०४, ००० समितियां हैं।

सेंट्रल बैंक दो प्रकार के होते हैं:—(१) ऐसे सेंट्रल बैंक जिनके सदस्य केवल समितियां ही हो सकती हैं उन्हें बैंकिंग यूनियन भी कहते हैं। (२) ऐसे सेंट्रल बैंक जिनके सदस्य व्यक्ति तथा समितियां दोनों ही होती हैं। बैंकिंग यूनियन वास्तव में आदर्श सहकारी सेंट्रल बैंक हैं। समितियां ही इन बैंकों की नीति को निर्धारित करती हैं तथा बैंक का प्रबंध भी उन्हीं के हाथ

में रहता है। इन बैंकिंग यूनियनों की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि समितियों के सदस्य योग्य तथा प्रभावशाली व्यक्ति हों। यही कारण है कि बैंकिंग यूनियन संख्या में अधिक नहीं हैं। दूसरे प्रकार के सेंट्रल बैंक ही अधिक हैं। उस प्रकार के सेंट्रल बैंकों में योग्यता और व्यापारिक कुशलता की दृष्टि से कुछ योग्य व्यक्तियों को लेने की सुविधा रहती है।

सेंट्रल बैंक का क्षेत्र प्रत्येक प्रान्त में भिन्न होता है, उस क्षेत्र की सहकारी समितियां उसी बैंक से ऋण लेती हैं। दक्षिणी तथा पश्चिमी भारत में सेंट्रल बैंक का क्षेत्र एक जिला है परन्तु उत्तर भारत में सेंट्रल बैंक क्षेत्र अधिकतर एक तहसील होती है इस कारण इन प्रान्तों के सेंट्रल बैंकों से सम्बंधित समितियों की संख्या तथा पूंजी कम होती है।

साधारण सभा

सेंट्रल बैंक के हिस्सेदारों की सभा को साधारण सभा कहते हैं। सभा के सदस्यों को केवल एक वोट देने का अधिकार होता है। साधारण सभा डायरेक्टरों का चुनाव करती है।

संचालन

संचालक (डायरेक्टर) बोर्ड बैंक का प्रबंध करता है। सेंट्रल बैंक के डायरेक्टर संख्या में अधिक होते हैं क्योंकि समितियों तथा व्यक्तियों के प्रतिनिधि निश्चित रहते हैं। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में डायरेक्टरों की संख्या १० से २५ तक रहती है। इससे यह कठिनाई होती है कि पूरे बोर्ड की मीटिंग का आयोजन कठिन हो जाता है। इसलिए बोर्ड अपने सदस्यों में से एक कार्यकारिणी समिति का निर्वाचन करती है, जो बैंक का कार्य चलाती है। बैंक का दैनिक कार्य मैनेजिंग डायरेक्टर अथवा मंत्री जो अवैतनिक होता है, चेयरमैन तथा अन्य एक दो डायरेक्टरों की सलाह और मैनेजर की सहायता से करता है। डायरेक्टरों को फीस या वेतन कुछ नहीं मिलता। कहीं-कहीं डायरेक्टर समितियों की आवश्यकताओं को जानने के लिए समितियों का निरीक्षण करते हैं तथा यह रिपोर्ट करते हैं कि उनको कितना ऋण देना चाहिए। डायरेक्टर बदलते रहते हैं। चेयरमैन तथा मंत्री व्यक्तियों में से चुने जाते हैं। उत्तरीय तथा पूर्वीय भारत में चेयरमैन कहीं-कहीं सरकारी कर्मचारी होता है। किन्तु अधिकतर वह गैर सरकारी होता है।

संयुक्तप्रान्त में चेयरमैन जिले का कलक्टर होता है। अधिकतर डायरेक्टर समितियों के प्रतिनिध होते हैं।

प्रत्येक बैंक एक मैनेजर नियुक्त करता है मैनेजर प्रत्येक प्रान्त में एक ही कार्य नहीं करता। कहीं-कहीं मैनेजर बैंक को अच्छी तरह से चलाने के अतिरिक्त सम्बंधित साख समितियों के लिए भी जिम्मेदार होता है। इसलिए उसको सेंट्रल बैंक के दौरा करने वाले कर्मचारियों की देख भाल करनी पड़ती है और स्वयं भी दौरा करना पड़ता है। कहीं-कहीं मैनेजर केवल समितियों का निरीक्षण करता है, बैङ्क का प्रबन्ध नहीं करता और मन्त्री बैङ्क के कर्मचारियों की सहायता से बैङ्क का काम चलाता है।

पूँजी (Capital) सेंट्रल बैङ्क की कार्यशील पूँजी (Working Capital) हिस्सा पूँजी (Shane Capital), रक्षित कोष, डिपाजिट तथा ऋण के द्वारा प्राप्त होती है।

बैङ्किंग यूनियन में केवल समितियाँ ही हिस्से खरीद सकती हैं किन्तु सेंट्रल बैङ्कों में व्यक्ति भी हिस्से खरीद सकते हैं। साधारणतः सेंट्रल बैङ्कों के हिस्से ५० रु० से लेकर १०० रु० तक के होते हैं। समितियाँ अपने ऋण के अनुपात में हिस्से लेती हैं। साधारणतः हिस्सेदारों का दायित्व हिस्सों के मूल्य तक ही सीमित है किन्तु कुछ प्रान्तों में हिस्सेदारों का दायित्व चार गुने से लेकर दस गुने तक है। कानून के अनुसार प्रत्येक परिमित दायित्व वाली समिति को २५ प्रतिशत लाभ रक्षित कोष में जमा करना होता है। सेन्ट्रल बैङ्क इस २५ प्रतिशत के अतरिक्त अन्य कार्यों के लिए विशेष कोष जमा करते हैं।

हिस्सा पूँजी तथा रक्षित कोष तो बैङ्क की निजी पूँजी होती है, और डिपाजिट तथा ऋण उधार ली हुई पूंजी होती है। भारत के प्रत्येक प्रान्त में निजी पूँजी तथा ऋण ली हुई पूँजी का अनुपात १:८ है।

सदस्यों तथा गैर-सदस्यों की डिपॉजिट ही कार्यशील पूँजी का बड़ा भाग होती है। सेन्ट्रल बैङ्क में दो प्रकार की डिपाजिट होती है १ मुद्दती (Fixed) तथा सेविंग्स। अधिकतर सेन्ट्रल बैङ्क चालू खाता (Current acamnt) नहीं रखते। हाँ, कुछ प्रान्तों में रखते भी हैं। चालू खाता जोखिम का काम है। उसके लिए संचालकों में यथेष्ट व्यापारिक कुशलता होनी चाहिये। सेन्ट्रल बैङ्कों के पास अपनी निजी पूंजी भी बहुत कम होती

है, इस कारण भी यह बैङ्क सफलतापूर्वक चालू-खाता नहीं रख सकते। कहीं-कहीं सेविंग्स डिपॉजिट भी नहीं ली जाती। किन्तु अधिकतर यह बैङ्क सेविंग्स डिपाजिट लेते हैं। इन बैङ्कों में अधिकतर मुद्दती जमा ली जाती है। यह अधिकतर एक वर्ष के लिए जमा लेते हैं। केवल बिहार उड़ीसा में यह नियम है कि चाहे जब रुपया जमा किया जावे ३१ मई को रुपया वापस दे दिया जाता है। सेन्ट्रल बैङ्कों में अधिकतर जमींदार, नौकरी करने वाले तथा संस्थायें ही रुपया जमा करती हैं।

डिपाजिट के अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर बैङ्क ऋण भी लेते हैं। सेन्ट्रल बैङ्क इम्पीरियल बैङ्क आदि दूसरे बैङ्कों से तथा प्रान्तीय सहकारी बैङ्क और प्रान्तीय सरकार से भी ऋण लेते हैं। पञ्जाब को छोड़ कर सेन्ट्रल बैङ्क प्रान्तीय सरकार से सीधे ऋण नहीं लेते। किन्तु देशी राज्यों में सेन्ट्रल बैङ्क राज्य से ही ऋण लेते हैं। केवल मैसूर में बैङ्क राज्य से ऋण नहीं लेते।

सेन्ट्रल बैङ्क सरकारी कागज तथा प्रारम्भिक साख समितियों के प्रामिसरी नोट की जमानत पर ऋण लेते हैं। कुछ समय से इम्पीरियल बैंक ने प्रारम्भिक सहकारी समितियों को प्रामिसरी नोट पर ऋण देना बन्द कर दिया है और केवल सरकारी कागज पर ही ऋण देता है। क्योंकि सहकारी समितियों की आर्थिक दशा शोचनीय है। जहां प्रान्तीय सहकारी बैंक स्थापित हो चुके हैं वहां सेंट्रल बैंक अन्य मिश्रित पूंजी वाले व्यापारिक बैंकों (joint stock banks) तथा दूसरे सेंट्रल बैंकों से सीधा सम्बन्ध नहीं रख सकते।

सेंट्रल बैंक केवल सहकारी साख समितियों तथा गैर-साख समितियों को ही ऋण देते हैं, व्यक्तियों को ऋण नहीं देते। सहकारी समितियों के पास जमा करने के लिए अधिक पूंजी तो होती नहीं इस कारण बैंक समितियों को ऋण देने का ही कार्य अधिक करते हैं।

यह जानने के लिए कि प्रत्येक सहकारी साख समिति को अधिक से अधिक कितना ऋण देना उचित है सेंट्रल बैंक अपने से सम्बंधित साख समितियों की साख का अनुमान लगाते हैं। जो ऋण समितियों को दिया जाता है वह निश्चित वर्षों में वसूल कर लिया जाता है। ऋण की स्वीकृति देने में बहुत-सी कानूनी कार्यवाही करनी पड़ती है, इसलिए ऋण मिलने में

देर हो जाती है। इस दोष को दूर करने के लिए कुछ सेंट्रल बैंक एक रकम निश्चित कर देते हैं जिस तक समितियों को बिना किसी देरी के ऋण दे दिया जाता है, अधिक रकम के लिए नियमित कार्यवाही करनी पड़ती है। है। कुछ प्रान्तों में समितियों की सामान्य (Normal) साख (credit) निर्धारित कर दी जाती है। समिति की सामान्य साख तय करने से पूर्व उसके सदस्यों की सामान्य साख के लेखा तैयार किया जाता है, जिसमें सदस्यों की सम्पत्ति, उनकी आवश्यकता, उनकी आय तथा उनकी बचाने की शक्ति का ब्यौरा रहता है। इस लेखे के आधार पर बैंक समिति की अधिकतम साख निर्धारित कर देता है।

सेंट्रल बैंक भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न समय के लिए ऋण देते हैं। फसल उत्पन्न करने के लिए जो ऋण दिया जाता है वह एक-दो वर्ष के लिए होता है, और जो ऋण भूमि में सुधार करने के लिए अथवा पुराने ऋण को अदा करने के लिए दिया जाता है वह ५ से १० वर्षों के लिए होता है। अब यह धारणा प्रत्येक प्रान्त में जोर पकड़ती जाती है कि सेंट्रल बैंक अधिक समय के लिए ऋण नहीं दे सकते। इसके लिए भी अलग बैंक स्थापित करना चाहिए।

सेंट्रल बैंक अभी तक ८ से १२ प्रतिशत सूद समितियों से लेते रहे हैं। जब बाजार में सूद की दर बहुत घट गई तब इन बैंकों ने दर घटाई। अब यह प्रयत्न किया जा रहा है कि सूद की दर और घटाई जावे। भारतीय सहकारिता आन्दोलन की सबसे बड़ी कमी यह है कि समितियाँ ऋण को उचित समय पर नहीं चुकातीं और बहुत-सा रुपया बाकी रह जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि सदस्य अशिक्षित हैं, सहकारिता के सिद्धान्तों का उन्हें ज्ञान नहीं, वे अत्यन्त निर्धन हैं, और कभी फसल के नष्ट हो जाने के कारण भी वे कर्ज नहीं चुका पाते। यदि फसल नष्ट हो जाने से समितियां अपना ऋण नहीं चुका पातीं तो उन्हें अधिक समय दे दिया जाता है। जब कोई समिति अपना ऋण नहीं चुकाती, तो बैंक जहां तक हो सकता है रुपया वसूल करता है। यदि रुपया किसी भी प्रकार वसूल नहीं होता तो बैंक रजिस्ट्रार से समिति को तोड़ देने के लिए कहता है अथवा अदालत से डिगरी करवाता है।

जब समितियां सेंट्रल बैंक का ऋण का रुपया चुकाती हैं उस समय

बैंक के पास अधिक रुपया जमा हो जाता है। यह स्थिति वर्ष में दो से चार महीने तक रहती है। इस समय सेंट्रल बैंक प्रान्तीय सहकारी बैंकों में रुपया जमा कर देते हैं। जहां प्रान्तीय बैंक नहीं हैं वहां इम्पीरियल बैंक में रुपया जमा कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त बैंक के पास कुछ रुपया स्थायी रूप से अधिक होता है जो समितियों को ऋण देने में नहीं लगाया जा सकता। यह कोष प्रान्तीय बैंक में अधिक समय के लिए जमा कर दिया जाता है, अथवा ट्रस्टी सिक्यूरिटी में लगा दिया जाता है। इस समय सेंट्रल बैंकों की नीति यह है कि वे आवश्यकता से अधिक डिपाजिट नहीं लेना चाहते, इसलिये डिपाजिट पर सूद की दर बहुत घटा दी गई है।

सहकारिता आन्दोलन की जांच के लिए बिठाई गई मैकलेगन कमेटी ने सेंट्रल बैंकों को नकदी रखने की आवश्यकता इस प्रकार बतलाई थी। जिन बैंकों में चालू खाता तथा सेविंग्स बैंक खाता दोनों ही हों उनमें चालू खाते की रकम और सेविंग्स की ७५ प्रतिशत रकम नकदी या ऐसी सिक्यूरिटी में रखनी चाहिए, जो तुरन्त ही नकदी में परिणित की जा सकें। मुद्दती जमा (Fixed deposit) के लिए कमेटी की यह राय है कि जो डिपाजिट अगले बारह महीने में देनी हो उसकी आधी रकम नकदी में रहे। किन्तु इस नियम के अनुसार कहीं भी कार्य नहीं होता। प्रायः नकदी इससे बहुत कम रहती है।

सेंट्रल बैंक प्रति वर्ष वार्षिक लाभ का २५ प्रतिशत रक्षित कोष में जमा करके शेष हिस्सेदारों में बांट सकते हैं किन्तु सेंट्रल बैंकों के उपनियमों में अधिक से अधिक लाभ की दर निश्चित कर दी जाती है, जिससे अधिक लाभ हिस्सेदारों में नहीं बांटा जा सकता।

सेंट्रल बैंक ६ प्रतिशत से १० प्रतिशत तक लाभ बांटते हैं। अधिकतर प्रान्तों में ६ प्रतिशत लाभ ही बांटा जाता है। साधारण रक्षित कोष के अतिरिक्त कोई-कोई सेंट्रल बैंक इमारत, बहीखाता, तथा लाभ-हानि सन्तुलन के लिए विशेष कोष जमा करते हैं। रक्षित कोष का रुपया या तो सिक्यूरिटी में या प्रान्तीय बैंक में लगा दिया जाता है अथवा वह बैंक में ही रहता है और कार्यशील पूंजी की वृद्धि करता है।

सेंट्रल बैंकों की सूद की दर भिन्न भिन्न प्रान्तों में जुदा-जुदा है। किन्तु डिपाजिट पर सूद की दर, तथा प्रारम्भिक समितियों से जो सूद लिया जाता है उसमें २ से ५ प्रतिशत तक का अन्तर रहता है।

सेंट्रल बैंक अपने से सम्बन्धित समितियों की देखभाल रखते हैं तथा उन पर अपना नियंत्रण भी रखते हैं। इस कार्य के लिए उन्हें कुछ कर्मचारी रखने पड़ते हैं। यह कर्मचारी ऋण के लिए आये हुए प्रार्थना पत्रों की जांच करते हैं, जो समितियां अपने पुराने ऋण को चुकाने के लिए अधिक समय मांगती हैं उनके प्रार्थना पत्रों की जांच करते हैं और समिति को सदस्यों से रुपया वसूल कराने में सहायक होते हैं।

कहीं-कहीं सेन्ट्रल बैंकों के कर्मचारी ही सदस्यों से रुपया वसूल कर लेते हैं। ऐसी परिस्थिति में सदस्य समिति को कुछ नहीं समझता और समिति का कोई प्रभाव नहीं रहता। किसी-किसी प्रान्त में यह कर्मचारी समितियों का हिसाब रखते हैं, तथा वार्षिक सभा का आयोजन करते हैं। जहाँ नई समितियों को स्थापित करने के लिए सहकारी विभाग विशेष कर्मचारी नियुक्त नहीं करता, वहाँ यह कर्मचारी नवीन समितियों की स्थापना भी करते हैं। इसके अतिरिक्त यह लोग सहकारिता संबन्धी प्रचार कार्य भी करते हैं। किन्तु अब इनमें से कुछ कार्य प्रान्तीय इस्टिट्यूट करने लगी हैं। कुछ प्रान्तों में समितियों की देखभाल का कार्य सुपरवाइज़िङ्ग यूनियन को दिया गया है।

सेन्ट्रल बैङ्कों की आय-व्यय की जाँच सरकार द्वारा नियुक्त आय-व्यय परीक्षक करते हैं। यह परीक्षक वसूल न हुये रुपये के विषय में भी जाँच करते हैं तथा सेन्ट्रल बैङ्कों की आर्थिक स्थिति को भी देखते हैं। रजिस्ट्रार कुछ प्रश्न निश्चित करता है जिनका उत्तर तथा आय व्यय परीक्षक की रिपोर्ट रजिस्ट्रार के पास जाती है।

सेन्ट्रल बैङ्क का निरीक्षण रजिस्ट्रार तथा सहकारी विभाग के कर्मचारी करते हैं। जहाँ प्रान्तीय बैङ्क हैं वहाँ प्रान्तीय बैङ्क के मैनेजर तथा डायरेक्टर भी निरीक्षण करते हैं। किन्तु यह सर्वमान्य बात है कि सेन्ट्रल बैंकों का निरीक्षण सुचारु रूप से नहीं होता। क्योंकि रजिस्ट्रार तथा उनके कर्मचारी कुछ ही बैङ्कों का निरीक्षण कर पाते हैं प्रत्येक बैंक वार्षिक बैलेंस शीट (लेनी-देनी का लेखा) तैयार करके उसको आय व्यय परीक्षक की रिपोर्ट के सहित रजिस्ट्रार तथा हिस्सेदारों के सामने रखता है। बैलैंस शीट के अतिरिक्त प्रत्येक बैंक को लाभ-हानि का विवरण तथा आमदनी और खर्च का ब्योरा भी सरकार को प्रस्तुत करना पड़ता है।

न्ट्रल बैंक रजिस्ट्रार को तिमाही रिपोर्ट भेजते हैं, जिसमें उनकी आर्थिक स्थिति का ब्योरा रहता है। प्रायः सेन्ट्रल बैंक अपनी शाखाएँ नहीं खोलते केन्तु उन सेन्ट्रल बैंकों को जिनका क्षेत्र बहुत बड़ा है और जिनसे सम्बन्धित समितियों की संख्या अधिक है, शाखायें खोलने की आज्ञा दे दी गई है।

ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों में सब मिलाकर ६०० सेन्ट्रल बैंक हैं—पंजाब १२०, बंगाल ११७ संयुक्तप्रान्त ७०, बिहार-उड़ीसा ६८, मध्य-प्रान्त ३५ मदरास ३०, आसाम २० बम्बई ११ तथा शेष देशी राज्यों में हैं। इन सेन्ट्रल बैंकों के लगभग ८०,००० व्यक्ति और १४०,००० समितियाँ सदस्य हैं। समस्त कार्यशील पूंजी (working capital) २६ करोड़ रुपये से ऊपर है जिससे हिस्सा-पूंजी ६ प्रतिशत, रक्षित कोष १४ प्रतिशत, डिपाजिट ५६ प्रतिशत, प्रान्तीय बैंक से लिया हुआ ऋण १८ प्रतिशत तथा सरकार से लिया हुआ ऋण १½ प्रतिशत है। ऊपर के आंकड़ों को देखने से ज्ञात होता है कि सेन्ट्रल बैंकों के पास २३ प्रतिशत के लगभग उनकी निजी पूँजी है। परन्तु रक्षित कोष इनकी भी ठीक स्थिति को नहीं बतलाते क्योंकि बहुत-सी साख समितियां जो इन बैंकों से रुपया उधार लेती हैं वे अपना ऋण अदा नहीं करेंगी और वह हानि बैंकों को उठानी पड़ेगी।

मदरास, बम्बई, मध्यप्रान्त तथा बरार के सेन्ट्रल बैंकों का क्षेत्र विस्तृत है। परन्तु बंगाल, बिहार, उड़ीसा और पंजाब में एक बहुत छोटे क्षेत्र (ताल्लुका) में एक बैंक होता है। संयुक्तप्रान्त में कुछ जिलों में तो प्रत्येक तहसील में एक बैंक है और कुछ में केवल एक बैंक ही कार्य करता है।

आंकड़ों के देखने से ज्ञात होता है कि सेन्ट्रल बैंक उधार पूंजी (डिपाजिट और कर्ज) का ६० प्रतिशत समितियों को उधार दे देते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि सेन्ट्रल बैंक अपेक्षाकृत कम नकदी रखते हैं; यह व्यापारिक दृष्टि से ठीक नहीं है। यद्यपि वसूल न होने वाले ऋण के आंकड़े प्राप्त नहीं हैं किन्तु यह निश्चित है कि सेन्ट्रल बैंकों का बहुत-सा रुपया मारा जावेगा, क्योंकि साख समितियों की स्थिति ठीक नहीं है।

मोटे तौर पर मदरास, बम्बई और पंजाब के सेन्ट्रल बैंकों की आर्थिक स्थिति अच्छी है। बिहार, बंगाल, उड़ीसा, मध्यप्रान्त और बरार के सेन्ट्रल बैंकों की स्थिति अत्यन्त चिन्ताजनक हो गई थी किन्तु उनका जीर्णोद्धार करने का प्रयत्न हो रहा है। इन प्रान्तों में बहुत से बैंकों को तो

अपना कारोबार इसलिए बंद कर देना पड़ा कि वे डिपाजिट करने वालों को उनका रुपया देने में असमर्थ थे। उत्तरीय उड़ीसा के सेन्ट्रल बैंकों ने अपना प्रबंध रजिस्टार के हाथ में ६ वर्षों के लिए सौंप दिया। इन प्रान्तों में सेन्ट्रल बैंकों की असफलता के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं:—समितियों को अंधाधुंध ऋण देना, दोषपूर्ण निरीक्षण, बैंकिंग सिद्धान्तों की अवहेलना और प्रारम्भिक समितियों का दोषपूर्ण संगठन। अन्य प्रान्तों में समितियों की स्थिति साधारण है।

प्रान्तीय सहकारी बैंक या सर्वोपरि बैंक

(Provincial co operative banks or apox-banks)

देश में सहकारिता आन्दोलन के क्रमशः फैलने पर यह अनुभव होने लगा कि केवल सेन्ट्रल बैंक, आन्दोलन को जितनी पूंजी की आवश्यकता होती है उसका उचित प्रबन्ध नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त सेन्ट्रल बैंकों का नियंत्रण तथा उनके द्वारा साख समितियों की आवश्यकता पूंजी का प्रबंन्ध करने के लिए भी प्रान्तीय बैंकों की आवश्यकता प्रतीत हुई। मैकलेगन कमेटी ने, जो १९१५ में सहकारिता आन्दोलन की जांच करने के लिए बिठाई गई थी, प्रत्येक प्रान्त में प्रान्तीय बैंकों का आपस में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए ऐसी संस्था की अत्यन्त आवश्यकता थी। प्रान्तीय बैंकों से पूर्व यह कार्य रजिस्ट्रार करता था। यदि किसी सेन्ट्रल बैंक को पूंजी की अधिक आवश्यकता होती तो रजिस्ट्रार सूचना पाने पर प्रान्त के प्रत्येक सेन्ट्रल बैंक को गश्ती चिट्ठी लिख देता था। पर इससे रजिस्ट्रार का उद्देश्य ठीक तरह से पूरा नहीं हो पाता था और साथ ही उसका बहुत सा समय इस कार्य में लग जाता था। कुछ सेन्ट्रल बैंक ऐसे थे जो अपनी आवश्यकता से अधिक पूंजी आकर्षित कर लेते थे और कुछ ऐसे भी थे जिनको यथेष्ट पूंजी नहीं मिल पाती थी। इसलिए ऐसे प्रान्तीय बैंकों की नितान्त आवश्यकता थी कि जो पहले प्रकार की बैंकों की अतिरिक्त पूंजी को जमा करें और दूसरे प्रकार के बैंकों को पूंजी दें। इसके अतिरिक्त द्रव्य-बाजार (money market) तथा सहकारिता आन्दोलन के बीच में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए भी प्रान्तीय बैंकों की आवश्यकता प्रतीत हुई।

भारतवर्ष में इस समय निम्नलिखित प्रान्तीय सहकारी बैंक कार्य कर रहे हैं:—मदरास, बम्बई, सिंध, पंजाब, बंगाल, बिहार, मध्यप्रान्त और बरार तथा आसाम। अभी तक केवल संयुक्तप्रान्त ही एक बड़ा प्रान्त था कि जहाँ प्रान्तीय बैंक नहीं था किन्तु १९४५ के जनवरी मास में वहाँ भी प्रान्तीय बैंक स्थापित हो गया है। देशी राज्यों में हैदराबाद और मैसूर के सर्वोपरि बैंक प्रान्तीय सहकारी बैंकों की श्रेणी में आते हैं। यों इंदौर, ट्रावंकोर, ग्वालियर, बड़ौदा, काश्मीर, और भोपाल में भी कोई बड़ा सेन्ट्रल बैंक इस कार्य के लिए चुन लिया गया है और वह सर्वोपरि बैंक का काम करता है।

सदस्यता

इन बैंकों का संगठन एक-सा नहीं है और न इन सब बैंकों में सदस्यता ही एक सी है। पंजाब और बंगाल को छोड़कर और सब प्रान्तों में व्यक्ति भी इन बैंकों के सदस्य होते हैं बंगाल और पंजाब में व्यक्ति इन बैंकों के हिस्सेदार नहीं हो सकते। वहाँ केवल सेन्ट्रल बैंक तथा सहकारी साख समितियाँ ही प्रान्तीय बैंक के सदस्य हो सकते हैं। व्यक्तियों के अतिरिक्त बम्बई, पंजाब, बिहार, मध्यप्रान्त बरार, आसाम में प्रारम्भिक समितियाँ और सहकारी सेन्ट्रल बैंक प्रान्तीय बैंक के सदस्य होते हैं। मदरास प्रान्तीय बैंक के सदस्य केवल सेन्ट्रल बैंक ही हो सकते हैं, प्रारम्भिक साख समितियाँ नहीं हो सकती। बंगाल और बिहार में यद्यपि कुछ प्रारम्भिक सहकारी साख समितियाँ सदस्य हैं परन्तु व्यवहार में वहाँ भी केवल सेन्ट्रल बैंक ही उनके सदस्य हैं। सिन्ध में कोई सेन्ट्रल बैंक नहीं है इसलिए वहाँ के प्रान्तीय बैंक के सदस्य व्यक्ति तथा प्रारम्भिक सहकारी समितियां ही है। इस मिश्रित सदस्यता के कारण साधारण सभाओं की बैठक तथा उसमें वोट किस प्रकार दी जावे इससे बड़ी उलझन होती है यही कारण है कि मदरास सहकारिता कमेटी (१९४०) ने व्यक्तियों को सदस्य न रखने की सिफारिश की है।

संचालन

प्रान्तीय बैंक को भलीभांति चलाने के लिए व्यापारिक बुद्धि तथा बैंकिंग की योग्यता चाहिए। इसलिए बैंक के डायरैक्टरों या संचालकों में

इन गुणों वाले व्यक्ति होने चाहिए। किन्तु संचालक बोर्ड में व्यापारियों और व्यवसायियों को प्रधानता देने से सम्भव है कि सहकारिता के हितों की रक्षा न हो। इसलिए डाइरेक्टरों में प्रधानता तो सहकारितावादियों की ही रहनी चाहिए, किन्तु कुछ ऐसे बैंकिंग की योग्यता रखने वालों को भी ले लेना चाहिए जिन्हें सहकारिता आन्दोलन से सहानुभूति हो। यह तो हुई सिद्धान्त की बात। अब देखना यह है कि हमारे प्रान्तीय बैंकों का संचालन कैसे होता है।

भिन्न-भिन्न बैंकों के संचालक — बोर्ड का निर्माण उनके अपने अपने नियमों द्वारा होता है। दो या तीन प्रान्तीय बैंकों के अतिरिक्त और सबमें हिस्सेदारों के बाहर से भी डाइरेक्टरों को नियुक्त करने की परिपाटी प्रचलित है। पंजाब में सहकारिता विभाग का रजिस्ट्रार तथा सहकारिता विभाग का आर्थिक सलाहकार पदेन (पद के कारण) डायरेक्टर होते है। बंगाल में रजिस्ट्रार बोर्ड में तीन व्यक्तियों को मनोनीत करना है। मध्यप्रान्त तथा बरार के प्रान्तीय बैंक के बोर्ड में रजिस्ट्रार तथा प्रान्तीय सरकार का फाइनेंस सेक्रेटरी पदेन डाइरैक्टर होता है। बिहार में रजिस्ट्रार डाइरैक्टर होता है। वहां सहकारिता आन्दोलन के पुनर्निर्माण में बैंक प्रान्तीय सरकार के नियंत्रण में दे दिया गया। प्रान्तीय सरकार जिस व्यक्ति को प्रान्तीय बैंक का सलाहकार नियुक्त करेगी वही उसका (उस समय के लिए जब तक कि बैंक सरकार के नियंत्रण में रहेगा) मैनेजिंग डाइरेक्टर होगा सिंध प्रान्तीय बैंक में भी मनोनीत डाइरेक्टर होते हैं। मदरास बम्बई और आसाम में मनोनीत डाइरेक्टर नहीं होते। मदरास में रजिस्ट्रार को पदेन प्रान्तीय बैंक का डाइरेक्टर बनाने का प्रयत्न हो रहा है।

कार्यशील पूँजी (Working capital)

प्रान्तीय बैंकों की कार्यशील २० करोड़ रुपये के लगभग है, जिसमें १६ प्रतिशत उनकी निज की और शेष उधार ली हुई हैं। उधार ली हुई पूंजी में समितियों तथा सेन्ट्रल बैंकों की डिपाजिट तथा व्यक्तियों की डिपाजिट मुख्य हैं। प्रान्तीय बैंक चालू (Current) सेविंग्स तथा मुद्दती (Fixed) तीनों प्रकार की डिपाजिट लेते हैं। अधिकांश डिपाजिट एक से तीन वर्ष के लिए ली जाती है। जो बैंक इससे अधिक समय के लिए डिपाजिट लेते थे उन्हें अब कठिनाई का अनुभव हो रहा है।

क्योंकि पिछले वर्षों में सूद की दर तेजी से घटती गई है। प्रान्तीय बैंकों की साख अच्छी है, वे सहकारिता आन्दोलन और बाहर से भी डिपाजिट आकर्षित करते हैं। जहाँ तक सूद देने का प्रश्न है वे अन्य व्यापारिक बैंकों की अपेक्षा अधिक सूद नहीं देते। द्रव्य बाजार के अनुसार यह बैंक भी अपनी सूद की दर निर्धारित करते हैं।

जी लगाना

रिजर्व बैंक ने प्रान्तीय सहकारी बैंकों में यह दोष बतलाया है कि वे नकदी रुपया और शीघ्र भेज सकने वाली लेनी (Assets) यथेष्ट नहीं रखते और आवश्यकता से अधिक रुपया बाहर लगा देते हैं। उससे प्रान्तीय बैंकों को राय दी थी कि वे अपनी (Liabilties) देनी का ४० प्रतिशत नकदी अन्य बैंकों में रक्खें। भिन्न-भिन्न प्रान्तीय सरकारों ने भी कुछ नियम बना दिये हैं, जिनके अनुसार प्रान्तीय बैंकों को अपनी देनी के एक निश्चत अनुपात में नकदी तथा शीघ्र भेज सकने वाली लेनी (Assets) रखनी पड़ती हैं। प्रान्तीय बैंक व्यवहार में २० से ५० प्रतिशत कार्यशील पूंजी सरकारी सिक्यूरिटी में लगाते हैं। कुछ रुपया अन्य व्यापारिक बैंकों तथा प्रान्तीय बैंकों में जमा करते हैं, कुछ नकदी अपने पास रखते हैं और शेष अपने सदस्यों को उधार देते हैं।

जहाँ तक रुपया लगाने का प्रश्न है, रिजर्व बैंक का दोषारोपण उचित नहीं मालूम देता। रिजर्व बैंक ने प्रान्तीय बैंकों को यह सलाह दी कि उन्हें अपने सदस्यों को ६ महीने से एक वर्ष तक के लिए ही ऋण देना चाहिए; बहुत लम्बे समय के लिए न देना चाहिए। यद्यपि रिजर्व बैंक की इस सलाह को प्रान्तीय बैंक पूरी तरह से नहीं मान सके; फिर भी वे अब प्रायः उत्पादन और खेती की पैदावार के खरीद-बिक्री के लिए ही थोड़े समय के लिए ऋण देते हैं। बंगाल प्रान्तीय बैंक तो फसलों को उत्पन्न करने के लिए केवल कम समय के लिए ही ऋण देने लगा है। परन्तु किसान को साख की जितनी आवश्यकता कम समय के लिए है, उतनी ही मध्यम समय के लिए अर्थात दो या तीन वर्षों के लिए भी है। अतएव प्रान्तीय बैंकों को इन दोनों प्रकार की साखों को देना चाहिए। यदि प्रान्तीय सहकारी बैंक अपनी निजी पूंजी का ध्यान रखने के साथ डिपाजिटों

के समय का ध्यान रक्खें तो वे कम समय और मध्यम समय के लिए साख का प्रबंध बिना किसी कठिनाई के कर सकते हैं। हां लम्बे समय—१० से २५ वर्षों—तक के लिए वे साख नहीं दे सकते, उसके लिए भूमि बंधक बैंक ही उपयुक्त संस्था है।

जहां तक सदस्यों को ऋण देने का प्रश्न है उसमें भी सब प्रान्तीय बैंक एक-सा व्यवहार नहीं करते। बम्बई प्रान्तीय बैंक मुख्यतः प्रारम्भिक साख समितियों को अपनी शाखाओं के द्वारा ऋण देता है केवल सेन्ट्रल बैंकों से ऋण लेता है। जहाँ तक सेन्ट्रल बैंकों का प्रश्न है प्रान्तीय बैंक संतुलन केन्द्र है और उन्हें समय पड़ने पर ओवर ड्राफ्ट (जमा से अधिक निकालने की स्वीकृति) इत्यादि देता है। अब कुछ समय से प्रान्तीय बैंक 'बी' श्रेणी के सदस्यों को भी ऋण देने लगा है। यह ऋण लेने वाले उन साख समितियों के सदस्यों में से होते हैं, जो प्रान्तीय बैंक से सम्बंधित हैं और वे अपनी पैदावार की जमानत पर ऋण लेते हैं। बम्बई प्रान्तीय बैंक औद्योगिक सहकारी समितियों को भी उनके तैयार माल या कच्चे माल की जमानत पर ऋण देता है। मदरास बैंक केवल सेन्ट्रल बैंकों से ही कारबार करता है वह प्रारम्भिक साख समितियों से कोई मतलब नहीं रखता। लेकिन ऋण देने के बारे में वहाँ भी एक नियम बनाकर सदस्यों तथा गैर सदस्यों को भी सरकारी सिक्युरिटी, रिज़र्व बैंक तथा इम्पीरियल बैंक के हिस्सों तथा मदरास प्रान्तीय बैंक में उनकी डिपाजिट की जमानत पर ऋण देने की सुविधा कर दी गई है। पंजाब प्रान्तीय बैंक व्यक्तियों को केवल बैंक में उनकी डिपाज़िट पर ही ऋण देता है। सिंध में कोई सेन्ट्रल बैंक न होने से प्रान्तीय बैंक सीधे सहकारी साख समितियों को ही ऋण देता है। यद्यपि पंजाब, बिहार, मध्यप्रान्त और बरार के प्रान्तीय बैंकों के सदस्य सेन्ट्रल बैंक और प्रारम्भिक समितियाँ दोनों ही हैं, वे ऋण सेन्ट्रल बैंक को ही देते हैं।

प्रान्तीय बैंकों की आर्थिक मजबूती उनके दिये हुए ऋण की जमानत पर निर्भर है, और अन्त में उस जमानत की मजबूती इस बात पर निर्भर है कि जो रुपया किसान को समितियों द्वारा दिया गया है वह वसूल किया जा सकता है या नहीं। प्रारम्भिक साख सहकारी समितियों को अपने दिये हुए रुपये को वसूल करने की योग्यता ऋण लेने वाले सदस्य

की ऋण अदा करने की योग्यता तथा अन्य बहुत से कारणों पर निर्भर है। इनमें से कुछ तो निश्चित हैं कुछ अनिश्चित, कुछ का नियंत्रण हो सकता है और कुछ का नहीं हो सकता, कुछ प्रकृति पर निर्भर हैं तो कुछ मनुष्य की मनमानी पर। इन विविध कारणों से हमारे ग्राम निवासियों का कारबार घाटे का है। जितना व्यय होता है उससे कम आय होती है। सहकारी समितियों के कुछ सदस्य तो ऐसे हैं जिनका काम बिना ऋण लिए चल ही नहीं सकता। बहुतों की निर्धनता ही ऋणी होने का प्रधान कारण है। बहुत से ईमानदार सदस्य भी अपना ऋण नहीं चुका पाते क्योंकि वे नितान्त ही असमर्थ हैं। यही सहकारी साख आन्दोलन की निर्बलता है।

प्रान्तीय बैंकों की लगभग वही दशा है जो सहकारी साख समितियों की है। ऋण बहुत समय हो गया चुकाये नहीं गए। ऐसे कर्ज की रकम बढ़ती जा रही है जो वसूल नहीं हो सकेंगे। और जो जमानत कर्ज के लिए दी गई थी बैंकों की उसे जब्त करना पड़ा है। कुछ कम-ज्यादा यह स्थिति सब जगह मौजूद है। बरार में तो प्रान्तीय बैंक के पास कर्ज के बदले भूमि आगई जिसके खरीदार ही नहीं मिले। बरार, बंगाल और बिहार में प्रारम्भिक सहकारी समितियों की (लेनी—assets) जमानत को जब्त करने का आन्दोलन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है। वहाँ आन्दोलन के पुनः निर्माण का कार्य चल रहा है। आसाम में स्थिति बहुत खराब है। वहाँ के रजिस्ट्रार ने भी आन्दोलन के पुनः निर्माण की आवश्यकता बतलाई है। युद्ध से उत्पन्न हुई परिस्थिति में खेती की पैदावार का मूल्य बेहद बढ़ गया है और किसान पर ऋण का भार कुछ हल्का हो गया है। ऐसी दशा में स्थिति के संभल जाने की पूर्ण आशा है।

इस सम्बंध में एक बात महत्वपूर्ण है जिसको हमें भूल न जाना चाहिए। जिन प्रान्तों में, विशेषकर बम्बई और पंजाब में, प्रान्तीय बैंकों ने लम्बे समय के लिए ऋण देने का प्रयत्न किया और इस अभिप्राय से भूमि बंधक बैंकों को ऋण देने के लिए डिबेंचर बेचे, वे कठिनाई में पड़ गए। पंजाब और आसाम में प्रान्तीय बैंक ही प्रारम्भिक भूमि बंधक बैंकों को ऋण देते थे, किन्तु अब वहां भूमि बंधक बैंक काम ही नहीं करते, इस लिए लम्बे समय के लिए ऋण देने का प्रश्न ही नहीं उठता। मदरास में एक सेन्ट्रल भूमि बंधक बैंक है, जो प्रान्त भर के सभी भूमि बंधक बैंकों को

ऋण देता है। अतएव वहां प्रान्तीय बैंक को इसके लिए पृथक विभाग रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती। मध्यप्रान्त और बरार का प्रान्तीय सहकारी बैंक भूमि बंधक बैंकों को भी ऋण देता है, इस कारण उसने इस कार्य के लिए एक अलग विभाग स्थापित कर दिया है। बंगाल में प्रान्तीय बैंक सरकार की गारंटी पर ही भूमि बंधक बैंकों को ऋण देता है।

प्रान्तीय बैंक और सेन्ट्रल बैंक

प्रान्तीय सहकारी बैंकों तथा सेन्ट्रल बैंकों का सम्बंध भिन्न-भिन्न प्रान्तों में जुदा-जुदा है। सेन्ट्रल बैंकों पर कोई नियंत्रण नहीं रखते सेन्ट्रल बैंक अपना रुपया प्राय: प्रान्तीय बैंक में अथवा सुदृढ़ व्यापारिक बैंकों में जमा करते हैं। मदरास प्रान्त में सेन्ट्रल बैंक अपना सारा रक्षित कोष (Reserve Fund) प्रान्तीय सहकारी बैंकों में जमा करते हैं। बम्बई प्रान्तीय बैंक सहकारी संस्थाओं की मुद्दती जमा (Fixed Deposit) पर व्यक्तियों से अधिक सूद देता है। वहां प्रान्तीय बैंक के नेतृत्व में बम्बई सहकारी बैंक ऐसोसियेशन स्थापित की गई है, जो सेन्ट्रल बैंकों को सम्बद्ध करती है। मदरास में प्रान्तीय बैंक सेन्ट्रल बैंकों का वार्षिक सम्मेलन करता है, जिसमें उन बैंकों की नीति और उनके सम्बंध में विचार होता है। मदरास प्रान्तीय बैंक ने सम्बंधित सेन्ट्रल बैंकों का, अपने डायरेक्टरों द्वारा निरीक्षण करने की परिपाटी पहले ही स्थापित कर दी थी। किन्तु अब मदरास सहकारिता कानून के अनुसार उसके कर्मचारी उन बैंकों का निरीक्षण कर सकेंगे। मध्यप्रान्त में भी प्रान्तीय बैंक अपने इंस्पेक्टर द्वारा सम्बंधित सेन्ट्रल बैंकों का निरीक्षण कराता है।

उन सभी प्रान्तों में जहां प्रान्तीय बैंक स्थापित हैं सेन्ट्रल बैंक एक दूसरे को सीधे कर्ज नहीं दे सकते। वास्तव में प्रान्तीय बैंकों का कार्य तो यह है कि वे सेन्ट्रल बैंकों के सन्तुलन-केन्द्र का काम करें, उन्हें बैंकिंग, द्रव्य - बाजार, ऋण देने और सूद की दर निर्धारित करने के सम्बंध में परामर्श दें। यद्यपि प्रान्तीय बैंकों का सेन्ट्रल बैंकों पर नियन्त्रण वांछनीय नहीं है, प्रान्तीय बैंकों द्वारा उनका नियंन्त्रण आवश्यक है।

प्रान्तीय बैंक और सहकारिता विभाग

पिछले दिनों इस प्रश्न को लेकर बहुत खींचातानी रही कि सहकारिता विभाग के रजिस्ट्रार का और प्रान्तीय बैंकों का क्या सम्बंध हो।

कहीं-कहीं रजिस्ट्रार द्वारा बहुत हस्तक्षेप और कड़ा नियन्त्रण होता है। इससे बड़ी उलझन उत्पन्न होती है। बंगाल, बिहार और मध्यप्रान्त में सेन्ट्रल बैंकों में रुपया जमा करने वालों का अधिकांश रुपया मारा गया क्योंकि प्रारम्भिक साख समितियों से ऋण वसूल नहीं किया जा सका। वहाँ यह प्रश्न उठाया गया कि यह रुपया सरकार दे क्योंकि समितियों को वह रुपया सहकारिता विभाग की सिफारिश पर दिया गया था जो सरकार का एजेंट है। बर्मा में प्रान्तीय बैंक जब (१९२८-२९) अपने डिपाजिटरों का रुपया अदा नहीं कर सका तो वहाँ की सरकार को ३० लाख रुपया देना पड़ा। इसी प्रकार की स्थिति बंगाल में उत्पन्न होगई जबकि सहकारिता विभाग के रजिस्ट्रार ने प्रान्तीय बैंक को जूट विक्रय समितियों को ऋण देने की सिफारिश की और वे समितियां ऋण अदा न कर सकीं। फलतः सरकार को २४ लाख रुपये, प्रान्तीय बैंक की क्षतिपूर्ति के देने पड़े। परन्तु बंगाल, बिहार तथा मध्यप्रान्त और बरार में सेन्ट्रल बैंकों को जो भीषण क्षति उठानी पड़ी उसे देना सरकार ने मंजूर नहीं किया। प्रान्तीय बैंक के कार्य में रजिस्ट्रार या सहकारिता विभाग के अधिक हस्तक्षेप करने से केवल यही उलझन उत्पन्न नहीं होती, वरन रजिस्ट्रारों के बदलते रहने और उनकी नीति भिन्न-भिन्न होने के कारण प्रान्तीय बैंक की नीति भी बदलती रहती है। अस्तु आवश्यकता इस बात की है कि रजिस्ट्रार और उसका विभाग केवल अपनी राय और सलाह प्रान्तीय बैंक को दे। यह भी आवश्यक है कि रजिस्ट्रार बैंक का डायरेक्टर न हो। प्रान्तीय बैंक ऋण देने या न देने का निर्णय स्वयं करे।

प्रान्तीय बैंक और रिज़र्व बैंक

बैंकों और उनसे सम्बंधित बैंकों को सरकारी सिक्यूरिटी (कागज) की जमानत पर नकद साख देता है परन्तु जहाँ तक सहकारी कागज (Co-operative paper) को भुनाने का प्रश्न है, प्रान्तीय बैंक और सेन्ट्रल बैंक जब रिजर्व बैंक की इच्छानुसार अपनी आर्थिक स्थिति और कारबार को बना लेंगे तभी वह उनके सहकारी कागज को भुनाने की सुविधा प्रदान करेगा। इस कार्य के लिए रिजर्व बैंक ने सेन्ट्रल बैंकों को प्रान्तीय सहकारी बैंक की ब्रांच मान लिया है। कुछ प्रान्तीय बैंकों ने रिजर्व बैंक की योजना को स्वीकार कर लिया है और वे उसमें सम्मिलित हो गए हैं।

रिजर्व बैंक ने प्रान्तीय बैंकों को अपना बैलैंस-शीट (लेनीदेनी का लेखा) एक निश्चित रूप में तैयार करने को कहा है और कुछ बैंक वैसा करने भी लगे हैं। जैसे-जैसे प्रान्तीय बैंक रिजर्व बैंक की इच्छानुसार अपने कारबार में सुधार करते जावेंगे वैसे ही वैसे आपसी सम्बन्ध घनिष्ट होता जावेगा। यद्यपि रिजर्व बैंक की स्थापना से सहकारी बैंकों को अभी तक वे सुविधाएँ नहीं मिली हैं जो वे चाहते थे, परन्तु अब अखिल भारतवर्षीय सहकारी या सर्वोपरि बैंक की आवश्यकता नहीं रही।

आडिट

प्रान्तीय बैंकों का हिसाब सहकारिता विभाग को जांचना चाहिए, क्योंकि सहकारिता कानून के अनुसार रजिस्ट्रार का यह मुख्य कार्य है। परन्तु बहुत से प्रान्तों के रजिस्ट्रारों ने प्रान्तीय बैंकों को अपना हिसाब पेशेवर आडिटरों से जंचवाने की आज्ञा दे दी है। किसी किसी प्रान्त में पेशेवर आडिटरों द्वारा आडिट हो जाने पर प्रान्त का सहकारिता विभाग फिर आडिट करवाता है। आय-व्यय परीक्षा के अतिरिक्त इन बैंकों का तिमाही लेखा रजिस्ट्रार के द्वारा प्रान्तीय सरकार को भेजना पड़ता है। प्रान्तीय सरकार उस पर अपना मत प्रगट करती है।

अखिल भारतीय प्रान्तीय सहकारी बैंक एशोसियेसन

इस संस्था को सन् १९२६ में जन्म दिया गया। इसका मुख्य कार्य यह है कि प्रत्येक सदस्य बैंक की कार्यशील पूंजी के बाहुल्य तथा कमी के आंकड़ों को जमा करे और सब सदस्यों को सूचित कर दे। जिससे कि किस बैंक को पूंजी की आवश्यकता है और कौन बैंक पूंजी दे सकता है, यह सब ज्ञात हो जावे। सदस्य को बैंकों के आर्थिक प्रश्नों पर राय देना, तथा उनकी सहायता करना, प्रान्तीय बैंकों की समय-समय पर कान्फ्रेंस बुलाना, और उसमें प्रान्तीय बैंकों तथा साख आन्दोलन के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करना भी इस संस्था के कार्य हैं। जब कभी प्रान्तीय बैंकों को सरकार या रिजर्व बैंक का ध्यान किसी विशेष बात की ओर आकर्षित करना होता है तो यह संस्था उनसे लिखा पढ़ी करती है।

प्रान्तीय बैंक सहकारी साख आन्दोलन के सन्तुलन केन्द्र होने के अतरिक्त वे सभी कार्य करते हैं जो व्यापारिक बैंक करते हैं जैसे हुंडी पुर्जे

का भुनाना इत्यादि। साधारणतः प्रान्तीय बैंकों की शाखायें नहीं होतीं किन्तु बम्बई प्रान्तीय बैंक ने उन क्षेत्रों में जहाँ सेन्ट्रल बैंक नहीं हैं अपनी शाखायें खोल दी हैं जो उस क्षेत्र की प्रारम्भिक साख समितियों को ऋण देती हैं।

सहकारी भूमि बंधक बैंक

(Co-oprative Land mortgage Banks)

पहले बताया जा चुका है कि किसान को साधारण खेती-बारी के कारबार को चलाने के लिए थोड़े समय और मध्यम समय के लिए ऋण की आवश्यकता पड़ती है। इसके अन्तर्गत वह सभी ऋण आ जाता है जो पशु, बीज, खाद, हल तथा अन्य औजार खरीदने के लिए, लगान देने के लिए, तथा कुटुम्ब के पालन के लिए लिया जाता है। इसके अतिरिक्त किसान को पुराने ऋण चुकाने के लिए, भूमि की चकबन्दी करने और उसको उपजाऊ बनाने के लिए कुआं खोदने, अपने खेतों पर रहने के लिए मकान बनाने के लिए तथा कीमती यंत्र खरीदने के लिए अधिक समय के लिए ऋण चाहिए।

ग्राम सहकारी साख समितियां किसानों को थोड़े समय और मध्यम समय के लिए ऋण देती हैं। आरम्भ में सहकारिता आन्दोलन का आरम्भ हुआ था तो लोगों की यह धारणा थी कि साख समितियाँ अधिक समय के लिए भी साख दे सकेंगी। यह केवल धारणा ही नहीं थी, साख समितियों ने अधिक समय के लिये ऋण दिया भी। किन्तु न तो साख समितियों के पास इतनी पूँजी थी कि वे सदस्यों के पुराने ऋण को चुका सकें और न ऐसा करना उनके हित में ठीक था इस कारण साख समितियों ने अधिक समय के लिए ऋण देना बंद कर दिया अधिकतर प्रान्तीय बैंकिंग इनक्वयारी कमेटियों की यह सम्मति थी कि स्थिर सम्पत्ति को बंधक रखकर अधिक समय के लिए ऋण देना ग्राम साख समितियों के लिए ठीक नहीं है। एक तो साख समितियों को स्थिर सम्पत्ति की जमानत पर ऋण देने से व्यक्तिगत साख का महत्व चले जाने की सम्भावना है जो सहकारिता के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। दूसरे सेन्ट्रल बैंक तथा ग्राम साख समितियों में डिपाजिट थोड़े समय के लिए होती हैं, और थोड़े समय के लिए जमा किये हुए रुपये से अधिक समय के लिए ऋण देना जोखिम से खाली नहीं है। बैंकिंग के सिद्धान्त के भी विरुद्ध है। तीसरे अधिक समय के लिये ऋण देने में

सम्पत्ति की जमानत लेते समय उनके मूल्य के आंकने तथा उनके स्वामित्व के विषय में जाँच करने के लिए अनुभवी कार्यकर्ताओं और कर्मचारियों की आवश्यकता होगी। जो ग्रामीण समितियों के पास नहीं हैं। इसके अतिरिक्त एक कठिनाई यह भी है कि भूमि बंधक रखने पर उसके सम्बन्ध के कागज ग्राम समितियों के पास रखने में जोखिम है। और अन्त में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि सदस्यों के ऋण न चुकाने पर समिति की पूंजी फँस जावेगी और समिति को सदस्य के विरुद्ध डिगरी करा कर उस भूमि को नीलाम करवाना होगा। यह सब कानूनी काम ग्राम समिति सफलतापूर्वक नहीं कर सकती।

प्रान्तीय बैंकिंग इनक्वायरी कमेटियों, प्रान्तीय बैंकों, सेन्ट्रल बैंकिंग इनक्वायरी कमेटी, तथा रिजर्व बैंक सभी का यह मत है कि प्रारम्भिक सहकारी साख समितियाँ, सेन्ट्रल बैंक तथा प्रान्तीय बैंक थोड़े समय के लिए ही ऋण दे सकती हैं। इस कारण अब साख समितियाँ लम्बे समय के लिए ऋण बिलकुल नहीं देतीं। इसके लिए भूमि बंधक बैंक अधिक उपयुक्त हैं।

भूमि बंधक बैंक दो प्रकार के होते हैं —१. सहकारी २. गैर-सहकारी। सहकारी भूमि बंधक बैंक के सदस्य ऋण लेने वाले होते हैं; बैंक की अपनी पूंजी नहीं होती। जो भूमि बंधक रख दी जाती है, उसकी जमानत पर बंधक बांड (मारगेज बाँड) बेचे जाते हैं और उनसे पूंजी प्राप्त की जाती है। यह बैंक लाभ को लक्ष्य करके कार्य नहीं करते, वरन सूद की दर को घटाने का प्रयत्न करते हैं।

गैर सहकारी — भूमि बंधक मिश्रित पूंजी (Joint stok)के होते हैं। जिस प्रकार अन्य व्यापारिक बैंक लाभ की दृष्टि से स्थापित किये जाते हैं वैसे ही यह बैंक भी हिस्सेदारों की सम्पत्ति होते हैं और लाभ की दृष्टि से चलाये जाते हैं। किसान इत्यादि अपनी भूमि बंधक रख कर ऋण लेते हैं। इस प्रकार के बैंक योरोपीय देशों में सर्वत्र स्थापित किये गए हैं, किन्तु राज्य उन पर नियंत्रण रखता है; जिससे वे ऋण लेने वालों का अधिक शोषण न कर सकें।

भारतवर्ष में बड़े जमींदारों के लिए गैर-सहकारी तथा किसानों के लिए सहकारी भूमि बंधक बैंक उपयुक्त होंगे। किन्तु भारत में जो भूमि बंधक बैंक स्थापित किये गये हैं वे पूर्ण रूप से सहकारी नहीं

कहे जा सकते इस समय जो भी बैंक हैं वे परिमित दायित्व (Limited Liability) वाली संस्थाएं हैं, उनके सदस्य अधिकतर ऋण लेने वाले ही होते हैं। किन्तु कुछ सदस्य ऐसे भी ले लिए जाते हैं जो ऋण लेने वाले नहीं होते। इन सदस्यों को बैंक के प्रबंध में सहायता पहुँचाने तथा पूंजी को आकर्षित करने के उद्देश्य से लिया जाता है। यह लोग प्रान्त के प्रसिद्ध व्यापारी होते हैं। क्रमशः ऐसे सदस्यों को हटा देने की नीति है जिससे बैंक पूर्ण रूप से सहकारी संस्था बन जावे।

सन् १९२६ में रजिस्ट्रार सम्मेलन ने एक प्रस्ताव द्वारा भूमि बंधक बैंक की एक योजना तैयार की थी, वह इस प्रकार है—

बैंक के उद्देश्य

(१) किसानों की भूमि तथा मकानों को छुड़ाना (२) खेती की भूमि तथा खेती बारी के धंधे की उन्नति करना तथा किसानों के मकानों को बनवाना (३) पुराने ऋण को चुकाना तथा (४) भूमि को खरीदने के लिए रुपया देना।

भूमि बंधक बैंक का कार्यक्षेत्र छोटा होना चाहिए। किन्तु इतना छोटा भी न हो कि उसका ठीक प्रबंध न हो सके। यह नियम न बनाया जावे कि ऋण केवल साख समितियों को ही दिया जावेगा; हां, यदि ऋण लेने वाला साख समिति का सदस्य हो तो उसके विषय में समिति का मत ले लिया जावे, किन्तु समिति पर उस ऋण का कोई उत्तरदायित्व न रहे।

सदस्य को उसकी सम्पत्ति के आधे से अधिक ऋण नहीं दिया जा सकता। प्रत्येक सदस्य को बैंक का हिस्सा खरीदना होगा, जिससे बैंक के पास अपनी निजी पूंजी हो जावे, जिसकी जमानत पर बैंक को बाहर से पूंजी मिल सके। ऋण लेने वाले के हिस्से का मूल्य, जितना ऋण वह लेना चाहता है उसका बीसवां हिस्सा होना चाहिए। प्रत्येक बैंक अपनी आर्थिक स्थिति को देखते हुए एक रकम निश्चय करले, जिससे अधिक ऋण किसी भी सदस्य को न दिया जावे। प्रान्त के सब भूमि बंधक बैंक अपना संगठन करें और एक केन्द्रीय संस्था स्थापित की जावे। केवल केन्द्रीय संस्था ही डिबेंचर (Debenture) बेंचे, पृथक-पृथक भूमि बंधक बैंक डिबेंचर न बेचें।

कृषि कमीशन ने भी रजिस्ट्रार सम्मेलन के प्रस्ताव का अनुमोदन किया। कृषि कमीशन की सम्मति है कि पूर्ण सहकारी भूमि बंधक बैंक

भारत के लिए अधिक उपयुक्त हैं। कमीशन के सामने यह प्रश्न उपस्थित किया गया था कि सरकार भूमि बंधक बैंक के डिबेंचर को खरीदे अथवा नहीं। कमीशन का मत था कि सरकार को इन बैंकों के डिबेंचरों पर सूद की गारंटी दे देना चाहिए और उनको ट्रस्टी सिक्यूरिटी बना देना चाहिए। डिबेंचर केन्द्रीय भूमि बंधक बैंक बेंचे। कुछ समय तक बैंक की प्रबंध कारिणी समिति में एक सरकारी कर्मचारी अवश्य रक्खा जावे। किन्तु कमीशन ने उस प्रस्ताव का समर्थन नहीं किया कि सरकार भूमि बंधक बैंकों के डिबेंचर खरीदे।

सन १९२८ के रजिस्ट्रार सम्मेलन ने कृषि कमीशन की सम्मति का अनुमोदन किया, केवल एक बात पर सम्मेलन ने कमीशन से मतभेद प्रगट किया। सम्मेलन की राय में सरकार को इन बैंकों के डिबेंचर खरीदना और उन्हें ऋण देकर सहायता देना उचित था।

सेन्ट्रल बैंकिंग इनक्वायरी कमेटी के सामने भी भूमि बंधक बैंकों का प्रश्न उपस्थित था। कमेटी ने विस्तार पूर्वक अपनी रिपोर्ट में भूमि बंधक बैंकों की समस्या पर विचार किया।

सेंट्रल बैंकिंग इनक्वायरी कमेटी की सम्मति थी कि बड़े बड़े जमींदारों के लिए मिश्रित पूंजी (joint stock) वाले व्यापारिक भूमि बंधक बैंक स्थापित किये जावें और किसानों के लिए सहकारी भूमि बंधक बैंक स्थापित किये जाने चाहिए।

कमेटी की राय में निम्नलिखित कार्यों के लिए ऋण देना चाहिए—(क) किसान की भूमि और मकान को छुड़ाने के लिए तथा पुराने ऋण को चुकाने के लिए (ख) भूमि तथा खेती बारी के ढङ्ग को सुधारने के लिए तथा किसानों के मकान बनवाने के लिए (ग) विशेष अवस्थाओं में भूमि खरीदने के लिए।

ऋण कितना दिया जावे और कितने समय के लिए, यह ऋण लेने वाले की क्षमता तथा किस कार्य के लिए ऋण लिया जा रहा है, उस पर निर्भर होगा। ऋण पांच वर्ष से लेकर बीस वर्ष तक के लिए दिया जावे। आगे चल कर ३० वर्ष के लिए भी ऋण दिया जा सकता है। कमेटी की सम्मति में पांच हजार रुपये से अधिक एक सदस्य को न दिया जावे। सदस्य की भूमि के मूल्य का आधे से अधिक ऋण किसी भी दशा में न दिया जावे।

कमेटी की राय थी कि ऋण सूद सहित बराबर-बराबर किश्तों में अदा किया जावे कि जिससे एक निश्चित समय पर ऋण चुक जावे। इससे यह लाभ होगा कि किसान को लगभग उतनी ही किश्त देनी होगी जितनी वह महाजन को केवल सूद में ही देता है। किंतु बैंकों को यह अधिकार दे दिया जावे कि यदि वे चाहें तो दूसरे ढङ्ग से किस्ते वसूल कर सकते हैं।

भूमि बंधक बैंकों की कार्यशील पूंजी, हिस्सा पूंजी (share capital) तथा डिबेंचरों से प्राप्त की जानी चाहिए। हिस्सा पूंजी दो प्रकार से प्राप्त की जा सकती है—एक तो आरम्भ में हिस्सा बेंच कर, दूसरे ऋण लेते समय दी हुई रकम से पाँच प्रतिशत काट कर हिस्से का मूल्य वसूल करने से। किन्तु आरम्भ में काम चलाने के लिए जहाँ कहीं भी आवश्यकता हो प्रान्तीय सरकार बैंकों को बिना सूद के रुपया दे दे और डिबेंचर बिकने पर जो रुपया आवे उसमें से सरकार का ऋण चुका दिया जावे। यह ध्यान में रखने की बात है कि पूंजी की यह व्यवस्था बैंकों के प्रारम्भिक काल में ही उपयुक्त होगी। विशेषज्ञों का कथन है कि आगे चल कर इन बैंकों को बहुत पूंजी की आवश्यकता होगी, उस समय प्रान्तीय सरकारों को इन बैंकों के हिस्से खरीद कर इनको सहायता पहुँचानी चाहिए।

अधिकतर कार्यशील पूँजी डिबेंचरों के द्वारा ही प्राप्त होगी। सेन्ट्रल बैंकिंग इनक्वायरी कमेटी के सामने गवाही देते हुए कुछ विदेशी विशेषज्ञों ने कहा था कि बैंकों की जितनी हिस्सा-पूँजी हो उसके पांच गुने डिबेंचर निकालना चाहिए। किन्तु कमेटी इससे सहमत नहीं थी। कमेटी की राय में बैंक जितने मूल्य के डिबेंचर निकालना उचित समझे निकाले, किन्तु डिबेंचरों का मूल्य भूमि-बंधक रख कर दिये हुए ऋण से अधिक न होना चाहिए। क्योंकि उस भूमि की जमानत पर ही डिबेंचर निकाले जावेंगे। डिबेंचरों को सफलता पूर्वक बेंचने के लिए सरकार द्वारा मूलधन (Capital) की गारंटी दी जाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती; हाँ सूद की गारंटी सरकार को अवश्य दे देनी चाहिए। कमेटी की यह भी सम्मति थी कि यदि सरकार को यह संतोष हो जावे कि बैंक ने डिबेंचरों को चुकाने का प्रबंध कर लिया है तो इन डिबेंचरों को ट्रस्टी सिक्यूरिटी बना देना चाहिए।

कमेटी की सम्मति थी कि डिबेंचर एक केन्द्रीय संस्था (प्रान्तीय भूमि बंधक बैंक) निकाले। जिला भूमि बंधक बैंक भूमि की जमानत पर प्रान्तीय भूमि बंधक बैंक से ऋण लें लें और प्रान्तीय भूमि बंधक बैंक उस भूमि की जमानत पर निर्भर होकर डिबेंचर निकाले। सेन्ट्रल बैंकिंग इनक्वायरी कमेटी की यह स्पष्ट सम्मति थी कि प्रारम्भिक सहकारी साख समितियाँ, सेन्ट्रल बैंक तथा प्रान्तीय सहकारी बैंक थोड़े समय के लिए ही किसान को साख देने का प्रबंध करें और प्रान्तीय भूमि बंधक बैंक तथा जिला भूमि बंधक बैंक अधिक लम्बे समय के लिए साख दें। जहाँ सहकारी साख समिति तथा भूमि बंधक बैंक दोनों ही कार्य कर रहे हों वहाँ दोनों संस्थाओं को एक दूसरे से बिलकुल स्वतंत्र रहना चाहिए। हाँ दोनों में सहयोग होना आवश्यक है। यदि कोई साख समिति का सदस्य भूमि बंधक बैंक से ऋण लेने के लिए प्रार्थना पत्र दे तो बैंक समिति से उस विषय में पूँछ-ताँछ कर ले किन्तु समिति ऋण की जिम्मेदार न होगी।

कमेटी, भूमि बंधक बैंक के लिए, बाहर की डिपाजिट लेना उचित नहीं समझती कारण यह है कि बैंक को अधिक लम्बे समय के लिये ऋण देना पड़ता है। अस्तु, डिपाजिट के रुपये से ऋण देना बैंक के लिए उचित न होगा।

भूमि बंधक बैंकों की सफलता के लिए सहकारितावादी यह आवश्यक समझते हैं कि बैंकों को यह अधिकार दिया जावे कि वे बिना अदालत में गए अपना रुपया वसूल करने के लिए बंधक रक्खी हुई भूमि जब्त कर लें और बेंच दें। अधिकतर प्रान्तीय बैंकिंग इनक्वायरी कमेटियों ने इस मांग का विरोध किया था। उनके विरोध करने का कारण यह था कि जब बैंक इस अधिकार का उपयोग करेगा तो उसके विरुद्ध जनता में विरोधी वातावरण बन जावेगा। उनके विरोध का दूसरा कारण यह है कि यदि बैंकों को यह अधिकार दे दिया गया तो वे ऋण देते समय भूमि की भली भाँति जांच पड़ताल नहीं करेंगे। उनके विचार से यदि बैंक सावधानी से कार्य करें और उनका प्रबंध अच्छा हो तो मुकदमेबाजी की आवश्यकता पड़ेगी। सेन्ट्रल बैंकिंग इनक्वायरी कमेटी के सामने भी यह प्रश्न उपस्थित किया गया था। जो लोग भूमि बंधक बैंकों को यह अधिकार देने के प्रश्न

में हैं, उनका कथन है कि यदि कोई विशेष कानून बनाकर यह अधिकार न दे दिया गया तो फल यह होगा कि बैंकों को अदालत की शरण लेनी पड़ेगी। अथवा रजिस्ट्रार द्वारा नियुक्त पंचों के सामने मुकदमा लड़ना होगा भारतवर्ष में सम्पत्ति का हस्तांतरकरण कानून (Transfer of property act) तथा जाब्ता दीवानी (सिविल प्रोसीडयोरकोड) इतने पेचीदे हैं कि बैंक को डिगरी कराने में बहुत समय तथा धन नष्ट करना होगा। इसका फल यह होगा कि बैंक को कार्य करने में बहुत-सी रुकावटों का सामना करना होगा तथा डिबेंचरों की बिक्री पर बुरा असर पड़ेगा। योरोपीय देशों में भी भूमि बंधक बैंकों को यह अधिकार दिया गया है। यदि देनदार बैंक का ऋण नहीं चुकाता तो बैंक बिना अदालत में गए भूमि को बेच सकता है। सेन्ट्रल बैंकिंग इनक्वायरी कमेटी का यह मत है कि बिना यह अधिकार दिये डिबेंचर बेचकर कार्यशील पूँजी प्राप्त नहीं की जा सकती। जनता डिबेंचर न लेगी। अस्तु कमेटी ने इस मांग का समर्थन किया है। साथ ही यह भी कहा है किदेनदार को यह अधिकार होना चाहिए कि यदि वह समझता है कि बैंक का कार्य न्यायपूर्ण नहीं है तो वह अदालत की शरण में जा सके बैंक के देनदार, तथा अन्य किसी लेनदार को, भूमि के बैंक द्वारा जब्तकर लेने पर, यदि हानि होती हो तो वह भी अदालत की शरण में जा सकता है।

भारतवर्ष के कुछ प्रान्तों में भूमि हस्तान्तर कानून (Land Aleniation Act) लागू है। इस कानून के अनुसार कुछ जातियां खेतिहर जातियां मान ली गई हैं उन्हीं जातियों के लोग भूमि मोल ले सकते हैं। यह कानून सारे पंजाब, संयुक्त-प्रान्त के बुन्देलखंड प्रदेश, मध्यप्रान्त के छत्तीसगढ़ डिवीजन तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा शासित प्रान्त (Central Area) में लागू है। इन प्रान्तों में भूमि बंधक बैंकों को अधिकार मिल जाने पर भी भूमि के बेंचने में अड़चन होगी। इसके अतिरिक्त बहुत से प्रान्तों में काश्तकारी कानून (टिनेन्सी ऐक्ट) के कारण भी भूमि के बेचने में रुकावटें होंगी। प्रान्तीय बैंकिंग इनक्वायरी कमेटियों का मत है कि भूमि हस्तांतर कानून से विशेष लाभ नहीं हुआ है। अस्तु इन कानूनों में ऐसा परिवर्तन कर देना चाहिए कि बैंकों को भूमि बेचने में कोई रुकावट न हो।

भूमि बंधक बैंकों की दशा

पंजाब

भारतवर्ष में सबसे पहला भूमि बंधक बैंक पंजाब के झंग जिले में १६२० में स्थापित हुआ। उसके उपरान्त वहां १२ भूमि बंधक बैंक और भी स्थापित हुए किन्तु वे सफल नहीं हुए। १६२६ के उपरान्त जो भयंकर आर्थिक मंदी आरम्भ हुई, उसके कारण भूमि के मूल्य में भारी कमी हुई। भूमि हस्तांतर कानून के लागू होने से तथा डायरेक्टरों और अवैतनिक कार्यकर्ताओं के अधिक ऋण ले लेने के कारण यह बैंक असफल हो गए। केवल दो बैंक ही अब कुछ काम कर रहे हैं। उन्हें प्रान्तीय सहकारी बैंक ही ऋण देता है।

मद्रास

मद्रास में भूमि बंधक बैंकों को बहुत सफलता मिली है। इस समय वहाँ १२० बैंक कार्य कर रहे हैं जो ४५०० गाँवों के क्षेत्र में काम करते हैं और भविष्य में १७,२५० गाँवों को अपना कार्य क्षेत्र बनावेंगे। इस समय इन बैंकों ने ४ करोड़ रुपये के लगभग ऋण दिया है प्रति वर्ष लगभग पचास लाख रुपये के लगभग नया ऋण दिया जाता है। किसानों को जो ऋण दिया जाता है उस पर केवल ६ प्रतिशत सूद लिया जाता है। १६४० में जो मद्रास सहकारिता कमेटी बैठी उसने प्रान्त में २०० भूमि बंधक बैंकों की आवश्यकता बतलाई। कमेटी की सम्मति में १६४५ तक प्रान्त में २०० भूमि बंधक बैंक स्थापित हो जाने चाहिए जिसमें प्रत्येक सिंचाई के साधनों से युक्त ताल्लुके में एक और सूखे प्रदेश में दो या तीन ताल्लुकों के बीच एक बैंक हो सकता है।

मद्रास में आरम्भ में प्रत्येक भूमि बंधक बैंक अपने अपने डिबेंचर बेंचते थे। १६२६ में सेन्ट्रल भूमि बंधक बैंक स्थापित हुआ तब से प्रारम्भिक भूमि बंधक बैंकों के लिए वही डिबेंचर बेंचता है। इससे द्रव्य बाजार में भूमि बंधक बैंकों में आपस में जो प्रतिस्पर्द्धा होती थी, वह बच गई और भूमि बंधक बैंकों को कम सूद पर पूंजी मिल जाती है।

प्रत्येक बैंक का क्षेत्र एक ताल्लुका है प्रत्येक भूमि बंधक बैंक सेन्ट्रल भूमि बंधक बैंक से ऋण लेता है, जो भूमि बंधक बैंक की हिस्सा पूंजी

और रक्षित कोष का बीस गुना तक ऋण दे देता है। प्रारम्भिक भूमि बंधक बैंक अपने सदस्यों को उनकी भूमि के मूल्य का २५ प्रतिशत से ५० प्रतिशत ऋण दे देते हैं। बंधक रक्खी हुई भूमि के मूल्य की प्रति वर्ष जांच की जाती है, जिससे यदि वह गिर गई हो तो उस सदस्य से और रुपया वसूल कर लिया जावे और बैंकों को घाटा न सहना पड़े। किसी भी व्यक्ति को पांच हजार रुपये से अधिक ऋण नहीं दिया जाता, जिस सूद पर प्रारम्भिक भूमि बंधक सेन्ट्रल भूमि बंधक बैंक से ऋण पाता है, उससे एक फी सदी अधिक सूद पर सदस्यों को ऋण दिया जाता है। सदस्यों को ऋण २० वर्षों के लिए दिया जाता है। सदस्य किश्तों में रुपया अदा कर देता है।

जिन बातों के लिए ऋण दिया जा सकता है निम्नलिखित हैं:— (१) खेती की भूमि को बंधक से छुड़ाना (२) पुराने ऋण को चुकाना (३) खेती की भूमि में सुधार करना, (४) भूमि को मोल लेना (५) खेतों की चकबन्दी कराना। किन्तु व्यवहार में अभी तक ऋण पुराने कर्जे को चुकाने के लिए ही दिया जाता है।

बैंक का प्रबंध एक बोर्ड करता है, उसके ९ सदस्य होते हैं जो अवैतनिक कार्य करते हैं। जब कोई किसान बैंक से ऋण लेना चाहता है तो बैंक के छपे हुए फार्म पर अपनी लेनी और देनी का पूरा हवाला भर कर और साथ में अपनी भूमि सम्बन्धी कागजात नत्थी करके अपने क्षेत्र के बैंक को प्रार्थना पत्र दे देता है। तब बैंक का एक डायरेक्टर और सुपरवाइजर उस किसान के खेतों का मूल्य, उनकी पैदावार और किसान के ऋण चुका सकने की क्षमता की जांच करता है। तदुपरान्त इस आशय का एक सर्टिफिकेट प्राप्त किया जाता है कि उसकी जमीन पर कोई ऋण लिया हुआ नहीं है। इतना हो चुकने पर बैंक का कानूनी सलाहकार उन कागजों को देखकर किसान का स्वामित्व ठीक है या नहीं, उस पर अपनी रिपोर्ट देता है और सारे कागजात सहकारिता विभाग के सब-रजिस्ट्रार के पास भेज दिये जाते हैं, जो उसी काम के लिए नियुक्त किया गया है। रजिस्ट्रार उस भूमि की जांच करके अपनी रिपोर्ट देता है। बैंक का संचालक बोर्ड उस रिपोर्ट के आधार ऋण देना स्वीकार या अस्वीकार करता है। स्वीकृति प्रार्थना पत्र भूमि बंधक बैंकों के डिप्टी रजिस्ट्रार के पास भेज दिये जाते हैं, जो उनको

अपनी सिफारिश सहित सेन्ट्रल भूमि बंधक बैंक के पास भेज देते हैं। जब सेन्ट्रल बैंक जांच करने के बाद ऋण देना स्वीकार करता है तो उसकी सूचना प्रारम्भिक भूमि बंधक बैंक को दे दी जाती है और प्रारम्भिक भूमि बंधक बैंक प्रार्थी से बंधक पत्र लिखा कर सेन्ट्रल बैंक के नाम करा देता है। सेन्ट्रल भूमि बंधक बैंक बंधक पत्र पाने पर प्रारम्भिक भूमि बंधक बैंक को ऋण दे देता है और प्रारम्भिक भूमि बंधक बैंक सदस्य को ऋण दे देता है।

सरकार ने भूमि बंधक बैंकों को बहुत सी सुविधायें दे रक्खी हैं। जैसे कागजात की रजिस्ट्री कराने के लिए उन्हें आधी फीस देनी पड़ती है। यह मालूम करने के लिए कि भूमि पर कोई ऋण लिया हुआ है या नहीं, और उसका सर्टिफिकेट प्राप्त करने के लिए २००० रु० से कम ऋण के लिए कोई फीस नहीं ली जाती। गांव के नक्शे, बन्दोबस्त के रजिस्ट्रर और जिले का गजट बिना मूल्य दिया जाता है।

मदरास सहकारी भूमि बंधक बैंक एक्ट के अनुसार भूमि बंधक बैंकों को कुछ विशेष सुविधाएँ दी गई हैं। सदस्यों से रुपया वसूल करने में आसानी हो, इसलिए भूमि बंधक बैंकों को यह अधिकार दे दिया गया है कि यदि सदस्य रुपया अदा न करें तो बंधक रखी हुई भूमि पर उत्पन्न की हुई फसल का रोकने और उसे बेंच देने का बैंक को अधिकार होगा। यही नहीं, बैंक, को बंधक रखी हुई भूमि को बिना अदालत से डिगरी कराये ही बेच देने का अधिकार दे दिया गया है। एक्ट ने प्रान्तीय सरकार को यह अधिकार भी दे दिया है कि वह सेन्ट्रल भूमि बंधक बैंक के डिबेंचरों की अदायगी की गारंटी कर दे। एक्ट द्वारा सेन्ट्रल भूमि बंधक बैंक को प्रारम्भिक भूमि बंधक बैंकों की देख भाल का भी अधिकार प्राप्त है।

मदरास सेन्ट्रल भूमि बंधक बैंक की स्थापना १६२६ में हुई थी। इसके सदस्य व्यक्ति और प्रारम्भिक भूमि बंधक बैंक होते हैं। सेन्ट्रल भूमि बंधक बैंक का संचालन एक संचालक बोर्ड करता है, जिसमें व्यक्तियों और प्रारम्भिक भूमि बंधक बैंकों के चुने हुए प्रतिनिधि होते हैं। रजिस्ट्रार भी एक व्यक्ति को नियुक्त करता है। दैनिक कार्य की देखभाल एक कार्यकारिणी समिति करती है।

सेन्ट्रल बैंक जिस सूद की दर पर डिबेंचर निकालता है, उससे दो

प्रतिशत अधिक पर वह प्रारम्भिक बैंकों को ऋण देता है। साधारणतः सेन्ट्रल बैंक ३ या ३½ प्रतिशत डिबेंचर बेंचता है और ५½ प्रतिशत पर प्रारम्भिक बैंकों को ऋण देता है। प्रारम्भिक भूमि बंधक बैंक एक फीसदी बढ़ा कर ६½ प्रतिशत पर सदस्यों को ऋण देते हैं। सेन्ट्रल भूमि बंधक बैंक डिबेंचर बेंच कर ही अधिकतर रुपया प्राप्त करता है। डिबेंचर खरीदने वालों के हितों की रक्षा सहकारिता विभाग का रजिस्ट्रार करता है जो उनके ट्रस्टी की हैसियत से काम करता है।

भूमि बंधक बैंक कानून पास हो जाने के उपरान्त प्रान्तीय सरकार ने डिबेंचरों के मूलधन और उसके सूद की गारंटी दे दी है। मूलधन और उसके सूद की गारंटी हो जाने से डिबेंचर ट्रस्टी सिक्यूरिटी मान लिए गए हैं जिनमें अर्द्ध सरकारी तथा सरकारी संस्थायें अपना रुपया जमा कर सकती हैं। रिजर्व बैंक की सलाह के अनुसार मदरास प्रान्तीय सरकार ने सेन्ट्रल भूमि बंधक बैंक को इन डिबेंचरों की अदायगी के लिए एक ऋणि परिशोध कोष स्थापित करने पर विवश किया है। प्रति वर्ष इस कोष में एक निश्चित रकम जमा कर दी जाती है, जिससे डिबेंचरों की अदायगी समय पर हो सके।

सेन्ट्रल भूमि बंधक बैंक का संचालन बहुत ही सतर्कता पूर्वक हो रहा है। प्रति वर्ष लाभ का ४० प्रतिशत रक्षित कोष में जमा किया जाता है और केवल ४½ प्रतिशत लाभ बांटा जाता है। अतएव बैंक की आर्थिक स्थिति बहुत दृढ़ है।

बम्बई

बम्बई में इस समय २० भूमि बंधक बैंक कार्य कर रहे हैं। यह बैंक प्रान्तीय भूमि बंधक बैंक से सम्बंधित हैं, जो इन्हें ऋण देता है। जिन कार्यों के लिए यह बैंक अपने सदस्यों को ऋण देते हैं, वे लगभग वही हैं जो कि मदरास में हैं। प्रारम्भिक भूमि बंधक बैंक अपनी हिस्सा पूंजी और रक्षित कोष का बीस गुना ऋण, प्रान्तीय भूमि बंधक बैंक से पा सकता है। प्रारम्भिक भूमि बंधक बैंक के संचालक बोर्ड में एक डायरेक्टर रजिस्ट्रार का नियुक्त किया होता है, एक प्रान्तीय भूमि बंधक बैंक का और एक उस क्षेत्र के सहकारी सेन्ट्रल बैंक द्वारा मनोनीत किया हुआ होता है। प्रत्येक प्रारम्भिक भूमि बंधक बैंक में एक मैनेजर और भूमि का मूल्य

जाँचने वाला अफसर रहता है जो बैंक के कार्य का संचालन करता है।

ऋण बीस वर्ष से अधिक के लिए और दस हजार रुपये से अधिक रकम का नहीं दिया जाता।

प्रारम्भिक भूमि बंधक बैंक ६½ प्रतिशत सूद पर सदस्यों को ऋण देते हैं। नियम के अनुसार प्रारम्भिक भूमि बंधक बैंक अपने लाभ का ५० प्रतिशत रक्षित कोष में रखता है और ६½ प्रतिशत से अधिक लाभ नहीं बांट सकता।

प्रान्तीय भूमि बंधक बैंक डिबेंचर बेंचकर कार्यशील पूंजी प्राप्त करता है, जिनके मूलधन और सूद की अदायगी की गारंटी प्रान्तीय सरकार ने दे रक्खी है और जो ट्रस्टी सिक्यूरिटी मान लिए गए हैं। यह बैंक रक्षित कोष के अलावा ऋण परिशोध कोष भी रखता है।

आसाम में ४० भूमि बंधक बैंक थे किन्तु वे नितान्त असफल रहे। अब वे सदस्यों को ऋण नहीं देते।

बंगाल में ५ प्रारम्भिक भूमि बंधक बैंक हैं, जिन्हें प्रान्तीय सहकारी बैंक कुछ समय पूर्व तक ऋण देता था किन्तु अब प्रान्तीय बैंक ने उन्हें उस समय तक ऋण देना बन्द कर दिया है, जब तक प्रान्तीय सरकार से उस सम्बंध में बात तंय न हो जावे।

मध्यप्रान्त में इस समय २१ भूमि बंधक बैंक हैं। उन्हें प्रान्तीय सहकारी बैंक ऋण देता है जिसकी भूमि बंधक शाखा इस कार्य को करती है। प्रान्तीय सहकारी बैंक इस कार्य के लिए २५ वर्षों के डिबेंचर निकालता है। प्रान्तीय सरकार ने ५० लाख तक के डिबेंचरों के मूलधन और सूद की अदायगी की गारंटी दे दी है। सरकार ने टिनेंसी ऐक्ट में संशोधन करके मौरूसी और सीर जमीन को भी भूमि बंधक बैंक के पास बंधक रखने की सुविधा दे दी है।

उड़ीसा में एक प्रान्तीन भूमि बंधक बैंक कुछ समय से स्थापित है, वह अपनी शाखाओं द्वारा सदस्यों को ऋण देता है।

संयुक्तप्रान्त में केवल ५ भूमि बंधक सहकारी समितियाँ हैं। वे मदरास के प्रारम्भिक भूमि बंधक बैंकों की अपेक्षा बहुत छोटी हैं और सहकारी सेन्ट्रल बैंकों से ऋण लेकर सदस्यों को ऋण देती हैं। यहाँ भूमि बंधक बैंकों की उन्नति उस समय तक नहीं हो सकती जब तक कि मध्यप्रान्त

की तरह कानून में यह संशोधन न कर दिया जावे कि मौरूसी काश्तकार भी अपनी जमीन बंधक रख सकता है। और जब तक कि प्रान्तीय भूमि बंधक न स्थापित किया जावे, जो डिबेंचर निकाले।

अजमेर मेरवाड़ा में ३ भूमि बंधक बैंक हैं जिनकी स्थिति खराब है।

देशी राज्यों में मैसूर, कोचीन, और बड़ौदा में भूमि बंधक बैंकों की स्थापना हुई है।

भूमि बंधक बैंकों के कार्यों का सिंहावलोकन करते हुए रिजर्व बैंक ने इस बात पर विशेष जोर दिया है कि इन बैंकों को केवल पुराने ऋण को चुकाने के लिए ही नहीं, वरन् खेती भूमि की उन्नति के लिए भी ऋण देना चाहिए।

सहकारिता आन्दोलन का पुनर्निर्माण

सहकारी साख आन्दोलन की दशा गिरी हुई होने, और कुछ प्रान्तों में आन्दोलन अत्यन्त निर्जीव हो जाने के कारण इस बात की आवश्यकता हुई कि आन्दोलन का पुनर्निर्माण किया जाय। जांच के लिए अफसर या कमेटियाँ नियुक्त की गईं। यद्यपि सभी प्रान्तों में पुनर्निर्माण की योजनाओं पर विचार हुआ किन्तु बंगाल, मध्यप्रान्त और बिहार की योजनायें मुख्य हैं।

इन योजनाओं के मूल में कोई विशेष अन्तर नहीं है। सबसे पहले सहकारी साख के दिये हुए ऋण की जांच की गई और उस ऋण को इतना कम कर दिया गया कि सदस्य उसको चुका सकें। कम की हुई रकम को किस्तों में बाँट दिया गया जिन्हें सदस्य धीरे-धीरे अदा करता था। समिति के ऋण को न अदा करने के कारण जिन सदस्यों की भूमि समितियों के अधिकार में आ गई थीं वह फिर उन्हीं सदस्यों को किराये पर वापस दे दी गई। ऋण की रकम किस्तों में चुका देने पर जमीन वापस सदस्य को मिल जाती है। सदस्यों के ऋण को कम करने में जो घाटा होता है वह सहकारी साख, समितियां और सेन्ट्रल बैंक सहते हैं।

ग्राम समिति का क्षेत्र

मदरास सहकारी कमेटी का मत है कि गांव एक बहुत छोटा क्षेत्र है और उसकी समिति इतनी छोटी होती है कि वास्तव में वह आर्थिक दृष्टि से सफल हो ही नहीं सकती। अतएव मदरास कमेटी के मतानुसार

बहुत छोटी समितियों को मिला कर एक कर दिया जावे और वह एक से अधिक गांवों में कार्य करे। लेकिन ऐसा करने से वह पारस्परिक विश्वास, और जानकारी, जो आन्दोलन का आधार है नष्ट हो सकती है।

बहु उद्देश्य वाली समितियां

कुछ दिनों से इस विषय में बड़ा वाद-विवाद है कि साख समितियों का कार्यक्षेत्र क्या होना चाहिए। यह तो सभी मानते हैं कि किसान की आर्थिक स्थिति तब तक नहीं सुधर सकती जब तक उसके जीवन में सर्वांगीण उन्नति न हो। रिजर्व बैंक ने इस बात को लेकर बहु उद्देश्य वाली समितियों का समर्थन किया है। बैंक का मत है कि बहु-उद्देश्य वाली समिति सदस्य को खेती या अन्य धंधे के लिए साख दे, और अपने अच्छे सदस्यों के पुराने ऋण को भूमि बंधक बैंक के द्वारा अदा करवादे। किसान—सदस्यों की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए उनकी पैदावार को बेंचे, उनके लिए बढ़िया बीज खरीदे, और उन्हें उनकी आवश्यकता की चीजों को ठीक मूल्य पर दिलाने के लिए उनसे आर्डर लेकर उन चीजों को खरीद कर उन्हें दे। मुकदमेबाजी को कम करने के लिए पंचायत स्थापित करे, भूमि की चकबंदी करके अच्छे बीज और औजारों का प्रचार करके खेती की पैदावार को बढ़ावे, खेती के अतिरिक्त बेकार समय गौण तथा सहायक धंधों के द्वारा उनकी आय को बढ़ाने का प्रयत्न करे और जीवन सुधार कार्य को हाथ में लेकर, स्वास्थ्य, औषधि-वितरण, उपचार, सामाजिक कृत्यों में अधिक धन व्यय न करने और गांव में सफाई रखने का प्रबंध करे। कहने का तात्पर्य यह है कि बहु उद्देश्य वाली समिति गांव की सभी मुख्य समस्याओं को हल करके गांव वालों को सुखी और समृद्धिशाली बनाने का प्रयत्न करे। ऐसी समिति गांव के सार्वजनिक कार्यों की केन्द्र बन जावेगी। वे केवल साख ही नहीं देंगी वरन् गांव की आर्थिक दशा सुधारने और सामाजिक उन्नति करने का प्रयत्न करेंगी। किन्तु सहकारिता आन्दोलन में लगे हुए कार्यकर्ताओं का इस विषय में काफी मतभेद है। कुछ बहु उद्देश्य वाली समितियों के पक्ष में हैं और कुछ उसके विरुद्ध हैं। सहकारिता के प्रसिद्ध विद्वान श्री फे महोदय ने भी बहु उद्देश्य वाली समितियों का समर्थन किया है। रजिस्ट्रार सम्मेलन ने भी बहु उद्देश्य वाली

समितियों की स्थापना करके उनका प्रयोग करने की सिफारिश की है। मदरास सहकारिता कमेटी ने भी बहु-उद्देश्य वाली समितियों की स्थापना का समर्थन किया है। संयुक्तप्रान्त, मदरास, बम्बई, तथा बड़ौदा में यह प्रयोग आरम्भ भी हो गया है। अभी यह समितियां प्रयोग की स्थिति में हैं इस कारण उनके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता।

रिजर्व बैंक और सहकारी साख आन्दोलन

रिजर्व बैंक के स्थापित हो जाने के उपरान्त उसकी कृषि साख शाखा १९३५ में स्थापित की गई इस शाखा के निम्नलिखित कार्य हैं। कृषि साख के विशेषज्ञों को नियुक्त करना, जो कृषि साख के सम्बंध में भारत सरकार, प्रान्तीय सरकारों, और सहकारी बैंकों को सलाह दें, और रिजर्व बैंक तथा सहकारी बैंकों के आपसी सम्बंध तथा कृषि साख के सम्बंध में जो नीति रिजर्व बैंक निर्धारित करे उसका स्पष्टीकरण करना। रिजर्व बैंक ऐक्ट के अनुसार कृषि साख विभाग ने एक रिपोर्ट भारत सरकार को १९३६ में भेजी थी। रिजर्व बैंक ने उस रिपोर्ट में इस बात पर जोर दिया कि साख आन्दोलन का उसके बताये अनुसार पुनः संगठित होना आवश्यक है, तभी वह बलशाली बन सकता है। रिपोर्ट की सिफारिशें इस प्रकार थीं :—

(१) जहाँ ऋण इतना अधिक बढ़ गया हो कि कर्जदार की सामर्थ्य से बाहर हो, उसको घटा देना चाहिए।

(२)भविष्य में एक सीमा निर्धारित कर देनी चाहिए, जिससे अधिक ऋण न दिया जावे।

(३) सदस्य किसान को एक से अधिक स्थानों से ऋण न लेने दिया जावे

(४) सहकारी गोदाम और विक्रय समितियां स्थापित की जावें।

(५) प्रान्तीय सहकारी बैंकों को कृषि साख का नियंत्रण करना चाहिए।

(६) अधिक लम्बे समय के लिए दी जाने वाली साख, थोड़े समय के लिए दी जाने वाली साख से अलग कर दी जानी चाहिए

(७) सहकारी सेन्ट्रल बैंकों को अपने कर्जे की रकम इतनी घटा देनी चाहिए कि सदस्य खेती के लाभ में से उसे २० वर्षों में चुका सके जो रकम।

वसूल न हो सके उसे बही खाते में डाल देना चाहिए।

(८) साख समितियों को सूद की दर कुछ बढ़ानी चाहिए जिससे वे अधिक रक्षित कोष इकट्ठा कर सकें।

(९) बैंकों की संचालक समिति में बैंकिंग के अनुभव वाले आदमी अधिक होने चाहिए।

(१०) आवश्यकता से अधिक कर्ज लेने और सदस्यों से कर्ज की रकम वसूल करने में ढिलाई को दूर करने के लिए डिपाजिटरों के प्रतिनिधि भी सेन्ट्रल तथा प्रान्तीय सहकारी बैंकों के बोर्ड में रहने चाहिए।

(११) यदि एक वर्ष से अधिक के लिए ऋण देना ही पड़े तो भी दो वर्षों से अधिक के लिए न दिया जावे। (बैल इत्यादि खरीदने के लिए इस प्रकार के ऋण को वार्षिक ऋण से अलग रक्खा जावे और साख समिति ऐसे ऋण अधिक न दे।

(१२) सभी ऋण जो किसान को दिये जावें, जैसे-जैसे उसे आवश्यकता हो किस्तों में दिये जावें।

(१३) यदि ऋण की अदायगी ठीक समय पर न हो तो उसे तुरन्त वसूल करने का प्रयत्न किया जावे अथवा साख समिति को तोड़ दिया जावे। यदि फसल नष्ट हो गई हो तो बात दूसरी है।

(१४) अदायगी के समय को फसल के नष्ट हो जाने की दशा में ही बढ़ाया जाय।

(१५) प्रारम्भिक समिति का, जो आन्दोलन की आधार शिला है, पुनः संगठन होना चाहिए; और उसका कार्यक्षेत्र किसान का सारा जीवन होना चाहिए।

(१६) यह समितियां छोटी बैंकिंग यूनियन से सम्बंधित कर दी जावें।

(१७) प्रान्तीय सहकारी बैंक को आन्दोलन की देखभाल करनी चाहिए और उसका नेतृत्व करना चाहिए।

रिजर्व बैंक सीधे किसानों को ऋण नहीं दे सकता और न खेती के वास्ते लम्बे समय के लिए ही ऋण दे सकता है। वह फसलों के लिए लिखे गए बिलों (हुँडियों) को डिस्काउंट करके प्रान्तीय बैंकों की सहायता कर सकता है। किन्तु यह बिल ९ महीने से अधिक के लिए नहीं हो सकते। थोड़े समय के लिए आवश्यकता पड़ने पर रिजर्व बैंक प्रान्तीय सहकारी

बैंकों को ऋण दे सकता है। रिजर्व बैंक से आर्थिक सहायता पाने के लिए यह आवश्यक है कि प्रान्तीय बैंक अपनी चालू खाते की जमा की ढाई प्रतिशत, और मुद्दती जमा की एक प्रतिशत नकदी रिजर्व बैंक में जमा करे।

इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने प्रान्तीय बैंकों को अपना रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के लिये कुछ सुविधायें दी हैं। एक प्रकार से प्रान्तीय सहकारी बैंक भी प्रमाणिक (शिडूल) बैंक मान लिए गए हैं। सेन्ट्रल बैंकों को रिजर्व बैंक ने प्रान्तीय बैंकों की शाखा मान लिया है, अतएव उन्हें भी वे सुविधायें प्राप्त हो जावेंगी। अभी सब प्रान्तीय सहकारी बैंकों ने अपना सम्बन्ध रिजर्व बैंक से स्थापित नहीं किया है। किन्तु भविष्य में जब प्रान्तीय बैंकों का सम्बन्ध रिजर्व बैंक से स्थापित हो जावेगा तो साख आन्दोलन सबल और दृढ़ होगा।

परिच्छेद—८

खेती की पैदावार की बिक्री

अभी तक कृषि सुधार के लिए जिन प्रश्नों पर विचार किया गया है और उनमें सुधार के जो भी उपाय बतलाए गए हैं यदि उनको कार्य रूप में परिणित किया जावे तो उसका यह अवश्य परिणाम होगा कि खेती की पैदावार अब से बहुत अधिक होगी तथा पदार्थों की उपयोगिता और गुणों में भी वृद्धि हो सकेगी। संक्षेप में भूमि की चकबन्दी, किसानों में शिक्षा, कृषि ज्ञान का प्रचार, उनकी शारीरिक उन्नति, सिंचाई का उचित प्रबंध व उत्तम बीज, खाद और औजारों की व्यवस्था, पशुओं की दशा में सुधार और पूंजी का उचित प्रबंध इन सब बातों का यदि सफलता पूर्वक हल हो जाता है तो इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि हमारे खेतों की उपज बहुत अधिक बढ़ सकती है। किन्तु केवल पैदावार में वृद्धि हो जाना भर ही किसान की दृष्टि में यथेष्ट नहीं हैं, और न वह उसके लिए उत्सुक तथा प्रयत्नशील ही होगा क्योंकि उसको यह विश्वास नहीं हो पाता कि उसके परिश्रम का पूरा-पूरा लाभ उसको मिल सकेगा और यह तभी सम्भव है जब कि उसकी पैदावार की ठीक-ठीक मूल्य पर बाजार में बेचने का प्रबंध हो सके, महाजन से उसका छुटकारा हो तथा लगान का बोझ उस पर अधिक न हो। जब तक यह तीनों समस्यायें हल नहीं हो जातीं किसान को अधिक श्रम तथा उत्तम साधनों का उपयोग करके खेती की पैदावार बढ़ाने का तनिक भी उत्साह नहीं होगा। क्योंकि वह देखेगा कि अधिक परिश्रम करने से मुझे क्या लाभ जब सारा का सारा लाभ दलालों, महाजनों, जमींदारों और सरकार के पेट में जाने वाला है।

आज वस्तुतः यही स्थिति है। बाजार में किसान को अपनी पैदावार का पूरा मूल्य, नहीं मिल पाता। उसकी न्यूनतम आवश्यकताओं से जितना अधिक वह उत्पन्न करता है वह सब महाजन तथा जमींदार अपने ऋण तथा लगान की वसूली के रूप में ले जाता है फिर भी किसान ऋण से मुक्त नहीं हो पाता। अतः खेती की पैदावार का प्रश्न उतना ही महत्वपूर्ण है

जितना कि ऋण और लगान का प्रश्न। अब हम यहाँ खेती की पैदावार की बिक्री की समस्या पर विचार करेंगे।

खेती की पैदावार की बिक्री की समस्या

संसार के प्रत्येक देश में खेती की पैदावार की बिक्री की समस्या एक कठिन समस्या है। क्योंकि खेती का धंधा बहुत विस्तृत भूमि पर होने के कारण एकांगी हो जाता है। उदाहरण के लिए एक कारखाने में जो माल तैयार होता है वह बहुत सरलता पूर्वक कारखाने के गोदाम से ही रेल के डिब्बों में भरा जा सकता है या मोटर के द्वारा भिन्न-भिन्न स्थानों को भेजा जा सकता है किन्तु खेती का धंधा इतना विस्तृत होता है कि उसकी पैदावार को बाहर भेजने के लिए यह सुविधा नहीं होती। खेती का धंधा ही ऐसा है कि जिसका ऐकाकी होना अनिवार्य है और इस कारण बिक्री के सम्बन्ध में कुछ समस्यायें उठ खड़ी होती हैं।

खेती की पैदावार की बिक्री से सम्बन्धित तीन मुख्य समस्याएँ हैं (१) यतायात के साधनों का अभाव, (२) साख की समस्या (३) तथा खेती की पैदावार की बिक्री का संगठन। खेती के धंधे की उन्नति के लिए यह तीनों ही आवश्यक हैं।

भारतवर्ष में यह तीनों समस्यायें अत्यन्त विकराल रूप में उपस्थित हुई हैं। यतायात के साधनों की कमी के कारण किसान की पैदावार बहुसंख्यक बीच के दलालों के हाथ से गुजरती है। प्रत्येक दलाल किसानों को कम देकर अपना लाभ बढ़ाना चाहता है। इस कारण किसान को अपनी पैदावार का बहुत कम मूल्य मिलता है। जब तक यातायात के साधनों की उन्नति नहीं हो जाती तब तक किसान को अपनी पैदावार का मूल्य नहीं मिल सकता। इसी प्रकार ऋणी होने के कारण भी किसान को अपनी पैदावार की बिक्री करने में कठिनाई होती है। वह बहुत दशाओं में तो अपनी पैदावार को बेचने में स्वतन्त्र ही नहीं होता और बहुत सस्ते दामों पर उसे अपनी पैदावार को अपने महाजनों को बेचने पर विवश होना पड़ता है। इसके अतिरिक्त खेती की पैदावार की बिक्री की वर्तमान व्यवस्था इतनी दोषपूर्ण है कि किसान को अपनी पैदावार का उचित मूल्य कभी मिल ही नहीं सकता। साथ ही, उसको अधिकाधिक लूट-खसोट का शिकार होना पड़ता है।

क्योंकि किसान को अपनी पैदावार का बहुत कम मूल्य मिल पाता है और उसको बहुत से स्थानों पर लूटा जाता है इस कारण वह कृषि विभाग के परामर्श को कभी भी मानने को तैयार नहीं होता जिससे कि वह अपनी पैदावार को बढ़ा सके। सच तो यह कि खेती की पैदावार की बिक्री के सम्बन्ध में जितनी कठिनाइयां भारतीय किसान के मार्ग में हैं उतनी अन्य देशों के किसानों के मार्ग में नहीं हैं।

यातायात के साधनों का अभाव, थोड़ी मात्रा में पैदावार, जिसके कारण किसान को अपनी निजी आवश्यकताओं के पूरा करने के उपरान्त बेचने के लिए बहुत कम बचता है, किसान की आर्थिक हीनता, इन सब कारणों से किसान बीच के दलालों का दास बन जाता है जो उसका शोषण करते हैं और उसकी पैदावार का बहुत कम मूल्य देते हैं।

अधिकतर किसान अपनी पैदावार को बेचने में स्वतंत्र नहीं होता। वह अपनी फसल को ऋण के बदले में पहले ही गिरवी रख देता है। इस कारण उसे पूर्व निर्धारित मूल्य, जो बाजार भाव से बहुत कम होता है, मिलता है। अधिकांश किसान महाजन के ऋणी होते हैं और भारत में महाजन केवल लेनदेन का काम ही नहीं करता वरन् खेती की पैदावार का व्यापार भी करता है। यदि फसल ऋण के बदले में गिरवी न भी रक्खी गई हो तो भी किसान अपने महाजन को ही अपनी पैदावार गांव में ही बेंच देता है। महाजन का जो किसान पर आर्थिक प्रभाव होता उसका उपयोग करके वह किसान को कम मूल्य देता है। किसान के पास इतनी पैदावार नहीं होती कि वह मंडी में जाकर उसे बेंचे। जो किसान कि बड़े हैं उनके पास अधिक पैदावार है और जो महाजन की आर्थिक दासता से स्वतंत्र हैं वे मंडी में ले जाकर अपनी पैदावार को बेंचते हैं। किन्तु एक तो उनके पास लगान तथा महाजन का कर्जा चुकाने के लिए नकद रुपया न होने के कारण उन्हें फसल कटते ही अपनी पैदावार को मंडी में बेंचना पड़ता है उस समय खेती की पैदावार का मूल्य बहुत गिरा हुआ रहता है और कुछ महीने बाद उसी पैदावार का मूल्य बढ़ जाता है। अस्तु पूंजी की कमी के कारण तथा ऋणी होने के कारण किसान को अपनी पैदावार का मूल्य कम मिलता है। फिर मंडी में भी किसान लूट-खसोट का शिकार होता है। अस्तु छोटा और बड़ा किसान दोनों के ही सामने यह समस्या उठ खड़ी होती है।

जब तक खेती की पैदावार की बिक्री की समस्या हल नहीं की जाती तब तक खेती की उन्नति होना असम्भव है।

यातायात के साधनों का अभाव

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि यातायात के साधनों के अभाव के कारण किसान और अन्तिम ग्राहक के बीच में बहुत से व्यापारी तथा दलाल उत्पन्न हो गए हैं। आज भारत में खेतों से गांव तक और गाँवों से मंडी तक मार्ग अत्यन्त खराब होता है। खेतों से गाँव तक तो केवल पगडंडियाँ ही होती हैं और अधिकतर खेतों की पैदावार किसान सर पर उठा कर लाता है। गाँवों से मंडियों तक कच्चे रास्ते हैं जिनकी स्थिति अत्यन्त बुरी है। वर्षा के दिनों में तो यह कच्ची सड़कें या मार्ग इतने खराब हो जाते हैं कि उन पर गाड़ियाँ चल ही नहीं सकतीं और बैलों को बहुत कष्ट होता है। यही नहीं इन सड़कों के रास्ते में आने वाली नदियों और नालों पर पुल भी नहीं है इस कारण भी खेतों की पैदावार को मंडियों तक ले जाना कठिन हो जाता है। वर्षा के दिनों में तो यह कच्चे रास्ते केवल दलदल मात्र बन जाते हैं और उनको पार करना ही असम्भव हो जाता है। दक्षिण में जहाँ की भूमि कठोर है अथवा ऊबड़ खाबड़ है तथा पहाड़ियों से भरी हुई है तथा पहाड़ी प्रदेशों में मार्ग और भी खराब हैं

ऐसी दशा में यह तो स्वाभाविक ही है कि किसान और अन्तिम खरीदार के बीच में बहुत से दलाल उपस्थित हो गए हैं। जो आज हमारे देश में बहुत से दलाल, पैदावार को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने वालों का एक समूह उत्पन्न हो गया है। फेरीवाला, बंजारा, व्यापारी इत्यादि जो भी आज हमें भारतीय गांवों में पैदावार इकट्ठा करते देखे जाते हैं। वह केवल यतायात के साधनों के अभाव के कारण ही आवश्यक हैं। यतायात के साधनों की कमी के कारण किसान वस्तुतः इन बीच के दलालों पर निर्भर होता है। विशेषतः पहाड़ी, जंगली, तथा रेगिस्तानी प्रदेशों में तो वह बिना इन दलालों की सहायता के अपनी पैदावार को बेच ही नहीं सकता क्योंकि उसके पास पैदावार को ले जाने के लिए यथेष्ट पशु ही नहीं होते।

गाँवों से पैदावार मंडियों तक बैलगाड़ियों, बैल, घोड़ा, खच्चर, ऊँट, गदहा, भैंसा तथा आदमियों के सरों पर लाई जाती है। पूर्वीय बंगाल तथा आसाम में नदियों का आज भी खेतों की पैदावार को मंडियों तक ले

जाने में विशेष महत्व है। उदाहरण के लिए अधिकांश जूट की फसल कलकत्ता तक जल मार्ग, द्वारा लाई जाती है। दक्षिण में पशुओं के अतिरिक्त गोदावारी, कृष्णा, कावेरी और उनकी नहरे मुख्य जलमार्ग हैं जिनसे व्यापार को मदद मिलती है। पहाड़ी प्रदेशों में पशुओं और मनुष्यों का ही पैदावार को ले जाने में उपयोग होता है। शुष्क प्रदेशों में ऊँट आज भी माल ले जाने का मुख्य साधन है। उदाहरण के लिए राजपूताना, तथा उत्तर पश्चिम भारत में आज भी ऊँट ही माल ढोने का मुख्य साधन है। संयुक्तप्रान्त, पंजाब, बिहार, तथा पश्चिम में ऊँट, घोड़े, खच्चर, गदहा, और बैलगाड़ियों का प्रयोग होता है। आज भी माल ढोने के साधन अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं क्योंकि यांत्रिक शक्ति द्वारा संचालित गाड़ियाँ इन कच्चे रास्तों पर चल ही नहीं सकतीं। पिछले दिनों में उन प्रदेशों में जहाँ पक्की सड़कें हैं और जिन पर पुल बने हैं उन पर मोटर बस के द्वारा माल ले जाया जाता है। पिछले दिनों फल, साग, सब्जी, अनाज, कपास, इत्यादि मूल्यवान फसलें मोटर लारी द्वारा दूर-दूर तक ले जाई जाने लगी हैं। किन्तु मोटर का उपयोग भी अपेक्षाकृत बहुत कम है क्योंकि मार्ग खराब हैं। मोटर लारियों की कमी, पैट्रोल डिपो और मौसमी ट्रैफिक होने के कारण लारी का गाँवों के लिए बहुत कम उपयोग हो सका है। यदि देश में पक्की सड़कों का अधिक विस्तार हो तो भविष्य में मोटर लारी का गाँवों के लिए विशेष उपयोग हो सकता है। अभी हाल में मेरठ डिवीजन में एक ट्रामवे ईख को ले जाने के लिए बनाई गई है। बिहार में भी इसी तरह की एक योजना थी। किन्तु यह प्रयोग ही हैं और उनके सम्बंध में निश्चय रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

वस्तुतः खेती की पैदावार की बिक्री का उचित प्रबंध करने के लिए यातायात के साधनों की उन्नति की नितान्त आवश्यकता है जब तक अच्छी सड़कें बनाई नहीं जातीं तब तक यह समस्या हल नहीं हो सकती।

गांव में पैदावार की बिक्री

जो गाँव सड़कों से बहुत दूर हैं और जहाँ यातायात के साधनों का नितान्त अभाव है वहाँ खेती की पैदावार की बिक्री का संगठन अच्छा नहीं है किन्तु जहाँ यातायात के साधन कुछ उन्नत दशा में हैं अथवा जो प्रदेश कि व्यापारिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण फसलें उत्पन्न करते हैं, उदाहरण

के लिए गेहूँ, कपास, गन्ना, सब्जी इत्यादि, वहाँ पैदावार की बिक्री का संगठन अच्छा है। जैसे ही गाँवों में फसल तैयार होती है, गाँव में फसल को खरीद ले जाने वाले दलाल अर्थात गाड़ी वाले, पशुओं पर लाद कर पैदावार को ले जाने वाले गाँवों की ओर दौड़ पड़ते हैं और छोटे किसान इनको अपनी फसल बेंच देते हैं। गाँव में जाने के अतिरिक्त यह व्यापारी (दलाल) ग्रामीण पैंठों और हाटों में भी अपनी गाड़ी या पशुओं को लेकर जाते हैं। यह पैंठ या हाट अर्ध साप्ताहिक, साप्ताहिक या पाक्षिक होती हैं जहाँ किसान अपनी पैदावार का थोड़ासा अंश बेंच कर कपड़ा, मसाला, नमक, जेवर, मिट्टी का तेल इत्यादि खरीदते हैं। इन पैंठों या हाटों में जाकर यह चलते फिरते व्यापारी किसान की पैदावार को इकट्ठी करते हैं।

किन्तु खेती की पैदावार का अधिकांश भाग किसान महाजन को जो कि खेती की पैदावार का व्यापारी भी होता है या उन व्यापारियों को जो गाँव में आकर पैदावार को खरीदते हैं बेंच देता है। इस प्रकार लगभग दो तिहाई तथा कुछ दशाओं में तीन चौथाई पैदावार गाँव में ही बेंच दी जाती है।

किन्तु अपनी पैदावार को गाँव में ही बेंच देने के कारण किसान को उसका बहुत कम मूल्य मिलता है क्योंकि वहां केवल एक व्यापारी या महाजन ही खरीदार होता है। अस्तु किसान व्यापारी की कृपा पर निर्भर रहता है उसे वह जो भी मूल्य दे दे। यदि महाजन किसान की पैदावार लेता है तो किसान को और भी अधिक हानि होती है क्योंकि वह महाजन का कर्जदार होता है और इस सम्बन्ध का लाभ उठाकर महाजन बाजार भाव से बहुत कम मूल्य किसान को देता है। इस प्रकार किसान का अनवरत शोषण होता रहता है। कहीं-कहीं जहाँ यतायात के साधन बहुत कम हैं ६० प्रतिशत पैदावार गाँवों में ही बेंच दी जाती है।

गाँव में पैदावार के बेंच दिये जाने का मुख्य कारण यह है किसान के पास बहुत कम राशि में पैदावार बिक्री के लिए बचती है। उसके पास थोड़ी-सी भूमि होती है। वह भी छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटी रहती है इस कारण उसकी पैदावार भी थोड़ी रहती है, फिर उसकी उपज भी घटिया होती है इस कारण वह अपनी पैदावार को गाँवों में ही बेंच देता है। हां, व्यापारिक फसलें इसका अपवाद हैं। किसान का मुख्य उद्देश्य इन फसलों

को पैदा करने का रुपया प्राप्त करना होता है जिससे वह लगान इत्यादि अदा कर सके अस्तु वह उस पैदावार को बेंचने में अधिक सावधानी बरतता है और कष्ट भी उठाता है। इन फसलों को वह मंडियों में बेचने को ले जाता है किन्तु यहां भी वह लुटने से नहीं बचता। मंडियों तक पैदावार ले जाने में पहली कठिनाई तो पैदावार को मंडियों तक ले जाने की है। फिर मंडियों में बिक्री की व्यवस्था इतनी उलझी हुई और दोषपूर्ण होती है कि बेचारे किसान को दलालों पर निर्भर रहना पड़ता है और उनके द्वारा धोखा खाता है। इसके अतिरिक्त उस पर तरह-तरह के मन माने कर लगाये जाते हैं जिनके कारण मडियों में बेंचकर भी वह अपनी पैदावार का उचित मूल्य नहीं पाता।

साधारणतः बड़े किसान स्वयं अपनी गाड़ी रखते हैं और अपनी पैदावार को मंडियों में ले जाकर बेंचते हैं। भारतवर्ष में अनुमानतः कुल पैदावार की तीस प्रतिशत पैदावार सीधे किसान मंडियों में ले जाकर बेंचता है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि उसे यहां भी कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

सबसे पहली कठिनाई तो यह है कि भिन्न-भिन्न मंडियों में तौल भिन्न है इस कारण किसान को बहुधा बड़ी कठिनाई होती है और वह धोखा खाता है। कहीं-कहीं ऐसा होता है कि किसान की पैदावार को खरीदते समय बड़ी तौल का उपयोग किया जाता है और बेचते समय छोटी तौल का। सीधा और अशिक्षित किसान कुछ समझ ही नहीं पाता। जब किसान मंडी में जाता है तो उसको एक दलाल करना पड़ता है जो गुप्त रूप से किसान की पैदावार का खरीदार व्यापारी या अढ़तिया से मूल्य निर्धारित करता है। बिना दलाल किये किसान अपनी पैदावार को मंडी में बेंच ही नहीं सकता। यह दलाल अधिकतर मंडी में अढ़तियों के घनिष्ट सम्पर्क में रहते हैं और वे स्वभावतः किसान की हिमायत न करके अढ़तिया अर्थात खरीदार के लाभ का अधिक ध्यान रखते हैं। जब किसान अपनी गाड़ी लेकर मंडी में पहुंचता है तो अढ़तियों के दलाल उसकी पैदावार की बानगी ले जाते हैं। कहीं-कहीं बानगी के रुप में ही किसान को कई रुपये का माल मुफ्त में दे देना पड़ता है। दलाल अपने हाथों पर अंगोछा डाल कर अंगुलियों को छू कर भाव गुप्त रूप से निश्चित करते हैं। इस प्रकार भाव

निश्चित हो जाने पर किसान को अपनी पैदावार को खरीदार के गोदाम में डाल देता है तब खरीदार यह बहाना लेकर कि बानगी से अन्दर की पैदावार घटिया है कम मूल्य देता है। किसान के लिए उस दशा में दो ही मार्ग रहते हैं। या तो वह घटे हुए मूल्य को स्वीकार करे अथवा अपने माल को फिर गाड़ी में भर ले। अकेले किसान के लिए यह बहुत कठिन होता है फिर वह जितने दिनों तक मंडी में पड़ा रहता है उतना ही उसका तथा बैलों का खर्चा होता है। अस्तु विवश होकर किसान कम मूल्य पर ही अपनी पैदावार को बेचने के लिए राजी हो जाता है।

किन्तु केवल इतने से ही किसान की कठिनाइयां समाप्त नहीं हो जातीं। इन मंडियों में किसान से बहुत तरह की लागतें ली जाती हैं जिससे कि उसकी पैदावार का मूल्य और भी कम हो जाता है। यही कारण है कि किसान अपनी पैदावार को इन मंडियों में लाने के लिए विशेष उत्साहित नहीं होता और केवल गांवों में ही वह अपनी पैदावार को बेच देता है।

खेती की पैदावार की बिक्री की वर्तमान दशा

गांव के महाजन के अतिरिक्त जो लेनदेन के काम के साथ-साथ खेती की पैदावार की खरीद भी करता है व्योपारी, बंजारा, पैकर (लाख के व्यापार में) फारिया (जूट के व्यापार में) गांव तथा गांवों के बाजारों में जाते हैं और पैदावार की इकट्ठी करते हैं। इनमें अधिकतर छोटे व्यापारी ही होते हैं और अपनी निजी पूंजी से ही काम करते हैं। किन्तु इनमें से थोड़े-बड़े व्यापारियों की अधीनता में काम करते हैं, उनके लिए पैदावार खरीदते हैं या वे उनके एजेंट के रूप में कमीशन लेकर काम करते हैं। कहीं-कहीं ऐसा भी होता है कि मंडी का तौलने वाला और कुम्हार पैदावार की बानगी (नमूना) मंडी के व्यापारियों को दिखाकर उनसे आर्डर लेते हैं। फिर वे गांव को लौटते हैं। किसानों से पैदावार इकट्ठी करते हैं, उसे गाड़ी द्वारा मंडी में व्यापारी के गोदाम में डाल आते हैं और किसानों को मूल्य चुका देते हैं। यदि यह दूसरे चलते-फिरते छोटे व्यापारी न हों तो गांव की पैदावार को खरीदने के लिए केवल गांव का बनिया या महाजन ही रहे और उस दशा में किसान को भी और अधिक हानि उठानी पड़े। भिन्न-भिन्न भागों में इन घूमते-फिरते छोटे व्योपारियों को भिन्न नामों से पुकारा जाता है किन्तु वे एक समान कार्य करते हैं। अर्थात वे गांव से पैदावार इकट्ठी करके मंडियों

में थोक व्यापारियों को बेंचते हैं।

गाँवों में यातायात की सुविधाओं के न होने के कारण तथा किसान के थोड़ी मात्रा में बेंचने के लिए पैदावार होने के कारण यह छोटे व्यापारी खेती की पैदावार की बिक्री के संगठन में एक आवश्यक संस्था बन गए हैं। किन्तु यह किसान को खूब ही लूटते हैं और उसकी आर्थिक निर्बलता तथा अज्ञानता का पूरा लाभ उठाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि किसान को अपनी पैदावार का मूल्य मंडी के भाव से बहुत कम मिलता है। गाँव के तथा गाँव के बाजारों में खेती की पैदावार का जो मूल्य होता है वह मंडियों से बहुत कम होता है।

कच्चा और पक्का अढ़तिया

व्योपारी तथा दूसरे छोटे दलाल जो घूम फिर कर गाँवों से पैदावार इकट्ठी करते हैं तथा बनिया और वे बड़े सम्पन्न किसान की जिनके पास बेचने के लिए यथेष्ट पैदावार होती है वे पैदावार को बेचने के लिए मंडी में आते हैं। मंडी में यह लोग अपनी पैदावार को कच्चे अढ़तिया के द्वारा बेचते हैं। कच्चा अढ़तिया एक तरह का कमीशन एजेंट होता है जो इन छोटे व्यापारियों, सम्पन्न किसानों तथा गाँव के बनियों द्वारा लाई हुई पैदावार को पक्के अढ़तिया या उसके दलाल से भाव तय करके पैदावार को पक्के अढ़तिया को बेंच देता है। वह स्वयं पैदावार को मोल नहीं लेता वरन् व्योपारियों, गाँव के बनियों तथा किसान की ओर से पैदावार को केवल बेंचने का काम करता है। पक्का अढ़तिया सीधे किसानों या व्यापारियों से पैदावार न खरीदकर कच्चे अढ़तियों के द्वारा पैदावार को खरीदता है, वह थोक व्यापारी होता है। वह बहुधा बड़े-बड़े व्यापारिक केन्द्रों की खरीद करने वाली फर्मों तथा बंदरगाहों में पैदावार को विदेशों में निर्यात (भेजने वाली) करने वाली फर्मों का एजेंट या प्रतिनिध होता है। वह अपने मालिकों अर्थात खरीद तथा निर्यात करने वाली फर्मों के लिए तो पैदावार खरीदता ही है, साथ ही वह अपने लिए भी पैदावार को खरीदता है। प्रातः काल वह या उसका दलाल कच्चे अढ़तिया की दूकान पर जाकर पैदावार का निरीक्षण करते हैं। कुछ कच्चे अढ़तिये बेचने वाले तथा खरीदने वाले दोनों के ही एजेंट का काम करते हैं और वे कच्चा और पक्का अढ़तिया कहलाते हैं। कच्चा अढ़तिया या तो दलाल या पक्के अढ़तिया

से अंगोछे के अन्दर गुप्त रूप से अंगुलियाँ छू कर मूल्य निर्धारित करता है अथवा पैदावार का नीलाम करता है। जिस मंडी में जो पद्धति प्रचलित होती है कच्चा अढ़तिया उसी के अनुसार काम करता है। यदि पक्का अढ़तिया स्वयं अपने जोखिम पर काम करता है तो वह अपने माल को देश के दूसरे भागों के बड़े व्यापारियों को बेंच देता है। जो या तो खुदरा बेचने वालों (Retail Dealers) को या कारखानों को अपना माल बेंच देता है या फिर विदेशों को भेजता है। किन्तु यदि वह उस मंडी के बाहर के व्यापारियों और फर्मों के लिए खरीद करता है तो वह एक प्रकार से कमीशन एजेंट बन जाता है। कुछ विदेशी फर्में जो भारतीय पैदावार को अपने देश में ले जाने के लिए खरीदती हैं वे भी बड़े-बड़े व्यापारिक केन्द्रों में अपनी शाखा रखती हैं और पैदावार खरीदती हैं। कुछ भारतीय कारखाने भी कच्चा माल खरीदने के लिए अपने कर्मचारी बड़े बड़े व्यापारिक केन्द्रों में रखती हैं परन्तु अधिकतर कारखाने पक्के अढ़तिये के द्वारा ही कच्चा माल खरीद लेते हैं।

पैदावार का महाजन के पास गिरवी रखना

कुछ दशाओं में और विशेषकर व्यापारिक फसलों के सम्बंध में यह गिरवी रखने की प्रथा चल पड़ी है। महाजन कुछ रुपया किसान को फसल बोते समय पेशगी दे देता है और उसके बदले किसान एक पूर्व निश्चित मूल्य पर फसल अपने महाजन को बेंच देने का वादा करता है। यह मूल्य फसल कट जाने के उपरान्त जो बाजार भाव होता है उससे बहुत कम होता है। संयुक्तप्रान्त में खड़सारी लोग किसान के गल्ले को इसी प्रकार कम मूल्य में हथिया लेते हैं। अन्य व्यापारिक फसलों में भी यह प्रथा चल पड़ी है। गन्ने के अतिरिक्त कपास, जूट, सन, तथा तिलहन की फसलों को बनिया या व्यापारी इसी प्रकार कुछ रुपया पेशगी देकर बहुत कम मूल्य पर हथिया लेता है। चावल की फसल भी फारिया द्वारा पेशगी रुपया देकर कम मूल्य पर ले ली जाती है। घी, मूँगफली, घी तथा अन्य व्यापारिक फसलों के सम्बंध में भी यही प्रथा प्रचलित है। लगभग सभी व्यापारिक फसलों को खरीद कर विदेशों में भेजने वाली फर्में इसी प्रकार कुछ पेशगी रुपया देकर फसल को बहुत कम दामों में हथिया लेती हैं।

खेती की पैदावार की बिक्री के दोष

खेती की पैदावार की बिक्री में आज की स्थिति में नीचे लिखे दोष हमें मिलते हैं। (१) भिन्न-भिन्न मंडियों में तरह-तरह की तौल हैं जिनसे किसान को हानि पहुँचती है (२) तौलते समय धोखेबाजी (३) मंडियों में किसान से कई प्रकार की लागतें और कर वसूल किया जाना (४) मूल्य का गुप्त रूप से दलालों द्वारा निर्धारित होना (५) मंडी में आढ़तियों का अत्यधिक प्रभाव होना और किसान के प्रभाव का सर्वथा अभाव। पैदावार के ग्रेडिंग की व्यवस्था न होना पैदावार को रखने के लिए मंडियों में गोदामों का अभाव।

मंडियों में तौल विभिन्नता

भारत में इतने प्रकार की तौल प्रचलित है कि किसानों को बड़ी कठिनाई होती है। इस विभिन्नता का परिणाम यह होता है कि व्यापारी-वर्ग साधारण किसान तथा ग्राहक को ठगने में सफल हो जाता है। १९१३-१४ में भारत सरकार ने एक तौल नाप कमेटी (Weights and measures Committee) बिठाई थी। उस कमेटी का यह मत था कि सारे देश में स्टैंडर्ड तौल (८० रु० का सेर) प्रचलित की जावे। किन्तु कमेटी के मत के अनुसार अभी तक कार्य न हो सका। शाही कृषि कमीशन का भी यही मत था कि इस सम्बन्ध में भारत सरकार को जांच पड़ताल करके प्रान्तीय सरकारों को एक तौल स्वीकार करने के लिए उत्साहित करना चाहिए।

देश में व्यापार की सुविधा के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि सारी प्रान्तीय सरकारें तथा देशी राज्य स्टैंडर्ड तौल को स्वीकार करें और उसे अपने यहां प्रचलित करें। बहुधा गांव की मंडियों की तौल में भिन्नता होने से किसान को हानि पहुँचती है। अभी हाल में संयुक्तप्रान्तीय सरकार ने प्रान्त में स्टैंडर्ड तौल प्रचलित करने का प्रयत्न किया है।

तौल में धोखेबाज़ी

जब किसान की पैदावार तौली जाती है तो आढ़तियों के तौलने वाले किसी न किसी रूप में धोखा अवश्य देते हैं। सीधा किसान और व्यापारी इस प्रकार ठगा जाता है। इस समस्या को हल करने के लिए शाही

कृषि कमीशन ने यह सुझाव उपस्थित किया था कि मंडी की मार्केट-कमेटी को इस बात का निरीक्षण करना चाहिए कि मंडी में जो बांट काम में लाये जाते है वे ठीक हैं और धोखेबाजी नहीं की जाती। कमीशन का यह भी मत था कि जहां सम्भव हो वेइंग ब्रिज (तौलने वाला यंत्र) स्थापित किया जावे कि जिससे किसान थोड़ी-सी फीस देकर पैदावार से भरी हुई गाड़ी को तुलवा कर एक सार्टिफिकेट प्राप्त कर ले। जब कि मूल्य भाव तय हो जावे और किसान अपनी पैदावार को अढ़तिया के गोदाम में डाल दे तब खाली गाड़ी फिर वजन पर जाकर तुल जावे। भरी हुई गाड़ी की तौल से खाली गाड़ी के वजन को घटाने पर जितना आवे वह पैदावार की तौल मान ली जाय और उतने वजन का मूल्य अढ़तिया को देना होगा।

मंडी की लागतें

यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि अपेक्षाकृत बहुत कम किसान मंडियों में ले जाकर अपनी पैदावार बेचते हैं। जो भी वहां अपनी पैदावार बेचने के लिए ले जाते हैं उन्हें मंडी में पैदावार बेचने का खर्च उठाना पड़ता है। यह लागतें अढ़तियों द्वारा निर्धारित होती हैं और जो भी मंडी में पैदावार बेंचती है उसे देनी पड़ती है। मंडी का प्रबंध कच्चे और पक्के अढ़तियों के हाथ में होता है। किसानों या उन छोटे-छोटे व्यापारियों का जो गांव की पैदावार को मंडी में बेंचने के लिये लाते हैं तनिक भी प्रभाव नहीं होता। अस्तु यह अढ़तिये मनमाने ढंग से लागतें लगा देते हैं ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वे कर हों। छोटी मंडियों में व्यौपारी से कम और किसान से अधिक लागतें वसूल की जाती हैं। यही कारण है कि किसान इन मंडियों में लाकर अपनी पैदावार को बेचने से हिचकता है।

प्रत्येक मंडी में लागतों के रूप में कितना कर लगाया जाता है इसमें भिन्नता होती है किन्तु उनका स्वरूप सब कहीं एक-सा ही होता है। बहुधा नीचे लिखी लागतें मंडी में पाई जाती हैं:—

(१) तौलनेवाले की मजदूरी, (२) पल्लेदारी, (३) दलाली, अढ़तिया का कमीशन, शागिरदी, धूल और रेत, बोराबन्दी, दाने, बोरा भरने की मजदूरी, तौल की कमी बेशी, रामलीला गऊशाला, पाठशाला, मन्दिर, प्याऊ तथा अन्य धार्मिक दान, तथा फुटकर। यदि इन खर्चों में अढ़तियों का लाभ तथा माल गांवों से मंडी तक लाने का व्यय जोड़ दिया जावे

तो यह व्यय बहुत अधिक हो जाता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि खेतों से मंडियों तक पैदावार के जाने में बिक्री का व्यय उसके मूल्य का २५ प्रतिशत के लगभग होता है। यदि खेतों की पैदावार सहकारी बिक्रय समितियों (Cooperative Marketing societies) के द्वारा हो तो यह खर्च बहुत कम किये जा सकते हैं। शाही कृषि कमीशन का मत था कि मंडी की कमेटी जिसमें किसानों और अढ़तियों के बराबर प्रतिनिधि हों उसे यह निश्चय करना चाहिए कि कौन-सी लागतें उचित हैं। शेष को कानून बना कर गैरकानूनी घोषित कर देना चाहिए।

(४) मूल्य का गुप्त रूप से निर्धारित होना

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि जिन मंडियों में दलाल अढ़तियों से गुप्त रूप से कीमत तय करते हैं वहां किसान अथवा व्यापारी को उस सम्बंध में कोई भी बात नहीं मालूम हो पाती और इस बात की सम्भावना रहती है कि दलाल अढ़तिया से मिल जाय। यह दलाल प्रति दिन अढ़तियों से सम्पर्क में आते हैं और उनसे उनका घनिष्ट संबंध स्थापित हो जाता है। अतएव इस बात का भय रहता है कि किसान के स्वार्थ की रक्षा न हो सके। इस प्रकार अंगौछे के अन्दर भाव तय करने की अपेक्षा नीलाम करने की प्रथा अच्छी है। शाही कृषि कमीशन का मत था कि दलालों को किसान और अढ़तिया दोनों की ओर से काम करने की मनाही होना चाहिए। प्रत्येक दलाल को मंडी की कमेटी के सामने यह घोषित करना होगा कि वह किसानों का दलाल रहेगा या अढ़तियों का। इसका परिणाम यह होगा कि दलाल अपना कारबार बढ़ाने के लिए किसान के लिए ऊंचा से ऊंचा मूल्य प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा और किसान के स्वार्थों की रक्षा हो सकेगी। अभी दलाल दोनों पक्षों अर्थात खरीदने वाले और बेचने वाले की सेवा कर सकता है। ऐसी दशा में उसका अढ़तियों से अधिक घनिष्ट होना स्वाभाविक ही है और इस कारण वह किसान के हित की ओर उतना ध्यान नहीं देता जितना कि अढ़तिया के हितों की ओर ध्यान देता है।

मंडी का विधान

यह तो हम पहले कह आये हैं कि मंडियों का प्रबंध अढ़तियों के

हाथ में होता है। बेचने वाले अर्थात किसान और व्यापारियों का मंडी के प्रबंध में तनिक भी हाथ नहीं होता यही कारण है कि मंडियों में बेचने वालों अर्थात् किसानों के स्वार्थों की ओर कोई ध्यान नहीं देता। यह अवस्था किसी भी प्रकार वांछनीय नहीं कही जा सकती। आवश्यकता इस बात की है कि एक कानून बनाया जावे और उस कानून के अन्तर्गत मंडियों का प्रबन्ध हो। कानून बनने पर ही मंडियों के दोषों को दूर किया जा सकेगा। और तभी किसानों के हितों की रक्षा हो सकेगी।

प्रत्येक मंडी का प्रबन्ध एक कमेटी के आधीन होना चाहिए जिसमें जमींदार किसान गाँव के व्यापारी तथा अड़तियों के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त सहकारी विभाग (Cooperative Department) और कृषि विभाग के कर्मचारी भी होने चाहिए। कमेटी पैदावार की बिक्री का प्रबन्ध नीलाम के द्वारा करेगी, दलालों का नियंत्रण करेगी, मंडी के नियमों को किसानों को बतलावेगी, तौल में धोखेबाजी न हो इसका प्रबन्ध करेगी, बानगी तथा पैदावार की भिन्नता से उत्पन्न होने वाले तथा अन्य झगड़ों का निपटारा करेगी। जिन लागतों को कमेटी ने स्वीकार नहीं किया है उनको न लगने देगी और दूसरे प्रकार की धोखेबाजी या चालाकी को रोकेगी। जब इस प्रकार की मंडी कमेटी स्थापित हो जावेगी तभी किसान को अपनी पैदावार का उचित मूल्य मिल सकेगा और तौलने में धोखेबाजी रोकी जा सकेगी। कमेटी यह भी नियम बना देगी कि जो बानगी के रूप में पैदावार ले जाई जावे वह या तो वापस कर दी जावे अथवा उसका मूल्य चुकाया जावे। दलालों को कमेटी में कोई भी स्थान न मिलना चाहिए। यदि मंडी की कमेटी सतर्क रहे तो मंडियों में आज पाये जाने वाले दोष सर्वथा दूर हो सकते हैं।

मंडी कमेटी बड़े-बड़े व्यापारिक केन्द्रों के भाव को मंडी में नोटिस बोर्ड पर लिख कर सर्व साधारण को पैदावार के भाव की जानकारी करा सकती है। कृषि तथा अन्य सरकारी विभाग अपना प्रचार इन मंडियों के द्वारा बड़ी अच्छी तरह से कर सकते हैं।

पैदावार की ग्रेडिंग

भारतीय मंडियों में खेती की पैदावार का श्रेणी विभाजन (ग्रेडिंग) करने का प्रयत्न नहीं किया गया। जब कि फसल का अवसर आता है तो

अढ़तिया तथा अन्य खरीदार एक प्रकार की पैदावार तथा दूसरे प्रकार की पैदावार में कोई भेद नहीं करते और वास्तव में इन मंडियों में अच्छी और बुरी पैदावार के लिए एक ही मूल्य देने का प्रयत्न किया जाता है। ग्रेडिंग के न होने से विदेशी बाजारों में भारतीय पैदावार के सम्बन्ध में एक बुरी धारणा बन गई है और वहां प्रत्येक प्रकार की भारतीय पैदावार को घटिया पैदावार का मूल्य दिया जाता है। यही कारण है विदेशों को पैदावार भेजने वाला व्यापारी भी अच्छी और बुरी पैदावार में कोई भेद नहीं करता। अस्तु इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि इन मंडियों में पैदावार के ग्रेडों का प्रबंध किया जावे। जिससे कि जो किसान अच्छी फसल उत्पन्न करे उसे मंडी में अच्छा मूल्य मिल सके। तभी किसान उत्तम पैदावार उत्पन्न करने का प्रयत्न करेगा। अभी तक तो यदि वह अच्छी फसल उत्पन्न करता है तो उसे कोई विशेष लाभ नहीं होता।

गोदामों की सुविधा

किन्तु पैदावार की बिक्री में सुधार और उन्नति तभी हो सकती है जब कि मंडीयों में गोदामों की सुविधा हो जहाँ पैदावार रक्खी जा सके। अभी मंडियों में गोदामों की कोई भी व्यवस्था नहीं है। शाही कृषि कमीशन की यह सिफारिश थी कि इन गोदामों को बनाने में जो व्यय होगा उसके लिए प्रान्तीय सरकारों को मंडी कमेटियों को ऋण देने की व्यवस्था करनी होगी। केवल बड़ी मंडियों, बड़े रेलवे स्टेशनों पर ही गोदामों की आवश्यकता नहीं होगी वरन् गांवों में भी गोदामों की आवश्यकता होगी जहां सहकारी विक्रय समितियाँ अपने सदस्यों की आई हुई पैदावार को रख सकेंगी। इस समय मंडियों में खत्तियों में पैदावार रक्खी जाती है। यह खत्तियां ऐसी नहीं होती कि जहां पैदावार सुरक्षित रह सके। फल यह होता है कि बहुत सी पैदावार नष्ट हो जाती है।

किसान की कठिनाइयाँ

ऊपर के विवरण से यह तो स्पष्ट हो गया कि खेती की पैदावार की बिक्री की वर्तमान प्रथा में बहुत से दोष हैं और उन्हें दूर करने के लिए यातायात के साधनों तथा मंडी को कानून द्वारा पुनः संगठित करने की आवश्यकता है। किन्तु इतना कर देने से ही किसान की सारी कठिनाइयां

दूर नहीं हो जावेंगी। भारतीय किसान इतना होने पर भी अपनी पैदावार का उचित मूल्य प्राप्त नहीं कर सकेगा क्योंकि उसकी और भी कठिनाइयां हैं। सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि किसान अपनी पैदावार बेचने के लिए उचित अवसर की प्रतीक्षा नहीं कर सकता। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि किसान अपनी आर्थिक हीनता के कारण, जैसे ही फसल तैयार होती है बेचने पर विवश होता है। उस समय बाजार भाव बहुत गिरा होता है। यदि किसान कुछ महीने रुक सके तो उसे अपनी पैदावार का अधिक मूल्य मिल सकता है किन्तु यदि वह अपनी पैदावार उसी समय न बेचे तो लगान, आबपाशी, तकावी और महाजन के ऋण की अदायगी कैसे करे। अधिकतर किसान महाजन का क्रीत दास होता है और फसल तैयार होते ही उसे महाजन को ही अपनी फसल बेच देनी पड़ती है। किसान के सामने दूसरी कठिनाई यह होती है कि उसके पास बेचने के लिए अधिक पैदावार नहीं होती। इस कारण वह अपनी पैदावार का उचित मूल्य नहीं पा सकता। उसके पास पैदावार को सुरक्षित रूप से रखने के लिए गोदामों की सुविधा नहीं होती इस कारण भी वह अपनी पैदावार को बेच देने की जल्दी करता है। वह अशिक्षित होता। और माल बेचने के दाव पेचों को नहीं जानता है इस कारण वह दलालों और अढ़तियों द्वारा ठगा जाता है। न उसे बाजार-भाव का ही ज्ञान रहता है, इस कारण वह अपनी पैदावार का उचित मूल्य नहीं पाता। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि किसान को गांवों में रहने के कारण, बिक्री की कला से अनिभिज्ञ होने के कारण, बाजार भाव तथा बाजार की हलचलों को समझने की क्षमता न होने के कारण आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त निबल होने के कारण पैदावार का उचित मूल्य प्राप्त नहीं कर सकता। अस्तु केवल यातायात के साधनों को सुधारने तथा मंडियों को सुव्यस्थित कर देने से ही उसकी सारी कठिनाइयां दूर नहीं हो जावेंगी। कुछ कठिनाइयां अवश्य दूर हो जावेंगी परन्तु शेष कठिनाइयों को दूर करने के लिए हमें सहकारी विक्रय समितियों का सहारा लेना होगा।

सहकारी विक्रय समितियां

सहकारी विक्रय समितियों की स्थापना से यह सारी कठिनाइयां दूर हो सकती हैं और किसान को अपनी पैदावार का उचित मूल्य मिल सकता है। सच तो यह है कि बिन किसानों के पास बेचने के लिए बहुत थोड़ी

पैदावार होती है उनके लिए तो सहकारी विक्रय समितियों के अतिरिक्त दूसरा कोई चारा नहीं है। हमने खेती की पैदावार की बिक्री के लिए रेग्यूलेटेड मंडियों की स्थापना की आवश्यकता बतलाई है। परन्तु ये मंडियाँ भी किसान के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध नहीं होंगी यदि वे अपना सहकारी संगठन नहीं बनाते; व्यक्तिगत रूप से पैदावार को बेचने में किसान को कठिनाइयां और हानि उठानी पड़ती है। वह सहकारी विक्रय समितियां स्थापित करने से दूर हो सकती हैं। यदि देश में सहकारी विक्रय समितियों की स्थापना हो जावे तो किसान को दो बड़े लाभ होंगे। एक तो उसकी पैदावार का ग्रेडिंग आसानी से हो सकेगा दूसरे वह समितियों के द्वारा बन्दरगाहों में स्थिति व्यापारियों, जो विदेशों को पैदावार भेजते हैं, और बड़े-बड़े कारखानों से सीधा सम्बन्ध स्थापित कर सकेंगे।

सहकारी विक्रय समिति के सदस्य वही किसान होने चाहिए कि जो अपनी पैदावार को केवल समिति के द्वारा ही बेचने के लिए तैयार हों। प्रत्येक सदस्य को इस नियम का कड़ाई से पालन करना होता है। यदि सदस्य इस नियम का पालन नहीं करते तो समिति अफसल हो जाती है। भारतवर्ष में बहुधा यह देखने में आता है कि जब कोई विक्रय समिति स्थापित हुई तो व्यापारी या अढ़तिया आरम्भ में पैदावार का कुछ अधिक मूल्य देकर समिति के सदस्यों को तोड़ने का प्रयत्न करता है। अस्तु जब समिति की स्थापना की जावे तो सदस्यों को इस नियम का पूर्ण रूप से पालन करने की आवश्यकता बतला देनी चाहिए। समिति में दलाल, व्यापारी, तथा अढ़तिया इत्यादि को सदस्य नहीं बनवाना चाहिए नहीं तो यह लोग समिति को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

प्रत्येक सदस्य का उत्तरदायित्व सीमित होता है और सदस्य बनते समय किसान इस आशय का वचन देता है कि वह अपनी पैदावार को समिति के द्वारा ही बेचेगा। जब फसल तैयार होती है तो किसान अपनी पैदावार को समिति के हवाले कर देता है। समिति उसकी पैदावार को तौल कर रजिस्टर में दर्ज कर लेती है और उसकी जमानत पर कुछ रुपया पेशगी किसान को दे देती है जिससे कि किसान लगान इत्यादि अदा कर सके। गांव की विक्रय समितियां मिल कर एक केन्द्रीय सहकारी विक्रय यूनियन बनाती हैं और वह यूनियन समितियों की पैदावार को बेचने का प्रबन्ध

करती है। केन्द्रीय यूनियन या तो बड़ी बड़ी मंडियों में नीलाम करके या अढ़तियों के द्वारा अपनी पैदावार को उचित समय पर बेचने का प्रबंध करती है। यूनियन की कमेटी बाजार भाव का अध्यन करती है और जब अनुकूल समय देखती है तो पैदावार को बेंच देती है। कहीं-कहीं यूनियन बड़े-बड़े कारखानों को अपनी पैदावार बेच देती हैं। गांव की समितियों को यूनियन में संगठित करना इस कारण आवश्यक है क्योंकि न तो गाँव की समिति के पास इतनी पैदावार ही होती है कि जिसकी बिक्री सुविधापूर्वक हो सके और न गांव की समिति की पंचायत को बिक्री की कला का ही इतना ज्ञान होता है कि वे बिक्री का जैसा कठिन और पेचीदा काम आसानी से कर सके। यह बिक्री यूनियन प्रान्तीय सेल यूनियन से सम्बन्धित होती हैं। बिक्री का कार्य बहुत कठिन और पेचीदा होता है। केन्द्रीय यूनियन के पास यथेष्ट पैदावार आती है अस्तु वह गोदामों का भी प्रम्बन्ध कर सकती है और पैदावार का ग्रेडिंग भी करा सकती है।

भारतवर्ष में सहकारी विक्रय समितियों के सामने कुछ कठिनाइयां उपस्थित होती हैं। पहली कठिनाई तो यह है कि उनके पास यथेष्ट पूंजी नहीं होती। जब कि किसान अपनी पैदावार को समिति के पास लाता है तभी वह कुछ पेशगी रुपया चाहता है। समिति को यथेष्ट धन पेशगी दे देना पड़ता है। उसकी अपनी निजी पूँजी बहुत कम होती है और भारतवर्ष में वह दिन बहुत दूर हैं जब कि सहकारी बिक्री समितियों के पास यथेष्ट डिपॉजिट आजावेंगी! सेन्ट्रल सहकारी बैंक समितियों को केवल उतना ही ऋण देते हैं जितनी उनकी निज की पूँजी होती है। आवश्यकता इस बात की है कि बिक्री समितियां अपने सदस्यों का दायित्व हिस्सों के मूल्य से दुगुना या तिगुना रक्खें कि जिससे सेन्ट्रल बैंक बिक्री समितियों की पूंजी से दुगनी या तिगुनी साख दे सकें।

दूसरी कठिनाई जो कि सहकारी बिक्री समितियों तथा बिक्री यूनियनों के सामने उपस्थित होती है वह है गोदामों की। किसान जब अपनी पैदावार को समिति को देती है तो समिति उसे तौल कर उतनी पैदावार की रसीद किसान को दे देता है और उस पैदावार की जमानत पर उसे कुछ पेशगी रुपया दे देता है। किन्तु पैदावार तुरन्त तो बेची नहीं जा सकती। उसके लिए तो अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करनी होगी। जब

बाजार का भाव अनुकूल हो तभी पैदावार बेंची जा सकती है। तब तक पैदावार को सुरक्षित रखने के लिए अच्छे गोदामों की नितान्त आवश्यकता है। भारतवर्ष में अच्छे गोदामों की बहुत कमी है। जब तक गोदामों की व्यवस्था न हो तब तक खेती की पैदावार का ठीक प्रकार से संगठन नहीं किया जा सकता। इसके लिए यह आवश्यक है कि सहकारी बिक्री यूनियनों को सरकार गोदाम बनवाने के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करे।

तीसरी कठिनाई जो विक्रय समितियों के सामने उपस्थित होती है वह है व्यापारियों की प्रतिस्पर्द्धा तथा सदस्यों का समिति के प्रति ईमानदार न रहना। व्यापारी अपने आदमियों को समिति में भेज कर समिति को तोड़ने का प्रयत्न करते हैं और अशिक्षित किसान अपनी समिति के प्रति सच्चा नहीं रहता यदि कोई अढ़तिया या व्यापारी किसान को कुछ ऊँचा मूल्य दे देता है तो वह अपनी पैदावार समिति को न देकर उन्हें दे देता है। यह कठिनाई तो अच्छी तरह समिति को संगठित करने और किसान को शिक्षित करने से ही दूर हो सकती है। किसी-किसी देश में किसान की भलाई को ध्यान में रखते हुए सरकार ने ऐसा कानून बना दिया है कि किसान को सहकारी विक्रय समितियों के द्वारा ही अपनी पैदावार बेंचनी पड़ती है। भारतवर्ष में भी इस ओर हमें ध्यान देना चाहिए। तभी सहकारी विक्रय समितियां देश की अधिकांश पैदावार को बेंचने में सफल हो सकेंगी।

अब हम भिन्न-भिन्न प्रान्तों में सहकारी विक्रय समितियों का संक्षिप्त विवरण देने का प्रयत्न करेंगे।

बम्बई

बम्बई प्रान्त में कपास, गुड़, फल, तम्बाकू, मिर्च, धान, तथा प्याज बेचने के लिए सहकारी विक्रय समितियां स्थापित की गई हैं। किन्तु कपास बेंचने वाली समितियां ही यहां विशेष महत्वपूर्ण हैं। गुजरात तथा कर्नाटक में कपास बेंचने वाली समितियों को विशेष सफलता मिली है। गुजरात के सूरत तथा भड़ौंच जिलों में यह समितियां अधिक संख्या में हैं। एक समिति चार या पांच गांवों की पैदावार बेंचती है। विक्रय समिति के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रबन्ध ठीक हो। इसलिए यह आवश्यक होता है कि व्यापार से परिचित लोग प्रबन्ध कारिणी समिति में रक्खे जावें। इसी उद्देश्य से गुजरात की सब कपास बेंचने वाली समितियों ने एक

संघ स्थापित किया है जो इन समितियों की देखभाल करता है।

कर्नाटक प्रान्त की कपास बेचने वाली समितियों ने आशातीत सफलता प्राप्त की है। इस प्रान्त की अधिकतर कपास इन्हीं समितियों के द्वारा बेची जाती है। स्थानीय व्यापारियों ने इन समितियों का बहुत विरोध किया किन्तु अब यह समितियाँ बलवान हो गई हैं और उनका संगठन प्रबल हो गया है। यह समितियां प्रतिवर्ष ८ लाख मन कपास बेंच देती हैं।

कुछ कपास बेचने वाली समितियों ने अपनी यूनियन बनाली है जो सामूहिक रूप से कपास बेंचने का प्रबंध करती हैं। उन्होंने कपास के पेंच भी खोले हैं जिनमें सहकारी समितियों की कपास ओटी जाती है। बात यह है की सहकारी समितियाँ अपने सदस्यों को उत्तम बीज देती हैं जिससे अच्छी जाति की कपास उत्पन्न हो सके। यदि समितियां अपनी कपास को अन्य पेंचों को दें तो उनका उत्तम बीज दूसरे घटिया बीज से मिल जावे और वे अपनी कपास के लिए बाजार में प्रसिद्धि (Good will) प्राप्त करना चाहती हैं, वह न हो सके और उसके अच्छे दाम न मिल सकें।

इन समितियों की कपास का कृषि विभाग के कर्मचारियों की सहायता से ग्रेडिंग किया जाता है। कृषि विभाग इस कार्य में सहायता देने के लिए अपने कर्मचारियों की सेवा समितियों को देती है। कपास की ग्रेडिंग हो जाने पर उसको उसे बड़ी राशि में नीलाम के द्वारा बेंच दिया जाता है।

सहकारी विक्रय समितियों को प्रोत्साहन देने के लिए सहकारिता विभाग ने १९४१ में बम्बई प्रान्तीय विक्रय समिति स्थापित की है। यह प्रान्तीय समिति प्रान्तीय मारकेटिंग विभाग की सलाह से विक्रय समितियों का संगठन करेगी और उन्हे प्रोत्साहन देगी। इसके संचालक बोर्ड में ४ समितियों के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त, सहकारी विभाग का रजिस्ट्रार, चीफ मारकेटिंग आफिसर, और प्रान्तीय सहकारी बैंक का प्रतिनिध रहता है।

बंगाल

बंगाल में पहले जूट विक्रय समितियां बड़ी संख्या में स्थापित की गई थीं किन्तु वे सब असफल हुईं। एक भारी भूल जो जूट की समितियों ने की वह यह थी कि उन्होंने सदस्यों की पैदावार को खरीदना शुरु कर दिया। अस्तु सारी जोखिम समितियों को ही उठानी पड़ी। अब यह समितियां टूट गई हैं। अब बंगाल में जो विक्रय सहकारी समितियां हैं उनमें धान बेचने वाली

समितियाँ अधिक महत्वपूर्ण हैं। कुछ समितियाँ गन्ने और मछलियों की भी हैं। बंगाल की विक्रय समितियों में नौगांव की गांजा उत्पन्न करने वाली समिति विशेष उल्लेखनीय है। उसके ४००० से ऊपर सदस्य हैं और उसकी कार्यशील पंजी ६ लाख है। इस समिति के पास गांजा और भांग उत्पन्न करने का एकाधिकार है। इस समिति को लाखों रुपया वार्षिक लाभ होता है। समिति ने बंगाल में ३६ एजेंसियां स्थापित की हैं जो गांजा बेचती हैं। इसके अतिरिक्त आसाम, संयुक्तप्रान्त, राजपूताना, कूचबिहार तथा उड़ीसा की रियासतों में भी गांजा भेजा जाता है। समिति का प्रबंध एक प्रबंध-समिति करती है जिसके २६ सदस्य होते हैं। समिति लगभग डेढ़ लाख रुपये वार्षिक शिक्षा पर, सवा लाख रूपये चिकित्सा पर और १० हजार रुपये वार्षिक पशु-चिकित्सा पर व्यय करती है समिति अपने क्षेत्र में सड़कों और पुलों की भी मरम्मत कराती है।

बंगाल में यद्यपि जूट समितियां नितान्त असफल रहीं और अब उनका नाम ही शेष है परन्तु फिर भी जूट की पैदावार करने वालों का संगठन करना आवश्यक है। सफलता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि जूट बेचने वाली समितियों को एक प्रान्तीय जूट समिति स्थापित करके उससे सम्बंधित कर दिया जावे। यह प्रान्तीय समिति जूट मिलों तथा बाहर के व्यापारियों से सम्बंध स्थापित करे और जूट को ऊंचे से ऊंचे दाम पर बेचने का प्रयत्न करे। गांव की जूट समिति किसानों की पैदावार को लेकर मंडियों में स्थापित थोक बिक्री समिति को भेजेगी जहां वह सब इकट्ठा होगा, उसका ग्रेड निर्धारित किया जावेगा और उसकी गांठें बनाई जावेंगी। इन थोक बिक्री समितियों को अपने जूट प्रेस स्थापित करने होंगे। यह थोक समितियां प्रान्तीय यूनियन से सम्बंधित होंगी जिसका मुख्य कार्य ग्रेडिंग का निरीक्षण करना, जूट को बेंचना होगा। जब तक इस प्रकार का संगठन नहीं खड़ा किया जाता तब तक सहकारी समितियां सफल नहीं हो सकतीं। कारण यह है कि जूट का व्यापारी अपने कार्य में बहुत दक्ष है। उसकी प्रतिस्पर्द्धा में खड़े होने के लिए सबल संगठन की आवश्यकता है।

पंजाब

पंजाब में २० से अधिक कमीशन पर बिक्री करने वाली दूकानें हैं। यह दूकानें कच्चे अढ़तिया का काम करती हैं। यह सहकारी कमीशन शाप व्यक्तियों अथवा सहकारी समितियों की पैदावार को बेचती हैं। किसी-किसी

जिले में तो यह दूकाने जिले की पैदावार का बहुत बड़ा भाग बेचती हैं। नहरों के उपनिवेशों में यह दूकानें अधिक सफल हुई हैं क्योंकि वहां के किसान अच्छे हैं। १९२८-२८ में इन दूकानों ने ५८ लाख रुपये की पैदावार की बिक्री की। यद्यपि अब वे पहले से कुछ कम पैदावार की बिक्री करती हैं परन्तु फिर भी प्रति वर्ष लगभग ३० या ३५ लाख रुपये की पैदावार बेंच देती है।

इन दूकानों के सदस्य किसान और सहकारी समितियां दोनों ही होते हैं। वे कच्चे अढ़तिये का काम करती हैं। वे पैदावार की जमानत पर उसके अनुमानित मूल्य का ७५ प्रतिशत बेचने वाले किसान या समिति को रुपया पेशगी दे देती है और उस पर सूद लेती है। इन दूकानों से किसान को मंडी के खर्चे और लागतों में ही बचत होती है। जो छोटे किसान हैं वे इन दूकानों से लाभ नहीं उठा पाते क्योंकि वे महाजनों के कर्जदार होते हैं। इस कारण उन्हें उसी हिसाब में अपनी पैदावार को बेचना पड़ता है फिर उनके पास गाड़ी भी नहीं होती जो वे अपनी पैदावार को सहकारी कमीशन दूकान तक ले जावें। दूकान जब पैदावार बेच देती है तो उस पर अपना कमीशन काट कर किसान को मूल्य दे देती है।

इन दूकानों के चलाने में एक कठिनाई यह उपस्थित होती है कि योग्य ईमानदार मैनेजर नहीं मिलते। इन दूकानों के गोदामों की व्यवस्था करनी चाहिए और पैदावार को ग्रेडिंग करना चाहिए। यद्यपि आज किसान ग्रेडिंग को पसंद नहीं करता परन्तु यदि प्रचार किया जावे तो किसान को ग्रेडिंग और पैदावार को इकट्ठा करने (पूलिंग) के लाभों को समझाया जा सकता है। पैदावार की भिन्नता को कम करने के उद्देश्य से कमीशन दूकान को अच्छे बीज अपने सदस्यों को बेचने चाहिए।

संयुक्तप्रान्त

संयुक्तप्रान्त में भी सहकारी विक्रय समितियों को आशाजनक सफलता मिली है। इनमें गन्ने की समितियां अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। जब गन्ने के धंधे को १९२९ में भारत सरकार ने संरक्षण प्रदान किया तो बड़ी तेजी से शक्कर के कारखाने देश में स्थापित होने लगे। कारखानों की अधिक संख्या होने के कारण बहुत-सी समस्यायें उठ खड़ी हुईं। कारखाने किसानों को तीन-चार आना मन ईख का मूल्य देते थे जब कि टैरिफ बोर्ड ने शक्कर का लागत मूल्य लगाते समय ८ आना मन की कीमत रक्खी थी फिर

किसानों को अपना गन्ना बेंचने के लिए कई दिन कारखाने के फाटक पर खड़ा रहना पड़ता था। तौल में भी धोखेबाजी होती थी। इन सब कठिनाइयों को दूर करने के लिए सरकार प्रति वर्ष गन्ने की कीमत निर्धारित कर देती है और किसान अपना गन्ना सहकारी गन्ना बेचने वाली समितियों के द्वारा बेचती हैं। आज प्रान्त में लगभग ८५० गन्ना समितियां हैं जो किसान के गन्ने को कारखाने को देती हैं। इन समितियों के बन जाने से यह लाभ हुआ है कि गन्ना तोलने में कोई धोखा नहीं होता। किसानों को अपना गन्ना बेचने के लिए कई दिनों तक कारखानों के फाटक पर खड़ा नहीं रहना पड़ता और गन्ने का ठीक दाम किसान को मिल जाता है। इसके अतिरिक्त, ये समितियां अपने सदस्यों को अच्छा बीज, खाद और हल इत्यादि औजार देकर गन्ने की खेती के लिए प्रोत्साहित करती हैं। पिछले वर्ष समितियों ने सदस्यों में ३२ लाख मन बीज बांटा और उन्हें दो लाख मन खाद और ५७ हजार भिन्न-भिन्न प्रकार के खेती के औजार दिये।

अब प्रान्त में गन्ना समितियों का एक जाल-सा बिछा हुआ है और वे लगभग १३ करोड़ मन गन्ना प्रतिवर्ष कारखानों को बेचती हैं। यह ध्यान में रखने की बात है कि संयुक्तप्रान्त के कारखानों में जितना गन्ना खपता है उसका ८० प्रतिशत यह समितियां देती हैं। सरकार ने गन्ने की खेती की उन्नति करने के लिए एक विभाग स्थापित किया है जो इन समितियों की सहायता से गन्ने की खेती की उन्नति करने का प्रयत्न करता है। यह समितियां गन्ने की खेती की उन्नति करने; किसानों के गन्ने को बेचने के अतिरिक्त ग्राम सुधार का कार्य भी करती हैं। जैसे सड़कों की मरम्मत, चिकित्सा की सुविधा, शिक्षा का प्रबंध, तथा सदस्यों में मितव्ययिता का प्रचार करना इत्यादि।

गन्ने की समितियों के अतिरिक्त संयुक्तप्रान्त में अनाज बेचने वाली समितियों की भी तेजी से स्थापना हो रही है। १९३९ में प्रान्तीय सरकार ने खेती की पैदावार को बेचने के संबंध में एक योजना स्वीकृति की। इसके अनुसार प्रत्येक मंडी में एक विक्रय—यूनियन स्थापित की जाती है, और उस मंडी के समीपवर्ती गाँवों की समितियां उस यूनियन की सदस्य बन जाती हैं। अधिकतर अनाज और तिलहन की बिक्री का काम किया जाता है। प्रान्त के प्रत्येक ज़िले में यह योजना काम में लाई जा रही है और लगभग २०० केन्द्रों में यह कार्य हो रहा है। कहीं-कहीं तो यूनियन सदस्यों की पैदावार

स्वयं खरीद लेती है और कहीं-कहीं उसे कमीशन पर बेचती है। पश्चिमी जिलों में तो यूनियन आढ़त का कमीशन लेकर सदस्यों की पैदावार बेच देती है और पूर्वी जिलों में वह सदस्यों की पैदावार मोल लेती है। इस समय ५५ विक्रय यूनियन यह कार्य कर रही हैं। इस योजना को सफल बनाने के लिए सहकारिता विभाग को सरकार ने निरीक्षक, तथा आय-व्यय निरीक्षकों की सेवायें दी हैं और उनका व्यय सरकार देती है। जहाँ विक्रय यूनियन सदस्यों की पैदावार कमीशन पर बेचती है वहाँ सदस्य ७० प्रतिशत अनुमानित मूल्य पेशगी ले लेता है। यूनियन तेजी से बढ़ती जा रही हैं और आशा की जाती है कि भविष्य में खेती की पैदावार एक बहुत बड़ा भाग इनके द्वारा बेंचा जाने लगेगा। इस समय ६० विक्रय यूनियन प्रान्त में कार्य कर रही हैं।

अनाज की बिक्री के अतिरिक्त प्रान्त में घी, दूध, आलू और फलों की बिक्री के लिए भी समितियों का संगठन किया गया है। कुछ बुनकर समितियाँ भी हैं जो कि बुनकरों के बने हुए कपड़े को बेचती हैं।

इनमें घी समितियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस समय प्रान्त में लगभग ७०० घी समितियाँ हैं जिनमें लगभग १० हजार सदस्य हैं। १९४० में इन समितियों ने दो लाख रुपये से अधिक घी बेंचा और पचास हजार रुपये लाभ प्राप्त किया। घी में मिलावट न हो सके इसके लिए प्रत्येक केन्द्र में घी की जाँच करने का प्रबंध किया गया है और आग मार्क घी योजना के अन्तर्गत घी का ग्रेडिंग किया जाता है। प्रान्तीय सरकार ने घी समितियों का संगठन करने तथा घी की ग्रेडिंग करने के लिए आर्थिक सहायता प्रदान की है। प्रान्तीय सरकार ने शिकोहाबाद में घी टेस्टिंग तथा ग्रेडिंग स्टेशन स्थापित की जहाँ घी शुद्ध किया जाता है, और उसकी जांच करके उसका ग्रेडिंग होता है। इसके अतिरिक्त राज्य की सहायता से अन्य केन्द्रों में भी घी ग्रेडिंग स्टेशन स्थापित किए गए हैं। इन घी ग्रेडिंग स्टेशनों में वे व्यापारी या सहकारी समितियाँ जो स्वयं अपनी लैबोरेटरी नहीं रख सकतीं अपने घी की जाँच करवाते हैं और उसका ग्रेडिंग करवाती हैं।

१९३९ में जब कि कांग्रेस मंत्रिमंडल ने शासन की बागडोर छोड़ी थी उस समय कांग्रेस मंत्रिमंडल ने इस आशय का एक बिल एसेम्बली के सामने उपस्थित किया था कि यदि किसी क्षेत्र के किसानों का बहुमत किसी

सहकारी विक्रय समिति में सम्मिलित हो जावें तो शेष किसानों को उस समिति के द्वारा अपनी पैदावार बेचना अनिवार्य हो जावेगा। इस बिल को यू० पी० एग्रीकलचरल मार्केटिंग बिल कहते हैं। आशा है कि अब इस प्रकार का कानून बन जावेगा। यदि इस प्रकार का कानून बन गया तो विक्रय समितियां तेजी से बढ़ेंगी।

मदरास

मदरास में इस समय दो सौ से कुछ कम विक्रय समितियां हैं, जो कि पैदावार की जमानत पर ऋण देती हैं। यह प्रयत्न किया जा रहा है कि ये समितियां पूर्ण रूप से विक्रय समितियों की भांति कार्य करें। इसके लिए यह समितियां गोदाम बनवा रही हैं जहां सदस्यों की पैदावार को रख कर बेचा जावेगा। ऐसा अनुमान किया जाता है कि गोदामों के बन जाने पर यह आन्दोलन उन्नति करेगा। अभी तो इन समितियों का मुख्य कार्य यह है कि किसान अपनी पैदावार को समिति के पास रखकर उस पर ऋण ले लेता है और जब अनुकूल अवसर पाता है तब अपनी पैदावार को बेंच देता है। जो रसीद उसको माल रखने की समिति से मिलती है उसको ही वह खरीदार के हाथ बेंच देता है और खरीदार रसीद दिखाकर समिति से माल ले लेता है।

मदरास में दक्षिण कनारा कृषि सहकारी होलसेल (थोक) समिति उल्लेखनीय है, जो जिले की पैदावार को ५० शाखाओं में इकट्ठा करती है और अपनी बम्बई शाखा के द्वारा बम्बई के बाजार में बेंच देती है। १९४० में समिति ने २० लाख रुपये से अधिक का माल बेचा।

१९३६ में मदरास प्रान्तीय सहकारी समिति की स्थापना हुई। इसका मुख्य कार्य प्रान्त की विक्रय समितियों की देखभाल और संगठन करना है। प्रान्तीय समिति एक साप्ताहिक पत्रिका भी निकालती है जिसमें वस्तुओं के भाव और अन्य जानकारी रहती है।

बिहार

बिहार में भी गन्ना सहकारी समितियां स्थापित की गई हैं। उनकी संख्या ८२८ है। यह २८ यूनियनों में संगठित हैं, और प्रतिवर्ष एक करोड़

मन गन्ना कारखानों को देती हैं। क्रमशः यह समितियां गन्ने की खेती की उन्नति का प्रयत्न कर रही हैं।

मध्यप्रान्त और बरार

मध्यप्रान्त में क्रय-विक्रय समितियों का स्वरूप भिन्न है। कृषि एसोसियेशन, उत्पादकों की एसोसियेशन, आढ़त की दूकान, और बहुउद्देश्य वाली समितियां क्रय-विक्रय का काम करती हैं। कृषि एसोसियेशन अभी तक अधिकतर किसानों को अच्छा बीज, खाद और औजार देने का ही काम करती हैं। प्रान्त में उत्पादकों की तीन एसोशियेसन हैं—यह रायपुर, बिलासपुर और दुर्ग में हैं यह समितियां सदस्यों की पैदावार को अपने गोदामों में रखती हैं और उसका ७५ प्रतिशत मूल्य पेशगी देकर शेष उसके बिकने पर देती हैं। १९३६ में नागपुर में एक संतरा विक्रय समिति स्थापित की गई है। यह कलकत्ता-लखनऊ तथा देहली संतरे भेजती है। प्रान्त में सहकारी आढ़त की ५ दूकानें हैं परन्तु वे विशेष सफल नहीं हुई। प्रान्त में कुछ बहुउद्देश्य वाली सहकारी समितियां भी हैं जो सदस्यों के लिए आवश्यक वस्तुएँ खरीदती हैं और उनकी पैदावार को कमीशन पर बेंचती हैं। किन्तु अभी तक प्रान्त में क्रय-विक्रय आन्दोलन बलशाली नहीं हुआ है।

देशी राज्यों में बड़ौदा राज्य में ५० के लगभग विक्रय समितियां हैं। हैदराबाद में ५० से अधिक समिमितियां हैं जिनमें कुछ कपास की और कुछ अनाज बेंचने की समितियाँ हैं। शेष कारीगरों की समितियाँ हैं (बढ़ई, सुनार, चमार और कागज बनाने वालों की समितियाँ)। इनके अतिरिक्त कोचीन, मैसूर, तथा ट्रावंकोर में भी कुछ विक्रय समितियाँ हैं।

सच तो यह है कि भारतीय किसान को साख समितियों से भी अधिक आवश्यकता विक्रय समितियों की है। इधर कुछ वर्षों से भिन्न-भिन्न प्रान्तों में इस ओर विशेष रूप से प्रयत्न हो रहा है, यह एक अच्छा चिन्ह है।

क्रय-विक्रय समितियां

ऊपर केवल विक्रय समितियों के बारे में लिखा गया है। अब हम ऐसी समितियों के बारे में विचार करेंगे जो खरीदने और बेचने दोनों ही का काम करती हैं। यह समितियाँ परिमित दायित्व वाली होती हैं। यह बड़े क्षेत्र में ही कार्य करके सफल हो सकती हैं। क्योंकि इन समितियों को अधिक

राशि में वस्तुओं को खरीदने तथा पैदावार को बेचने से ही लाभ हो सकता है। क्रय-विक्रय समितियों के केवल वे ही सदस्य बनाये जाते हैं जो फसल उत्पन्न करते हैं। जो कुछ बेचना या खरीदना नहीं चाहते वे इन समितियों के सदस्य नहीं बनाये जाते समिति का लाभ सदस्यों में फरोख्त के हिसाब से बांट दिया जाता है। यदि किसी किसान ने समिति के द्वारा १०० मन कपास बेची और दूसरे ने केवल ५० मन ही कपास बेची तो दूसरे को पहले से आधा लाभ मिलेगा। कुछ लोगों का मत है कि पैदावार बेचने का कार्य साख से बिलकुल भिन्न और कठिन है। इस कारण क्रय-विक्रय का काम एक समिति करे और साख देने का कार्य दूसरी समिति करे। किन्तु यह बात ध्यान में रखने की है कि सदस्यों के लिए आवश्यक वस्तुओं को खरीदने का कार्य साख समितियां भली प्रकार कर सकती हैं। आयरलैंड में सब कार्य एक ही समिति करती है।

गुजरात की समितियां समीपवर्ती गांवों की सहकारी साख समितियों का समूह मात्र होती हैं। विक्रय समितियां उत्पादन और विक्रय या क्रय-विक्रय समितियां होती हैं। बुनकर समितियां या दूध समितियां पहले प्रकार की होती हैं। दूसरे प्रकार की समितियां खाद और औजार देने वाली समितियां हैं। एक तीसरे प्रकार की भी समितियां होती हैं जिन्हें हम ऋण और विक्रय समितियां कहते हैं भारतवर्ष में अधिकांश विक्रय समितियां तीसरे प्रकार की हैं जो सदस्य को पैदावार की जमानत पर ऋण देती हैं और उसकी पैदावार बेचती हैं। यह समितियां सदस्यों की पैदावार को डिमाजिट की पद्धति पर लेती हैं। उन्हें कुछ रुपया ऋण स्वरूप पेशगी दे देती हैं, पैदावार को गोदाम में रखती हैं और उसको इकट्ठा करके उसका ग्रेडिंग करती हैं और फिर अनुकूल अवसर पर उसे बेच देती हैं। बिक्री पर यह समितियां कमीशन लेती हैं।

विक्रय सहकारी समितियों का आन्दोलन अभी तक बहुत शिथिल है उसमें तेजी नहीं आई है। इसके मुख्य कारण नीचे लिखे हैं:—

किसानों का अशिक्षित और ऋणी होना, यातायात के साधनों का अभाव, माल गांवों से मंडी तक ले जाने में अधिक व्यय होना, पैदावार को रखने के लिए गोदामों का अभाव, पैदावार को इकट्ठा करने और उसकी ग्रेड निर्धारित करने की व्यवस्था का न होना, समितियों की प्रबंधकारणी समिति में व्यापारिक बुद्धि तथा अनुभव के व्यक्तियों का न

होना, अच्छे अनुभवी वैतनिक कर्मचारियों का न मिलना, सदस्यों का समिति के प्रति सच्चे न रहना, समितियों का बड़े बड़े व्यापारिक केन्द्रों से सम्बंध स्थापित न हो सकना और विदेशों तथा देश की मंडियों के संबंध में ठीक जानकारी न होना।

क्रय-विक्रय समितियों के कार्य में कुछ और भी कठिनाइयां हैं जिन पर विचार कर लेना आवश्यक है। यदि यह समितियां बड़ी होंगी तो वे व्यापारियों की प्रतिद्वन्दिता में न टिक सकेंगी। आवश्यकता इस बात की है कि बहुत से गांवों के लिए एक समिति की स्थापना की जावे। इन समितियों में व्यक्तियों को सदस्य बनाना भी खतरे से खाली नहीं है क्योंकि बनिये तथा व्यापारी, जिनसे समिति प्रतिद्वन्दिता करती है, अपने आदमियों को समिति का सदस्य बना कर समिति को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। अस्तु केवल साख समितियों को ही सदस्य बनाया जावे। किन्तु यह नियम रहे कि जो साख समिति के सदस्य नहीं हैं, समिति उनकी पैदावार भी बेंचेगी। इसके अतिरिक्त जो लोग व्यापारी नहीं हैं और जो समिति से प्रतिद्वन्दिता नहीं करते उन्हें जाँच करके सदस्य बनाया जा सकता है।

विक्रय समितियां सफल नहीं हो रही हैं और सहकारी विक्रय आन्दोलन तेजी से नहीं बढ़ रहा है, इस सम्बंध में मदरास सहकारी कमेटी ने जो सिफारिश की हैं वे उल्लेखनीय हैं। (१) उत्पादक समितियों को संगठित करना और उनका उपभोक्ता स्टोर्स से सम्बंध स्थापित करना। (२) माल लाने और ले जाने के लिए यातायात के साधनों की सुविधा प्रदान करना जिससे माल को मंडियों तक पहुँचने में कम खर्च हो। (३) मंडियों का कानून द्वारा नवीन संगठन हो जिससे कि मंडियों में प्रचलित बुराइयां दूर की जा सकें। (४) तौल सब मंडियों में एक हो। (५) पैदावार का ग्रेड निर्धारित करना। (६) बाजार के संबंध में जानकारी कराना।

ध्यान रहे कि लगभग यही सिफारिशें शाही कृषि कमीशन और प्रान्तीय बैंकिंग इनक्वायरी कमेटियों की हैं। अस्तु सरकार का यह कर्त्तव्य है कि इस दिशा में पूरा प्रयत्न करे। बिना इन सुविधाओं को प्रदान किये किसान की पैदावार की बिक्री की समस्या हल नहीं हो सकती।

कृषि कमीशन तथा बैंकिंग इनक्वायरी कमेटियों ने इस बात पर भी जोर दिया था कि मंडियों को कानून द्वारा संगठित करने के पूर्व मारकेटिंग

सर्वे होना आवश्यक है और इस कार्य के लिए मारकेटिंग आफिसर नियुक्त किये जाने चाहिए। खेती की पैदावार की बिक्री के महत्व को ध्यान में रख कर भारत सरकार ने इन सिफारिशों के अनुसार काम करना स्वीकार किया। भारत सरकार ने कुछ समय के लिए एक अनुभवी और योग्य खेती की पैदावार की बिक्री के विशेषज्ञ को नियुक्त किया। इस आफिसर के नीचे बहुत से उसके सहकारी नियुक्त किये गए और यह सब इम्पीरियल कौंसिल आफ एग्रीकल्चरल रिसर्च की देखरेख में खेती की पैदावार की बिक्री की समस्याओं पर खोज कर रहे हैं। यह विभाग खेती की पैदावार की ग्रेडिंग करने तथा अन्य आवश्यक बातों के सम्बंध में योजना तैयार करता है और खेती की पैदावार के सम्बंध में भारत सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों को सलाह देता है। १९३८ में भारत में प्रान्तीय आर्थिक सम्मेलन हुआ जिसने इस बात की सिफारिश की कि आर्थिक मामलों में ब्रिटिश भारत देशी राज्यों में गहरा सहयोग होना आवश्यक है। इसके फलस्वरूप भारत सरकार, प्रान्तीय सरकारों तथा कुछ बड़े देशी राज्यों ने मारकेटिंग विभाग स्थापित किया। अस्तु, आज केन्द्रीय सरकार ने एक मारकेटिंग सलाहकार नियुक्त कर रक्खा है जिसकी सहायता के लिए बहुत से मारकेटिंग आफिसर नियुक्त किये गए हैं। प्रान्तीय सरकारों ने भी सीनियर मारकेटिंग आफिसर नियुक्त किये हैं जिनके नीचे जूनियर मारकेटिंग आफिसर नियुक्त किये गए हैं। देशी राज्यों ने भी मारकेटिंग आफिसर नियुक्त किये हैं। इनके अतिरिक्त कपास, जूट कहवा, लाख और शक्कर की अखिल भारतीय कमेटियां हैं जिनका अपना मारकेटिंग स्टाफ है जो केन्द्रीय तथा प्रान्तीय मारकेटिंग विभाग के साथ मिल कर काम करता है।

इस मारकेटिंग विभाग का मुख्य कार्य अभी तक केवल मारकेटिंग सर्वे करना रहा है। मारकेटिंग सर्वे में उत्पादन की क्रियायें, किस प्रकार वह पैदावार खरीदारों के हाथ में पहुँचती है, पैदावार का एक स्थान से दूसरे स्थान तक किस प्रकार ले जाया जाता है, पैदावार को किस प्रकार रक्खा जाता है, उसका मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है इत्यादि सभी आवश्यक बातों का समावेश रहता है। अब लगभग महत्वपूर्ण फसलों के मारकेटिंग सर्वे हो चुके हैं और कुछ की तो रिपोर्ट भी प्रकाशित हो चुकी है। मारकेटिंग सर्वे के अतिरिक्त पैदावार का ग्रेडिंग करने का भी प्रयत्न किया गया है।

इन मारकेटिंग सर्वे के फलस्वरूप १९३७ में खेती की पैदावार का ग्रेडिंग और मारकेटिंग (Agricultural Procure Grading and Marketing Act) कानून बनाया गया। जिससे कि पैदावार का ग्रेडिंग किया जा सके। इस कानून के अन्तर्गत ऐग्रीकलचरल मारकेटिंग सलाहकार को यह अधिकार दे दिया गया है कि वह ऐसे व्यक्तियों को एक प्रमाणपत्र दे दे जो कि अपनी पैदावार की ग्रेडिंग कराने के लिए तैयार हों। तब से कुछ स्थानों में ग्रेडिंग और मारकेट केन्द्र स्थापित किये गए हैं जहां पैदावार का ग्रेडिंग और मारकेट होता है। अभी तक अंडे, कपास, वनस्पति घी, तेल, खाल, आटा, फल, चना, चावल के ग्रेडिंग स्टेशन भिन्न-भिन्न स्थानों पर स्थापित हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त तम्बाकू और आम का विदेशों में भेजने के लिए ग्रेडिंग किया जाता है।

इसके अतिरिक्त यह प्रयत्न भी किया जा रहा है कि इन फसलों का क्रय-विक्रय तमाम देश में एक प्रकार से ही हो। यही नहीं किसानों में खेती की पैदावार को बेचने के आधुनिक ढङ्ग का प्रचार किया जाता है। इसके प्रदर्शन, नुमाइश और एग्रीकल्चरल शो किये जाते हैं। पैदावार के मूल्य की जानकारी कराने के लिए देहली के रेडियो स्टेशन से सब मुख्य पैदावारों का दैनिक भाव ब्राडकास्ट किया जाता है। प्रान्तीय मारकेटिंग विभाग भी इसी प्रकार की जानकारी फैलाने का प्रयत्न करते हैं। युद्ध के समय में तो मुख्य पैदावारों पर कंट्रोल स्थापित कर दिये गए और उनका मूल्य निर्धारित कर दिया गया। इसके अतिरिक्त सब प्रान्तों और कुछ देशी राज्यों में कानून बनाकर मंडियों का नियंत्रण करने और वहां अड़तियों द्वारा मनमाना खर्चा (लाग) लगाने के लिए मारकेट ऐक्ट बनाने की चर्चा चल रही है।

सच तो यह है कि किसान की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए खेती की पैदावार की बिक्री का उचित प्रबंध करना आवश्यक है। इसके लिए गांवों को पक्की सड़कों द्वारा मंडियों से जोड़ना अत्यन्त आवश्यक है। तौल देश भर में एक-सी होना चाहिए, किसान को महाजन तथा व्यापारी से मुक्ति दिलाने के लिए साख समितियां तथा सहकारी विक्रय समितियों को स्थापना की आवश्यकता है। मारकेटिंग कानून पास करके बाजारों का नियंत्रण होना जरूरी है। पैदावार का मंडियों में ग्रेडिंग होना चाहिए और उसके लिए

प्रत्येक बड़ी मंडी में ग्रेडिंग स्टेशन स्थापित किये जाने चाहिए। इसके अतिरिक्त बड़ी मंडियों, रेलवे स्टेशनों और गांवों में पैदावार को सुरक्षित रखने के लिए गोदाम होने चाहिए। यह सब सुविधायें प्रदान करने के उपरान्त ही किसान को उसकी पैदावार का उचित मूल्य दिलाया जा सकता है और उसे दलालों की लूट से बचाया जा सकता है।

परिच्छेद—६

खेती के सहायक धंधे और कुटीर धंधे

भारतवर्ष कृषि प्रधान देश है, कृषि यहाँ का महत्त्वपूर्ण धंधा रहा है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इस देश में अन्य उद्योग धंधों का अभाव रहा हो। प्राचीन काल तथा मध्य युग में भारतीय कारीगरों की बनाई हुई वस्तुएँ योरप के बाजारों में बहुत मूल्य पर बिकती थीं; किन्तु ईस्ट-इंडिया कंपनी ने क्रमशः हमारे गृह उद्योग धंधों को नष्ट कर दिया और धंधों में लगी हुई जनसंख्या विवश होकर खेती-बारी की ओर चली आई। इङ्गलैंड में औद्योगिक क्रान्ति के उपरान्त बड़े-बड़े कारखाने खड़े किये गये। अस्तु इङ्गलैंड में व्यवसायियों को ऐसे देशों की आवश्यकता प्रतीत हुई जो कच्चा माल उत्पन्न करें और इङ्गलैंड में बने तैयार माल के ग्राहक बनें। क्रमशः भारतवर्ष ऐसी अवस्था में पहुँच गया।

गृह उद्योग धंधों के नष्ट होने से तो भारत की जनसंख्या खेती की ओर आई ही; साथ ही भारत की जनसंख्या भी बढ़ती गई और किसी दूसरे धंधे के न होने के कारण वह भी खेती में लग गई। इसका फल यह हुआ कि खेती-बारी पर निर्भर रहने वाली जनसंख्या बहुत बढ़ गई। इस समय प्रति किसान पीछे औसत भूमि २½ एकड़ है। बहुत से प्रान्तों में अधिकतर किसानों के पास इससे भी कम भूमि रह गई है। इतनी कम भूमि पर खेती-बारी करके किसान अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण भली प्रकार नहीं कर सकता। यही नहीं, गांवों में एक ऐसा समुदाय उत्पन्न हो गया है जिसके पास खेती के लिए भूमि बिलकुल नहीं है। यदि किसी के पास एक या दो भूमि के छोटे टुकड़े हैं भी तो वह उससे उत्पन्न अन्न पर दो चार महीने भी नहीं काट सकता। यह वर्ग मजदूरी करता है। फसल बोने और काटने के समय उन्हें दूसरों के खेतों पर मजदूरी मिल जाती है।

अर्थशास्त्र के जानने वालों तथा शाही कृषि कमीशन की राय है कि साधारण किसान वर्ष में चार महीने बेकार रहता है, और गांव के मजदूरों को तो चार महीने से अधिक काम मिलता ही नहीं। जहाँ पानी की

कमी है और एक ही फसल होती है वहां किसान ६ से ८ महीने तक बेकार रहता है। यह मानी हुई बात है कि आठ महीने काम करके कोई भी बारह महीने का भोजन नहीं पा सकता। भारत में तो जनसंख्या का भूमि पर अत्यधिक भार है, जिसके कारण भूमि इतनी जनसंख्या का पालन पोषण नहीं कर सकती। योरोप तथा अमेरिका जैसे देशों में भी जहाँ किसानों के पास बड़े-बड़े फार्म हैं किसान केवल खेती पर ही अवलम्बित नहीं रहता। वह ग्राम उद्योग धंधों के द्वारा अपनी आय को बढ़ाता है। जब इन देशों में—जहाँ भूमि की कमी नहीं है—प्रत्येक किसान के पास खेती के लिए यथेष्ट भूमि है, ग्राम उद्योग धंधों की आवश्यकता होती है, तब भारतवर्ष में जहाँ भूमि का अकाल हो किसान बिना ग्राम धंधों के किस प्रकार जीवित रह सकता है?

बढ़ती हुई जनसंख्या के भार को भूमि पर से हटाने के लिए अर्थ-शास्त्र के विद्वानों ने अभी तक ऐसा कोई उपाय नहीं बतलाया जिसको सबों ने स्वीकार कर लिया हो। मतभेद अवश्य है और भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न उपाय बतलाये हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि निम्नलिखित चार उपाय हमारे सामने रक्खे गए हैं:—

(१) प्रवास—अन्तर प्रान्तीय प्रवास तथा विदेशों को प्रवास।

(२) मिलें और बड़े कारखाने अधिक संख्या में स्थापित किये जांय तथा देश में आधुनिक ढङ्ग से औद्योगिक उन्नति इस शीघ्रता से की जावे कि गांवों की जनसंख्या उनमें काम पा सके।

(३) गहरी खेती की जावे।

(४) गृह उद्योग धंधों और खेती के सहायक धंधों को गांवों में पुनर्जीवित किया जाय।

अब देखना यह है कि हमारे देश के लिए कौन-सा उपाय उपयुक्त होगा। प्रवास से समस्या हल हो सकेगी इसमें संदेह है; क्योंकि भारतवर्ष में आसाम को छोड़कर अन्य सब प्रान्तों में वहां की भूमि की उत्पादन शक्ति तथा भौगोलिक परिस्थिति को देखते हुए जनसंख्या यथेष्ट है जब से आसाम में चाय के बागों की उन्नति हुई तब से हजारों की संख्या में प्रति वर्ष मजदूर वहां जाकर बसते रहे हैं। अब आसाम भी अधिक जनसंख्या को स्थान नहीं दे सकता। बर्मा में भी भारतीयों को जाकर बसने की सुविधायें मिल सकेंगी

इसमें बहुत संदेह है। विदेशों में प्रवास करने का तो भारतीयों के लिए प्रश्न ही नहीं उठता। निर्धन और परतंत्र भारतीयों को भला अपने यहाँ कौन घुसने देगा। विदेशों में भारतीयों को न घुसने देने और अफ्रीका इत्यादि उपनिवेशों में जहां भारतीय यथेष्ट जनसंख्या में बसे हुए हैं उन्हें निकाल बाहर करने का जो षडयंत्र चल रहा है वह किसी भी भारतीय से छिपा नहीं है। अस्तु यह निश्चित है कि प्रवास से भूमि का भार हलका करने का विचार भ्रमोत्पादक है।

कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि यदि भारतवर्ष में बड़े-बड़े कारखाने अधिक संख्या में खोले जावें और आधुनिक ढङ्ग पर उद्योग धंधों की उन्नति की जाय तो बहुत-सी जनसंख्या उनमें काम पा सकती है। अभी हाल में जो भारत के प्रमुख व्यवसायियों ने (ताता-बिरला योजना) भारत के लिए एक आर्थिक योजना उपस्थित की है उसमें बड़े धंधों की स्थापना पर ही विशेष जोर दिया गया है। इन विद्वानों के कथन में कुछ सत्य अवश्य है। किन्तु ऐसे लोग जब भारत की आर्थिक समस्या को हल करने के लिए यह उपाय बतलाते हैं तब सम्भवतः वे भारतवर्ष की वास्तविक परिस्थिति को भुला देते हैं। भारतवर्ष में आधुनिक ढङ्ग के कारखानों की स्थापना का श्रीगणेश सन १८५० के उपरान्त हुआ। आज लगभग १०० वर्षों के उपरान्त भारतवर्ष की सब फैक्टरियां देश की केवल एक प्रतिशत जनसंख्या को काम दे सकी हैं। ध्यान रहे, फैक्टरी कानून के अनुसार जहां उत्पादन काम यांत्रिक शक्ति (भाप, बिजली गैस) की सहायता से होता हो और जहां कम से कम १० मजदूर काम करते हों वहाँ फैक्टरियाँ हैं। औद्योगिक उन्नति के लिए किन बातों की आवश्यकता है यह तो हमारे क्षेत्र के बाहर की बात है। किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि जब लगभग एक शताब्दी की औद्योगिक उन्नति के उपरान्त कारखाने हमारे देश की समस्त जनसंख्या के एक प्रतिशत को ही काम दे पाये हैं, तब निकट भविष्य में यह आशा करना कि कारखानों में जनसंख्या का एक बहुत भाग काम पा जायगा, केवल दुराशा मात्र है। भारतवर्ष की आर्थिक तथा राजनैतिक स्थिति को देखते हुए यही कहना पड़ता है कि औद्योगिक उन्नति धीरे-धीरे होगी। साथ ही भारतवर्ष की औद्योगिक उन्नति का लक्ष्य भारतीय बाजार की मांग को देखते हुए स्थिर करना होगा। भारत की औद्योगिक उन्नति यदि इस उद्देश्य को लेकर की

जावे कि हम विदेशी बाजारों में अपने माल को अधिकाधिक बेच सकेंगे तो यह भूल होगी, क्योंकि प्रत्येक देश आज औद्योगिक देश बनने का प्रयत्न कर रहा है और दूसरे देशों के माल पर आयात कर लगाकर अपने धंधों को संरक्षण प्रदान कर रहा है। फिर पूंजी की कमी, वैज्ञानिक खोज का अभाव, औद्योगिक शिक्षा तथा व्यवसायिक शिक्षा देश में न होने और यंत्रों के लिए दूसरे देशों पर अवलम्बित रहने के कारण यह आशा करना कि थोड़े समय में ही करोड़ों मनुष्यों को कारखाने में काम मिल जावेगा व्यर्थ है। फिर यदि ऐसा हो सके तो देश के लिए यह परिवर्तन पूर्ण रूप से लाभदायक न होगा।

यदि यह मान भी लिया जाय कि कारखानों की तेजी से बहुत बड़ी संख्या में स्थापना होने से गांवों में रहने वाली जनसंख्या घट जावेगी, तो भी समस्या हल नहीं होती। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि गांवों की समस्या यह नहीं है कि जनसंख्या सर्वदा के लिए गांवों से हटा कर बाहर भेज दी जावे। कारण, फसल काटते तथा बोते समय तो गांवों में इतना काम होता है कि मजदूरों का अकाल पड़ जाता है और शहरों से गांवों में लोग वापस लौट आते हैं। प्रश्न हो सकता है कि संयुक्तराज्य अमेरिका तथा कनाडा इत्यादि देशों में खेती किस प्रकार होती है? बात यह है कि उन देशों में किसानों के पास यहाँ की भाँति छोटे-छोटे खेत नहीं हैं। उन देशों में ५०० एकड़ से कम के फार्म सम्भवतः बहुत कम मिलेंगे और १००० एकड़ के फार्म तो बहुत से मिलेंगे। किसान थोड़े से मजदूर रखकर सारा कार्य मशीनों के द्वारा करता है। जुताई, कटाई, बुआई तथा सिंचाई का सब काम भाप या बिजली से चलने वाले यंत्रों के द्वारा होता है। यह तो सभी जानते हैं कि यदि भारत में भी इसी प्रकार के यंत्रों द्वारा बड़े-बड़े फार्मों पर खेती की जाने लगे तो करोड़ों व्यक्ति बेकार हो जावेंगे। भला उस राष्ट्रीय बेकारी को कैसे हल किया जा सकेगा। अस्तु यह तो निश्चित हो गया कि गांवों से जनसंख्या को हटा देने से काम नहीं बनेगा। और यदि ऐसा हो भी सकता हो तो वह राष्ट्र के हित में न होगा। इस सम्बंध में हम पहले परिच्छेद में विस्तार पूर्वक लिख चुके हैं। साथ ही हमें यह भी ज्ञात है कि खेती में लगा हुआ व्यक्ति वर्ष में चार से छः महीने के लगभग बेकार रहता है।

अब दो उपाय और रह गए, जो समस्या को हल करने के लिए बतलाये जाते हैं। गहरी खेती तथा ग्राम उद्योग धंधे। शाही कृषि कमीशन ने सोलहवें परिच्छेद में इस विषय पर अपने विचार प्रगट किये हैं। परिस्थिति का अनुशीलन करने के उपरान्त कमीशन ने अपना निश्चित मत यह दिया है कि यह समस्या केवल गहरी खेती के द्वारा ही हल हो सकती है। कृषि कमीशन ने प्रवास तथा कारखानों की स्थापना के द्वारा समस्या हल न होने की बात तो कही ही है, साथ ही ग्राम उद्योग धंधों के विषय में यह सम्मति दी है कि उनके द्वारा भूमि पर जनसंख्या का भार हलका हो सकेगा, इसमें संदेह है। कृषि कमीशन की ग्राम उद्योग धंधों के बारे सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि वे मिलों की प्रतिद्वन्दिता में टिक न सकेंगे। कृषि कमीशन ने यह बात भी स्वीकार की है कि किसान को गांवों के बाहर ऐसा काम अधिकतर नहीं मिल सकेगा जिससे कि वह बेकारी के दिनों में कुछ मजदूरी करके कमा सकें। इस प्रकार कमीशन की सम्मति में गहरी खेती ही इसका एकमात्र उपाय है।

सिद्धान्त रूप से यह बिलकुल ठीक है कि भारत में गहरी खेती होनी चाहिए, और भविष्य में यही लक्ष्य हमारे सामने रहना चाहिए। किन्तु आज की परिस्थिति को देखते हुए यह कहना कि भारतीय किसान गहरी खेती को अपनावेगा, वास्तविकता से अनिभिज्ञता प्रगट करना है। गहरी खेती के लिए अधिक पूंजी की आवश्यकता है। खाद, हल तथा यंत्र, बीज तथा बैल सभी बढ़िया होने चाहिए। सिंचाई का समुचित प्रबंध होना आवश्यक है। फिर यदि यह मान भी लिया जावे कि किसान को उचित सूद पर वैज्ञानिक ढंग से खेती करने के लिए पूंजी मिल जावेगी तो भी किसान अपनी सारी शक्ति और पूंजी केवल खेती में लगा दे यह उचित नहीं कहा जा सकता है। बात यह है कि खेती का धंधा अत्यन्त अनिश्चित होता है। किसान अच्छे से अच्छा बीज और खाद डाले, घोर परिश्रम करे, फिर भी वह फसल को नष्ट होने से नहीं रोक सकता। समय पर वर्षा न होने, कुसमय वर्षा हो जाने, अति वृष्टि, टिड्डी, फसलों के शत्रु कीड़े तथा हवा और ओले सभी फसलों को नष्ट कर देते हैं और किसान गहरी खेती करने पर भी निश्चय पूर्वक यह नहीं कह सकता कि उसकी फसल अच्छी ही होगी। हमारे देश में खेती और भी अनिश्चित है क्योंकि यहाँ वर्षा बहुत अनिश्चित

है। ऐसी परिस्थिति में किसान स्वभावतः गहरी खेती के लिए तैयार न होगा। इसके अतिरिक्त और कारणों से भी किसान खेती में अधिक पूंजी नहीं लगावेगा। उसको भय रहता है कि पैदावार बढ़ने से लगान बढ़ जायेगी। किसान को यह भरोसा नहीं होता कि पैदावार अधिक होने से उसे लाभ होगा। किसानों की फसल कटते ही, महाजन, जमींदार तथा सरकारी कर्मचारी उसे घेरने लगते हैं। किसान को अपनी पैदावार उस समय बेचनी पड़ती है कि जब बाजार भाव महा होता है। इसके अतिरिक्त गांव के महाजनों, बाजार के दलालों, अढ़तियों तथा व्यापारियों द्वारा भी किसान लूटा जाता है और अधिकतर लाभ बीच के लोग ही हड़प कर जाते हैं। किसान को अपनी पैदावार का उचित मूल्य नहीं मिलता। यदि भविष्य में सरकार इन कठिनाइयों को कानून बनाकर रोक भी दे और किसान को अपनी पैदावार का उचित मूल्य मिलने लगे, तो उस दशा में कृषि कमीशन इसका कोई उपाय नहीं बतला सका कि फसल नष्ट होने पर किसान क्या करे। ग्राम-अर्थशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान कैलवर्ट महोदय ने ठीक ही लिखा है कि संसार में किसी भी देश का किसान केवल खेती बारी पर निर्भर रहकर सुचारु रूप से जीवन निर्वाह नहीं कर सकता। फिर यह असम्भव बात भारतीय किसान कैसे सम्भव कर सकता है।

अमेरिका, फ्राँस, जर्मनी तथा जापान इत्यादि देशों में किसान खेती बारी के अतिरिक्त कोई न कोई ऐसा धंधा अवश्य करता है जिससे उसको कुछ अतिरिक्त आय होती रहे। भारतवर्ष में तो सहायक धंधों की और भी अधिक आवश्यकता है, क्योंकि यहाँ तो आये दिन फसल नष्ट होती रहती है, अकाल पड़ते रहते हैं, साथ ही किसानों के पास खेती योग्य भूमि भी बहुत कम है। अकाल पड़ने पर फसल नष्ट हो जाने से किसान का एक आश्रय तो सर्वथा जाता रहता है। यदि उसके पास जीवन निर्वाह का दूसरा आधार हो तो उसकी दशा इतनी दयनीय न हो जितनी कि आज है।

संतोष का विषय है कि महात्मा गाँधी जी के नेतृत्व में राष्ट्र निर्माण के इस महत्वपूर्ण कार्य का श्रीगणेश हो रहा है। हमारे गाँवों का जो आर्थिक शोषण हो रहा है उसको रोकने और किसानों की आर्थिक स्थिति को सुधारने का यही एकमात्र उपाय है। किसान की आय जब इन धंधों द्वारा बढ़ जावेगी तभी वह गहरी खेती के लिए तैयार होगा।

सहायक धंधों से एक लाभ और भी होगा किसान को खेती की पैदावार के बेचने से एक मुश्त रकम मिलती है किन्तु दैनिक व्यय के लिए उसे बड़ी अड़चन होती है। यदि वह कोई सहायक धंधा अपना लेगा तो उसकी यह अड़चन दूर हो जावेगी।

सहायक उद्योग धंधों की आवश्यकता तो केवल इसलिए है कि किसान को खेती से यथेष्ट आय नहीं होती। वह इन धंधों से अपनी आय की वृद्धि कर सकेगा। अतएव ऐसा कोई धंधा उसे नहीं बतलाया जा सकता जो उसके मुख्य धंधे—खेती के काम में अड़चन डाले।

अस्तु खेती के सहायक उद्योग धंधों में नीचे लिखे गुण होने चाहियेः—

(१) धंधा ऐसा होना चाहिए जो खेती के काम में बाधक न हो। अथवा जब खेत पर अधिक कार्य हो तब उसको बिना किसी हानि के छोड़ा जा सके।

(२) धंधे को चलाने के लिए किसान को अधिक सीखने की आवश्यकता न पड़े। यदि धंधा ऐसा हुआ जिसमें अधिक कुशलता की आवश्यकता हुई तो किसान उसकी शिक्षा कैसे और कहां लेगा।

(३) धंधे में यदि कच्चे पदार्थ की आवश्यकता हो तो ऐसा होना चाहिए कि जो गांव में ही उत्पन्न होता हो नहीं तो किसान को कच्चा माल व्यापारी अथवा बनिये से खरीदना होगा और उसको बहुत मँहगे दामों पर मिलेगा।

(४) धंधे के द्वारा तैयार होने वाली वस्तु ऐसी होनी चाहिए कि जिसकी माँग सर्व साधारण में हो कि जिससे माल बेचने में अधिक कठिनाई न हो। यदि गाँव में ही उसकी खपत हो सके तो अच्छा है।

(५) धंधा ऐसा होना चाहिए कि जिसके चलाने में अधिक पूँजी की आवश्यकता न पड़े। यदि अधिक पूँजी की आवश्यकता हुई तो वह धंधा निर्धन किसान के उपयुक्त न होगा।

(६) जो भी औजार या यंत्र धंधों में काम आवें वे सस्ते और सादे हों।

(७) साथ ही जहाँ तक हो सके सहायक धंधे ऐसे चुने जावें जिनकी प्रतिस्पर्द्धा मिलों के बने हुए माल से न हो।

यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिए ग्राम धंधों अर्थात खेती के सहायक

धंधों और गृह उद्योग धंधों अर्थात कुटीर उद्योग धंधों में भेद है। साधारणतः लोग इन दोनों प्रकार के धंधों में भेद नहीं मानते। गृह-उद्योग धंधे या कुटीर उद्योग धंधे गांवों में भी हो सकते हैं और शहरों में भी हो सकते हैं। किन्तु कुटीर उद्योग धंधे सहायक धंधों के रूप में नहीं चलाये जा सकते। वे तो स्वयं मुख्य धंधे हैं। एक किसान बुनकर के धंधे को अपना सहायक धंधा नहीं बना सकता। हां वह कातने का काम कर सकता है। कुटीर धंधों का प्रश्न एक अलग प्रश्न है और हम उसके विषय में आगे चल कर लिखेंगे।

हां, तो ऊपर लिखे हुए गुणों का ध्यान रखते हुए नीचे लिखे हुए सहायक धंधे किसान के लिए उपयुक्त हो सकते हैं।

(१) वे धंधे जो भोज्य पदार्थ उत्पन्न करते हैं:—

उदाहरण के लिए दूध, घी, मक्खन का धंधा, अंडे का धंधा, फल उत्पन्न करने का धंधा, शाक उत्पन्न करने का धंधा, शहद उत्पन्न करने का धंधा। गुड़ तथा शक्कर बनाने का धन्धा मुरब्बा अचार बनाने तथा फल को सुरक्षित रखने का धन्धा इत्यादि।

इन धंधों से एक लाभ तो यह होगा कि किसान तथा अन्य ग्रामवासियों को पौष्टिक भोजन मिल सकेगा। आज दिन भारतीय ग्रामनिवासी का भोजन जितना निम्न श्रेणी का है उतना सम्भव है कि किसी दूसरे देश के किसान का न हो। अतएव इन धंधों की उन्नति से कम से कम यह लाभ तो अवश्य होगा कि किसान का भोजन बहुत पौष्टिक हो जावेगा। जो कुछ वह अधिक उत्पन्न करेगा वह बेच कर किसान कुछ आय प्राप्त कर सकेगा। यह धंधे खेती के काम में बिलकुल बाधक नहीं होते। घर के स्त्री बच्चे उनकी देखभाल कर सकते हैं और अवकाश मिलने पर किसान भी उनकी देख भाल कर सकता है। पश्चिमीय देशों में प्रत्येक किसान दूध, अंडे और फल उत्पन्न करने का धंधा करता है। इन धंधों का एक विशेष लाभ यह भी है कि उनके द्वारा किसान को प्रति दिन कुछ आय हो जाती है जब कि खेती से वर्ष के अन्त में आय होती है।

मुर्गी पालने का धंधा

मुर्गी पाल कर अंडे बेचने का धंधा किसान के लिए एक उपयोगी धंधा सिद्ध हो सकता है। यद्यपि हिन्दुओं में इस धंधे का प्रचार असम्भव है।

किन्तु ईसाई, मुसलमान तथा हिन्दुओं में अछूत कहे जाने वाले लोग इस धंधे को कर सकते हैं। भारतवर्ष में जिस प्रकार गौवंश की नस्ल खराब होगई है उसी प्रकार मुर्गी की नस्ल भी खराब हो गई है। किन्तु मुर्गी की नस्ल का सुधार आसानी से हो सकता है। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में अच्छी नस्ल (लेगहार्न) के मुर्गे-मुर्गियों के सम्बंध से मुर्गी की नस्ल को सुधारने का प्रयत्न किया जा रहा है। मुर्गी पालने का धंधा उस प्रदेश के लिए बहुत उपयोगी है जहां बहुधा दुर्भिक्ष पड़ता है। घर के बच्चे इस धंधे को सफलतापूर्वक चला सकते हैं। यह अनुमान किया गया है कि एक कुटुम्ब अंडों को बेचकर वर्ष में ५० से १५० रु० तक कमा सकता है। योरोप में डेनमार्क तथा अन्य देशों का किसान प्रतिवर्ष अंडे बेच कर यथेष्ट धन कमाता है। पूर्वीय देशों में चीनी किसान प्रतिवर्ष अंडे बेचकर यथेष्ट धन कमाता है। वहां अंडों को विदेशों में भेजना एक महत्वपूर्ण व्यापार बन गया है। यदि यातायात के साधनों की कमी के कारण किसी प्रदेश से अंडे बाहर नहीं भेजे जा सकते तो उनका पाउडर बनाकर भेजा जाता है। मुर्गी पालने से एक लाभ यह भी होगा कि किसान को फलों के पेड़ों के लिए बहुत उत्तम खाद प्राप्त हो जावेगी। हर एक मुर्गी वर्ष में ४० से ८० पौंड तक खाद तैयार करती है। प्रश्न हो सकता है कि यदि धंधा अधिक उन्नति कर गया तो उसके लिए बाजार कहां मिलेगा। पहले तो देश में ही अंडा खाने वालों की यथेष्ट संख्या है दूसरे अन्य देशों को अंडा भेजा जा सकता है। यदि सुविधाओं के अभाव में ताजा [illegible] न जा सके तो पाउडर बनाकर विदेशों को भेजा जा सकता है।

फलों की पैदावार

प्रत्येक देश में फल उत्पन्न करने का धंधा एक महत्वपूर्ण धंधा है। अभी तक भारतवर्ष में फलों को उत्पन्न करने की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। भारतवर्ष में जहां कि अधिकांश जनसंख्या शाकाहारी है फलों की अधिक पैदावार की बहुत अधिक आवश्यकता है। देश में अधिक फलों की उत्पत्ति से दो लाभ होंगे। एक तो किसान को फल खाने को मिल सकेंगे दूसरे वह उन्हें बेंच कर कुछ धन प्राप्त कर सकेगा। यदि गांवों के रहने वालों के भोजन में फल का समावेश हो जावे तो भी राष्ट्र का कितना हित होगा यह प्रत्येक मनुष्य समझ सकता है। फलों की पैदावार साधारणतः खराब जमीन पर

भी हो सकती है। बंजर भूमि का भी फलों की पैदावार के लिए उपयोग किया जा सकता है। अस्तु इस प्रकार की भूमि का इस प्रकार उपयोग हो सकता है। साथ ही, जब-जब गांवों में बहुत अधिक संख्या में फलों के वृक्ष लगाये जावेंगे तो उनकी पत्तियों का उपयोग खाद के लिए हो सकता है। साथ ही, गाँवों में कुछ हद तक ईंधन की समस्या हल हो सकती है। कुछ फलों के वृक्ष ऐसे होते हैं जिन्हें अधिक जल की आवश्यकता नहीं होती। उनको ऐसे प्रान्तों में उत्पन्न किया जा सकता है जहाँ पानी कम बरसता है। आवश्यकता इस बात की है कि ग्राम निवासियों को फलों के वृक्ष उत्पन्न करने के लिए सब तरह से प्रोत्साहित किया जावे। उन्हें अच्छी पौध बिना मूल्य दी जावे तथा फलों के वृक्षों को उत्पन्न करने के लिए आवश्यक बातों की जानकारी कराई जावे।

साग-सब्जी पैदा करना

बाजार के लिए साग-सब्जी उत्पन्न करना साधारण किसान के लिए सम्भव नहीं है। वह एक स्वतंत्र धंधा है, परन्तु घर के उपयोग के लिए किसान बड़ी आसानी से शाक उत्पन्न कर सकता है। आवश्यकता तो इस बात की है कि देश में गृह वाटिका आन्दोलन चलाया जावे। प्रत्येक ग्रामनिवासी अपने मकान से मिली हुई भूमि पर फूल और सब्जी की एक छोटी-सी वाटिका लगावे। घरमें जो पानी काम आता है उसका उपयोग वाटिका में कर लिया जावे इससे गावों के मकानों में गंदगी भी कम होगी, मकान की सुन्दरता बढ़ जावेगी और किसान को सब्जी खाने को मिल सकेगी। इसके लिए भी आरंभ में किसान को बीज इत्यादि बिना मूल्य देकर प्रोत्साहित करना होगा।

शहद उत्पन्न करने का धंधा

भारतीय ग्रामों में शहद उत्पन्न करने का धंधा भी सफलता-पूर्वक चलाया जा सकता है। शहद की मक्खी को पालकर उससे शहद प्राप्त किया जा सकता है। शहद की मक्खी को छत्ता बनाने में ही अधिक समय लगता है। यदि उस छत्ते को नष्ट न किया जावे, होशियारी से छत्ते को तेज औजार से काट कर उसका शहद निकाल लिया जावे और छत्ते को फिर अपने स्थान पर रख दिया जावे तो मक्खियाँ कुछ दि में ही छत्ते को फिर शहद से भर देंगी। इस धंधे की विशेषता यह है कि

तो उसके लिए अधिक स्थान की ही आवश्यकता है, न उसमें अधिक परिश्रम है और न अधिक पूंजी की ही आवश्यकता है। साधारणतः एक मक्खियों का कुटुम्ब वर्ष में १०० पौंड शहद उत्पन्न करता है। शहद एक अत्यन्त पुष्टिकर भोज्य पदार्थ है। प्राचीन समय से शहद के गुणों को भारतवासी जानते हैं। किन्तु अभी तक हम लोगों ने इस धंधे की ओर ध्यान नहीं दिया; जब कि अन्य देशों विशेषकर संयुक्तराज्य अमेरिका और जर्मनी का किसान इस धंधे से प्रति वर्ष करोड़ों रुपया प्राप्त करता है। दक्षिण में वाई० यम० सी० ए० के द्वारा संचालित ग्राम सुधार केन्द्रों में इस धंधे की शिक्षा दी जाती है। संयुक्तप्रान्त में प्रान्तीय सरकार ने मधु-मक्खी पालने की शिक्षा देने के लिए हिमालय में स्थित जेलीकोट स्थान में एक केन्द्र स्थपित किया है। जहाँ मधुमक्खी पालने के प्रयोग भी किये जाते हैं। शहद की मक्खी के लिए फूल-फल तथा पत्तियों की आवश्यकता होती है जिससे कि वे शहद इकट्ठा कर सकें। यदि गाँवों में फलों, के वृक्ष, फूल तथा सब्जी उत्पन्न करने के आन्दोलन सफल हो जावे तो शहद की मक्खी पालने का काम और भी सुगम हो जावेगा। सच तो यह है कि यह धंधे एक दूसरे से घनिष्ट रूप से सम्बंधित हैं। विशेषज्ञों का कहना है कि मक्खी के फलों या उनके फूलों पर बैठने से उनकी पैदावार अच्छी होती है।

अचार मुरब्बा इत्यादि बनाने का धंधा अभी कुछ समय तक भारत में शहरों तक ही सीमित रह सकता है। गांवों में वह स्थापित हो सके इसकी सम्भावना बहुत कम है। हाँ, जब गांवों में फल बहुतायत से उत्पन्न होने लगेंगे तब यह धंधा वहां पनप सकता है।

गुड़ बनाने का धंधा

भारत में अधिकांश ग्रामनिवासी शक्कर के स्थान पर गुड़ का ही उपयोग करते हैं और वैज्ञानिक अनुसंधान से यह पता लगा है कि शक्कर की अपेक्षा गुड़ में बहुत अधिक पौष्टिक तत्व हैं। यही कारण है कि महात्मा गांधी के द्वारा स्थापित ग्राम उद्योग संघ देश में गुड़ के धंधे का अधिक प्रचलन करने का प्रयत्न कर रहा है। जिन प्रान्तों में ईख की पैदावार होती है वहां यह धंधा किसान के लिए सहायक धंधे के रूप में संगठित किया जा सकता है।

दूध का धंधा

घने आबाद देशों के लिए मांस विलास की वस्तु है। जितनी भूमि पर एक गाय का निर्वाह होता है उतनी भूमि पर अनाज उत्पन्न करके आठ मनुष्यों का भोजन उत्पन्न किया जा सकता है। अस्तु मांसाहारी केवल वही देश हो सकते हैं जहां भूमि तो बहुत है किन्तु जनसंख्या कम है, जैसे संयुक्तराज्य अमेरिका, कनाडा; अरजेनटाइना इत्यादि। अथवा वे घने आबाद देश मांसाहारी हो सकते हैं जो धनवान होने के कारण विदेशों से मांस मंगाकर खा सकते हैं, जैसे इङ्गलैंड इत्यादि। भारतवर्ष में अधिकांश जनसंख्या शाकाहारी है, जो लोग मांस खाते हैं उन्हें मांस यथेष्ट परिणाम में नहीं मिलता। स्वाद के लिए वे कभी कभी मांस खा लेते हैं।

अस्तु भारतीयों के स्वास्थ्य के लिए फल और दूध की बहुत बड़ी आवश्यकता है। हमारा देश जहां गाय को माता के समान पूजा जाता है और जहाँ दूध अत्यन्त प्राचीन काल से महत्वपूर्ण भोजन पदार्थ रहा है वहां आज दूध अप्राप्य है और संसार में प्रति मनुष्य पीछे भारत में सबसे कम दूध उत्पन्न होता है। नीचे दी हुई तालिका से भारत में दूध की बेहद कमी का कुछ अनुमान हो सकता है।

पिछले दिनों में इस सम्बंध में जो जांच हुई है उसके अनुसार भारत में प्रतिवर्ष ७० से ८० करोड़ मन तक दूध उत्पन्न होता है। जहां तक दूध की उत्पत्ति का प्रश्न है भारत में संयुक्तराज्य अमेरिका को छोड़कर अन्य सभी देशों से अधिक दूध उत्पन्न होता है। (यह ध्यान रखने की बात है कि भारत में पशुओं की संख्या अमेरिका से कई गुना है।) परन्तु प्रति व्यक्ति भारत में अन्य देशों की तुलना में दूध की उत्पत्ति बहुत ही कम है। जो नीचे दी हुई तालिका से स्पष्ट हो जावेगा—

देश	प्रति मनुष्य पीछे दैनिक उत्पत्ति औंसों में	प्रति मनुष्य पीछे दैनिक उपभोग औंसों में
न्यूज़ीलैंड	२४४	५६
डेनमार्क	१४८	४०
स्वीडन	६६	६१
आस्ट्रेलिया	६६	४५
कनाडा	६६	३५

देश	प्रति मनुष्य पीछे दैनिक उत्पत्ति औंसों में	प्रति मनुष्य पीछे दैनिक उपभोग औंसों में
स्विटज़रलैंड	६५	४६
नारवे	४५	४३
संयुक्तराज्य अमेरिका	३७	३५
बेलजियम	३५	३५
जर्मनी	३४	३५
फ्रांस	३३	३०
ब्रिटेन	१४	३६
इटली	११	१०
भारत	८	७

ऊपर दी हुई तालिका से यह तो स्पष्ट हो गया कि भारत में प्रति मनुष्य पीछे संसार में सबसे कम उत्पत्ति और खपत होती है। आइये अब देखें कि दूध का उपयोग हमारे देश में किस प्रकार होता है।

देश की कुल दूध की उत्पत्ति ७० करोड़ मन। (अ) तरल दूध के रूप में पिया जाता है—२२½ करोड़ मन अर्थात कुल का ३१.५ प्रतिशत। (ब) दूध की वस्तुयें बनाई जाती हैं ४७½ करोड़ मन अर्थात कुल का ६८.५ प्रतिशत।

इसमें निम्नलिखित वस्तुयें महत्वपूर्ण हैं। उनके बनाने में जितना दूध व्यय होता है उसका ब्योरा नीचे दिया जाता है:—

वस्तु का नाम	करोड़ मनों में	कुल दूध की उत्पत्ति का प्रतिशत
घी	३६·४ करोड़ मन	५२·७%
खोया	५·२ ,,	७·६%
मलाई, रबड़ी, खुरचन इत्यादि	१·६७ ,,	२·४%
दही	२·६२ ,,	३·८%
मक्खन	१·०३ ,,	१·५%
क्रीम	·२८ ,,	०·४%
आइसक्रीम	·२८ ,,	०·४%

ऊपर दी हुई तालिका से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश दूध घी तथा अन्य वस्तुओं के रूप में काम में आता है। दूध पीने के

लिए बहुत कम मिलता है।

भारतवर्ष में अधिकांश जनसंख्या के भोजन में दूध ही एक पौष्टिक तत्व है। इस कारण भारत में दूध की बहुत अधिक आवश्यकता है। विशेषज्ञों ने हिसाब लगाकर बतलाया है कि भारत में प्रति मनुष्य पीछे १५ या १६ औंस दूध की नितान्त आवश्यकता है। अस्तु भारत में जितना दूध उत्पन्न होता है उसका कम से कम दुगना दूध तो नितान्त आवश्यक है।

भोजन में दूध का जो प्रभाव है इसमें दो मत नहीं हो सकते फिर भी भारतवर्ष में इस सम्बंध में जो प्रयोग हुए हैं उनका उल्लेख करना आवश्यक है। एक ही उमर के दो बच्चों के समूह लिए गए और दोनों को एक-सा भोजन दिया गया। एक समूह के बच्चों को १ पौंड प्रति दिन दूध दिया जाता था और दूसरे समूह के बच्चों को दूध नहीं दिया जाता था। तीन महीने तक यही क्रम चलता रहा। तीन महीने के उपरान्त उन दोनों समूहों के बच्चों की जांच की गई तो ज्ञात हुआ कि दूध पाने वाले बच्चों का वजन तथा उनकी लम्बाई दूध न पाने वालों से कहीं अधिक बढ़ी है।

अस्तु यह निर्विवाद सत्य है कि राष्ट्र के स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए दूध अत्यन्त आवश्यक है। अस्तु सबसे पहली आवश्यकता तो इस बात की है कि देश में दूध की उत्पत्ति को बढ़ाया जावे और दूसरी आवश्यकता इस बात की है कि दूध शुद्ध और सस्ता मिले। आज तो भारत में शुद्ध दूध अप्राप्य है और जो कुछ मिलता है वह बहुत ऊँचे मूल्य में। नगरों में तो दूध की समस्या ने विकट रूप धारण कर लिया है।

यद्यपि भारत में पृथ्वी भर के गाय बैलों के एक तिहाई पशु हैं फिर भी भारतवर्ष में दूध की उत्पत्ति बहुत कम है। इसका एकमात्र कारण यह है कि यहां गाय की नस्ल का कल्पनातीत ह्रास हो गया है। भारत में गौवंश के ह्रास के मुख्य तीन कारण हैं (१) चारे की कमी, (२) अच्छे सांड़ों की कमी और (३) पशुओं के रोग। इनके सम्बंध में हम पहले लिख चुके हैं। जब तक यह तीनों समस्याएं हल नहीं होतीं तब तक गौवंश की उन्नति नहीं होती।

गांवों से आया हुआ दूध

शहरों में दूध समीपवर्ती गांवों से आता है, अथवा शहरों में रहने वाले ग्वाले और घोसी दूध बेचते हैं। अधिकतर नगर में किसान वहां से

पांच या ६ मील की दूरी से दूध बेंचने आता है। जो किसान भैंस रखता है वह शहर के किसी हलवाई से बातचीत कर लेता है। हलवाई खोये के हिसाब से दूध के दाम देता है। यदि हलवाई किसान से ४ या ५ सेर का दूध लेता है तो ग्राहक को दो या ढाई सेर का देता है। किसान हलवाई को शुद्ध दूध देता है किन्तु सायंकाल शहर में नहीं आ सकता इसलिए सायंकाल का दूध प्रातःकाल के दूध के साथ मिला कर लाता है अतएव नगरवासियों को बासी दूध पीने को मिलता है। दूध बेचनेवाले किसान को हानि उठानी पड़ती है क्योंकि उसे दूध सस्ते दामों पर बेचना पड़ता है।

शहर के ग्वालों का दूध

शहरों के घोसी अपनी गाय भैंसों को लेकर शहर में ही रहते हैं। शहरों में स्थान की कमी के कारण इन ग्वालों के स्थान बहुत ही गंदे रहते हैं वहां एक प्रकार के कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं। विशेषज्ञों का कथन है कि शहरों का दूध दूषित होता है। उसे पीने से बहुत रोग उत्पन्न होते हैं। दूध बहुत शीघ्र बिगड़ने वाली वस्तु है इस कारण ग्वालों का दूध स्वास्थ्य के लिए हानिकारक सिद्ध होता है। ग्वाला भी उसी मूल्य पर दूध बेचता है जिस पर हलवाई।

दूध के धंधे से सम्बंधित समस्यायें

सबसे पहली समस्या तो यह है कि गाय की नस्ल का सुधार हो जिससे हम एक पशु से दोनों काम ले सकें अर्थात् खेती के लिए बैल तथा दूध इस सम्बंध में हम पहले लिख चुके हैं। दूसरी समस्या यह है कि दूध के धंधे का सहकारिता के आधार पर संगठन किया जावे।

दूध सहकारी समितियों का संगठन

आसपास के चार या पांच गांवों के लिए एक सहकारी समिति का संगठन किया जावे। प्रत्येक सदस्य को अपना सब दूध समिति के दफ्तर में निश्चित समय पर पहुँचाने पर बाध्य किया जाय। जर्मनी के बवेरिया प्रान्त में समितियों ने किसानों का दूध इकट्ठा करने का एक अच्छा ढङ्ग निकाला है। प्रत्येक सदस्य को बारी बारी से अपनी गाड़ी में गांव भर का दूध इकट्ठा करके समिति के कार्यालय में लाना पड़ता है इससे दूध इकट्ठा करने की सुविधा होती है।

डेन्मार्क की सहकारी दूध समितियों की योजना इस प्रकार है:—

जिन प्रदेशों में पक्की सड़कें हैं वहां समितियां मोटर के द्वारा सदस्यों का दूध इकट्ठा करती हैं। प्रत्येक गांव का सदस्य निश्चित समय पर अपना दूध लेकर गांव के बाहर सड़क पर आ जाता है। मोटर आकर उनका दूध ले जाती है। जहां सड़कें अच्छी नहीं हैं वहां यह काम घोड़ागाड़ियों से लिया जाता है। समिति प्रत्येक सदस्य को एक बर्तन देती है जो प्रतिदिन भाप द्वारा साफ किया जाता है। सदस्य इसी बर्तन में दूध भर कर समिति को देता है।

समिति का मंत्री वैतनिक कर्मचारी होता है जो दूध-मक्खन के धंधे का जानकार होता है। मंत्री दूध की जांच करता है। यदि दूध में मिलावट होती है तो सदस्य को दण्ड दिया जाता है। दूध नाप कर सदस्य के हिसाब में जमा कर लिया जाता है दूध आ जाने पर समिति का मंत्री उसे नगर में भेज देता है और शेष दूध का मक्खन तैयार करके विदेशों को भेजता है। मंत्री सदस्यों को पशुओं के पालन के विषय में परामर्श देता है, पशुओं की जांच करता है तथा उनके रोगों का उपचार करता है। डेनमार्क में जो दूध और मक्खन का धंधा इतना उन्नतिशील है, वह दूध समितियों के ही कारण।

भारत में दूध सहकारी समितियां

अभी तक भारतवर्ष में इस महत्वपूर्ण विषय की ओर जनता का ध्यान ही नहीं गया। कुछ स्थानों पर दूध सहकारी समितियां स्थापित हुई हैं। इनमें कलकत्ते के समीपवर्ती गांवों की दूध समितियां विशेष उल्लेखनीय हैं। कलकत्ते के समीपवर्ती गांवों में १२६ दूध समितियां स्थापित हैं जो कि एक यूनियन से से सम्बन्धित हैं, जिनके लगभग ६५०० सदस्य हैं। केवल कलकत्ते में ही यूनियन प्रति दिन १५० मन दूध बेंचती है। यूनियन ने कुछ भंडार स्थापित किये हैं। भडार पर समितियों का दूध लिया जाता है। जिन समितियों के समीप कोई भंडार नहीं है वे समीपवर्ती रेलवे स्टेशन पर दूध भेज देती हैं। भंडारों के मैनेजर रेलवे द्वारा दूध कलकत्ते भेज देते हैं।

भंडार में जब दूध आता है तो भंडार का मैनेजर यंत्र से उसकी जांच करता है तथा शुद्ध बर्तनों में भर कर दूध कलकत्ते भेजता है। यूनियन ने कलकत्ते में वैज्ञानिक ढग से दूध को सुरक्षित और शुद्ध रखने के लिए फैक्टरी स्थापित की है जहां कि दूध को गरम करके ठंडा किया जाता है। यूनियन मोटर, बैलगाड़ी तथा ठेलों के द्वारा दूध ग्राहकों के पास पहुँचाती है।

कलकत्ते के अतिरिक्त बंगाल में ढाका, तथा दार्जलिंग में भी दूध समितियां स्थापित हुई हैं। इनके अतिरिक्त लखनऊ, मदरास इत्यादि कुछ अन्य शहरों में भी दूध समितियां स्थापित हुई हैं किन्तु अभी तक यह आन्दोलन देश में जड़ नहीं पकड़ सका है।

घी समितियां

संयुक्तप्रान्त में घी का धंधा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह धंधा व्यापारियों के हाथ में है जो किसान को घी का कम मूल्य देकर उसमें मिलावट करके ऊँचे दामों पर ग्राहकों को बेचते हैं। अतएव ग्राहकों को शुद्ध घी देने और किसान को उचित मूल्य दिलवाने के उद्देश्य से घी की समितियां स्थापित की गई हैं। इस समय संयुक्तप्रान्त के आगरा, इटावा, मैनपुरी, मेरठ तथा बुलंदशहर इत्यादि जिलों में ७०० के लगभग समितियां हैं जिनके ६००० से ऊपर सदस्य हैं। प्रति पखवारा प्रत्येक सदस्य का घी पंचायत के सामने गरम किया जाता है और तौला जाता है। घी सदस्य के हिसाब में जमा कर लिया जाता है। प्रत्येक जिले में एक घी यूनियन है जो घी को बाहर भेजती है। ऊपर लिखे जिलों के अतिरिक्त एटा, मथुरा, जालौन, बांदा, हरदोई, मुरादाबाद और झांसी में भी घी समितियां स्थापित की गई हैं। यह समितियां भविष्य में सफलता प्राप्त करेंगी, इसमें संदेह नहीं है।

अभी तक भारतवर्ष ने दूध के धंधे की उन्नति करने की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। हर्ष का विषय है कि महात्मा गांधी के नेतृत्व में गौ-सेवा-संघ की स्थापना हुई है जो दूध के धंधे को संगठित करने तथा गौ वंश की उन्नति करने का प्रशंसनीय कार्य कर रहा है। दूध के धंधे की उन्नति होने से केवल राष्ट्र के स्वास्थ्य में ही सुधार नहीं होगा, वरन् किसान को एक अत्यन्त लाभदायक सहायक धंधा हाथ लग जावेगा। इस दृष्टि से दूध के धंधे की उन्नति और भी आवश्यक है। यदि गौ वंश की उन्नति की जा सके और सहकारी समितियों के आधार पर धंधे को संगठित किया जा सके तो भारतीय किसान को एक अत्यन्त लाभदायक धंधा प्राप्त हो जावे।

दूसरे प्रकार के धंधे वह हैं जिनसे वस्त्र प्राप्त होता है। किन्तु यह तो पूर्व ही कहा जा चुका है कि वस्त्र बुनने का धंधा सहायक धंधा के रूप में प्रचलित नहीं किया जा सकता। किन्तु सूत कातने, रेशम के कीड़े पालने तथा भेंड़ पालने का धंधा किसान सहायक धंधे के रूप में कर सकता है।

सूत कातने का धंधा

महात्मा गांधी के खादी आन्दोलन ने सूत कातने के धंधे को बहुत महत्व प्रदान कर दिया है, किन्तु वैसे भी यह धंधा किसानों के लिए महत्वपूर्ण सहायक धंधे के रूप में चलाया जा सकता है। जिन प्रदेशों में कपास उत्पन्न होती है वहां किसान अपने काम लायक कपास बचा कर रख ले और घर की स्त्रियां, बच्चे और पुरुष अवकाश के समय सूत कात कर गांव के बुनकर से अपने लिए कपड़ा तैयार करवा लें। इस प्रकार कम से कम गांव के रहने वाले और विशेषकर किसान घर के लिए यथेष्ट कपड़ा तैयार कर सकते हैं और यदि आवश्यकता से अधिक सूत तैयार हो जावे तो किसान उसको बेच सकता है। अखिल भारतीय चर्खा संघ के तत्वावधान में बहुत से इलाकों में वस्त्र-स्वावलम्बन का प्रयोग किया गया है और उन इलाकों के हजारों परिवार अपने सूत के बने हुए कपड़े को ही पहिनते हैं।

रेशम के कीड़े पालने का धंधा

रेशम के कीड़े पालने का धंधा भी किसान के लिए एक महत्वपूर्ण सहायक धंधा है। चीन, जापान और फ्रांस का किसान इस धंधे के द्वारा खूब धन कमाता है। सर्वसाधारण की यह धारणा है कि जिन प्रान्तों में जलवायु ठंडा है वहां शहतूत के वृक्ष पैदा हो सकते हैं। किन्तु यह भ्रम है। हां, इतनी बात अवश्य है कि ठंडे प्रदेशों में शहतूत के पत्तों की दो फसलें उत्पन्न की जा सकती हैं। अतएव रेशम वर्ष में दो बार उत्पन्न किया जा सकता है। किन्तु शहतूत की पत्तियों की एक फसल तो देश के अधिकांश भागों में उत्पन्न की जा सकती है। अतएव यह धंधा (यदि वर्ष में केवल एक बार रेशम उत्पन्न करना हो) तो बहुत से स्थानों में प्रचलित किया जा सकता है किन्तु किसान केवल ककूनों को इकट्ठा करके बेच सकता है। उसके रीलिंग करने में अधिक दक्षता की आवश्यकता होती है जो कुशल कारीगर ही कर सकते हैं। जहां-जहां अंडी या मूंगा के कीड़े पनप सकते हैं वहां इनको पाला जा सकता है। किन्तु उस धंधे में एक विशेष बात है। रेशम की मांग गांवों में नहीं है अतएव उसको बेचने के लिए सहकारी समितियों की स्थापना करनी पड़ेगी।

भारतवर्ष में अभी आसाम, बंगाल, काश्मीर तथा मैसूर में रेशम के

कीड़े पालने का धंधा केन्द्रित है। भारतीय रेशम का कीड़ा भी बहुत नीचे दर्जे का होता है। और उसी कारण भारतीय रेशम बहुत घटिया होता है। काश्मीर तथा मैसूर राज्यों ने विदेशों से विशेषज्ञों को बुलाकर इस धंधे की उन्नति का प्रयत्न किया है। आवश्यकता इस बात की है कि रेशम के कीड़े की नस्ल का सुधार कर दिया जाय।

भेड़ पालने का धंधा

ऊन उत्पन्न करने का धंधा सब जगह नहीं हो सकता। जहां-जहां भेड़ रह सकती है वहां यह धंधा किसान कर सकता है। इस दृष्टि से यह इतना महत्वपूर्ण नहीं है कि जितने और धन्धे। काश्मीर, पंजाब, तथा राजपूताने में किसान इस धन्धे को कर सकता है।

इस धन्धे की उन्नति के लिए आवश्यकता है कि भेड़ की नस्ल की उन्नति की जावे और बढ़िया ऊन उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जावे। भारतीय भेड़ वास्तव में ऊन नहीं किन्तु बाल उत्पन्न करती है। भारतीय ऊन बहुत घटिया और छोटा होता है और उससे बढ़िया ऊनी कपड़ा तैयार नहीं हो सकता। राजपूताने के राज्य इस ओर प्रयत्नशील हैं।

इन धन्धों के अतिरिक्त रस्सी बटना, चटाई बनाना, डलिया बनाना, चावल कूटना, कपास ओटना इत्यादि ऐसे धन्धे हैं जो कि किसान अवकाश के समय कर सकता है। किन्तु इन धन्धों की उन्नति के लिए भी अच्छे औजार के आविष्कार की आवश्यकता है। कुछ धन्धे और भी हैं जो कि किसान सहायक धन्धों के रूप में कर सकता है। वे हैं गाड़ी चलाना, समीपवर्ती नगरों में अवकाश के समय मजदूरी करना इत्यादि। जैसा कि हम आगे चलकर लिखेंगे, यदि ऐसे कारखाने जो कि गांव में पैदा हुए कच्चे माल को आधे तैयार के माल में परिणत करते हैं। जैसे कपास के पेन, शक्कर के कारखाने, चावल तथा आटे के कारखाने इत्यादि तो किसान फुरसत के समय इनमें काम पा सकता है।

गृह उद्योग धंधे या कुटीर उद्योग धंधे

हमने ऊपर कुछ उन उद्योग धन्धों का विवरण दिया है कि जिन्हें किसान खेती के साथ-साथ सहायक धन्धों के रूप में कर सकता है। किन्तु फिर भी गांवों की सामूहिक बेकारी की समस्या इससे पूर्णतः हल नहीं हो जावेगी।

क्योंकि भूमि पर जनसंख्या का भार बेहद बढ़ गया है। किसान के परिवार में यदि चार पुरुष हैं तो केवल दो के लिए भूमि पर काम है शेष दो बेकार हैं। इसके अतिरिक्त भूमि रहित खेत के मजदूरों की संख्या पिछले दिनों में बेहद बढ़ गई है। साथ ही गांवों में रहने वालों का एक महत्वपूर्ण भाग गृह उद्योग धन्धों के द्वारा ही अपनी आजीविका उपार्जन करता है। आज यद्यपि इन गृह-उद्योग धन्धों की दशा अत्यन्त शोचनीय है। किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि गृह उद्योग धन्धे उन्नतिशील हो सकें तो भूमि पर जनसंख्या का जो बेहद भार बढ़ गया है वह हल्का हो सकता है। गाँवों की बेकारी सर्वथा दूर हो सकती है और गाँवों की दरिद्रता दूर हो सकती है। यह हम पहले परिच्छेद में ही बतला चुके हैं कि यदि हम राष्ट्र की उन्नति करना चाहते हैं तो हमें गाँवों को समृद्धिशाली बनाना होगा। तभी महत्वाकांक्षी, साहसी और योग्य व्यक्ति वहाँ रहने की बात सोच सकते हैं। गाँवों को समृद्धिशाली बनाने के लिए कुटीर उद्योग धन्धों की उन्नति अत्यन्त आवश्यक है। फिर आज महायुद्ध के उपरान्त धन्धों के केन्द्रीयकरण (centralisation of industries) को शंका की दृष्टि से देखा जाने लगा है। विशेषकर भारतवर्ष में जहाँ कुटीर धन्धे अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित हैं और जहाँ सभी बाधायें होते हुए भी वे जीवित हैं, वहाँ के आर्थिक जीवन में उनका एक महत्वपूर्ण स्थान है।

गृह-उद्योग धंधों की वर्तमान हीन दशा

गृह-उद्योग धंधों में लगे हुए हमारे कारीगरों की दशा उतनी ही शोचनीय है जितनी कि हमारे किसानों की। गृह-उद्योग धंधों को एक तो कारखानों की प्रतिस्पर्द्धा करनी पड़ती है, दूसरे कारीगर व्यापारियों के ऋण होने के कारण उनके चंगुल में फंसे रहते हैं। हमारे धंधे क्रमशः नष्ट होते जा रहे हैं। इन धंधों की रक्षा का एक मात्र उपाय उनका सहकारी संगठन है। यदि उनको सहकारिता के ढंग पर संगठित कर दिया जाय तो कारीगरों की दशा सुधर सकती है और गृह-उद्योग धंधे भी पनप सकते हैं।

गृह-उद्योग धंधों में लगे हुए कारीगरों की दशा कितनी गिरी हुई है, इसका एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है। पंजाब में कहीं-कहीं जुलाहों की बस्तियाँ हैं। यह जुलाहे, कारखानेदार या कपड़े के व्यवसायियों के चिर-दास

हैं। व्यापारी इन्हें कुछ रुपया पेशगी दे देता है, जिसे बाकी कहते हैं। जुलाहे से यह शर्त की जाती है कि वह केवल उसे ही माल बेचेगा। जुलाहा कारखानेदार या व्यापारी से ही सूत उधार ले जाता है और उसकी आज्ञानुसार कपड़ा तैयार करके उसे व्यापारी के ही हाथ बेचता है। कारखानेदार सूत का अधिक मूल्य लगाता है और बुनाई कम से कम देता है। अस्तु, निर्धन जुलाहे को बहुत कम मजदूरी मिलती है और वे कारखानेदारों के चिर-दास बने रहते हैं। यही हाल दूसरे धंधों का है। इन धंधों में सूती कपड़ा बुनने का धंधा, ऊनी तथा रेशमी कपड़ा तैयार करने का धंधा, दरी तथा कालीन बनाने का धंधा, फूल पीतल तथा तांबे और लोहे के बर्तन बनाने का धंधा, खिलौने तथा मूर्तियां बनाने का धंधा, लकड़ी का सामान बनाने का धंधा, मिट्टी के बर्तन बनाने का धंधा, तेल पेरने का धंधा, चमड़ा कमाने तथा चमड़े की वस्तुओं को तैयार करने का धंधा साबुन, तथा कागज बनाने का धंधा इत्यादि। भारतवर्ष में इस समय गृह-उद्योग धंधे असंगठित दशा में हैं, पनप नहीं रहे हैं। उनमें लगे हुए कारीगर अत्यन्त हीन अवस्था में रह कर अपना उदर पालन करते हैं। धंधों की हीन अवस्था के नीचे लिखे तीन मुख्य कारण हैं:—

(१) पूंजी का अभाव—कारीगर को पूंजी उधार लेनी पड़ती है। महाजन तथा व्यवसायी ऋण तो देते हैं किन्तु सूद इतना अधिक लेते हैं कि बेचारे कारीगर को धंधे से कुछ लाभ ही नहीं हो सकता।

(२) कच्चा माल खरीदने तथा तैयार माल को बेचने की कठिनाई—माल खरीदना तथा बेचना एक कला है जिससे निर्धन किसान नितान्त अनभिज्ञ है। बात यह है कि कारीगर कच्चा माल थोड़ी मात्रा में खरीदते हैं, वह भी अधिकतर उधार। इसलिए उन्हें माल का अधिक मूल्य देना पड़ता है, फिर भी माल अच्छा नहीं मिलता। तैयार माल को बेचने में कारीगर को अत्यन्त कठिनाई होती है। वह थोड़ी मात्रा में माल तैयार करता है। इस कारण वह उसे आधुनिक ढंग से बेंच नहीं सकता। औद्योगिक उन्नति के युग में माल के लिए बाजार में मांग पैदा करनी पड़ती है। केवल माल तैयार करने से कुछ नहीं होता। माल की बाजार में खपत करने के लिए विज्ञापनबाजी करनी होती है, एजेंट तथा कनवेसर भेजना पड़ता है। किसान यह सब कुछ नहीं कर सकता क्योंकि

वह थोड़ी मात्रा में माल तैयार करता है और न वह इस कला को जानता है।

(३) संगठन का अभाव—कारीगर पुराने ढंग से पुरानी डिजाइन का माल तैयार करता है। जनता की रुचि बदलती रहती है। किन्तु अशिक्षित कारीगर को इसका ज्ञान नहीं होता। वह जान भी जाता है कि जनता कौन सी वस्तु मांगती है तो उसे नवीन वस्तु के तैयार करने की शिक्षा देने वाला कोई नहीं होता। साथ ही उत्पादन के तरीके में उन्नति करने औजार तथा यन्त्रों को उन्नति करने के लिए तो उसके पास कोई साधन ही नहीं होता। यही कारण है कि गृह-उद्योग धंधों की दशा शोचनीय है। उदाहरण के लिए बुनकर को ही ले लीजिये। नई डिजाइन के कपड़े वह तैयार नहीं कर सकता। आधुनिक समय में जब कि फैशन तेजी से बदलता रहता है, बुनकर कभी अपने धंधे की उन्नति नहीं कर सकता। जब तक कि वह जनता की रुचि के अनुसार बढ़िया डिजाइन तैयार नहीं करता। अस्तु, कारीगर को परामर्श तथा नवीन प्रणाली से माल तैयार करने की शिक्षा देने के लिए संगठन की आवश्यकता है।

हमारे देश में नीचे लिखे गृह-उद्योग धंधे महत्वपूर्ण हैं जिनकी उन्नति की ओर हमें विशेष ध्यान देना चाहिए और जिनकी उन्नति से हमारे गांव समृद्धिशाली बन सकते हैं :—

(१) सूती, ऊनी और रेशमी कपड़ा तैयार करना, रंगाई और छपाई।

(२) पीतल, तांबे, अलूमीनियम, और कांसे के बरतन इत्यादि बनाना, कलई करना, तथा लुहारी का काम।

(३) लकड़ी का फरनीचर, गाड़ी तथा अन्य सामान बनाना तथा लकड़ी के खिलौने बनाना।

(४) चमड़े का कमाना, जूते, चप्पल तथा चमड़े की काठी, बैग, इत्यादि बनाना।

(५) चीनी मिट्टी के बर्तन तथा मिट्टी के साधारण बर्तन बनाना; ईंट तथा खपरैल बनाना।

(६) तेल निकालना, तथा अँचार, मुरब्बा इत्यादि तैयार करना।

(७) कागज, साबुन, चूड़ियां इत्यादि बनाना; बीड़ी बनाना, मछली

का धंधा, इत्यादि।

यह तो ऊपर ही कहा जा चुका है कि इन धंधों के सामने कुछ एक-सी कठिनाइयां हैं। अब हम यहाँ उनका विस्तार पूर्वक विचार करेंगे।

(१) कच्चे माल के मिलने में कठिनाई—इन गृह उद्योग धंधों को कच्चा माल मिलने में बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यही नहीं कि कारीगरों को कच्चे माल के लिए अधिक मूल्य देना पड़ता है, वरन् उन्हें बढ़िया माल तो मिल ही नहीं पाता। उदाहरण के लिए गांवों के चमारों की यह साधारण शिकायत है कि अच्छी खाल धनी चमड़े के व्यापारी शहरों की फर्मों के लिए खरीद लेते हैं और उन्हें रद्दी खालों से काम करना पड़ता है। यही दशा ऊनी कपड़ा तैयार करने वालों की है कि बढ़िया ऊन शहरों की ओर चला जाता है। गांव का बढ़ई भी इसी कठिनाई को अनुभव करता है। यदि किसी धंधे के सामने यह कठिनाई नहीं है तो उसमें काम करने वाले को कच्चे माल का मूल्य बहुत देना पड़ता है। उदाहरण के लिए बुनकर को सूत बहुत मँहगे दामों पर मिलता है। केवल बात यहीं तक नहीं रहती। यहां भी कारीगर को कच्चा माल बढ़िया नहीं मिल पाता। अस्तु, जहाँ तक गृह उद्योग धंधों की कच्चे माल सम्बन्धी कठिनाई है, उसके तीन रूप हैं—(१) कुछ दशाओं में उन्हें माल बढ़िया मिलना असम्भव है (२) उन्हें कच्चे माल के लिए मूल्य अधिक देना पड़ता है और (३) फिर भी प्रथम श्रेणी का माल उन्हें नहीं दिया जाता। यह तो मानी हुई बात है कि एक कारीगर इतनी कम मात्रा में कच्चा माल खरीदता है कि वह इस कठिनाई को दूर करने में सर्वथा असमर्थ है। इसका निराकरण तो सहकारी समितियों के द्वारा ही हो सकता है। जब गृह उद्योग धंधों का संगठन सहकारिता के आधार पर होगा और सहकारी संगठनों के द्वारा बड़ी मात्रा में गृह उद्योग धंधों के लिए कच्चा माल खरीदा जावेगा तभी यह कठिनाई हल हो सकेगी।

(२) उत्पादन के ढंग से सुधार की आवश्यकता

अधिकांश गृह उद्योग धंधों में उत्पादन का ढंग बहुत पुराना और दकियानूसी है। यही कारण है कि इन धंधों का उत्पादन-व्यय अधिक है। बहुधा जो औजार या साधन इन धंधों में काम में लाये जाते हैं वे

शताब्दियों पुराने हैं और उनमें कोई सुधार नहीं होता। उदाहरण के लिए कोरी का खड्डी वाला कर्घा और तेली का घानी हमें प्राचीन काल की स्मृति दिलाता है। उसमें पिछली कई शताब्दियों से कोई सुधार नहीं हुआ। केवल औजार ही पुराने ढंग के हों यही बात नहीं है; उत्पादन का ढंग भी वही शताब्दियों पुराना और दकियानूसी है। इसका परिणाम यह होता है कि लागत व्यय अधिक होता है और बाजार में उसे वस्तु के अधिक ग्राहक नहीं मिलते। उदाहरण के लिये चमड़ा कमाने का धंधा, मिट्टी के बर्तन बनाने का धंधा, लकड़ी तथा कपड़े का धंधा इत्यादि। कारीगर वही पुराने डिजाइन की चीजें पुराने ढंग से तैयार करता है। इसका परिणाम यह होता है कि उसका लागत व्यय अधिक होता है और बाजार में उसे कम मूल्य मिलता है।

औजारों तथा उत्पादन के ढंग में सुधार हो सकते हैं; किन्तु कारीगर से यह आशा करना व्यर्थ है। न तो उसके पास ऐसा साधन ही है और न योग्यता ही। जो व्यापारी इन धंधों के माल की बिक्री का काम करते हैं, उन्हें उनके सुधार तथा उन्नति से कोई मतलब नहीं है। वैज्ञानिक इन छोटे धंधों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता ही नहीं समझते और सरकार का औद्योगिक विभाग भी इनकी ओर से अभी तक नितान्त उदासीन रहा है। केवल ग्रामोद्योग संघ तथा चर्खा संघ ने इस ओर अवश्य ध्यान दिया है और उसके फलस्वरूप, कातने, बुनने छपाई और रँगाई की कला में आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। यही नहीं चर्खा तथा कर्घा में भी बहुत सुधार हो गया है। इसी प्रकार तेल, घानी, में भी बहुत सुधार किये गये हैं। अस्तु, आवश्यकता इस बात की है कि इन धंधों के उत्पादन के ढंग में सुधार करने तथा औजारों की उन्नति करने के लिए सरकार की सहायता से केन्द्रीय संगठन खड़े किये जावें और वहाँ उस सम्बन्ध में अनुसंधान होता रहे।

किन्तु बढ़िया औजार तथा उत्पादन के बढ़िया तरीके को खोज निकालने से ही काम नहीं चलेगा। (औजारों को बड़ी मात्रा में तैयार करवाने का प्रबन्ध करना होगा तथा उत्पादन के उन्नत तरीके का कारीगरों में प्रचार करना होगा)। उनको उसकी शिक्षा देनी होगी। चलते-फिरते शिक्षण शिविर, प्रदर्शनियों, तथा छात्र वृत्तियों द्वारा कारीगरों को इसकी शिक्षा लेने को प्रोत्साहित करना होगा कि वह अपने धंधे के उन्नत तरीकों सीख लें। इस

कार्य में भी राज्य की सहायता अत्यन्त आवश्यक होगी।

पूँजी की कठिनाई

गृह उद्योग धन्धों के लिए पूँजी की भी एक कठिन समस्या है। यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि आज कारीगर उन व्यापारियों का क्रीत दास बना हुआ है जो कि उसके तैयार माल की बिक्री का काम करते हैं।

कारीगर को कच्चा माल लेने, कच्चा माल भर कर रखने तथा तैयार माल को रोक कर रखने के लिए पूंजी की आवश्यकता है। उसकी साख ऐसी है और उसकी पूंजी की आवश्यकता इतनी अधिक नहीं है कि वह व्यापारिक बैंकों से रुपया उधार पा सके। उसकी साख लगभग कुछ नहीं है और न उसके पास उचित जमानत ही होती है। इसका अवश्यम्भावी परिणाम यह होता है कि जो व्यापारी उसे पूंजी देता है उसी को कारीगर को अपना तैयार माल बेचने पर विवश होना पड़ता है, और कारीगर एक मजदूर मात्र रह जाता है। उसकी आर्थिक स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है। अस्तु आवश्यकता इस बात की है कि गृह उद्योग धंधों के लिए पूँजी का उचित प्रबंध किया जावे। इसके लिए भी सहकारी संगठन की आवश्यकता होगी, किन्तु सरकार को इन समितियों की विशेष रूप से सहायता करनी होगी।

माल की बिक्री

सबसे बड़ी कठिनाई जो कारीगर के सामने उपस्थित होती है वह माल बेचने की है। जितने भी गृह उद्योग धन्धे हैं, उनमें लगे हुए सभी कारीगरों के सामने यह कठिनाई उपस्थित होती है। इसके बहुत से कारण हैं। सबसे बड़ा कारण तो यह है कि जनता की रुचि में बहुत परिवर्तन हो गया है। साथ ही, परिवर्तन होता भी रहता है। उदाहरण के लिए जनता नई-नई डिजाइन के सूती, ऊनी, रेशमी कपड़े पसंद करती है। यदि कोई कारीगर पुराने डिजाइनों के ही कपड़े तैयार करता है तो उसके माल की बिक्री होना कठिन हो जावेगा। इसी प्रकार जूते और चप्पलों के भी डिजाइन बदलते रहते हैं। इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि उनके लिए बाजार की मांग को ध्यान में रखकर नये डिज़ाइनों की बराबर खोज की जानी चाहिए और कारीगरों को उसकी शिक्षा दी जानी चाहिए।

यह कार्य व्यक्तिगत रूप से कोई कारीगर स्वयं नहीं कर सकता। यह तो केवल सामूहिक रूप से ही हो सकता है।

इसके अतिरिक्त किसी-किसी धंधे में अन्तिम क्रियायें ऐसी होती हैं कि जिनके बिना माल की सुन्दरता नहीं बढ़ती और वह क्रियायें सफलता पूर्वक एक कारीगर नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए सूती कपड़े में मर्सीचिंग तथा फिनिशिंग क्रियायें जुलाहे की शक्ति के बाहर होती हैं। इस बात की आवश्यकता है कि यह क्रियाये सहकारी समितियों के द्वारा सहकारी वर्कशाप में की जावें।

लेकिन जो सबसे बड़ी कठिनाई गृह उद्योग धंधों के सामने खड़ी होती है, वह यह है कि एक कारीगर के पास न तो आधुनिक ढङ्ग से बिक्री करने के साधन ही हैं और न वह योग्यता ही है। उदाहरण के लिए आधुनिक समय में विज्ञापन, प्रदर्शन, कनवैसिंग के बिना बिक्री करना कठिन होता है। अस्तु जब तक कारीगर अपना संगठन सहकारिता के आधार पर नहीं करता वह अपने माल की सफलतापूर्वक बिक्री नहीं कर सकता।

अभी तक भारतवर्ष में जनता और सरकार दोनों ने ही गृह-उद्योग धन्धों की भयंकर उपेक्षा की है। जहां बड़े-बड़े धन्धों को विदेशी माल की प्रतिस्पर्द्धा से बचाने के लिए संरक्षण तथा अन्य सहायता देने के लिए भगीरथ प्रयत्न किये गए वहां गृह-उद्योग धन्धों की किसी ने भी परवाह न की। यह जो आज गृह-उद्योग धन्धों की ओर थोड़ा सा ध्यान गया है उसका सारा श्रेय महात्मा गांधी को है। किन्तु यह कार्य बिना राज्य की सहायता के नहीं हो सकता।

आवश्यकता इस बात की है कि राज्य स्पष्ट रूप से यह घोषणा कर दे कि गृह-उद्योग धन्धों का देश के औद्योगिक संगठन में एक महत्वपूर्ण स्थान है। इस कारण भविष्य में राज्य सब तरह से इन धन्धों को संरक्षण प्रदान करेगा। राज्य की औद्योगिक नीति स्पष्ट हो जाने पर फिर राज्य को नीचे लिखे अनुसार गृह उद्योग धन्धों को प्रोत्साहन देना चाहिए।

खोज

राज्य को ऐसी संस्थायें स्थापित करनी चाहिए जो कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं के बनाने के वैज्ञानिक तरीकों की खोज करें। ऐसी बहुत-सी वस्तुएँ

हैं जो कि उद्योग धन्धे के रूप में भलीभाँति तैयार की जा सकती हैं। यदि इन संस्थाओं में योग्य व्यक्ति नियुक्त किये जावें और वे प्रयत्न करें तो गृह उद्योग धन्धों के लिए वस्तुएँ बनाने के वैज्ञानिक तथा लाभदायक तरीके असानी से ढूँढ़ निकाले जा सकते हैं। नया तरीका ढूंढ़ निकालने के उपरान्त उसका प्रचार करना भी आवश्यक होगा।

आर्थिक सहायता

गृह उद्योग धंन्धों की उन्नति के लिए यह भी आवश्यक होगा कि उत्तम औजारों का निर्माण किया जावे। उन्हें बड़ी मात्रा में, सस्ते दामों पर तैयार किया जावे और सहकारी समितियों के द्वारा और स्वतंत्र रूप से कारीगरों को किराये पर बिक्री (Hire Purchase) पद्धति से बेंचा जावे। यही नहीं, वरन् कच्चा माल लेने तथा तैयार माल को रोक रखने के लिए जो पूंजी की आवश्यकता है उसे भी राज्य सहकारी समितियों को बिना सूद या नाम मात्र के सूद पर ऋण देकर पूरी करे।

बिक्री

जैसा कि हम पहले ही कह आये हैं कि गृह उद्योग धन्धों के सामने बने हुए मालों की बिक्री का प्रश्न जटिल रूप से आता है। इसके लिए सहकारी संगठन की आवश्यकता होगी। राज्य इस सहकारी संगठन को वार्षिक आर्थिक सहायता दे, जिससे कि सहकारी फेडेरेशन ऐसे विशेषज्ञ रख सके जो कि बाजार की बदलती हुई परिस्थिति का अध्ययन करें और नई डिजाइन तथा नये मॉडेल का आविष्कार करें। इसके अतिरिक्त फेडरेशन अपने भंडार स्थापित करके, प्रदर्शनियों तथा विज्ञापन के द्वारा गृह उद्योग धन्धों के द्वारा उत्पन्न होने वाले माल की बिक्री कर सके। सरकार को अपने विभागों के लिए सामान खरीदते समय गृह उद्योग धन्धों को पहला अवसर देना चाहिए।

अस्तु, यदि राज्य गृह उद्योग धन्धों की सहायता करे और उनका सहकारी संगठन किया जावे तो यह धन्धे पनप सकते हैं।

सहकारी उत्पादन समितियां

यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि यदि गृह उद्योग धन्धों को संगठन सहकारी समितियों के द्वारा किया जावे तो यह सब कठिनाइयाँ दूर

हो सकती हैं। उत्पादन सहकारी समितियां प्रत्येक धन्धे में लगे हुए कारीगर का संगठन करेंगी। एक धन्धे के लिए एक अलग समिति होगी। समिति परिमित दायित्व (Limited Liability) वाली होगी। प्रत्येक सदस्य समिति का कम से कम एक हिस्सा खरीदेगा। समिति डिपाजिट भी स्वीकार करेगी और सहकारी सेंट्रल बैंक से ऋण भी लेगी। यदि राज्य आर्थिक सहायता देना चाहे तो इन समितियों को बिना सूद के या नाम मात्र सूद पर ऋण दे सकता है। हिस्सा पूँजी डिपाजिट तथा ऋण समिति की कार्यशील पूंजी होगी। सदस्यों को केवल साख देना ही उसका काम नहीं होगा। उसे वे सभी कार्य करने होंगे जो कि एक व्यवसायी करता है। व्यवसायी कारीगर को ऋण देता है, कच्चा माल बेचता है और तैयार माल खरीदता है। यदि उत्पादक समितियां वास्तव में कारीगर की आर्थिक उन्नति करना चाहती हैं तो उन्हें व्यवसायी को क्षेत्र से बिलकुल हटा देना होगा अर्थात उसके सब कार्य अपने हाथ में ले लेने होंगे। भारतवर्ष में पहले तो उत्पादक समितियां बहुत कम हैं दूसरे वे केवल साख का ही प्रबन्ध करके रह गई।

जब तक उत्पादक सहकारी समितियां सदस्यों के लिए उचित मूल्य पर कच्चा माल खरीदने तथा तैयार माल बेचने का प्रबंध नहीं करतीं, तब तक गृह उद्योग धन्धे पनप नहीं सकते। किन्तु इतने से ही धन्धे का संगठन पूर्ण नहीं हो सकता। समिति को कारीगरों को आधुनिक वैज्ञानिक ढङ्ग की वस्तुएँ तैयार करने की शिक्षा दिलानी होगी और उत्तम औजारों तथा यंत्रों का प्रचार करना होगा।

यह सब कार्य केवल एक सहकारी समिति सफलतापूर्वक नहीं कर सकती क्योंकि तैयार माल बेचने के लिए विज्ञापन देने, बाजार का अध्ययन करने, एजेन्ट तथा कनवैसर भेजने तथा प्रदर्शनी का आयोजन और भंडार स्थापित करने की आवश्यकता होती है। यह सारा कार्य एक समिति की शक्ति के बाहर की बात है। अस्तु समितियों को एक यूनियन या फेडरेशन में अपने को संगठित कर लेना आवश्यक है। यूनियन या फेडरेशन कुछ कर्मचारी रखकर यह सब कार्य करेगी। इस कार्य में राज यूनियन की सहायता कर सकता है विशेषज्ञों की सेवायें देकर अथवा आर्थिक सहायता देकर।

उदाहरण के लिए यदि बुनकरों की एक यूनियन स्थापित की जावे तो यूनियन बुनाई कला को जानने वाले कुछ ऐसे शिक्षक रक्खेगी जो घूम-घूम कर कुछ समय प्रत्येक समिति के सदस्यों को नई डिजाइन का कपड़ा तैयार करना, अच्छे वर्ग के लाभ तथा अन्य आवश्यक सुधारों की शिक्षा देंगे। यूनियन विज्ञापन के द्वारा समितियों के कपड़े का प्रचार करेगी। भिन्न-भिन्न स्थानों पर स्टोर स्थापित करके कपड़ा बेचने का प्रबंध करेगा तथा एजेंट और कनवैसर रक्खेगी। यूनियन के विशेषज्ञ बाजार अध्ययन करके समितियों को यह सूचना दिया करेंगे कि किस प्रकार के कपड़े की बाजार में अधिक मांग है। समितियां उसी प्रकार के कपड़े को सदस्यों से तैयार करवाया करेगी। यूनियन प्रतिवर्ष प्रदर्शनी का आयोजन करे। इससे दो लाभ होंगे—एक तो उस क्षेत्र के कारीगर एक दूसरे के काम को देख सकेंगे और प्रतिस्पर्द्धा की भावना से अपनी उन्नति करेंगे दूसरे कला का प्रचार और विज्ञापन होगा। समिति कच्चा माल व्यापारियों से न खरीद कर सीधे उत्पन्न करनेवालों से खरीदगी और सदस्यों को देगी। इसका फल यह होगा कि सदस्यों को कच्चा माल उचित मूल्य पर मिल सकेगा। सदस्य तैयार माल समिति को दे जावेगा। समिति कुछ रुपया पेशगी सदस्य को उसी समय दे देगी। बाकी रुपया माल बिकने पर चुकाया जावेगा। समिति प्रतिशत कुछ कमीशन लेगी। वर्ष के अन्त में जो लाभ होगा उसका कुछ भाग रक्षित कोष में रखकर शेष सदस्यों में उस अनुपात में बाँट दिया जावेगा जिस अनुपात में वे समिति को माल बेचने को देंगे। इस प्रकार उत्पादक सहकारी समितियां गृह-उद्योग धन्धों का संगठन कर सकती हैं। यदि हम चाहते हैं कि गृह-उद्योग धन्धे पनपें तो हमें उत्पादक सहकारी समितियां स्थापित करनी होंगी। योरोप में इस प्रकार की समितियाँ अत्यन्त सफलतापूर्वक कार्य कर रही हैं।

बुनकर समितियां

यद्यपि हाथ के करघे द्वारा बुनाई का धन्धा अत्यन्त अस्त व्यस्त दशा में है फिर भी यह देश का अत्यन्त महत्वपूर्ण धन्धा है। इस धन्धे का महत्व तो इसी से प्रगट होता है कि वर्ष भर में भारत में जितना कपड़ा तैयार होता है उसका २५ से ३० प्रतिशत करघों द्वारा तैयार होता है। अनुमान किया जाता है कि भारतवर्ष में लगभग पचास लाख बुनकर इस धंधे में लगे हुए

हैं। अस्तु यह स्वाभाविक था कि पहले बुनकर समितियां स्थापित की जाती। इन समितियों को अभी पूरी सफलता नहीं मिली है। अब यह प्रयत्न हो रहा है कि समितियों को यूनियन में संगठन हो और तैयार माल बेचने, कारीगरों को औद्योगिक शिक्षा देने, तथा उत्तम औजारों तथा डिजाइनों का प्रचार करने का आयोजन हो रहा है।

मदरास

मदरास प्रान्त में सहकारी समितियों में बुनकरों को संगठित किया किन्तु उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। इसके नीचे लिखे कारण हैं:— (१) बुनकरों की अज्ञानता और उदासीनता, (२) तैयार माल को बेचने की कठिनाई (३) व्यापारियों का विरोध, (४) बुनकरों में व्यावसायिक ढंग का अभाव तथा (५) सूत के मूल्य में भारी कमी बेशी का होना। इस समय मदरास प्रान्त में २०० बुनकर समितियां कार्य कर रही हैं।

वहां एक प्रान्तीय बुनकर समिति भी है। प्रान्तीय समिति सूत तथा अन्य कच्चा माल और करघे इत्यादि अपने से सम्बन्धित समितियों को देती है, समितियों के तैयार माल को बेचने का प्रबन्ध करती है, तथा समितियों को आर्थिक तथा अन्य प्रकार की सहायता देती है।

प्रान्तीय समिति ने मुख्य-मुख्य नगरों में भंडार स्थापित किये हैं, जिनमें सम्बन्धित समितियों का तैयार माल बिकता है। उसने एक फिनिशिंग प्लांट भी खड़ा किया है, जिसमें समितियों के बने हुए कपड़ों का फिनिश (अन्तिम परिष्कार) किया जाता है। पंजाब—में औद्योगिक समितियों की विशेष रूप से उन्नति हुई है बुनकरों, चमारों, लुहारों, बढ़इयों तथा तेलियों की समितियां वहां स्थापित की गई हैं। युद्ध के समय इन समितियों की स्थापना तेजी से हुई है।

बुनकर समितियाँ अमृतसर के औद्योगिक सहकारी बैंक से सम्बन्धित हैं। समितियाँ बैंक से ऋण लेकर सूत इत्यादि खरीदती हैं। सदस्यों को कच्चा माल ही उधार दिया जाता है। तैयार माल बेचने के लिए वे आर्डर लेती हैं, प्रदर्शनियों का आयोजन करती हैं और पंजाब के प्रमुख नगरों में उन्होंने बिक्री भंडार भी स्थापित किये हैं।

संयुक्तप्रान्त में संडीला, टांडा, बाराबंकी, और बनारस में बुनकर समितियाँ स्थापित की गईं, किन्तु विशेष सफलता नहीं मिली।

बम्बई में भी बुनकर समितियाँ स्थापित की गई हैं जो कि औद्योगिक यूनियन की अधीनता में कार्य करती हैं। यह यूनियन अच्छे डिजाइनों और अच्छे करघों का बुनकरों में प्रचार करती है सूत और रंग देती है, और तैयार माल को अपने भंडारों में बेचती हैं।

बंगाल, बिहार और उड़ीसा में भी कुछ बुनकर समितियाँ हैं किन्तु वे अधिकतर साख ही देती हैं।

हम यह तो पहले ही कह चुके हैं कि कुटीर या गृह-उद्योग धंधों का सहकारिता के आधार पर संगठन करना आवश्यक है। परन्तु साथ ही हमें यह न भूल जाना चाहिए कि बिना राज्य की सहायता के कुटीर धंधों को हम समृद्धिशाली नहीं बना सकते। राज्य को एक निश्चित नीति बनाकर कुटीर धंधों को संरक्षण प्रदान करना होगा। मिलों की प्रतिस्पर्धा से उन्हें बचाना होगा, उनकी समस्याओं को हल करने के लिए विशेषज्ञ नियुक्त करने होंगे।

यदि जलविद्युत अधिक राशि में उत्पन्न की जा सके और उसको गाँवों तक पहुँचाया जा सके तो गृह-उद्योग धंधों को बहुत बल मिल सकता है। देश की भावी औद्योगिक उन्नति में इस दृष्टि से जलविद्युत का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। राज्य को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

———

परिच्छेद — १०

जमीन का बन्दोबस्त और मालगुजारी

हम पिछले परिच्छेदों में देश के कृषि उद्योग की वर्तमान दशा, उसमें सुधार की आवश्यकता, और उसके उपायों के बारे में विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं। लेकिन केवल अच्छे बीज, हल, खाद इत्यादि से ही खेती की उन्नति नहीं हो सकती और न किसान की आर्थिक दशा में ही सुधार हो सकता है। इस सम्बन्ध में जमीन का बन्दोबस्त और मालगुजारी का प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है, और उसका कृषि से घनिष्ट सम्बन्ध भी है। देश में प्रचलित जमीन के बन्दोबस्त की विभिन्न प्रणालियों का खेती पर, किसानों की आर्थिक दशा पर और देश की राजनैतिक और सामाजिक स्थिति पर गहरा प्रभाव पड़ता है। यही नहीं कृषि द्वारा उत्पन्न सम्पत्ति के बंटवारे का भी प्रश्न जमीन के बन्दोबस्त की विभिन्न प्रणालियों से जुड़ा हुआ है। इन सब कारणों से हमारे लिए इनके बारे में पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। इसका अध्यन करने से हमें यह पता चलता है कि जमीन के सम्बन्ध में किस के क्या-क्या अधिकार हैं। अस्तु यह स्पष्ट है कि यदि जमीन का बन्दोस्त ऐसा है कि किसान को भूमि की उर्वरा शक्ति बनाये रखने के लिए इच्छा रहती है, वह उस पर परिश्रम करने में लाभ देखता है और भूमि की पैदावार का अधिकांश भाग उसको ही प्राप्त होता है तथा उसके वंशज उस भूमि के स्वामी रहते हैं तो किसान समृद्धिशाली होंगे, खेती अच्छी होगी और संतुष्ट किसान राष्ट्र की एक महान शक्ति बनेंगे। किन्तु यदि किसान का भूमि पर कोई अधिकार न हो, उससे मनमाना लगान वसूल किया जावे और उसे जब चाहे तब भूमि पर से हटा दिया जावे तो उसका परिणाम होगा निर्धन किसान वर्ग, खेती की गिरी हुई दशा और राजनीतिक गड़बड़। अस्तु किसी भी देश की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक दशा को ऊँचा बनाये रखने के लिए भूमि के बन्दोबस्त का अच्छा होना नितान्त आवश्यक है। भारत जैसे देश में जहाँ तीन चौथाई जनसंख्या भूमि पर ही लगी हुई है, आदर्श भूमि का बन्दोबस्त और भी महत्व का प्रश्न बन जाता है।

यदि हम चाहते हैं कि भारतीय किसान की आर्थिक स्थिति सुधरे, खेती की उन्नति हो और किसान सम्पन्न हो तो हमें प्रचलित जमीन के बन्दोबस्त की विभिन्न प्रणालियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने की आवश्यकता है। परन्तु इससे पहले कि हम इस प्रश्न पर विचार करें कि किस प्रकार का बन्दोबस्त आदर्श होगा, प्रचलित भूमि के बन्दोबस्त की विभिन्न प्रणालियों का अध्यन कर लेना आवश्यक है।

भारतवर्ष में भूमि का स्वामित्व

भारतवर्ष में इस सम्बन्ध में लम्बा विवाद चलता रहा है कि भूमि का मालिक कौन है। बहुत से विद्वानों ने इस सम्बन्ध में विचार किया है। टैक्सेशन इनक्वायरी कमेटी (Taxation enquiry Committee) ने भी इस सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक विचार किया है और इस प्रश्न का ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन किया। मनु ने मनुस्मृति में स्पष्ट लिखा है कि भूमि पर राज्य का कोई भी अधिकार नहीं है वह केवल भूमि की पैदावार का छठवां भाग कर स्वरूप ले सकता है। भूमि सम्बन्धी समस्याओं के विशेषज्ञ श्री बैडेन पावेल, प्रसिद्ध विद्वान यलफिंस्टन, और प्रो यच० यच० विल्सन का भी यही मत है कि राज्य ने कभी भी भारतवर्ष में भूमि पर अपने स्वामित्व का दावा नहीं किया। हिन्दू-काल में राज्य भूमि पर व्यक्तियों का स्वामित्व स्वीकार करता था।

जो कानून मुसलमानों के शासन काल में चलता था वह हिनिफा-हदीसों के ऊपर निर्भर था। कर्नल गैलवे हनिफा कानून के सबसे बड़े विद्वान थे। उनका कहना है "भूमि किसान की थी। कानून तथा प्रचलित परिपाटी के अनुसार जब तक किसान कर दे। रहे तब तक उसको हटाया नहीं जा सकता। यदि किसान कर न दे तब भूमि को नीलाम किया जा सकता है नहीं तो किसान को हटाया नहीं जा सकता।'

टैक्सेशन इनक्वायरी कमेटी का यह सर्वसम्मत मत था कि हिन्दू और मुसलमान दोनों कालों में भूमि पर राज्य ने कभी स्वामित्व का दावा नहीं किया और उसने भूमि में व्यक्तिगत स्वामित्व को स्वीकार किया।

हिन्दू और मुसलमान काल में केवल एक ही भेद था। हिन्दू शासक भूमि की पैदावार का छठवां भाग पैदावार के रूप में ही लेते थे किन्तु मुसलमान शासक पैदावार के रूप में कर न लेकर नकद रुपये में मालगुजारी

वसूल करते थे। इसका कारण यह था कि मालगुजारी नकद रुपये में वसूल करना कम खर्चीला और सरल था। जब यह स्पष्ट हो गया कि हिन्दू और मुसलमान शासकों ने भूमि पर कभी अपना स्वामित्व स्थापित नहीं किया तो अंग्रेजी सरकार भूमि पर किस प्रकार अपना दावा स्थापित कर सकती है। जब अंग्रेजी सरकार की पूर्ववर्ती सरकारों ने भूमि पर स्वामित्व का कभी दावा नहीं किया तो अंग्रेजी सरकार भूमि पर किस प्रकार दावा कर सकती है।

कुछ विद्वानों का मत है कि औरंगजेब की मृत्यु के उपरान्त जब मुगल साम्राज्य जर्जर हो गया और केन्द्रीय सरकार की शक्ति क्षीण हो गई तो सूबेदार, तथा छोटे-छोटे राजा और नवाब स्वतंत्र हो गए। उस समय उन्होंने मनमाने ढंग से कर उगाहना आरम्भ कर दिया। अपनी अंधाधुंध मांग के औचित्य को प्रमाणित करने के लिए उन्होंने भूमि पर अपने स्वामित्व का दावा प्रगट करना आरम्भ कर दिया। इस राजनीतिक अशान्ति के समय इन छोटे-छोटे शासकों ने भूमि कर के अतिरिक्त इतनी अधिक लागतें लगाना आरम्भ कर दिया कि भूमि को रखना एक आर्थिक बोझा हो गया। इसमें कोई संदेह नहीं कि उस समय कहीं-कहीं राज्य का भूमि पर स्वामित्व स्थापित होगया। परन्तु यह अस्थायी था और सीमित क्षेत्र में ही स्थापित हो सका था। ऐसे बहुत से ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि किसानों ने शासकों का भूमि पर निश्चित रूप से स्वामित्व कभी भी स्वीकार नहीं किया। उस अशान्ति के समय भी किसानों ने अपनी भूमि पर शासकों का स्वामित्व स्थापित नहीं होने दिया।

किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि एक सरकार अपने पूर्ववर्ती सरकार के कानूनों को स्वीकार ही करे। अस्तु हमें यह जानने का प्रयत्न करना चाहिए कि अंग्रेजी सरकार ने क्या भूमि पर अपने स्वामित्व का दावा किया है या नहीं। सरकारी मत यह है कि ब्रिटिश सरकार ने आरम्भ से ही भारतवर्ष में भूमि पर अपने स्वामित्व का दावा किया है। अस्तु, भूमि का वास्तविक स्वामी सरकार है। किन्तु बेडन पावेल जो इस विषय के भारत में सबसे बड़े विशेषज्ञ थे उनका मत उससे भिन्न है। उन्होंने कहा है कि ब्रिटिश सरकार ने सब जगह भूमि पर व्यक्तियों का स्वामित्व या तो स्वीकार कर लिया अथवा स्थापित कर दिया। और देश के बहुत से भागों में सरकार ने जमींदारों तथा गांव के मालिकों के स्वामित्व की घोषणा भी कर दी है। हां, स्थायी बन्दोबस्त

के बाहर Waste Land और खासमहल रियासतों की भूमि पर सरकार पूरा स्वामित्व है।

टैक्सेशन इनक्वायरी कमेटी की सर्वसम्मत राय थी कि जहां स्थायी बन्दोबस्त है वहां की भूमि पर सरकार का कोई मालिकाना हक नहीं रह गया है। परन्तु स्थायी बन्दोबस्त के बाहर waste land और खासमहल रियासतों में सरकार का भूमि पर पूर्ण स्वामित्व है। किन्तु जहां रैयतवारी पद्धति प्रचलित है और अस्थायी बन्दोबस्त है वहां सरकार का भूमि पर स्वामित्व है या नहीं इस सम्बन्ध में कमेटी के दो मत हैं। एक मत तो यह है कि अस्थायी बन्दोबस्त वाले प्रदेशों में रैयत का भूमि पर वही अधिकार है जो कि जमींदार का है। क्योंकि रैयत को भूमि को बेचने और बंधक रखने का पूरा अधिकार है। भूमि के बेचने और उसे बंधक रखने पर राज्य ने किसी प्रकार प्रतिबंध नहीं लगाया। वास्तव में उसका और सरकार का वही सम्बन्ध है जो कि जमींदार और सरकार का है। जिस प्रकार मालगुजारी न देने पर जमींदार की रियायत मालगुजारी के वसूल करने के लिए बेंच दी जा सकती है उसी प्रकार मालगुजारी न देने पर रैयत की जमीन भी बेंच दी जा सकती है। एक दूसरा मत यह है कि रैयतवारी प्रदेशों में यदि रैयत चाहे तो वह भूमि को छोड़ सकता है और फिर वह भूमि राज्य के अधिकार में चली जाती है। इससे कुछ लोग यह आशय निकालते हैं कि भूमि पर वास्तव में स्वामित्व सरकार का है क्योंकि जब भूमि रैयत छोड़ता है तो वह सरकार के पास वापस लौट आती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि स्थिति बहुत उलझी हुई है यदि सरकार भूमि की मालिक नहीं है तो उसके पास भूमि वापस क्यों लौटती है। जो इस मत को स्वीकार नहीं करते उनका कहना यह है कि रैयत को भूमि छोड़ देने का अधिकार इसलिए दे दिया गया था क्योंकि रैयत (भूमि पर कब्जा रखने वाला) को यह भय था कि यदि उसे यह अधिकार नहीं होगा तो राज्य जितना भी चाहे मालगुजारी बढ़ाता जावे, किन्तु रैयत को उसे देना ही होगी। इस विवशता से बचने के लिए उसको यह अधिकार दिया गया। इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि भूमि पर राज्य का अधिकार है। जो भी हो टैक्सेशन इनक्वायरी कमेटी इस प्रश्न पर एकमत न हो सकी। अस्थायी बन्दोबस्त वाले प्रदेशों में जमींदार की क्या स्थिति है। इस पर एकमत न होते हुए भी कमेटी ने यह स्वीकार किया कि अधिकतर भूमि

पर मालिकाना हक जमींदार और रैयत का है।

भूमि के स्वामित्व के सम्बन्ध में विद्वानों का यह मत रहते हुए भी भारतवर्ष में सरकार समस्त भूमि पर अपना स्वामित्व प्रगट करती है। अस्तु जमींदारी प्रान्तों में सरकार भूमि की सर्वोपरि और अन्तिम स्वामिनी, जमींदार भूमि का स्वामी और दलाल तथा असामी (किसान) भूमि का जोतने वाला घोषित कर दिया गया। हाँ, किसान को भूमि पर अपने अधिकार में रखने की सुविधा कानून द्वारा कर दी गई है। रैयतवारी प्रान्तों में केवल दो पक्षों में भूमि का स्वामित्व बँटा हुआ है। सरकार भूमि की सर्वोपरि स्वामिनी है और रैयत को व्यवहारिकता में मालिकाना हक मिले हुए हैं। अस्तु भारत में इस समय भूमि का स्वामित्व सम्बंधी सिद्धान्त यह है कि भूमि के स्वामित्व में सरकार, जमींदार तथा किसान तीनों ही साझीदार हैं।

विभिन्न प्रणालियां

मोटे रूप से भारतवर्ष में प्रचलित बन्दोबस्त तथा मालगुजारी की प्रणालियों को श्रेणियों में बांटा जा सकता है। (अ) जमींदारी बन्दोबस्त, (ब) ग्राम या महलवारी बन्दोबस्त और (स) रैयतवारी बन्दोबस्त। अब हम संक्षेप में इनमें से हर एक के बारे में विचार करेंगे।

किन्तु इससे पूर्व कि हम भिन्न भिन्न प्रकार के बन्दोबस्त की प्रणालियों का अध्ययन करें, यह जानना आवश्यक है कि आधुनिक बन्दोबस्त की प्रणालियों का विकास किस प्रकार हुआ। अत्यन्त प्राचीन काल में जब कि देश में जनसंख्या बहुत कम थी और भूमि की कोई कमी नहीं थी, ग्राम संस्था का देश में बहुत अधिक प्रभाव था और वे ही एक प्रकार से सर्वेसर्वा थे। इन ग्राम संस्थाओं द्वारा ही देश का शासन होता था। ग्राम संस्था अपने अधिकार का प्रयोग ग्राम पंचायत द्वारा करती थी। उस समय यद्यपि किसान ही भूमि का मालिक था उसके ऊपर कोई भू-स्वामी अथवा जमींदार नहीं था फिर भी उसका सीधा सम्बन्ध शासक से होता था। ग्राम संस्था को भूमि पर कुछ विशेष अधिकार प्राप्त थे जिनका प्रयोग वह गांव के सार्वजनिक हित में करती थी। गांव की गोचर-भूमि, घास के मैदान, तालाब, और सिंचाई की नहरों पर एक मात्र ग्राम संस्था का अधिकार था। यदि कोई किसान इस प्रकार की भूमि को अपने व्यक्तिगत अधिकार में लाने का

तनिक भी प्रयत्न करता तो गांव की सभा उसको दण्ड देती थी। जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती गई। यह आवश्यक होता गया कि किसान को अपने पशुओं को गोचर भूमि में चराने, घास और लकड़ी काटने का अधिकार सुरक्षित कर दिया जावे। अतएव जंगल, घास के मैदान और सिंचाई की नहरों का सामूहिक प्रबन्ध और भी आवश्यक हो गया। नहीं तो बढ़ी हुई जनसंख्या को खिलाने के लिए जो गहरी खेती की आवश्यकता थी वह होना सम्भव न होती। इन सबका प्रबन्ध सार्वजनिक हित में ग्राम संस्था पंचायत के द्वारा करती थी। यही नहीं शताब्दियों तक ग्राम संस्था ही गांव वालों से भूमि कर (मालगुजारी) वसूल कर राज्य को देती थी। चंद्रगुप्त मौर्य के शासन काल से लेकर मुसलमानों के शासन काल तक यही प्रथा प्रचलित थी कि राज्य गांव की मालगुजारी सरकारी खजाने में जमा करने की जिम्मेदारी ग्राम पंचायत पर रखती थी। जब गांव की मालगुजारी निर्धारित की जाती तो किसी एक किसान को कितनी मालगुजारी (भूमि कर) देना है यह निश्चय नहीं किया जाता। सारे गांव को कितनी मालगुजारी राज्य को देना है यह निर्धारित कर दिया जाता था और ग्राम संस्था उतनी मालगुजारी वसूल करके राज्य के खजाने में जमा करने के लिए उत्तरदायी होती थी। मुसलमान शासन-काल में प्रत्येक किसान से व्यक्तिगत रूप से मालगुजारी वसूल करने की प्रथा प्रचलित हुई। परन्तु मुगल साम्राज्य के अन्तिम दिनों में फिर सामूहिक रूप से गांवों में मालगुजारी वसूल करने की प्रथा प्रचलित की गई। प्रान्तीय सूबेदार प्रत्येक गांव के मुखिया से गांव भर की मालगुजारी के सम्बन्ध में एक समझौता कर लेता था। मुखिया गांव की तरफ से उतनी मालगुजारी सरकारी खजाने में जमा करने का वचन देता था।

प्राचीन समय में हिन्दू शासक मनु के अनुसार खेत की पैदावार का छठवां भाग कर स्वरूप लेते थे किन्तु युद्ध अथवा ऐसे ही कठिन समय में भूमि की पैदावार का एक चौथाई तक ले लिया जाता था। मालगुजारी वसूल करने का यह ढंग बहुत अच्छा और न्यायपूर्ण था क्योंकि यदि किसी वर्ष खेती की पैदावार कम होती या फसल नष्ट हो जाती तो किसान को मालगुजारी उस पैदावार का छठवां भाग ही देना पड़ता अर्थात फसल खराब होने पर राज्य का भाग भी कम हो जाता था। इस कारण उस समय मालगुजारी में छूट देने की कोई जरूरत नहीं पड़ती थी। यद्यपि इस प्रथा

के यह गुण थे किन्तु साथ ही उसमें दोष भी बहुत-से थे। जैसे-जैसे देश में जनसंख्या बढ़ती गई और खेती का विस्तार होता गया वैसे ही वैसे भूमि की पैदावार को लगान के रूप में इकट्ठा होना कठिन होता गया। इसी कारण बाद को इस प्रथा को छोड़ना पड़ा। मुसलमानों के शासन काल में पैदावार के स्थान पर नकदी में मालगुजारी वसूल करने की प्रथा का प्रचलन हुआ।

हिन्दू शासन-काल में मालगुजारी इत्यादि का प्रबंध कुटुम्ब के आधार पर होता था। प्रत्येक कुटुम्ब का प्रमुख व्यक्ति गांव की सभा (कौंसिल) का सदस्य होता था। गांव का मुखिया इस सभा का अध्यक्ष होता था। दस गांवों के मुखियों की एक दूसरी सभा होती थी जिसका अध्यक्ष चौधरी कहलाता था। दस चौधरी जो कि सौ गांवों का प्रतिनिधित्व करते थे परगना कौंसिल या सभा बनाते थे और दस परगनों की एक बड़ी सभा या कौंसिल एक राजा की आधीनता में शासन कार्य करती थी। मुखिया लोग अपने अपने गांव की मालगुजारी राजा से तय कर लेते थे और फिर उसको कुटुम्बों में बांट देते थे। मुसलमान शासन-काल के आरम्भ तक यह सामूहिक मालगुजारी प्रथा प्रचलित रही।

भारतवर्ष में जब मुसलमान शासकों की नींव मजबूत हो गई तो उन्होंने मालगुजारी प्रथा में कुछ परिवर्तन किया। उन्होंने बादशाह के परिवार की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भूमि का एक भाग अलग सुरक्षित कर दिया यह सुरक्षित भूमि "खालसा" कहलाती थी और शेष भूमि को 'जागीरी' कहते थे। यह जागीरी भूमि ताल्लुकेदारों और सूबों में बांट दी जाती थी जो कि बादशाह को सालाना खिराज देते थे और जब बादशाह को युद्ध के अवसर पर सहायता की आवश्यकता होती थी तो वह सैनिक सहायता देते थे। यह सूबा तथा ताल्लुकेदार अपने अधीनस्थ जागीरदारों को वह भूमि बांट देते थे। इस प्रकार भारतवर्ष में जागीरदारी प्रथा का उदय हुआ। किन्तु पाठक जागीरदारी प्रथा को जमींदारी प्रथा न समझ लें। वास्तव में जागीरदारी प्रथा और जमींदारी प्रथा में कोई भी समानता नहीं है। यह दोनों एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। अकबर के शासन काल में और उसके उपरान्त अन्य मुगल बादशाहों के शासन काल में इस प्रथा में परिवर्तन कर दिया गया। इस प्रथा के स्थान पर ठेकेदारी (Farming) की प्रथा को चलाया गया। गांव की मालगुजारी वसूल

करने का ठेका ठेकेदारों (Revenue Farmers) को दे दिया जाता था जो कि एक निश्चित रकम या पैदावार सरकारी खजाने में जमा कर देते थे। शेरशाह ने मालगुजारी पैदावार में न लेकर नकदी में लेने का प्रयत्न किया। किन्तु वास्तव में नकद रुपयों में मालगुजारी लेने की प्रथा अकबर के शासन काल में प्रचलित हुई, जब उसके प्रसिद्ध मंत्री राजा टोडरमल ने भूमि का नया बन्दोबस्त और मालगुजारी नये सिरे से निर्धारित की। भूमि को नाप करके उसको चार श्रेणियों में विभाजित किया गया और राज्य का भाग भूमि की कुल पैदावार का एक तिहाई रक्खा गया। बन्दोबस्त हर ९ वर्ष बाद होता था। किसानों को यह सुविधा दी गई कि वे बन्दोबस्त से पिछले १९ वर्षों के औसत मूल्य (खेती की पैदावार) के हिसाब से यह चाहें तो मालगुजारी नकद रुपयों में चुका दें।

ठेकेदारों और जमींदारों का उदय

औरंगजेब की मृत्यु के उपरान्त जब कि केन्द्रीय सरकार निर्बल हो गई तो छोटे-छोटे सरदारों, जमींदारों और ठेकेदारों ने किसानों से मनमाना रुपया वसूल करना आरम्भ कर दिया। उन्होने सरकार द्वारा निर्धारित मालगुजारी के अतिरिक्त कई प्रकार के "अबवाब" वसूल करना शुरू कर दिया और किसान को लूटने लगे। यह स्थिति उन प्रदेशों में और भी भयंकर रूप में उपस्थित हुई जो कि केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकारों की राजधानियों से अधिक दूरी पर थे। दक्षिण और पश्चिम में जहां ग्राम संस्था बलवान थी और मराठा साम्राज्य शक्तिशाली था वहां इस प्रकार के भू-स्वामियों को उत्पन्न होने का अवसर ही नहीं मिला। इस कारण वहां उस समय भी ग्राम सस्थायें ही सामूहिक रूप से मालगुजारी अपने गांव वालों से जमा करके राज्य को देती रहीं। वे ठेकेदारों तथा जमींदारों की लूट से बच गए। दक्षिण पश्चिम में ग्राम सस्थायें ही केन्द्रीय, प्रान्तीय और ग्राम्य करों को उगाहती रहीं परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में जब कि ब्रिटिश सरकार ने भूमि का नवीन बन्दोबस्त किया तब से यह ग्राम संस्था निर्बल होकर नष्ट होने लगी। ब्रिटिश शासन में ग्राम संस्थाओं (village communities) की नितान्त अवहेलना की गई और व्यक्तियों से मालगुजारी वसूल करने की प्रथा प्रचलित की गई। इसका परिणाम यह हुआ कि ग्राम संस्था नितान्त निर्बल और शक्तिहीन हो गई।

किन्तु उत्तर भारत में तो बहुत पहले ही ग्राम संस्था नष्ट हो चुकी थी। जब मुगल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया तो सूबेदारों और प्रभावशाली जागीरदारों ने देश भर में छोटे छोटे स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिए। इसका परिणाम यह हुआ कि केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारें नितान्त शक्तिहीन हो गईं। बहुत बड़ी संख्या में छोटे-छोटे राजे और नवाबों ने स्वतन्त्र शासक बनकर मनमानी करना आरम्भ कर दिया जबकि राजनैतिक स्थिति ऐसी डँवाडोल थी और केन्द्रीय सरकार का प्रभाव प्रान्तीय सूबेदारों और जागीरदारों पर बहुत कम हो गया तो केन्द्रीय सरकार Central Govrnment को मालगुजारी वसूल करने के तरीके में परिवर्तन करना पड़ा। उस नवीन पद्धति को ठेकेदारी पद्धति Rent Farming कहते हैं। केन्द्रीय सरकार ने इस ठेकेदारी पद्धति को इसलिए अपनाया कि जिससे शाही खजाने को मालगुजारी मिलती रहे। इस पद्धति में किसी एक परगने या जिले की मालगुजारी वसूल करने का अधिकार एक ठेकेदार को दे दिया जाता था। ठेकेदार वसूल की हुई मालगुजारी का ९० प्रतिशत तो शाही खजाने में जमा कर देता था और १० प्रतिशत अपने पास रखता था। इसके उपरान्त किसी जिले या परगने की मालगुजारी वसूल करने का अधिकार सार्वजनिक रूप से नीलाम कर दिया जाता था और जो सबसे अधिक बोली बोलता था उसी को मालगुजारी वसूल करने का अधिकार दे दिया जाता था। ठेकेदार निर्धारित रकम खजाने में जमा कर देता था और जो बचता था वह अपने पास रख लेता था। क्रमशः मालगुजारी वसूल करने की ठेकेदारी पद्धति समस्त भारतवर्ष में प्रचलित हो गई। आरम्भ में ठेकेदारी न तो वंश परम्परागत पैतृक होती थी और न ठेकेदार किसानों से निर्धारित मालगुजारी से अधिक ही वसूल कर सकता था। क्योंकि बन्दोबस्त करने के उपरान्त सरकार जो मालगुजारी निर्धारित कर देती थी ठेकेदार उतनी ही मालगुजारी वसूल कर सकता था और राज्य कर्मचारी इसकी देखभाल करते थे कि ठेकेदार किसानों को परेशान तो नहीं करता या उनसे अधिक कर वसूल तो नहीं कर लेता। किन्तु जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया स्थिति में परिवर्तन होता गया। केन्द्रीय सरकार इतनी निर्बल होती गई कि वह इन ठेकेदारों पर भी नियंत्रण न रख सकी। वे लोग मनमानी मालगुजारी वसूल करने लगे। ठेकेदार किसान से जितना वसूल कर पाता था कर लेता था। क्रमशः यह ठेकेदार

अपने-अपने क्षेत्रों में बहुत प्रभावशाली बन गए। उनके पास सिपाहियों और कारिन्दों की एक बहुत बड़ी सेना रहती थी। इस कारण उनका प्रभाव और आतंक बहुत बढ़ गया। किसी नये आदमी के लिए यह असम्भव हो गया कि वह मालगुजारी वसूल कर सके। अस्तु कोई भी व्यक्ति किसी परगने या जिले की मालगुजारी वसूल करने का अधिकार खरीदने की भूल नहीं करता था। केन्द्रीय सरकार की बढ़ती हुई निर्बलता के साथ-साथ उनका यह अधिकार पैतृक हो गया। जब इन ठेकेदारों की स्थिति दृढ़ हो गई और उन्हें अपने हटाये जाने का भय नहीं रहा तो उन्होंने असहाय किसानों पर मनमानी लागतें और अबवाब लगाने आरम्भ कर दिये। निर्धारित मालगुजारी के अतिरिक्त वे लागतों और अबवाब के रूप में किसानों से बहुत रुपया ऐंठ लेते थे। मुगल साम्राज्य के विध्वंस होने पर तो यह राजनैतिक अंधकार और भी गहरा हो गया। इन ठेकेदारों ने भूमि पर अपना स्वामित्व भी स्थापित कर लिया। गांव की बंजर भूमि तथा 'सीर' पर तो उन्होंने योंही अपना अधिकार स्थापित कर लिया और किसानों को उन्होंने अपनी भूमि उन (ठेकेदारों) के हाथ बेचने के लिए विवश कर दिया। पुरानी मालगुजारी पद्धति के इस प्रकार नष्ट हो जाने का परिणाम यह हुआ कि बहुत तरह के काश्तकार और जमींदार पैदा हो गए जिनके अधिकार भिन्न थे। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के छिन्न-भिन्न हो जाने से नियमित बन्दोबस्त नहीं हो सकता था, इस कारण स्थिति और भी बिगड़ गई। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि दक्षिण और पश्चिम में ग्राम संस्था सबल थी इस कारण इन ठेकेदारों को मनमानी करने का अवसर नहीं मिला किन्तु उत्तर में ग्राम संस्था बिलकुल नष्ट हो गई और ठेकेदार भूमि के मालिक बन बैठे। दक्षिण में ग्राम संस्था उस समय नष्ट हुई जब ब्रिटिश सरकार ने वहां उन्नीसवीं शताब्दी में रैयतवारी प्रथा प्रचलित की और बन्दोबस्त करवाया।

जब १७६५ में शाह आलम ने ईस्ट इंडिया कंपनी को मालगुजारी वसूल करने का अधिकार दिया उस समय बंगाल में ठेकेदारी प्रथा प्रचलित थी और लार्ड कार्नवालिस के समय में उन्होंने अपनी स्थिति को बहुत मजबूत कर लिया था। वे भूमि के स्वामी की भांति अपने को प्रगट करते थे। लार्ड कार्नवालिस ने भूल से उन्हें उस भूमि का जमींदार मान लिया। लार्ड

कार्नवालिस ठेकेदारी पद्धति से परिचित नहीं थे। उन्होंने समझा कि यही वास्तव में भूमि के मालिक हैं। अस्तु मालगुजारी प्रथा का सुधार करने के उद्देश्य से ईस्ट इंडिया कम्पनी ने उन्हें पूर्ण जमींदारी के अधिकार प्रदान कर दिये और उन्हें भूमि का स्वामी स्वीकार कर लिया। १७९३ में स्थायी बन्दोबस्त (Permanent settlement) करके लार्ड कार्नवालिस ने भारतीय मालगुजारी के ठेकेदारों को इङ्गलैंड के भू-स्वामियों के सदृश बना दिया और किसानो के अधिकार छीन लिए गए। अभी तक किसान यदि लगान देता था तो उसको भूमि पर से बेदखल नहीं किया जा सकता था। किन्तु अब जमींदार की इच्छा पर वह बेदखल किया जा सकता था, यही नहीं, मकान बनाने की भूमि, बंजर, चरागाह, वन, भूमि, बांधों, तालाबों, सिंचाई की नहरों और मछलियों पर जो रैयत का अधिकार था वह भी नष्ट हो गया और उन सब पर जमींदार का अधिकार हो गया। यही नहीं गांव के काम करने वालों से काम कराने तथा छोड़े हुए खेतों की उपज को लेने का अधिकार भी छिन गया।

इसमें कोई संदेह नहीं कि लार्ड कार्नवालिस की यह इच्छा थी कि जिस प्रकार स्थायी बन्दोबस्त द्वारा जमींदारों की मालगुजारी जो कि वे सरकार को देंगे निर्धारित कर दी गई है उसी प्रकार किसान जो लगान जमींदारों को देंगे वह भी निर्धारित कर दी जावे। किन्तु ऐसा करने के लिए जो विस्तृत जांच की आवश्यकता थी वह उसके युद्धों में फँसे रहने, जांच का व्यय तथा कानूनगो के पद को तोड़ देने के कारण सम्भव न हो सकी। कुछ ही वर्षों में लगान की प्रचलित दर जो रिवाज से निर्धारित होती थी समाप्त हो गई। जमींदार मनमानी लगान लेने लगे। यही नहीं, किसानों के अधिकार इस शीघ्रता से लुप्त हो गए कि उनका मालूम करना कि वे क्या थे, असम्भव हो गया। ग्राम संस्था बिलकुल नष्ट हो गई। किसान असंगत थे। अस्तु, जमींदार ने बंजर और चरागाह पर भी अपना अधिकार स्थापित कर लिया और उसको भी वे लगान पर उठाने लगे।

वास्तव में यदि देखा जावे तो यह जमींदारियां अभी कुछ समय हुआ ब्रिटिश शासन-काल में ही बनी हैं। यह भारत की प्राचीन संस्था नहीं है। जमींदारियों के बनने के मुख्य कारण नीचे लिखे हैं:—या तो जमींदारियां मालगुजारी के ठेकेदारों को जमींदार मान लेने से बनी जैसा कि बंगाल,

बिहार, पूर्वीय संयुक्तप्रान्त, उत्तरी मदरास, और बम्बई के कुछ भागों में हुआ। या फिर जमींदारियां उन छोटे-छोटे सामन्तों की रियासतों की बनी जिनका 'खिराज' मालगुजारी में परिणत कर दिया गया जैसा कि मदरास तथा मध्यप्रान्त में हुआ। अथवा राज्य की सेवा के उपलक्ष में दी गई जागीरों से बनीं जैसा कि अवध के ताल्लुकेदारों के साथ हुआ अथवा रियासत के बंधक रखने और उसके खरीदने से जमींदारियां बनीं। यह जमींदारियां बैंकर्स तथा महाजनों के हाथ में आईं। अस्तु यह स्पष्ट है आधुनिक जमींदारी प्रथा भारत की प्राचीन संस्था नहीं है। यह हमारे देश को ब्रिटिश शासन की देन है। इससे पहले भारत में जमींदार नहीं थे। जमींदारी प्रथा के प्रचलित होने से ग्राम संस्था लुप्त हो गई और किसान का भूमि पर से अधिकार उठ गया। साथ ही जमींदार किसान और राज्य के बीच में एक दलाल के रूप में प्रगट हुआ तथा वह किसान का मनमाना शोषण करने लगा।

कुछ समय के उपरान्त स्थायी बन्दोबस्त पूर्वीय संयुक्तप्रान्त में भी प्रचलित किया गया और उसका भी यही दुष्परिणाम हुआ। मध्यप्रान्त में मराठा काल के मालगुजारों को भूमि का स्वामी बना दिया गया। यद्यपि उनका दर्जा बंगाल के जमींदारों से नीचा था और वह अस्थायी बन्दोबस्त (Temporary settlement) किया गया। अवध में १८५७ के ग़दर में वहां के छोटे-छोटे सामन्तों, जागीरदारों और मालगुजारी के ठेकेदारों को सिपाही विद्रोह के समय उनकी अंग्रेजों के लिए अमूल्य सेवाओं के उपलक्ष में उन्हें जमींदार बना दिया गया। यही नहीं कि अवध में ताल्लुकेदारों की सृष्टि की गई, वरन उन्हें विशेष अधिकार भी दे दिये गए।

इसके उपरान्त मदरास और बम्बई की बारी आई। किन्तु मुगल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने के बाद भी यहां राजनैतिक गड़बड़ी उपस्थित नहीं हुई क्योंकि वहां शक्तिवान मराठा साम्राज्य स्थापित था। अस्तु, वहां उत्तर भारत की भांति मालगुजारी के ठेकेदारों का वर्ग उत्पन्न नहीं हो सका। अस्तु ब्रिटिश शासक जमींदारों की सृष्टि न कर सके जैसा कि उन्होंने उत्तर में किया था। किन्तु उन्होंने वहां अत्यन्त शक्तिवान ग्राम संस्था की अवहेलना कर के रैयतवारी प्रथा को प्रचलित किया। इस प्रकार इन प्रान्तों में अस्थायी बन्दोबस्त के साथ रैयतवारी प्रथा का जन्म हुआ। आरम्भ में जो मालगुजारी निश्चित की गई वह बहुत अधिक थी जिसके कारण किसानों

को बहुत कष्ट हुआ। इसके अतिरिक्त शेष संयुक्तप्रान्त में महलवारी प्रथा और अस्थायी बन्दोबस्त प्रचलित किया गया।

भूमि के बन्दोबस्त की भिन्न पद्धतियां

जहां तक भूमि के स्वामित्व का प्रश्न है हम पहले ही कह चुके हैं यहां बन्दोबस्त की तीन विभिन्न पद्धतियां हैं (१) जमींदारी पद्धति (२) महलवारी पद्धति (३) रैयतवारी पद्धति। वास्तव में भारत में और भी कई पद्धतियां हैं। इसका कारण यह है कि भारत की राजनैतिक तथा सामाजिक दशा प्रत्येक भाग में एक-सी नहीं रही। यही कारण है कि देश में भूमि के बन्दोबस्त की अनेक पद्धतियां प्रचलित हैं। परन्तु ऊपर बतलाई हुई पद्धतियाँ मुख्य हैं।

जमींदारी बन्दोबस्त

इस पद्धति में एक जमींदार या कई साझेदार समस्त रियासत पर लगान देने के जिम्मेंदार होते हैं। इसका विशेष लक्षण यह है कि जमीन का मालिक एक जमींदार होता है, वह स्वयं खेती नहीं करता वरन खेती के लिए भूमि किसानों को उठा देता है जिनसे वह लगान वसूल करता है। अपनी जमींदारी की मालगुजारी सरकार को देने की जिम्मेदारी जमींदार पर होती है और किसानों तथा राज्य का कोई सीधा सम्बंध नहीं होता। यह प्रथा बंगाल, बिहार, उत्तरी मदरास, बनारस और अवध तथा बम्बई और मध्यप्रान्त के कुछ भागों में प्रचलित है। अधिकांश बंगाल, उत्तरी मदरास, बिहार और बनारस में सरकार और जमींदारों में स्थायी बन्दोबस्त है और शेष प्रान्तों में अस्थायी बन्दोबस्त है। इस पद्धति में जमींदार सरकार और किसानों के बीच में दलाल का काम करते हैं।

ग्राम या महलवारी बन्दोबस्त

इस प्रकार के बन्दोबस्त का लक्षण यह है कि गांव की जमीन का मालिक कोई एक जमींदार नहीं होता जो कि जमीन की मालगुजारी के लिए सरकार के सामने जिम्मेदार हो पर सारे गांव वाले मिल कर ही मालगुजारी के लिए जिम्मेदार होते हैं। गांव वालों से मतलब गांव के प्रत्येक रहने वाले से नहीं है बल्कि सिर्फ उन लोगों से है जो कि गांव की जमीन के एक न एक हिस्से के मालिक होते हैं। यहां ध्यान रखने की बात सिर्फ इतनी सी है

कि प्रत्येक गांव में ऐसे लोग भी होते हैं जिनका गांव की भूमि में मालिक की हैसियत से कोई हिस्सा नहीं होता जो जमीन के मालिकों से जमीन किराये पर लेकर खेती अवश्य करते हैं।

बात यह है कि वास्तव में गांव की जमीन के यह हिस्सेदार एक ही कुटुम्ब के थे अथवा वहां ग्राम संस्था इतनी शक्तिवान थी कि व्यक्तिगत रूप से सरकार और जमीन के मालिकों का कोई भी सम्बन्ध नहीं था सरकार से सम्बन्धित जो भी कार्य होते थे उनमें ग्राम संस्था एक व्यक्ति के समान सभी हिस्सेदारों का प्रतिनिधित्व करती थी। जब अंग्रेजी सरकार ने इन प्रदेशों की मालगुजारी पद्धति का नवीन संगठन किया तो उन्होंने इस तथ्य को स्वीकार किया और सरकार भूमि के हिस्सेदारों अथवा ग्राम संस्था से मालगुजारी के सम्बन्ध में इकरारनामा कर लेती है। यह हिस्सेदार व्यक्तिगत रूप से तथा सम्मिलित रूप से सरकार को मालगुजारी देने के लिए जिम्मेदार होते हैं। एक हिस्सेदार को सरकार लम्बरदार नियुक्त कर देती है। मध्यप्रान्त में उसे मालगुजार कहते हैं। यह सरकार तथा अन्य हिस्सेदारों के बीच में सम्पर्क स्थापित करता है।

महलवारी प्रथा संयुक्तप्रान्त (बनारस और अवध को छोड़कर) पंजाब और मध्यप्रान्त में प्रचलित है। लम्बरदार या मालगुजार ग्राम संस्था की ओर से सरकारी खजाने में मालगुजारी जमा करने के लिए उत्तरदायी होता है। इन प्रान्तों में बन्दोबस्त अस्थायी होता (३० वर्ष के लिए) है। लगान का लगभग आधा सरकार मालगुजारी के रूप में ले लेती है।

रैयतवारी पद्धति

यह पद्धति अधिकांश मदरास (उत्तरी सरकार के ज़िलों को छोड़कर जहां कि स्थायी बन्दोबस्त है) आसाम, बम्बई (कुछ जिलों को छोड़ कर जहां जमींदारी प्रथा है) सिंध और बरार में प्रचलित है। रैयतवारी पद्धति का लक्षण यह है कि यहां सरकार काश्तकारों से सीधा सम्बन्ध रखती दोनों के बीच में जमींदार रूपी दलाल नहीं होता प्रत्येक किसान अपनी जमीन की मालगुजारी देने के लिए स्वयं सरकार के सामने जिम्मेवार होता है और उसके तथा सरकार के बीच में कोई तीसरा आदमी नहीं होता।

बन्दोबस्त

भारतवर्ष में कई प्रकार का बन्दोबस्त देखने को मिलता है।

अस्थायी बन्दोबस्त (Temporary Settlement) जो १० या ३० वर्ष के लिए होता है। किसी प्रान्त में ३० वर्ष के लिए बन्दोबस्त होता तो किसी में २० वर्षों के लिए। स्थायी बन्दोबस्त सदैव के लिए होता है। बन्दोबस्त का यह विभाजन समय के ऊपर निर्धारित है। स्थायी बन्दोबस्त अधिकांश बंगाल, बनारस कमिश्नरी और मदरास के उत्तरी पूर्वी जिलों में प्रचलित है। बन्दोबस्त का विभाजन भूमि के प्रबंध और मालगुजारी अदा करने के ढंग पर भी किया जा सकता है। इस दृष्टि से बन्दोबस्त तीन तरह का होता है (१) जमींदारी (२) महलवारी (३) रैयतवारी।

बन्दोबस्त का अर्थ यह है कि यह निश्चय किया जावे कि कितनी मालगुजारी राज्य को दी जावेगी, मालगुजारी कौन देगा तथा भूमि पर जितने पक्षों का अधिकार है अथवा उनका स्वार्थ है उनका लेखा रक्खा जावे।

बन्दोबस्त करने के लिए गांव के नकशे से भूमि सम्बंधी पूरा लेखा तैयार किया जाता है। इसके अतिरिक्त भूमि पर किनका स्वामित्व है और किनका खेती करने का अधिकार है और मालगुजारी कितनी है और उसको कौन देगा इसका भी लेखा रहता है। भूमि की प्रत्येक बन्दोबस्त के समय पैमायश और जांच होती है और नकशे तैयार किये जाते हैं। इन नकशों में गांव में मिलने वाली भिन्न-भिन्न प्रकार की भूमि तथा किसानों की जोत (खेत) प्रथक प्रथक देखी जा सकती है। अधिकारों का जो लेखा Record of Rights) तैयार किया जाता है उसमें जमींदार पट्टीदार, भिन्न-भिन्न प्रकार के काश्तकार और उनके अधिकारों का वर्णन रहता है। उसमें भूमि के बंधक रखने बेंच देने, और पट्टे पर उठा देने जो नवीन अधिकारी उत्पन्न हो जाते हैं उनका भी उल्लेख रहता है। इसके उपरान्त भूमि का मूल्य कूता जाता पैदावार का हिसाब लगाया जाता है और उसके आधार पर मालगुजारी निर्धारित की जाती है। इसके उपरान्त किसको कितनी मालगुजारी देनी है इसका निर्णय किया जाता है। मालगुजारी एक साथ एक मुश्त नहीं वसूल की जाती वरन किश्तों में वसूल की जाती है। यदि भूमि पर अधिकार रखने वाला व्यक्ति मालगुजारी अदा नहीं करता है तो उसको दण्ड दिया जाता है राज्य की मालगुजारी वसूल की जाती है। इस संबंध में भिन्न-भिन्न प्रान्तों में दण्ड की व्यवस्था भिन्न है। स्थायी बन्दोबस्त वाले

प्रदेशों में यदि मालगुजारी उचित समय पर नहीं दी जाती है तो रियासत बेंच दी जाती है। अस्थायी बन्दोबस्त वाले प्रान्तों में इतनी कठोरता नहीं बरती जाती। मालगुजारी न देने वाले की स्थिति का पूरा ध्यान रक्खा जाता है और उन्हें काफी समय दिया जाता है। जब किसी प्रकार भी मालगुजारी वसूल नहीं होती और सब सुविधायें देने पर भी कोई मालगुजारी नहीं देता तो अन्त में उस भूमि को बेंच दिया जाता है। किन्तु अस्थायी बन्दोबस्त वाले प्रान्तों में शायद ही कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न होती हो जब कि भूमि को बेंचना पड़े। स्थायी बन्दोबस्त वाले प्रान्तों में फसल के नष्ट हो जाने या खेती की पैदावार के मूल्य के गिर जाने पर मालगुजारी में कोई छूट नहीं दी जाती। परन्तु अस्थायी बन्दोबस्त वाले प्रान्तों में यदि फसल नष्ट हो जाती है या खेती की पैदावार की कीमत बहुत गिर जाती है तो मालगुजारी में यथेष्ट छूट कर दी जाती है। जमींदार और किसान दोनों को ही छूट का लाभ मिलता है। जिससे कि किसानों और जमींदारों पर क्रमशः लगान और मालगुजारी का भार कम रहे। किन्तु इन प्रान्तों में भी लगान या मालगुजारी में छूट तभी दी जाती है जबकि यह प्रमाणित हो जाता है कि छूट नितान्त आवश्यक है।

जहाँ तक मालगुजारी निर्धारित करने का प्रश्न है ऐसा कोई एक सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं है जिसके आधार पर यह प्रत्येक प्रान्त में मालगुजारी निर्धारित की जाती हो। प्रत्येक प्रान्त में मालगुजारी भिन्न-भिन्न आधारों पर निर्धारित की जाती है। मध्यप्रान्त, पंजाब और संयुक्तप्रान्त में मालगुजारी निर्धारित करने का आधार आर्थिक लगान (Economic Rent) है मदरास में भूमि की पैदावार में से खेती का खर्च काट कर जो बचता है मालगुजारी उसके आधार पर निर्धारित की जाती है। बम्बई में मालगुजारी भूमि की पिछले वर्षों में जो लगान मिलती रही है उसके आधार पर निर्धारित की जाती है। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि मालगुजारी निर्धारित करते समय केवल इन्हीं बातों का ध्यान रक्खा जाता है और भी बहुत-सी बातों का ध्यान रक्खा जाता है। आर्थिक लगान निर्धारित करने में, अथवा खेती का खर्चा कितना है इसका हिसाब लगाने में किसान की तथा उसके परिवार वालों की मजदूरी पूरी नहीं लगाई जाती। लगान का कितना हिस्सा सरकार लेती है यह भी प्रत्येक प्रान्त में एकसा

नहीं है। मदरास में पैदा के मूल्य में से खर्चा कम करके जो बचता है उसका सरकार २५ प्रतिशत लेती है। संयुक्तप्रान्त और पंजाब में राज्य का भाग आर्थिक लगान का पचास प्रतिशत होता है।

जमींदारी बन्दोबस्त--बंगाल का स्थायी बन्दोबस्त

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि बंगाल में १७९३ में स्थायी बन्दोबस्त हुआ था। हम यह भी कह चुके हैं कि मालगुजारी की ठेकेदारी प्रथा के फलस्वरूप किसानों के अधिकार छिनते गए और उनके सिर पर जमींदार बिठा दिये गए। मुगल साम्राज्य के नष्ट हो जाने पर मालगुजारी का प्रबंध ऐसा बिगड़ गया कि बेचारे किसान को जमींदार तथा प्रान्तीय सूबेदार मनमाना लूटने लगे। जमींदार तो मनमानी लगान वसूल करता और प्रान्तीय शासक मनमाने लागतें और कर वसूल करते। जब ईस्ट इंडिया कंपनी को सम्राट से दीवानी के अधिकार मिल गए तो ईस्ट इंडिया कंपनी प्रति वर्ष मालगुजारी वसूल करने के अधिकार का सार्वजनिक नीलाम करती थी और जो नीलाम में इस अधिकार को पाता था वह किसानों से जितना भी धन चूस पाता था उतना चूसने का प्रयत्न करता था। इसका फल हुआ कि बंगाल में मालगुजारी वसूल करने का काम बिलकुल गड़बड़ हो गया और उसका सुधार करने के उद्देश्य से ही लार्ड कार्नवालिस ने बंगाल में स्थायी बन्दोबस्त किया।

पूरी जांच के उपरान्त बंगाल के जमींदारों से जो कि वास्तव में मालगुजारी के ठेकेदार (Revenue Farmer) थे, एक बन्दोबस्त किया गया। स्थायी बन्दोबस्त के अन्तर्गत इन जमींदारों को उस भूमि का जिसकी वे मालगुजारी वसूल करते थे पूर्ण कानूनी मालिक घोषित कर दिया गया। इस घोषणा का तात्पर्य यह था कि उनका अधिकार कानूनी कर दिया जावे जिससे कि वे राज्य के प्रति अपनी जिम्मेदारी (मालगुजारी देने की) भली भांति निभा सकें और अपनी रियासत (भूमि) की उन्नति करने का प्रयत्न करें। जमींदारों को जो भूमि पर मालिकान हक दिया गया उसके साथ मालगुजारी अदा करने की जिम्मेदारी थी। मालगुजारी सदा के लिए निश्चित कर दी गई और यह नियम भी बना दिया गया कि यदि जमींदार निश्चित समय पर मालगुजारी नहीं देगा तो उसकी रियासत बेंच दी जावेगी। जमींदार को जो लगान किसानों से मिलती थी उसका

($\frac{10}{11}$) ग्यारह में से दस भाग मालगुजारी निर्धारित किया गया। शेष ग्यारह में से एक भाग जमींदार का हिस्सा रहा जो कि उसकी जिम्मेदारी और जोखिम उठाने के मूल्य रूप में छोड़ दिया गया। साथ ही सरकार ने इस अधिकार का भी अपने लिए सुरक्षित रक्खा कि वे जो भी कानून अथवा नियम आधीन ताल्लुकेदारों, रैयत तथा भूमि को जोतने वालों के संरक्षण और उनकी उन्नति के लिए बनाना चाहेगी बना सकेगी। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि बन्दोबस्त स्थायी कर दिया गया और—मालगुजारी में कभी भी परिवर्तन न करने की घोषणा कर दी गई। साथ ही सरकार ने इस बात की के भी घोषणा करदी कि भविष्य में यदि जमींदार या उनके उत्तराधिकारी भूमि की उन्नति करके उसे अधिक पैदावार बना देंगे तो भी सरकार मालगुजारी नही बढ़ायेगी। अर्थात् किसी भी दशा में मालगुजारी में परिवर्तन नहीं होगा।

बंगाल में स्थायी बन्दोबस्त करके लार्ड कार्नवालिस भारतवर्ष में भी इङ्गलैंड की भांति भू स्वामियों का एक प्रभावशाली वर्ग उत्पन्न करना चाहता था। उसका विचार था कि वे लोग भूमि में सुधार करेंगे, अपने काश्तकारों (असामियों) की उन्नति करने का प्रयत्न करेंगे और राज्य के प्रति सच्चे और उसके प्रमुख सहायक रहेंगे। लेकिन बंगाल में स्थायी बन्दोबस्त इतनी शीघ्रता में हुआ कि भूमि पर किसके क्या अधिकार है इस ओर ध्यान नहीं दिया जा सका। और न इसी बात का विचार किया जासका कि भिन्न भिन्न जमीनों की उत्पादन शक्ति में क्या अन्तर है और न ठीक पैमाइश ही की जासकी। यही कारण है कि बन्दोबस्त संतोषप्रद न होसका और न उसका इच्छित फल ही हुआ।

बंगाल में इस बात को लेकर बहुत दिनों से विवाद चल रहा है कि स्थायी बन्दोबस्त लाभदायक है अथवा हानिकारक है। जो लोग कि स्थायी बन्दोबस्त के विरोधी हैं उनका कहना है कि बंगाल के स्थायी बन्दोबस्त में पहला दोष तो यह है कि बन्दोबस्त जल्दी में किया गया था और पैमाइश ठीक तरह से नहीं हुई, मिट्टी का वर्गीकरण नहीं किया गया और भूमि पर किसके क्या अधिकार हैं उसका लेखा तैयार नही किया गया। दूसरे रैयत के अधिकारों को सुरक्षित नहीं किया गया, उनके अधिकारों को सुरक्षित रखने का काम जमींदारों पर छोड़ दिया गया। यह

विचार कि जमींदार अपनी रैयत से कुछ समझौता कर लेंगे और उनके अधिकारों की रक्षा करेंगे केवल पवित्र भावना मात्र रहा। जमींदारों ने कभी भी रैयत के अधिकारों को सुरक्षित करने का प्रयत्न नहीं किया। इससे किसानों के साथ बहुत अन्याय हुआ उनका भूमि पर स्वामित्व सदैव के लिए नष्ट हो गया और वे जमींदारों की दया पर छोड़ दिये गये। जमींदारों ने इस अवसर का खूब ही लाभ उठाया और किसान का शोषण किया। तीसरे सदैव के लिए जो मालगुजारी निश्चित करदी गई यह भी स्थायी बन्दोबस्त का एक बड़ा दोष है। किन्तु स्थायी बन्दोबस्त का यह दोष केवल बंगाल तक ही सीमित नहीं है अस्तु इसके विषय में आगे लिखा जावेगा अस्तु बंगाल के स्थायी बन्दोबस्त के आलोचकों का यह कहना है कि इससे केवल जमींदारों को ही लाभ पंहुचा और किसी को लाभ नहीं पंहुचा। इसके जमींदार स्थायी बन्दोबस्त की प्रशंसा करने नहीं थकते, उनका कहना है कि गांवों की उन्नति का यह एक मुख्य साधन है।

बनारस तथा मदरास में स्थायी बन्दोबस्त

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि स्थायी बन्दोबस्त संयुक्तप्रान्त की बनारस डिवीजन तथा मदरास प्रान्त के उत्तर पूर्वी जिलों में भी प्रचलित किया गया था। बंगाल के उदाहरण को स्वीकार करके बनारस में १७९५ में स्थायी बन्दोबस्त किया गया। मदरास में अधिकारी कुछ समय तक यही निश्चित न कर सके कि वहां स्थायी बन्दोबस्त किया जावे या अस्थायी बन्दोबस्त किया जावे। उस समय सरकार स्थायी बन्दोबस्त की ओर बहुत झुकी हुई थी क्यों कि उससे निश्चित मालगुजारी ठीक समय पर मिल जाती थी। किन्तु मदरास रैयतवारी प्रान्त था वहां न तो मालगुजारी के ठेकेदार ही थे और न जमींदार ही थे जिनसे मालगुजारी के सम्बंध में कोई समझौता किया जा सकता। अधिकारियों ने इन रैयतों में से जो अधिक साहसी और कार्यशील थे उन्हें जमींदार बनाना चाहा। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अधिकारियों ने रैयतवारी गांवों को इकट्ठा करके फर्जी जिलों में परिणत कर दिया और उन जिलों को नीलाम कर दिया। जिसने सबसे अधिक दाम लगाये उसी को वह जिला बेंच दिया गया। इस प्रकार उत्तर पूर्वीय मदरास में जमींदार बनाये गए। यह

बनाये हुए जमींदार स्थायी बन्दोबस्त को जहां तक मालगुजारी वसूली का प्रश्न था सफल न बना सके। सरकार ने तो स्थायी बन्दोबस्त केवल इसीलिए किया था कि जिससे मालगुजारी वसूल करने में सुविधा हो। एक बार जब यह सिद्ध हो गया कि स्थायी बन्दोबस्त से मालगुजारी वसूल करने में सुविधा नहीं होती तो स्थायी बन्दोबस्त के लिए उत्साह मंद पड़ गया और शेष प्रान्त में रैयतवारी पद्धति को चलने दिया गया और अस्थायी बन्दोबस्त कर दिया गया। बनारस और मदरास में स्थायी बन्दोबस्त का फल वही हुआ जो बंगाल में हुआ। रैयत के अधिकार छिन गए। इससे पूर्व रैयत को बहुत से अधिकार थे। उदाहरण के लिए जब तक कि रैयत लगान देता रहे तब तक उसे बेदखल नहीं किया जा सकता। यही नहीं उसको घर बनाने के लिए भूमि लेने तालाब, बंजर, तथा चरागाह का उपयोग करने का भी अधिकार था। किन्तु स्थायी बन्दोबस्त के होते ही यह अधिकार नष्ट हो गए। ग्राम्य संस्था टूट गई और किसान असंगठित हो गए। इसका परिणाम यह हुआ कि जमींदार ने उन्हें मनमाने ढंग से लूटना आरम्भ कर दिया।

स्थायी बनाम अस्थायी बन्दोबस्त

स्थायी बन्दोबस्त को लेकर भारतवर्ष में बहुत वादविवाद चला। कुछ लोग स्थायी बन्दोबस्त के प्रशंसक हैं उनका कहना है कि उससे किसानों राज्य और कृषि के धंधे को बहुत लाभ पहुँचा। इसके विरुद्ध बहुमत इस पक्ष में है कि स्थायी बन्दोबस्त बहुत हानिकारक सिद्ध हुआ और उसको जितना शीघ्र हो समाप्त कर देना चाहिए।

जो स्थायी बन्दोबस्त के प्रशंसक हैं उनका कहना है कि वह बंगाल में बहुत सफल हुआ। उनका कहना है कि स्थायी बन्दोबस्त से नीचे लिखे महत्वपूर्ण लाभ हुए।

(१) राज्य को एक निश्चित मालगुजारी की रकम मिलती है और उसे मालगुजारी वसूल करने की झंझट तथा व्यय नहीं करना पड़ता। यही नहीं हर तीस वर्ष बाद जो खर्चीला बन्दोबस्त करना पड़ता है स्थायी बन्दोबस्त में राज्य उससे भी बच जाता है। (२) स्थायी बन्दोबस्त का राजनैतिक महत्व भी है। यह स्थायी बन्दोबस्त का ही परिणाम है कि जमींदार इतने अधिक राज्यभक्त हैं। (३) उनका यह भी कहना है कि स्थायी बन्दोबस्त के

कारण किसान को जमींदार के रूप में उनका स्वाभाविक नेता प्राप्त हो गया है और जमींदारों में गांवों में शिक्षा, चिकित्सा तथा सफाई का प्रबन्ध करके गाँवों को बहुत लाभ पहुँचाया है। उनका यह भी कहना है कि स्थायी बन्दोबस्त होने के कारण जमींदारों ने खेती की उन्नति की ओर बहुत ध्यान दिया और किसानों की दशा को सुधारने का प्रयत्न किया। इसका परिणाम यह हुआ कि खेती की उन्नति हुई और एक ऐसा समृद्धशाली किसान वर्ग उत्पन्न हुआ कि जिसकी दुर्भिक्ष के विरुद्ध सहनशक्ति बहुत अधिक है। अन्त में वे यह कहते हैं कि अस्थायी बन्दोबस्त के जितने भी दोष हैं वे सभी स्थायी बन्दोबस्त में दूर हो जाते हैं।

अस्थायी बन्दोबस्त में जब हर ३० वर्ष उपरान्त नया बन्दोबस्त होता है तो किसान को बहुत परेशानी और झंझट उठानी पड़ती है। उसे बन्दोबस्त करने वालों की भेंट पूजा भी करनी पड़ती है। यही नहीं, सारे ग्राम प्रदेश में नवीन बन्दोबस्त के कारण बहुत लम्बे समय तक घोर उथल पुथल मची रहती है। काश्तकार जब नवीन बन्दोबस्त होने वाला होता है तो दो-चार वर्ष पूर्व अपने खेतों की उपेक्षा करने लगता है उसमें खाद इत्यादि नहीं डालता कि जिससे उनकी पैदावार कम हो जावे और उन पर लगान कम बांधा जावे। भारत में कृषि का धंधा वैसे ही बहुत गिरी हुई दशा में है और इसका परिणाम यह होगा कि भविष्य में भी धंधा पनप नहीं सकेगा। स्थायी बन्दोबस्त इन सब कठिनाइयों को दूर कर देगा। साथ ही राज्य उस भयंकर व्यय से बच जावेगा कि जो नवीन बन्दोबस्त के समय करना पड़ता है।

इसके विरुद्ध स्थायी बन्दोबस्त के विरोधी स्थायी बन्दोबस्त के विरुद्ध इससे भी अधिक प्रबल तर्क उपस्थित करते हैं। (१) स्थायी बन्दोबस्त के विरुद्ध सबसे प्रबल तर्क यह है कि इसके कारण राज्य को प्रतिवर्ष भयंकर आर्थिक क्षति उठानी पड़ रही है। स्थायी बन्दोबस्त में मालगुजारी सदैव के लिए निश्चित कर दी जाती है। क्रमशः खेती की पैदावार के मूल्य के बढ़ने गमनागमन के साधनों की उन्नति होते तथा जनसंख्या की वृद्धि होने से भूमि से होने वाली आय बढ़ती है। परन्तु स्थायी बन्दोबस्त होने के कारण उसका लाभ राज्य को न होकर जमींदारों को होता है। मालगुजारी प्रान्तीय सरकारों को आमदनी का सबसे बड़ा साधन है और यदि इसी मद से यथेष्ट धन

प्राप्त नहीं हो सकता तो प्रान्तीय सरकारों की आर्थिक स्थिति बहुत शोचनीय हो जावेगी। प्रान्तीय सरकारों, राष्ट्रनिर्माणकारी विभागों जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य चिकित्सा, यतायात, कृषि, उद्योग धंधे तथा सफाई पर अधिकाधिक व्यय करना पड़ता है। यदि उनकी आय की सबसे महत्वपूर्ण मद सदैव के लिए निश्चित करदी जावे तो उनके लिए इस बढ़ते हुए व्यय भार को सहन करना असम्भव हो जावेगा। इस तर्क की पुष्टि इसी से होती है कि बंगाल सरकार को प्रति वर्ष आठ करोड़ रुपये की मालगुजारी के सदैव के निश्चित होने के कारण हानि होती है। यह आशा की जाती थी कि स्थायी बन्दोबस्त होने के कारण आमदनी की दूसरी मदों में वृद्धि होगी किन्तु वह आशा निर्मूल निकली। और प्रान्तीय सरकार की आय की दूसरी मदों में वृद्धि नहीं हुई। अस्तु स्थायी बन्दोबस्त का परिणाम यह हुआ कि राज्य जमींदारों की बढ़ती हुई आय का साझीदार बनने से वंचित हो गया। यद्यपि जमींदारों की आय उनके प्रयत्नों से नहीं बढ़ी थी। वह तो सामाजिक कारणों से बढ़ी थी उदाहरण के लिये जनसंख्या की वृद्धि, यातायात के साधनों की उन्नति तथा खेती की पैदावार के मूल्य में वृद्धि। (२) जहां तक राजनैतिक दृष्टि से लाभ का प्रश्न है उस का भी अब कोई महत्व नहीं रहा। स्थायी बन्दोबस्त के समर्थकों का कहना यह है कि जमींदार सदैव राजभक्त रहेंगे यह किसी समय महत्व की बात हो सकती थी किन्तु आज तो राज्य को जमींदारों की भक्ति तथा समर्थन की इतनी आवश्यकता नहीं है जितनी कि किसान के समर्थन की और राज्यभक्ति की। अस्तु इस तर्क में भी कोई बल नहीं है। फिर यदि थोड़ी देर के लिए यही मान लिया जावे कि राज्य को जमींदारों के समर्थन तथा राज्यभक्ति की आवश्यकता है तो अस्थायी बन्दोबस्त वाले प्रान्तों में भी तो जमींदार उतना राज्यभक्त है जितना कि स्थायी बन्दोबस्त वाले बंगाल में। अस्तु यह कहना उचित नहीं है कि स्थायी बन्दोबस्त का यह विशेष गुण है। (३) स्थायी बन्दोबस्त के समर्थक यह कहते नहीं थकते कि जमींदार गांवों का स्वाभाविक नेता है और वह गांवों की उन्नति का प्रयत्न करता है, शुद्ध झूठ है। हां, जब स्थायी बन्दोबस्त प्रचलित किया गया था तब ऐसी आशा अवश्य की जाती थी कि जमींदार गांवों को नेतृत्व प्रदान करेगा और गांवों की उन्नति करने का प्रयत्न करेगा। किन्तु यह आशा सर्वथा निर्मूल सिद्ध हुई। अधिकांश जमींदार गांवों को छोड़कर शहरों में रहते हैं और उनके कारिंदे और गुमाश्ते

जमींदारी को देखते हैं। यह कारिंदे किसानों को मनमाने ढंग से लूटते हैं और उन पर अत्याचार करते हैं। शहरी जीवन का आकर्षण इतना अधिक होता है कि जमींदार शहरों में विलासितामय जीवन व्यतीत करते हुए कभी यह भी नहीं सोचते कि उनकी रियासत की क्या दशा है और उनके काश्तकार जिनके दिये हुए रुपये से वे भोग विलास करते हैं कैसा दयनीय जीवन व्यतीत कर रहे हैं। यह स्वप्न कि स्थायी बन्दोबस्त से गांवों की उन्नति होगी अब बिलकुल टूट चुका है, और कोई इस तथ्य हीन बात में विश्वास नहीं करता। इसके विपरीत जमींदारों के एक शक्तिवान वर्ग को उत्पन्न कर देने से गांवों की स्थिति और भी खराब हो गई।

अस्थायी बन्दोबस्त के विरुद्ध एक मुख्य तर्क यह है कि जब भी नवीन बन्दोबस्त होता है तब गांवों का आर्थिक जीवन अस्तव्यस्त हो जाता है। स्थायी बन्दोबस्त के विरोधियों का कहना है कि पहले ऐसा अवश्य होता था किन्तु अब ऐसी बात नहीं है बन्दोबस्त का काम इतने वैज्ञानिक ढंग से होता है कि अब कोई विशेष अड़चन या गड़बड़ नहीं होती। क्योंकि अब भूमि सम्बंधी रेकार्ड पूरी तरह से रक्खे जाते हैं, अतएव बन्दोबस्त बहुत जल्दी हो जाता है यही नहीं खेतों हदबन्दी हो जाने से तथा भूमि का स्थायी वर्गीकरण हो जाने से जब नया बन्दोबस्त होता है तो काम कम रहता है। इस कारण ग्राम प्रदेश में बन्दोबस्त से होने वाली गड़बड़ कम होती है। साथ ही अब उतना अधिक व्यय भी नहीं होता किसानों को तंग करने की जो बात अस्थायी बन्दोबस्त के विरोधियों ने कही उसमें कुछ सत्य अवश्य है किन्तु क्रमशः उत्तम निरीक्षण के कारण वह दूर हो रही है। जहाँ तक घूस और रिश्वत लेने का प्रश्न है वह भी अब कम होती जा रहा है। उच्च अधिकारी छोटे कर्मचारियों पर निगरानी रखते हैं और वे (उच्च अधिकारी) किसानों के प्रति सहानुभूति रखने के कारण किसानों के कष्टों को कम करने का प्रयत्न करते हैं। अस्थायी बन्दोबस्त के विरुद्ध एक दोषारोपण यह भी किया गया है कि उसके कारण किसान जब नवीन बन्दोबस्त होता है तो भूमि की उपेक्षा करने लगता है जिससे कि खेत की पैदावार कम हो और उसके खेत की भूमि निम्नश्रेणी की मानली जावे जिससे उसे लगान कम देना हो। वास्तव में यह भ्रम है और कुछ नहीं क्योंकि लगान निर्धारित करते समय इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि यदि किसी काश्तकार ने परिश्रम और पूंजी लगाकर

भूमि को अधिक उपजाऊ बनाया है तो उसके कारण भूमि का लगान नहीं बढ़ाया जावेगा। अतएव किसान को भूमि में सुधार करने से कोई हानि नहीं होती। इस बात का खूब प्रचार करने से कि भूमि का सुधार करने से लगान बढ़ाया नहीं जावेगा किसान निश्चिन्त होकर भूमि को अधिक उत्पादक बनाने के लिए उसमें पूंजी और श्रम लगावेगा। ऊपर लिखे कारणों से अस्थायी बन्दोबस्त के समर्थक इस बात का दावा करते हैं कि देश के लिए अस्थायी बन्दोबस्त लाभदायक है।

अन्त में स्थायी बन्दोबस्त के समर्थक इस तर्क का सहारा लेते हैं कि स्थायी बन्दोबस्त जमींदारों और सरकार के बीच एक इकरारनामा है इसलिए वह जब सरकार चाहे तब बदला नहीं जा सकता। स्थायी बन्दोबस्त के विरोधी इस बात को स्वीकार करते हैं कि स्थायी बन्दोबस्त एक इकरारनामा है, किन्तु वे इसके विरुद्ध यह तर्क उपस्थित करते हैं कि जिन परिस्थितियों में स्थायी बन्दोबस्त प्रचलित किया गया था वे आज से बहुत भिन्न थीं और वे आज बिलकुल बदल गई। अब यदि स्थायी बन्दोबस्त से देश को हानि हो रही है तो उसे समाप्त कर देने में कोई हानि नहीं और न कोई अन्याय ही है।

बंगाल का फ्लाऊड कमीशन

५ नवम्बर १९३८ में बंगाल सरकार ने श्री यफ. यल. सी. फ्लाऊड महोदय की अध्यक्षता में बंगाल की मालगुजारी के प्रबंध तथा स्थायी बन्दोबस्त की जांच के लिए एक कमीशन बैठाया था। कमीशन से यह भी कहा गया था कि वह स्थायी बन्दोबस्त का बंगाल के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा इसकी भी जांच करे। इसके साथ ही प्रान्त की मालगुजारी तथा शासन पर स्थायी बन्दोबस्त का क्या प्रभाव पड़ा इसके बारे में अपनी राय दे और उसके गुण दोषों का अध्ययन करे फ्लाऊड कमीशन ने पूरी जांच करने के उपरान्त मार्च १९४० में अपनी रिपोर्ट दी और उसकी जांच का परिणाम नीचे दिया जाता है।

(१) मालगुजारी के सर्वदा के लिए निश्चित हो जाने के कारण प्रान्तीय सरकार को बहुत अधिक आर्थिक हानि उठानी पड़ती है। कमीशन की राय में इस आर्थिक हानि का ठीक ठीक अनुमान लगा सकना कठिन है किन्तु मोटे तौर पर यह आर्थिक हानि २ करोड़ रुपये से लेकर ८ करोड़ रुपये तक है।

कमशीन का यह भी कहना है कि मालगुजारी से बहुत कम आय होने के कारण तथा खेती से होने वाली आय पर न होने के कारण दूसरे कर दाताओं पर बहुत अधिक भार पड़ता है। भूस्वामियों के साथ यह सुविधा होने के कारण देश में यह प्रवृत्ति बढ़ गई कि प्रत्येक व्यक्ति भूमि में अपनी पूंजी लगाने लगा और उद्योग धंधों की ओर से लोग उदासीन रहे।

(२) जमींदारी प्रान्तों में सरकार तथा किसानों के बीच में जमींदार एक दलाल की भांति रहता है; इस कारण सरकार और किसानों का सीधा सम्बंध स्थापित नहीं हो पाता। अस्थायी बन्दोबस्त वाले प्रान्तों में तो सरकार को नये बन्दोबस्त के समय पर ग्रामों के निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिलता भी है और भूमि सम्बंधी पूरे रेकार्ड रक्खे जाते हैं। किन्तु जहां स्थायी बन्दोबस्त हैं वहां सरकार और किसान का सीधा सम्पर्क ही नहीं है और न भूमि सम्बंधी रेकार्ड ही रक्खे जाते हैं। इसके विपरीत रैयतवारी प्रान्तों में राज्य का किसानों से सीधा और घनिष्ट सम्पर्क रहता है जो अत्यन्त वाञ्छनीय है।

(३) स्थायी बन्दोबस्त का तीसरा दुष्परिणाम यह हुआ कि कृषि की कोई उन्नति नहीं हुई। यही नहीं स्थायी बन्दोबस्त का कृषि पर बुरा प्रभाव पड़ा। लार्ड कार्नवालिस का विचार था कि स्थायी बन्दोबस्त ऐसे जमींदारों को उत्पन्न करेगा कि जो भूमि की उन्नति करने तथा खेती को अधिक भूमि पर बढ़ाने के लिए अपनी पूंजी लगावेंगे किन्तु यह आशा निर्मूल निकली जो कुछ भी नई भूमि खेती के लायक बंगाल में बनाई गई वह किसानों के प्रयत्नों का फल है। जमीदारोंको उसका कोई श्रेय नहीं है।

(४) स्थायी बन्दोबस्त का एक भयंकर दुष्परिणाम यह हुआ कि जमींदारों की आय कालान्तर में बढ़ती गई उन्हें इस बात की आवश्यकता नहीं रही कि वे अपनी रियासत में रहें। वे गांव छोड़कर शहरों में जा बसे। उन के कारिन्दे किसानों पर मनमाना अत्याचार करते और उन्हें लूटते थे। इस का परिणाम यह हुआ कि जमींदार और काश्तकार के आपसी सम्बंध बिगड़ गए और किसानों और जमींदार के बीच में भी कई दलाल उत्पन्न हो गए यही कारण था कि सरकार को किसानों की रक्षा करने के लिए सबसे पहले बंगाल में ही कड़ा आराजी कानून बनाने की आवश्यकता हुई।

बीच के अन्य उपदलालों से होने वाली हानि

वर्तमान पद्धति का एक सबसे बड़ा दोष यह है कि जमींदार और किसान के बीच में बहुत से उपदलाल उत्पन्न हो गए हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि लगान और मालगुजारी में बहुत अधिक अन्तर है। जहां मालगुजारी तो सर्वदा के लिए निश्चित करदी गई वहां लगान बढ़ती गई और वह मालगुजारी की कई गुना हो गई। यही कारण है कि किसान तथा वास्तविक जमींदार के बीच में दलाल या आसामी और इन आसामियों या दलालों के भी आसामी या दलाल उत्पन्न हो गए हैं कहीं कहीं तो इन दलालों या उप दलालों की संख्या बहुत अधिक हो गई है। साईमान कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में बतलाया है कि कहीं कहीं तो ५० आसामी या दलाल वास्तविक जमींदार और काश्तकार के बीच में पाये जाते हैं। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि लगान की आय पर जीने वालों का पूरा वर्ग ही उत्पन्न हो गया है जो कि किसान का शोषण करता है और जिसका भूमि की उन्नति अथवा खेती की वृद्धि में कोई हाथ नहीं होता। यह लोग कोई भी सेवा नहीं करते केवल जोंक की भांति किसान को चूसते रहते हैं। इन बीच के दलालों को भूमि का उचित उपयोग हो रहा है या नहीं इस पर नियंत्रण रखने की न तो शक्ति ही है और न कोई उत्साह ही होता है। अस्तु यह एक राज रोग है जो कृषि के धंधे को नष्ट किये डालता है। यही नहीं इन बीच के दलालों की संख्या बढ़ती ही जा रही है।

शासन सबंधी दोष

बंगाल के जमीन सम्बंधी बन्दोबस्त की यह गुत्थियां वहां बढ़ी हुई मुकदमे बाजी का मूल कारण है। अधिकतर दीवानी अदालतों का समय इसी में नष्ट होता रहता है कि वे यह फैसला दें कि अमुक भूमि में किसका कितना स्वार्थ है। यद्यपि इससे सरकार को कोर्ट फीस तो बहुत मिलती है किन्तु जनता को अपार हानि होती है और इसके कारण निर्धन किसान तबाह हो जाता है।

लगान में छूट नहीं दी जा सकती

स्थायी बन्दोबस्त का एक बहुत बड़ा दोष यह है कि जब फसलें इत्यादि नष्ट हो जाती हैं तो भी छूट देना असम्भव होता है। यद्यपि छूट देने का

विधान है परन्तु व्यवहार में वह कभी भी लागू नहीं होता। क्योंकि कोई भी जमींदार मालगुजारी में छूट लेना पसंद नहीं करता। कारण यह है कि यदि जमींदार मालगुजारी में १०० रुपये की छूट ले तो उसे लगान में १००० रुपये की छूट देना पड़े।

मौरुसी काश्तकारी के अधिकार नष्ट होते जा रहे हैं

बंगाल में लगान किसी सिद्धान्त के आधार पर निर्धारित नहीं है। न तो उसका आधार भूमि की पैदावार है और न भूमि के वर्गीकरण पर ही वह निर्भर है। यह ठीक है कि कानूनी काश्तकार का लगान कम है परन्तु उस को फिर किराये पर देने की प्रथा तथा स्वतंत्रता पूर्वक दूसरे को दे देने के अधिकार के कारण जो वास्तविक काश्तकार है अर्थात जो खेत जोतता है उससे या तो नकदी में बहुत अधिक लगान देना पड़ता है जो आर्थिक लगान (Economic Rent) से भी अधिक होता है अथवा आध बटाई पर खेत जोतता है। इसे बरगादारी पद्धति कहते हैं। इसमें भूमि के लगान स्वरूप आधी पैदावार किसान दे देता है! इससे वास्तविक काश्तकार की स्थिति बहुत खराब होती जा रही है और उसका दर्जा गिरता जा रहा है। यह ठीक है कि आगे चल कर जो टिनैंसी कानून बने उनसे रैयत (कानूनी को व्यवहार में अपनी भूमि पर एक प्रकार से मालकाना हक मिल गया। किन्तु एक बहुत बड़ी संख्या में जो वास्तविक काश्तकार हैं उनको कोई संरक्षण नहीं मिला हुआ है। उनसे मनमाना लगान बढ़ाया जा सकता है और उन्हें जब चाहें बेदखल किया जा सकता है।

लगान वसूली में कठिनाई होती है

इसके साथ ही इस पद्धति में लगान वसूल करने वालों को भी बहुत कठिनाई होती है। वे बराबर यह शिकायत करते हैं कि लगान वसूल करने का कोई संतोषप्रद तरीका न होने के कारण उन्हें बहुत झंझट उठानी पड़ती है। लगान न देने पर दीवानी अदालत में जाने की जो सुविधा है वह बहुत व्यवसाध्य, लम्बा समय लेने वाली और झंझट की है। इसका परिणाम यह होता है कई साल की लगान बकाया रह जाती है और तब जाकर कहीं अदालत में दावा किया जाता है। वर्तमान स्थायी बन्दोबस्त का यह एक महत्वपूर्ण दुष्परिणाम है और जब कि जमींदारी बन्दोबस्त तथा

स्थायी बन्दोबस्त है तब तक इसको दूर नहीं किया जा सकता। यही नहीं कुछ क्षेत्रों में रैयत में लगान न देने की मनोवृत्ति पाई जाती है जो कि भूमि की वर्तमान पद्धति को ही नष्ट कर दे सकती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इस पद्धति से भूमि का वास्तविक जोतने वाला बहुत बुरी दशा में है।

स्थायी बन्दोबस्त के ऊपर लिखे दोषों का अध्ययन कर चुकने के उपरान्त फ्लाऊड कमीशन इस निर्णय पर पहुँचा कि १७९३ में स्थायी बन्दोबस्त के लिए जो भी कारण रहे हों किन्तु अब वह बिलकुल बेकार और हानिकर है और वर्तमान परिस्थिति में व्यर्थ है। उनका मत था कि जमींदारी प्रथा में इतने अधिक दोष उत्पन्न हो गए हैं कि उसका बनाये रखना राष्ट्र के हित के विरुद्ध है। उसके दोषों को अधूरे सुधारों से दूर नहीं किया जा सकता। इसका एक मात्र उपाय यह है कि सब लगान पाने वालों के स्वार्थ को सरकार उचित हर्जाना देकर खरीद ले और जमींदारी प्रथा समाप्त कर दी जावे। नीति यह होनी चाहिए कि खेत के जोतने वालों को ऐसे असामियों या काश्तकारों में परिणित किया जावे कि जो सीधे सरकार से भूमि लें। अवश्य ही कमीशन के कुछ सदस्य जो कि स्वयं जमींदार थे उन्होंने बहुमत का विरोध किया। उनका कहना था कि जमींदारी प्रथा से देश को लाभ है अस्तु उसे समाप्त नहीं करना चाहिए। संक्षेप में उनका कहना यह है कि (१) बंगाल के किसान की जो गिरी हुई आर्थिक दशा है उसका कारण वर्तमान जमींदारी प्रथा नहीं है, वरन् उसका कारण यह है कि भूमि पर जनसंख्या का भार बहुत अधिक बढ़ गया है। इसका सम्बंध भूमि के प्रबंध से बिलकुल नहीं है। (२) यदि राज्य जमींदारियों को खरीद लेगा तो उससे काश्तकारों को कोई लाभ नहीं होगा। (३) जमींदारी प्रथा के नष्ट करने से एक सामाजिक खतरा भी उपस्थित होगा। बंगाल में यद्यपि वास्तविक काश्तकार तथा जमींदार के बीच में बहुत से असामी और असामियों के असामी उत्पन्न हो गए है किन्तु इससे सम्पत्ति का एक बहुत बड़े क्षेत्र में वितरण हो सका है और भूमि में मध्यम श्रेणी के स्वार्थ भी उत्पन्न हो गए हैं जिनकी संख्या २५ लाख से ऊपर है। यदि ऐसा कोई परिवर्तन किया गया तो यह मध्यम श्रेणी के लोग घोर आन्दोलन करेंगे। (३) उनका यह भी कहना था कि बड़े जमींदार तो थोड़े से ही हैं अस्तु जो कुछ भी छोटे जमींदारों को या बीच के दलालों या असामियों को हर्जाना मिलेगा वह इतना नहीं होगा कि वे

उसे उद्योग धंधों में लगावें। वे लोग या तो उसे खर्च कर डालेंगे या फिर वे उसे मौरुसी भूमि खरीद कर भूमि में ही लगावेंगे। (४) चौथा कारण जमींदारी को बनाये रखने के पक्ष में उन्होंने यह बतलाया कि जब सरकार ही जमींदार हो जावेगी तो किसान के पास वोट होने के कारण वह सरकार को विवश कर देगा कि लगान घटा दी जावे। अस्तु जमींदारी को समाप्त नहीं करना चाहिए।

यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि फ़्लाऊड कमीशन का बहुमत इस पक्ष में था कि यह प्रथा समाप्त करदी जावे। इसके सिवाय इस समस्या को हल करने का दूसरा रास्ता नहीं है।

जमींदारी प्रथा को समाप्त कर देने के लिए कमीशन की राय में यह आवश्यक था कि राज्य जमींदारों के अधिकारों को खरीद ले और उन्हें हर्जाना या मुआवजा दे दे। कमीशन ने केवल जमींदारों के अधिकारों का ही खरीदने का समर्थन नहीं किया उन्होंने उन सभी बीच के आसामियों को खरीदने की सिफारिश की जो किसान और जमींदार के बीच में है।

कमीशन ने मुआवजे के बारे में यह राय दी कि मुआवजा एक ही रेट सेसबों को मिलना चाहिए। यद्यपि उनका कहना था कि भिन्न-भिन्न जमींदारियों के मुआवजे की दर में भिन्नता न्यायपूर्ण हो सकती है किन्तु उससे कठिनाइयां बहुत बढ़ जावेंगी। अस्तु उनकी राय थी कि सबों को मुआवजा एक दर से दिया जाना चाहिए। कमीशन के कुछ सदस्यों का तो यहाँ तक कहना था कि क्योंकि जमींदारों ने अपनी रिआयतों से बहुत लाभ कमा लिया है इसलिए उन्हें कुछ मुआवजा नहीं मिलना चाहिए। कुछ ने वास्तविक मुनाफे का बीस गुना, कुछ ने पंद्रह गुना और कुछ ने दस गुना मुआवजा देने की सिफारिश की। अधिकांश सदस्यों का कहना था जो जमींदारी कि दानखाते में दी गई है और जिनके मुनाफे से धार्मिक शिक्षा सम्बंधी चिकित्सालय इत्यादि सार्वजनिक संस्थायें चलती हों उनको वास्तविक मुनाफे का २५ गुना मुआवजा दिया जावे और साधारण जमींदारों को केवल दस गुना मुआवजा दिया जावे।

जमींदारी का वास्तविक मुनाफा क्या है उसका हिसाब लगाने के लिए मुनाफे में से १८ प्रतिशत लगान वसूली का व्यय घटा देना होगा तब जमींदारी का वास्तविक मुनाफा ज्ञात हो सकेगा। इस वास्तविक मुनाफे का

१० गुना मुआवजा दिया जावे कमीशन का मत था कि जहाँ तक हो सके मुआवजे का रुपया नकद दे दिया जावे और यदि यह सम्भव न हो तो सरकार सहकारी बौंड निकाले और उन्हें जमींदारों को दे दे। बौंड़ों पर सरकार ४ प्रतिशत सूद दे।

इस योजना का बंगाल के जमींदारों ने घोर विरोध किया। उनका कहना था कि मुआवजे की रकम बहुत थोड़ी है और यदि इतना थोड़ा मुआवजा देकर जमींदारियां लीं गईं तो यह तो एक तरह से जमींदारियों का हड़पना हुआ। जमींदारों का और उनके समर्थकों का कहना था कि जमींदारों के नष्ट हो जाने से प्राचीन संस्कृति का जो भी चिन्ह प्रान्तों में शेष है वह नष्ट हो जावेगा। और बहुत सी सार्वजनिक हितकर संस्थायें जिनको जमींदार सहयाता देते हैं नष्ट हो जावेंगी। उनका यह भी कहना था कि ऐसा करने से सरकार की आमदनी नहीं बढ़ेगी, वरन् आमदनी कम होगी क्योंकि स्टाम्प से होने वाली आय बहुत गिर जावेगी। इसके अलावा सरकार को मुआवजे की बहुत बड़ी रकम देनी होगी।

ऊपर लिखी आलोचना करने वाले जमींदार हैं। अस्तु इसमें अतिशयोक्ति बहुत है। अतएव उनके विरोध की ओर विशेष ध्यान देने की जरूरत नहीं है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि जमींदारों का आज के समय में कोई भी उपयोग नहीं है और उनको समाप्त ही कर देना चाहिए। हो सकता है कि इस परिवर्तन काल में जब कि जमींदारियां खरीदी जावे तब कुछ कठिनाइयां हों परन्तु बाद को वे दूर हो जावेंगी। कुछ समय के उपरान्त इस परिवर्तन से होने वाले आर्थिक लाभ दृष्टिगोचर होने लगेंगे और बंगाल की स्थिति में सुधार हो जावेगा। अस्तु जितनी जल्दी जमींदारी समाप्त करदी जावे उतना ही अच्छा है।

कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित होने के उपरान्त बंगाल सरकार ने श्री गरनर को इस सम्बंध में जांच करने के लिए नियुक्त किया था कि वे मुआवजे इत्यादि के बारे में हिसाब लगावें। किन्तु उसके उपरान्त बंगाल में मुस्लिम लीगी मंत्रिमंडल स्थापित हो गया जिसमें अधिकतर जमींदार थे। अतु बंगाल में यह प्रश्न जहां का तहां रह गया। और जमींदारियों को खरीदने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया।

भूमि सम्बंधी प्रबंध की जो दशा बंगाल में है लगभग वही दशा

संयुक्तप्रान्त के बनारस डिवीजन तथा मदरास के उत्तरी पूर्वी जिलों की है जहां कि बन्दोबस्त स्थायी है। वहां भी जमींदार और किसान के बीच बहुत से आसामी उत्पन्न हो गए हैं।

बंगाल के शेष जमींदारों तथा अवध के ताल्लुकेदारों के साथ अस्थायी बन्दोबस्त:--

बंगाल के कुछ भाग ऐसे हैं जहाँ स्थायी बन्दोबस्त नहीं हुआ है। इस क्षेत्र में अस्थायी बन्दोबस्त है और सरकार जमींदार से ७० प्रतिशत मुनाफा ले लेती है केवल ३० प्रतिशत जमींदार के लिए छोड़ती है। जहां तक मालगुजारी या लगान के निर्धारित करने का प्रश्न है वह आगरा प्रान्त की तरह ही निर्धारित होती है।

अवध के ताल्लुकेदारों के साथ जो बन्दोबस्त किया गया है वह लगभग महलवारी बन्दोबस्त के समान है। उसमें और महलवारी बन्दोबस्त में अधिक अन्तर नहीं है वह एक प्रकार से महलवारी बन्दोबस्त का परिवर्धित रूप है।

महलवारी बन्दोबस्त

महलवारी बन्दोबस्त आगरा, पंजाब और मध्यप्रान्त में मिलता है। इन प्रान्तों में गांव के सभी पट्टीदारों को जमींदारों के अधिकार हैं। सम्भवतः यह सभी एक ही पूर्वज की संतान थे और प्राचीन समय से यह सभी एक संगठित रूप में ही राज्य से व्यवहार करते रहे हैं, अलग-अलग नहीं। ब्रिटिश सरकार ने इन ग्राम पट्टीदारों के संगठन को स्वीकार कर लिया। अस्तु इन पट्टीदारों से मालगुजारी सम्बन्धी समझौता किया गया। यद्यपि सभी महलवारी प्रान्तों में बन्दोबस्त के सिद्धान्त एक ही हैं। किन्तु थोड़ा-सा भेद भी है।

आगरा प्रान्त में बन्दोबस्त सीधा गाँव के पट्टीदारों से उनकी सामूहिक स्थिति में किया गया। यद्यपि एक प्रमुख पट्टीदार को चुन लिया गया है जो सारे पट्टीदारों की मालगुजारी सरकारी खजाने में जमा करने के लिए उत्तरदायी था और जिसने अन्य पट्टीदारों के एवज बन्दोबस्त के समझौते पर हस्ताक्षर किया था। यह व्यक्ति लम्बरदार कहलाता है। सभी पट्टीदार या साझीदार मालगुजारी देने के लिए व्यक्तिगत रूप से और सामूहिक रूप

से उत्तरदायी हैं। किन्तु साझीदारों का कोई समूह अथवा केवल एक साझीदार जिसका कुल गाँव में एक निश्चित हिस्सा हो सरकार से इस बात की प्रार्थना कर सकता है कि मालगुजारी का पूर्ण बटवारा (Perfect Partition) कर दिया जावे। दूसरे शब्दों में सभी साझीदारों की सामूहिक जिम्मेदारी के स्थान पर व्यक्तिगत जिम्मेदारी निश्चित कर दी जावे। मालगुजारी लगान का एक निश्चित प्रतिशत होती है! ईस्ट इंडिया कंपनी के समय में मालगुजारी लगान की ८० प्रतिशत थी। १८८३ में वह घटा कर ६६ प्रतिशत कर दी गई और बाद को राज्य का हिस्सा और भी कम करके ५० प्रतिशत कर दिया गया। आजकल जो मालगुजारी वसूल की जाती है उसका प्रतिशत ५० से भी कम है।

संयुक्तप्रान्त में महलवारी बन्दोबस्त

जब इन प्रान्तों में बन्दोबस्त होता है तब सैटिलमेंट आफिसर उन गाँवों का निरीक्षण करके उन्हें कुछ सर्किलों में बांट देता है। एक सर्किल में एक तरह के ही गाँव रक्खे जाते हैं अर्थात् जिनमें भूमि एक-सी है और प्राकृतिक स्थिति भी लगभग एक-सी ही है। तब प्रत्येक प्रकार की भूमि की लगान निश्चित की जाती है।

अवध में आगरे के समान ही जमीन का बन्दोबस्त होता है। केवल भेद इतना ही है कि वहाँ अधिकतर सैटिलमेंट ताल्लुकेदारों से होता है जो बहुत से गाँवों के मालिक होते हैं और बहुत कम दशाओं में ग्राम संस्था से होता है। ताल्लुकेदार की मालगुजारी उसके गाँवों पर लगाई हुई लगान के ऊपर निर्धारित होती है। कुछ स्थानों में ग्राम-संस्था (Village Community) में अपने अधिकारों की रक्षा करने में सफल हो गई वहाँ बन्दोबस्त सम्बन्धी समझौता ग्राम संस्था से किया जाता है और ताल्लुकेदार की मालगुजारी निश्चित कर दी जाती है।

पंजाब में महलवारी बन्दोबस्त

पंजाब में मालगुजारी तय करने का तरीका दूसरा ही है। वहाँ काश्तकार बहुत कम हैं और जो भी हैं वे लगान नकदी में न देकर पैदावार के रूप में देते हैं। पंजाब में अधिकतर काश्तकार ही भूमि का मालिक है (Peasant Proprietorship) इसलिये वहां सैटिलमेंट आफिसर भिन्न-भिन्न प्रकार की मिट्टी वाली भूमि की मालगुजारी की दर निर्धारित कर देता है

मध्यप्रान्त का मालगुजारी बन्दोबस्त

मध्यप्रान्त में ब्रिटिश सरकार का जब शासन स्थापित हुआ तब उन्होंने पाया कि मराठों ने कुछ व्यक्तियों को जिन्हें मालगुजार कहते हैं मालगुजारी इकट्ठा करने का ठेका दे रक्खा है। ब्रिटिश-सरकार ने उन्हीं ठेकेदारों को स्वामित्व के अधिकार दे दिये और उन्हें गांव का मुखिया मान लिया उस समय मध्यप्रान्त में काश्तकारों का ऐसा वर्ग था कि जिसका अपनी भूमि पर स्वामित्व स्थापित था किन्तु उनके इस अधिकार को नष्ट कर दिया गया। वास्तविक बात तो यह थी कि मध्यप्रान्त के गांव रैयतवारी थे किन्तु उन्हें अपनी भूमि के मालिक के अधिकारों से वंचित करके मालगुजार के काश्तकार बना दिया गया। अस्तु उनके अधिकार जब छीने गए तो उन्हें उसके बदले मालगुजार के काश्तकार की हैसियत से बहुत कुछ संरक्षण प्रदान किया गया। इस कारण मध्यप्रान्त में सैटिलमेंट आफिसर केवल यही निर्धारित नहीं करता कि मालगुजार सरकार को कितनी मालगुजारी दे वरन् यह भी निर्धारित कर देता है कि काश्तकार मालगुजार को कितनी लगान देगा। इसलिए बन्दोबस्त करते समय अधिकारियों को लगान का हिसाब लगाते समय बहुत होशियारी रखनी पड़ती है। इसके लिए भूमि को उसकी उत्पादन शक्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न श्रेणियों में बाँटा जाता है।

रैयतवारी बन्दोबस्त।

रैयतवारी बन्दोबस्त अस्थायी बन्दोबस्त होता है और रैयत के साथ होता है। वहां जमींदार या मालगुजार की भांति बीच में कोई दलाल नहीं होता जैसा कि महलवारी या जमींदारी बन्दोबस्त में हमें देखने को मिलता है। रैयतवारी बन्दोबस्त अधिकतर ३० वर्षों के लिए होते हैं। रैयतवारी बन्दोबस्त आसाम, सिंध, बरार, मदरास, और बम्बई में पाया जाता है। इन ब्रिटिश प्रान्तों के अतिरिक्त लगभग सभी देशी राज्यों में रैयतवारी बन्दोबस्त है। बर्मा अब भारत का भाग नहीं रहा, परन्तु वहां भी रैयतवारी बन्दोबस्त ही प्रचलित है।

मदरास का रैयतवारी बन्दोबस्त।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि स्थायी बन्दोबस्त के आधीन वहां पहले जमींदारी बन्दोबस्त किया गया वह नितान्त असफल रहा। तब

से उत्तरदायी हैं। किन्तु साझीदारों का कोई समूह अथवा केवल एक साझीदार जिसका कुल गाँव में एक निश्चित हिस्सा हो सरकार से इस बात की प्रार्थना कर सकता है कि मालगुजारी का पूर्ण बटवारा (Perfect Partition) कर दिया जावे। दूसरे शब्दों में सभी साझीदारों की सामूहिक जिम्मेदारी के स्थान पर व्यक्तिगत जिम्मेदारी निश्चित कर दी जावे। मालगुजारी लगान का एक निश्चित प्रतिशत होती है! ईस्ट इंडिया कंपनी के समय में मालगुजारी लगान की ८० प्रतिशत थी। १८८३ में वह घटा कर ६६ प्रतिशत कर दी गई और बाद को राज्य का हिस्सा और भी कम करके ५० प्रतिशत कर दिया गया। आजकल जो मालगुजारी वसूल की जाती है उसका प्रतिशत ५० से भी कम है।

संयुक्तप्रान्त में महलवारी बन्दोबस्त

जब इन प्रान्तों में बन्दोबस्त होता है तब सैटिलमेंट आफिसर उन गाँवों का निरीक्षण करके उन्हें कुछ सर्किलों में बांट देता है। एक सर्किल में एक तरह के ही गाँव रक्खे जाते हैं अर्थात् जिनमें भूमि एक-सी है और प्राकृतिक स्थिति भी लगभग एक-सी ही है। तब प्रत्येक प्रकार की भूमि की लगान निश्चित की जाती है।

अवध में आगरे के समान ही जमीन का बन्दोबस्त होता है। केवल भेद इतना ही है कि वहाँ अधिकतर सैटिलमेंट ताल्लुकेदारों से होता है जो बहुत से गाँवों के मालिक होते हैं और बहुत कम दशाओं में ग्राम संस्था से होता है। ताल्लुकेदार की मालगुजारी उसके गाँवों पर लगाई हुई लगान के ऊपर निर्धारित होती है। कुछ स्थानों में ग्राम-संस्था (Village Community) में अपने अधिकारों की रक्षा करने में सफल हो गई वहाँ बन्दोबस्त सम्बन्धी समझौता ग्राम संस्था से किया जाता है और ताल्लुकेदार की मालगुजारी निश्चित कर दी जाती है।

पंजाब में महलवारी बन्दोबस्त

पंजाब में मालगुजारी तय करने का तरीका दूसरा ही है। वहाँ काश्तकार बहुत कम हैं और जो भी हैं वे लगान नकदी में न देकर पैदावार के रूप में देते हैं। पंजाब में अधिकतर काश्तकार ही भूमि का मालिक है (Peasant Proprietorship) इसलिये वहां सैटिलमेंट आफिसर भिन्न-भिन्न प्रकार की मिट्टी वाली भूमि की मालगुजारी की दर निर्धारित कर देता है

मध्यप्रान्त का मालगुजारी बन्दोबस्त

मध्यप्रान्त में ब्रिटिश सरकार का जब शासन स्थापित हुआ तब उन्होंने पाया कि मराठों ने कुछ व्यक्तियों को जिन्हें मालगुजार कहते हैं मालगुजारी इकट्ठा करने का ठेका दे रक्खा है। ब्रिटिश-सरकार ने उन्हीं ठेकेदारों को स्वामित्व के अधिकार दे दिये और उन्हें गांव का मुखिया मान लिया उस समय मध्यप्रान्त में काश्तकारों का ऐसा वर्ग था कि जिसका अपनी भूमि पर स्वामित्व स्थापित था किन्तु उनके इस अधिकार को नष्ट कर दिया गया। वास्तविक बात तो यह थी कि मध्यप्रान्त के गांव रैयतवारी थे किन्तु उन्हें अपनी भूमि के मालिक के अधिकारों से वंचित करके मालगुजार के काश्तकार बना दिया गया। अस्तु उनके अधिकार जब छीने गए तो उन्हें उसके बदले मालगुजार के काश्तकार की हैसियत से बहुत कुछ संरक्षण प्रदान किया गया। इस कारण मध्यप्रान्त में सैटिलमेंट आफिसर केवल यही निर्धारित नहीं करता कि मालगुजार सरकार को कितनी मालगुजारी दे वरन् यह भी निर्धारित कर देता है कि काश्तकार मालगुजार को कितनी लगान देगा। इसलिए बन्दोबस्त करते समय अधिकारियों को लगान का हिसाब लगाते समय बहुत होशियारी रखनी पड़ती है। इसके लिए भूमि को उसकी उत्पादन शक्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न श्रेणियों में बाँटा जाता है।

रैयतवारी बन्दोबस्त

रैयतवारी बन्दोबस्त अस्थायी बन्दोबस्त होता है और रैयत के साथ होता है। वहां जमींदार या मालगुजार की भांति बीच में कोई दलाल नहीं होता जैसा कि महलवारी या जमींदारी बन्दोबस्त में हमें देखने को मिलता है। रैयतवारी बन्दोबस्त अधिकतर ३० वर्षों के लिए होते हैं। रैयतवारी बन्दोबस्त आसाम, सिंध, बरार, मदरास, और बम्बई में पाया जाता है। इन ब्रिटिश प्रान्तों के अतिरिक्त लगभग सभी देशी राज्यों में रैयतवारी बन्दोबस्त है। बर्मा अब भारत का भाग नहीं रहा, परन्तु वहां भी रैयतवारी बन्दोबस्त ही प्रचलित है।

मदरास का रैयतवारी बन्दोबस्त

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि स्थायी बन्दोबस्त के आधीन वहां पहले जमींदारी बन्दोबस्त किया गया वह नितान्त असफल रहा। तब

फिर शेष प्रान्त में रैयतवारी बन्दोबस्त किया गया। रैयतवारी बन्दोबस्त में भूमि का वर्गीकरण उनकी उत्पादन-शक्ति के आधार पर किया जाता है। यह जानने के लिए कि भूमि की उत्पादन-शक्ति कैसी है उस पर पैदा होने वाली किसी साधारण अनाज की फसल का कुछ वर्षों का औसत ले लिया जाता है। उस पैदावार का मूल्य रुपयों में लगा लिया जाता है। पैदावार के मूल्य को रुपयों में कूतने के लिए २० ऐसे वर्षों के मूल्य का औसत लिया जाता है जिनमें अकाल न पड़ा हो। इसमें से खेती का खर्चा घटा दिया जाता है और इस प्रकार वास्तविक बचत का हिसाब लगाया जाता है। मंडियों से दूरी, व्यापारी का लाभ, अनुत्पादक क्षेत्र तथा मौसम के साथ मूल्य में परिवर्तन—इन सभी बातों का ध्यान वास्तविक बचत निश्चित करते समय कर लिया जाता है इस बचत का लगभग आधा मालगुजारी निश्चित की जाती है। मालगुजारी की इस दर में सूखी भूमि होने पर मंडी के पास या दूरी के अनुसार संशोधन कर दिया जाता है और नम भूमि होने पर जल की व्यवस्था के अनुसार परिवर्तन कर दिया जाता है।

बम्बई का रैयतवारी बन्दोबस्त

बम्बई के रैयतवारी बन्दोबस्त और मदरास के बन्दोबस्त की मुख्य बातें प्रायः एक-सी होती हैं किन्तु मालगुजारी निर्धारित करने के ढंग में भेद है। बम्बई में भूमि का सदैव के लिए एक वर्गीकरण कर दिया गया है। इस वर्गीकरण का आधार है मिट्टी की गहराई। उसकी बनावट वर्षा के जल को सुरक्षित रखने की शक्ति तथा प्राकृतिक गुणों पर निर्भर रहती है। भिन्न-भिन्न प्रकार की मिट्टी का मूल्यांकन भिन्न होता है और वह आनों में व्यक्त किया जाता है। प्रथम श्रेणी की भूमि का मूल्यांकन १६ आने किया जाता है अन्य घटिया भूमियों का मूल्यांकन उनकी उर्वराशक्ति के अनुसार कम किया जाता है। बम्बई में मदरास की तरह वास्तविक बचत के आधार पर मालगुजारी निश्चित नहीं की जाती, वरन् यह भूमि का वर्गीकरण केवल इस लिए किया जाता है कि किसी क्षेत्र पर जितनी मालगुजारी लगाना निश्चित हुआ है उसका बंटवारा किस प्रकार हो। मालगुजारी अन्य बातों पर निर्धारित होती है। मुख्य आधार तो यही होता है कि उस क्षेत्र में लगान कैसी है।

सिंध में मालगुजारी की दर सिंचाई की सुविधा के अनुसार निर्धारित

की जाती है क्योंकि वहां भूमि की उत्पादन शक्ति वहां इसी एक सुविधा पर निर्भर है।

बरार में मालगुजारी निर्धारित करने का ढंग लगभग वही है जो बम्बई में है।

आसाम

आसाम में भूमि के मालिक स्थायी बन्दोबस्त द्वारा बनाये गए पुराने बंगाल के जिलों के जमींदार थे और कुछ स्थायी काश्तकार थे। उनका भूमि पर अधिकार इस बात पर निर्भर था कि यदि वे १८८६ के कानून बनने से पूर्व दस वर्ष से भूमि पर अधिकृत थे तो वे भूमि के मालिक मान लिए गए। १८८६ के कानून बन जाने के उपरान्त उनको १० साल के पट्टे पर या १० साल के अस्थायी बन्दोबस्त पर भूमि मिलती है। बहुत सी भूमि वार्षिक पट्टे पर है जो प्रति वर्ष फिर कर दिया जाता है। आसाम में बंजर भूमि के नियम अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि वहां २५ प्रतिशत भूमि पर ही खेती होती है, शेष बंजर है। आसाम के चाय के बागों की भूमि बहुत लम्बे पट्टे पर नाम मात्र की मालगुजारी पर चाय के बागों को दी हुई है।

लगान किस प्रकार निर्धारित की जाती है

संयुक्तप्रान्त, मदरास और बिहार के स्थायी बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों में लगान (जिसमें अबवाब भी सम्मिलित है) इतनी अधिक से अधिक निर्धारित की गई जितनी कि किसान दे सकता था। लगान ऊंची से ऊंची ली गई। यदि उससे अधिक लगान मांगी जाती तो किसान को विवश होकर अपना खेत जमींदार को सौंप देना पड़ता और वह अन्य किसी जमींदार का असामी बन जाता।

बंगाल में जो मालगुजारी जमींदार को सरकार को देनी पड़ती थी उसको देखते हुए उस क्षेत्र की लगान को एक रकम निर्धारित करदी गई और उसको किसानों पर मनमाने ढंग पर बाँट दिया गया। जो जितनी लगान देने की शक्ति रखता था उस पर उतनी ही लगान लगा दी गई। लगान निर्धारित करने की बंगाल में कोई वैज्ञानिक पद्धति नहीं रही। इसका फल यह हुआ कि जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती गई और भूमि की अधिकाधिक आवश्यकता होती गई, लगान बढ़ती गई।

मदरास में लगान निश्चित करने के लिए दो सिद्धान्त काम में

लाये जाते हैं। एक तो वहाँ भूमि का अच्छी तरह वर्गीकरण किया जाता है और प्रत्येक प्रकार की भूमि पर साधारण वर्षों में एक बीघा में कितनी पैदावार होती है इसका ठीक पता लगाया जाता है। जब यह मालूम हो जाता है कि प्रत्येक जाति की भूमि के एक बीघे में कितनी पैदावार होती है तो उसका मूल्य मालूम कर लिया जाता है। पैदावार का मूल्य मालूम करने के लिए पिछले २० वर्षों के मूल्य का औसत निकाला जाता है। उन वर्षों में अकाल के वर्ष सम्मिलित नहीं किये जाते।

दूसरा सिद्धान्त यह है कि जब उस भूमि की पैदावार का पता चल जाता है तो उसमें से कुछ खर्चों के लिए कुछ कटौती करके वास्तविक लाभ (Net Profit) मालूम किया जाता है। जलवायु तथा मौसम की गड़बड़ी से होने वाली हानि के लिए, उस भूमि में कुछ ऐसी भी भूमि होती है कि जिस पर खेती नहीं की जा सकती; जैसे तालाब या नहर जिससे सिचाई की जाती है। इन मदों के लिए पैदावार में ६½ से २५ प्रतिशत तक पैदावर में से कमी करदी जाती है। यदि खेत मंडी से दूर हैं तो १० से, २० प्रतिशत तक पैदावार में से कमी करदी जाती क्योंकि खेतों से मंडी तक पैदावार ले जाने में व्यय अधिक होता है। इसके अतिरिक्त खेती काखर्चा कम कर दिया जाता है। खेती के खर्च में बीज, बैलों, और औजारों की कीमत का ह्रास (Depriciation)तथा खाद और मजदूरी को शामिल किया जाता है। जब पैदावार में से ऊपर लिखी कमी कर दी जाती है तो उस भूमि से होने वाला वास्तविक लाभ मालूम हो जाता है। और इसका ५० प्रतिशत के लगभग सरकार का हिस्सा निर्धारित कर दिया जाता है। अधिकतर सरकार का हिस्सा ५० प्रतिशत से कुछ कम ही होता है।

यदि आगे चल कर कुआं या तालाब बनाने से किसान अपनी पैदावार बढ़ा लेता है तो सरकार उस बढ़े हुए लाभ में से हिस्सा नहीं मांगती। किन्तु यदि अन्य कारणों से लाभ बढ़ जाता है तो सरकार उसका हिस्सा मांगती है और मालगुजारी बढ़ाती जाती है। उदाहरण के लिए यदि कोई रेल या सड़क निकल जावे तो उससे बढ़े हुए लाभ में सरकार का भी हिस्सा होगा।

पंजाब

पंजाब में वैज्ञानिक ढग स भूमि की पैदावार या उससे होने वाले लाभ को मालूम नहीं किया जाता। वहां साधारण तौर से भूमि की जो पैदावार है उसका आधा तो खेती का खर्चा मान कर कम कर दिया जाता है। जो बचता है उसे वास्तविक लाभ माना जाता है अथवा आर्थिक लगान (Economic Rent) माना जाता है और उसको १९२८ तक सरकार आधा माल गुजारी के रूप में ले सकती थी किन्तु १९२८ में राज्य ने अपना हिस्सा घटा कर एक चौथियाई कर दिया। यद्यपि जिन ज़िलों में अभी तक नवीन बन्दोबस्त नहीं हुआ है वहां आधा ही लिया जा रहा है। प्रत्येक गांव कितनी मालगुजारी सरकार को देगा यह निश्चित हो जाने पर गांव के सब काश्तकार जमींदार (Peasant Proprietors) उसको अदा करने के लिए सामूहिक रूप से उत्तरदायी होते हैं।

बन्दोबस्त का आफिसर इस आधार पर जब किसी सर्किल की मालगुजारी निश्चित कर देता है और सरकार उसकी स्वीकृति दे देती है। तब सैटिलमैंट आफिसर अपनी जांच के आधार पर प्रत्येक गांव को कितनी मालगुजारी देनी होगी यह निश्चित कर देता है। एक सर्किल में जितने भी गांव हैं उनपर वह मालगुजारी बांट दी जाती है जो कि उस सर्किल के लिए निश्चित की गई है।

संयुक्तप्रान्त

संयुक्तप्रान्त में अस्थायी बन्दोबस्त वाले जिलों में पहले ३० वर्ष के उपरान्त बन्दोबस्त होता था किन्तु १९२९ से ४० वर्ष के बाद बन्दोबस्त होने लगा है। केवल बुंदेलखंड में यह नियम लागू नहीं है। वहां जल्दी-जल्दी बन्दोबस्त हो सकता है।

सबसे पहले बन्दोबस्त के समय नये नकशे बनाये जाते हैं और फिर से पैमाइश होती है। जो भी हेर फेर हुआ हो उसको उन नकशों में दिखलाया जाता है और रैकर्ड पूरा किया जाता है। फिर सैटिलमेंट आफिसर प्रत्येक गांव की भूमि की जांच करके उसकी उत्पादन शक्ति के अनुसार उसका वर्गीकरण करता है। फिर वह यह देखता है कि प्रत्येक प्रकार की भूमि के

लिए काश्तकार औसत लगान क्या देते रहे हैं। और उसी लगान का लगभग आधा मालगुजारी निर्धारित कर दी जाती है।

ऊपर लिखे हुए विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में लगान और मालगुजारी निर्धारित करने का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। अधिकतर परिपाटी से ही काम लिया जा रहा है। होना तो यह चाहिए कि आर्थिक लगान (Economic Rent) के सिद्धान्त को लागू किया जावे और भूमि की जो आर्थिक बचत हो उसका जो भाग भी निश्चित किया जाय काश्तकार पर लगाया जावे। भूमि की आर्थिक लगान निर्धारित करने में सब खर्चों के साथ किसान और उसके परिवार के लोगों के श्रम का मूल्य अर्थात मजदूरी भी जोड़ना चाहिए। अभी तक जमीन की पैदावार में से खेती का खर्चा घटाते समय किसान के श्रम का मूल्य खर्चे में नहीं जोड़ा जाता यदि किसान के स्वयं किये हुए श्रम तथा उसके परिवार वालों द्वारा किये गए श्रम के मूल्य को भी खर्चे में जोड़ लिया जावे तो अधिकांश किसानों के पास कोई आर्थिक बचत (Economic Surplus) नहीं बचती और उनसे लगान या मालगुजारी वसूल ही नहीं की जानी चाहिए। वास्तविक सत्य तो यह है कि भारतीय किसान के पास इतनी कम भूमि है और वह भी बिखरी हुई टुकड़ों में बंटी रहती है कि खेती साधारणतः लाभदायक धंधा नहीं रहा ऐसी दशा में उन छोटे-छोटे बिखरे हुए खेतों पर खेती करने से कोई आर्थिक बचत हो ही नहीं सकती। यही कारण है कि सरकार लगान या मालगुजारी निर्धारित करने में लगान सिद्धान्त को काम में नहीं लाती।

काश्तकारों के अधिकार

हमें केवल भूमि पर स्वामित्व की दृष्टि से ही उसके प्रबन्ध तथा उपयोग का अध्ययन नहीं करना चाहिए क्योंकि भूमि राष्ट्र की अत्यन्त मूल्यवान् सम्पत्ति है और उस पर ही राष्ट्र की आर्थिक संगठन बहुत कुछ निभर है। यदि भूमि का प्रबन्ध अच्छी तरह से होता है, उसमें सुधार किया जाता है और उसकी उर्वरा शक्ति को बनाये रखने का प्रयत्न किया जाता है तो हम उससे अधिक से अधिक सम्पत्ति उत्पन्न कर सकते हैं और देश को सम्पत्तिशाली बना सकते हैं। परन्तु यदि भूमि का प्रबंध खराब हो तो राष्ट्र निर्धन बन सकता है। भूमि चाहे किसी की भी सम्पति क्यों न हो परन्तु यदि उस व्यक्ति के कुप्रबंध से भूमि की

उर्वरा शक्ति घटती गई और भूमि निर्बल हो गई तो खाद्य पदार्थों तथा कच्चे माल की पैदावार देश में कम होगी और देश को भू-स्वामियों के कुप्रबंध का भयंकर परिणाम सहना होगा।

अस्तु भूमि पर चाहे किसी व्यक्ति का स्वामित्व क्यों न हो परन्तु राज्य उसके प्रबंध और उपयोग की ओर से कभी भी उदासीन नहीं हो सकता क्योंकि उसके साथ राष्ट्र के आर्थिक हित जुड़े हुए हैं। यही कारण है कि राज्य को उन लोगों के अधिकारों की रक्षा करने की आवश्यकता पड़ती है जो कि वास्तव में भूमि को जोतते हैं। कल्पना कीजिये कि जमींदार को भूमि पर पूरे अधिकार हैं और वह जिसे चाहे भूमि उठा सकता है और जितनी चाहे लगान वसूल कर सकता है अर्थात् काश्तकार का भूमि पर कोई भी अधिकार नहीं है वह केवल शिकमी काश्तकार (Tenant at will) है तो इसका परिणाम यह होगा कि काश्तकार जमीन में बिना खाद डाले तथा उसमें कुआँ इत्यादि बनाये तथा बिना अन्य कुछ सुधार किये ही फसल उत्पन्न करेगा क्योंकि वह जानता है कि जमींदार जब चाहे तब उसे जमीन से हटा कर दूसरे व्यक्ति को जमीन दे सकता है। ऐसी दशा में वह किसान जमीन पर श्रम और पूंजी क्यों लगावेगा। जितने वर्ष जमीन उसके पास है वह बिना अधिक श्रम और पूंजी लगाये फसल उत्पन्न करेगा और उसका परिणाम यह होगा कि भूमि की उत्पादन शक्ति घटती जावेगी और राष्ट्र को हानि उठानी पड़ेगी। इसी कारण प्रत्येक देश में काश्तकारों के अधिकारों की रक्षा करने का प्रयत्न किया गया। किसान को दो अधिकार अवश्य मिलने चाहिए एक तो वह जमीन से बेदखल न किया जा सके दूसरे उसका लगान मनमाने ढंग से बढ़ाया न जा सके। यदि किसान की बेदखली और मनमाने ढंग से लगान में वृद्धि से रक्षा की जा सके तो किसान अपनी भूमि की उन्नति करेगा उसकी उर्वरा शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करेगा और खेती की उन्नति कर सकेगा। अब हम देखेंगे कि भारतवर्ष में काश्तकारों के क्या अधिकार हैं।

हिन्दुस्तान में ऐतिहासिक कारणों से भिन्न-भिन्न प्रकार के काश्तकार पाये जाते हैं। सच तो काश्तकारों के अधिकारों में इतनी भिन्नता है कि उन सब प्रकार के काश्तकारों के अधिकारों का वर्णन कर सकना बहुत कठिन है। किन्तु मोटे तौर पर नीचे लिखे काश्तकार यहाँ मिलते हैं:—

बंगाल

बंगाल के सन् १८८५ ईसवी के काश्तकारी कानून के अनुसार वहाँ जमींदार के नीचे पांच प्रकार के काश्तकार होते हैं:—(१) पटनीदार (Permanent Tenure Holder) (२) काश्तकार शरह-मोअय्यन (Fixed Rate Tenant) (३) काश्तकार खुदकाश्त मिलकियत (Exproprietary Tenant) (४) काश्तकार दखीलकार या मौरूसी (Occupancy Tenant) (५) काश्तकार गैर दखीलकार या गैर मौरूसी (Non-Occupancy Tenants)

(१) पटनीदार जोतदार या स्थायी हक रखने वाले काश्तकार कई प्रकार के होते हैं और वे दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। प्रथम स्थायी जोतदार जो स्थायी प्रबंध द्वारा बनाये गए थे, और दूसरे पटनी ताल्लुकदार।

स्थायी जोतदार का लगान उस समय तक नहीं बनाया जा सकता जब तक कि यह साबित न कर दिया जाय कि रिवाज के अनुसार लगान बढ़ाने का अधिकार है, या पट्टे में इस बात की शर्त है। अगर स्थायी प्रबंध (Permanent Settlement) के बाद लगान कभी नहीं बढ़ाया गया तो अब नहीं बढ़ाया जा सकता। स्थायी जोतदार बड़े जमींदारों के नीचे छोटे जमींदारों की तरह रहते हैं।

पटनी ताल्लुकदार वास्तव में जमींदारियों के स्थायी ठेकेदार हैं। इनका लगान हमेशा के लिए नियत है। यदि यह जमींदार को लगान न दें तो इनका हक फौरन कलक्टर द्वारा बेंचा जा सकता है।

काश्तकार शरह मोअय्यन (Fixed Rate Tenant) भी स्थायी जोतदार की तरह ही होता है पर उनमें अन्तर यह होता है कि स्थायी जोतदार तो जमींदार की तरह होता है पर शरह मोअय्यन काश्तकार खुद ही काश्तकारी करता है। दोनों के लगान जो स्थायी बन्दोबस्त के समय नियत कर दिये गए हैं, वही रहते हैं। पर जमींदार शरह मोअय्यन काश्तकार के लगान को यह कह कर बढ़वा सकता है कि काश्तकार के हक की जमीन गंगवार (Alluvial) से बढ़ गई है और वह काश्तकार का लगान यह कह कर कम करवा सकता है कि उसकी जमीन का कुछ हिस्सा सार्वजनिक कार्यों के लिए ले लिया गया है। इसलिए वह पहले से कम हो गई है इस हक काश्तकारी पर

उत्तराधिकारियों का हक होता है। वह दूसरों को दिया जा सकता है या बेंचा जा सकता है।

काश्तकार शरह मोअय्यन के सिवा इस सिलसिले में काश्तकार सब्क तुलमिलकियत (Ex-Proprietary Tenants) होते हैं। यह काश्तकार वास्तव में पहले उस भूमि को जिसे वे जोतते हैं उसके स्वामी थे किन्तु ऋण इत्यादि के कारण उनकी रियासत उनके पास से निकल गई। केवल उनकी 'सीर' उनके पास रह गई जिसे वह जोतते थे। वे अपनी भूमि उस क्षेत्र में उस प्रकार की भूमि पर जो लगान दिया जाता है उससे कम लगान देते हैं और उनके भूमि पर से हटाया नहीं जा सकता। उनके अधिकार पैतृक होते हैं किन्तु उनको दूसरों को नहीं दिया जा सकता।

मौरुसी काश्तकार

मौरुसी काश्तकार एक विशेष अधिकार प्राप्त काश्तकार होता है। उसकी लगान माल की अदालत के द्वारा ही नीचे लिखी शर्तों पर बढ़ाया जा सकता है लगान में यह वृद्धि भी १० से १५ वर्ष के बीच में रुपये में एक आने से अधिक नहीं हो सकती। लगान नीचे लिखी शर्तें पूरी होने पर ही बढ़ाई जा सकती है :—

(१) यह कि उस गांव के या समीप के गांवों के मौरुसी काश्तकार उसी प्रकार की जमीन का जो लगान देते हैं उससे इस काश्तकार का लगान कम हैं।

(२) यह कि उस लगान के दौरान में पैदावार का दाम बाजार में बढ़ गया है।

(३) यह कि इस लगान के दौरान में जमींदार के खर्चे से उस जमीन की उत्पादन शक्ति बढ़ गई है।

(४) यह कि उस जमीन की उत्पादन शक्ति जल प्रवाह (Fluvial Action) के कारण बढ़ गई।

लगान बढ़ाने के कानून के विपरीत कुछ ऐसे नियम भी बना दिये गए हैं कि जिनसे लगान कम किया जा सकता है। वह इस प्रकार है :— अनुचित रूप से और न्याय के विरुद्ध में लगान किसी हालत में न बढ़ाया जावेगा।

मौरुसी काश्तकार जो लगान नकद रुपयों में देता है वह नीचे लिखे कारणों से कम किया जा सकता है (१) यह कि इस लगान के समय में किसी ऐसे कारण से जो केवल स्थायी नहीं है, यदि उस जमीन की पैदावार का औसद दाम घट गया हो। और (२) उस किसान की किसी भूल के बिना ही आकस्मिक या सामयिक कारण से उस जमीन की मिट्टी कमजोर पड़ गई है।

मौरुसी काश्तकार के हक पर उसके उत्तराधिकारियों का हक होता है। मौरुसी काश्तकार अपने अधिकार दूसरों को दे सकता है।

बंगाल के काश्तकारी कानून के अनुसार मौरुसी व शरहमोअय्यन काश्तकारों को उनके हक की जमीन में हर प्रकार से उन्नति करने का अधिकार दिया गया है। वे कुयें, तालाब, नाली या पानी जमा करने या सिंचाई करने के लिए या खेती के और कामों के लिए कुछ बना कर उस जमीन की उन्नति कर सकते हैं। या पानी के अधिक बहाव से उसे बचाने का उपाय कर उसकी उन्नति कर सकते हैं। या चारों ओर मेड़ बनाकर या और भी तरह-तरह से अपनी जमीन की तरक्की कर सकते हैं।

गैर मौरुसी काश्तकार

यहाँ पर गैर मौरुसी काश्तकारों के बारें में भी कुछ कह देना आवश्यक है। गैर मौरुसी काश्तकार जमींदार को वह लगान देता है जो उसके और जमींदार के बीच में तय हो गया हो। लगान न देने से, या जमीन के दुरउपयोग करने से, या उस जमीन के बारे में जो शर्त हुई हैं उसे तोड़ने से या उसकी अवधि समाप्त हो जाने से वह गैर मौरुसी काश्तकार बेदखल हो सकता है। गैर मौरुसी काश्तकार के हक की रक्षा करने के लिए सन् १८८५ ईसवी के कानून काश्तकारी के अनुसार कुछ ऐसे नियम बना दिये गए हैं जिनसे वह अदालत माल या अफसर बन्दोबस्त द्वारा लगाये हुए लगान पर कम से कम पांच साल के लिए उस जमीन को अपने पास रख सकता है।

बंगाल को काश्तकारी कानून

सबसे पहले बंगाल में १८५९ में काश्तकारों की बेदखली तथा मनमानी लगान वृद्धि से रक्षा करने के लिए एक कानून बनाया गया। बात यह थी कि जब बंगाल में स्थायी बन्दोस्त करके जमींदारों की मालगुजारी सदा

के लिए निश्चित कर दी गई तब यह आशा की गई थी कि जमीदार किसानों से इसी प्रकार कोई समझौता कर लेंगे किन्तु ऐसा नहीं हुआ और जैसे जैसे भूमि की मांग बढ़ती गई जमीदारों ने मनमाने ढंग से लगान में वृद्धि करना आरम्भ कर दिया। जो भी उन्हें अधिक लगान देता वे नजराना लेकर और लगान में वृद्धि करके जमीन उसी को दे देते और पुराने काश्तकारों को बेदखल कर देते थे। अस्तु किसान की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई अस्तु काश्तकारों के हितों की रक्षा करने की दृष्टि १९५९ में काश्तकारी कानून बनाया गया उस कानून के अनुसार जो भी काश्तकार किसी जमीन को १२ वर्ष तक लगातार जोत ले वह उस भूमि का मौरुसी काश्तकार हो सकता था किन्तु जमींदार लोग किसी भी काश्तकार को १२ वर्ष तक लगातार भूमि को जोतने नहीं देते थे अस्तु १८८५ में उस कानून में संशोधन किया गया और काश्तकारो को मौरुसी हक दिलाने के उद्देश्य से यह नियम बनाया गया कि यदि कोई काश्तकार उस गांव में किसी भी भूमि को १२ वर्ष लगातार जोत ले तो वह काश्तकार मौरुसी काश्तकार हो जावेगा। इस कानून के बनने का यह फल हुआ कि बंगाल में ८० प्रतिशत से अधिक काश्तकारों को मौरुसी हक मिल गए। इसके साथ ही गैर मौरुसी काश्तकार को भी कुछ अधिकार दे दिये गए। वह बिना अदालत की डिगरी के बेदखल नहीं हो सकता था और पांच वर्ष के अन्दर उसकी लगान में वृद्धि नहीं की जा सकती। १९२८ में फिर एक नया काश्तकारी कानून बनाया गया उसके अनुसार मौरुसी काश्तकार को अपना हक दूसरे को देने का अधिकार दे दिया गया। केवल शर्त यह रक्खी गई कि जमीन के ऊपर उस हक को बेंचने से जो रकम मिले उसका २० प्रतिशत जमीदार को देना होगा। यही नहीं मौरुसी काश्तकारों को अपनी भूमि पर मकान बनाने, तालाब खोदने और पेड़ लगाने का अधिकार दे दिया गया और उनकी भूमि पर खड़े हुए पेड़ों पर उनका अधिकार हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि जमीन बेचते समय जो जमींदार को अंधाधुंध सलामी देनी पड़ती थी वह रुक गई। १९३७—३८ में इस कानून का फिर संशोधन हुआ और उसके द्वारा भूमि को बेंचने पर जो कीमत का २० प्रतिशत जमींदार को देना पड़ता था वह भी समाप्त कर दिया गया। अर्थात मौरूसी काश्तकार अपने हक को बिना किसी कठिनाई के बेंच

सकता है। साथ ही जमींदार को जो उस हक को खरीदने का पहला अधिकार (Right Preemption) था वह भी छीन लिया गया। उसके स्थान पर यह अधिकार रैयत के साझीदारों को दे दिया गया।

संयुक्तप्रान्त के काश्तकारों के अधिकार

बनारस को छोड़ आगरा प्रान्त में काश्तकारी के हक

यहाँ महलवारी प्रथा प्रचलित है, क्योंकि प्रान्त में मालगुजारी के लिए जो एक इकाई नियत की जाती है उसे महाल कहते हैं। सरकार और किसान के बीच जो आदमी होता है उसे जमींदार, कहते हैं। कहीं एक ही जमींदार होता है और कहीं किसी पूर्व पुरुष के कुछ उत्तराधिकारी मिल कर जमींदार होते हैं। इनकी जिम्मेदारी सरकार को मालगुजारी और अबवाब देना भर है। जो सरकार उनकी जमीन पर प्रति चालीस वर्ष पर लगाती है। अबवाब (Cess) डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की आमदनी का मुख्य साधन है। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड गांवों की उन्नति के लिए मालगुजारी का दस फीसदी तक अबवाब ले सकता है।

यद्यपि नये बन्दोबस्त के समय जमींदार लोग सरकार से इकरार करते हैं कि वे लोग उस जमीन पर प्रतिवर्ष वह मालगुजारी देंगे जो उन पर आइन्दा चालीस वर्ष के लिए नियत की गई है। पर असल में जमींदार का हक मालिक का सा होता है। वह हक बेचा भी जा सकता है। यदि कोई कानूनी उत्तराधिकारी न हो तो वसीहत या दान पत्र द्वारा दूसरों को दिया भी जा सकता है।

कानून के अनुसार नीचे लिखे प्रकार के जमींदार होते हैं। (१) जमींदार गैर मुश्तकी इसमें एक ही जमींदार होता है जो अपने महाल से लगान वसूल करके सरकार को मालगुजारी देता है। (२) जमींदारी मुश्तकी —इसमें एक से अधिक मालिक होते हैं। बहुधा एक ही पूर्व पुरुष के संतान होते हैं और आपस में मिल कर उस जमीन के मालिक बने रहते हैं। उन हिस्सेदारों में से सरकार एक को लम्बरदार बना देती है। वह उनका मुखिया होता है और हिस्सेदारी की सारी जमीन की मालगुजारी सरकार को देता है। (३) पट्टीदारी जब संयुक्त जमींदारी बंटवारा होने से टूट जाती है तो उसे पट्टीदारी कहते हैं। हर एक पट्टीदार की मालगुजारी की जिम्मेदारी अलग

अलग पट्टीदारों पर आ पड़ती है और यह सब पट्टीदार लम्बरदार के जरिये अपनी अपनी मालगुजारी सरकार को देते हैं। मगर एक महाल के सब पट्टीदार अलग-अलग और सामूहिक रूप से उस पूरे महाल की मालगुजारी के जिम्मेदार होते हैं। जब लम्बरदार दूसरे पट्टीदारों के लगान को भी वसूल करता है तो वह उस महाल में सरकारी मालगुजारी और पट्टीदारों का हिस्सा देने से पहले पांच फी सदी हक लम्बरदारी ले सकता है। (४) भाई चारा—यह हिस्सेदारी का दूसरा रूप है। इसमें एक से अधिक मालिक होते हैं जो साथ मिलकर किसी जमीन पर हक रखते हैं। बँटवारा हो जाने पर अपना-अपना हक वे लोग अलग कर लेते है। पर भाई चारे के हर एक हिस्सेदार के पास सचमुच में जो जमीन होती है। उसी के अनुसार उनमें से प्रत्येक का हक निश्चित किया जाता है। पट्टीदारी में पट्टीदारों का हक उनकी वंशावली में जो उनका स्थान होता है उसी के अनुसार निश्चित किया जाता है। (५) अधूरी पट्टीदारी और अधूरा भाई चारा—यहाँ एक से अधिक जमींदार होते हैं। प्रत्येक के पास कुछ तो संयुक्त जमीन का हिस्सा होता है और कुछ अलग जमीन होती है।

किसानों के अधिकार

किसानों के अधिकार के आधार पर आगरा प्रान्त में निम्नलिखित प्रकार के काश्तकार पाये जाते हैं। सख्तुल मिलकियत (Ex-Proprietry Tenents) इसमें वे सब किसान आते हैं जो पहले उसी महाल में कि जिसमें उन की वर्तमान जमीन है जमींदार थे और जिन्होंने उस जमीन पर अपना हक जमींदारी खो दिया। परन्तु जिनके पास उस जमीन पर सीर का हक था और जिसको वे लगातार १२ वर्षों से जोतते रहे थे। उनको उसी जमीन का साख्तुल-मिल्कियत-काश्तकार का हक मिल गया है और उस जमीन की लगान जो कि एक मौरूसी काश्तकार देता है उससे रुपये में चार आना कम देना पड़ता है। जब तक साख्तुल मिल्कियत काश्तकार अपने हिस्से का लगान देता रहेगा तब तक उसे कोई बेदखल नहीं कर सकता और न उस का लगान ही साधारणतः बढ़ाया जा सकता है। इस किसान के हक पर उत्तराधिकार का हक होता है। पर किसी अदालत की द्वारा दी गई हुई डिगरी के लिए वह बेचा नहीं जा सकता।

दूसरे प्रकार के काश्तकार मौरुसी काश्तकार होते हैं। सन १९४० में कांग्रेस मंत्रिमंडल ने जो काश्तकारी कानून बनाया उसके परिणाम स्वरूप आगरा तथा अवध प्रान्तों में अधिकांश किसानों को मौरुसी काश्तकार के हक दे दिये गए हैं। अस्तु इस कानून के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन हम आगे चल कर करेंगे।

१९४० के पूर्व आगरा प्रान्त में कानूनी काश्तकार (Statutary Tenants) होते थे। मौरुसी काश्तकार उस समय बहुत थोड़े थे। अतएव गैर-मौरुसी काश्तकारी की रक्षा के लिए १९२६ में एक काश्तकारी कानून बनाया गया और उसके अनुसार कानूनी काश्तकार या काश्तकार हीन हयात (Statutary Tenants) बनाये गए। कानूनी काश्तकार का अपनी भूमि पर जीते जी हक रहता था अर्थात् कानूनी काश्तकार अपने जीवन काल में बेदखल नहीं किया जा सकता था। काश्तकार हीन हयात या कानूनी काश्तकार के मर जाने पर पांच वर्ष तक उसके वारिस का उस पर हक रहेगा। पांच वर्ष के उपरान्त अगर उस वारिस और जमींदार के बीच शत्रुता हो गई तो फिर उसे भी काश्तकार हीन हयात का हक दे दिया जावेगा। साथ ही कानून के अनुसार लगान में तबदीली करने के लिए एक बहुत मार्के की बात हुई। वह यह कि सरकार एक खास समय में जिसे कि रोस्टर साल (Rostr year) कहते हैं एक रोस्टर पदाधिकारी नियुक्त करेगा जो किसानों के लगान में परिवर्तन करेगा। उसके बाद लगान में फिर कोई तबदीली नहीं हो सकती थी। किन्तु अब तो १९४० के काश्तकारी कानून के अनुसार सभी कानूनी काश्तकारों को मौरुसी काश्तकार बना दिया गया।

अवध में काश्तकारों के अधिकार

यहाँ जमींदारों के हक को ताल्लुकेदारी कहते हैं। यह भी आगरा के जमींदारों की भांति ही होते हैं। परन्तु अवध के ताल्लुकेदार १९४० तक अपनी सीमा में पूरे नवाब होते थे और अब भी किसानों पर उनका बहुत आतंक है। आगरा प्रान्त की तरह यहां मालगुजारी स्थिर करने के लिए यहां जमीन का महाल नहीं होता, वरन् सारे ताल्लुके पर एक साथ मालगुजारी कायम की जाती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि अवध में जमींदार नहीं होते किन्तु ज्यादातर वहां ताल्लुकेदार ही होते हैं। वहां कुछ रिसायतों

में स्थायी बन्दोबस्त कर दिया गया है। क्योंकि उन्होंने सरकार की कुछ सेवायें की थीं। फिर यहाँ कुछ ऐसी भी रियासतें हैं जहाँ केवल बड़े लड़के को ही हक मिले, यह कानून लागू होते हैं। ताल्लुकेदारों के नीचे एक दो या इससे भी अधिक गांव के जमींदार होते हैं। एक गांव का एक ही जमींदार हो या अधिक हिस्सेदार हों तो उनका ताल्लुकेदार के साथ वही सम्बन्ध होता है जो बंगाल में पट्टनीदार का वहां के जमींदार से होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि अवध के जमींदारों की मालगुजारी की दर पट्टनीदारों की तरह स्थायी नहीं होती। वह ४० वर्ष के लिए बन्दोबस्त के समय तय किया जाता है। इसके सिवा अवध में साख्तुन मिल्कियत काश्तकार और मौरुसी काश्तकार होते हैं उनके वही अधिकार हैं जो आगरा प्रान्त में ऐसे काश्तकारों के सम्बन्ध में बतलाये जा चुके हैं। अवध में भी १९४० के पूर्व हीन हयात काश्तकार होते किन्तु १९४० का काश्तकारी कानून अवध में लागू हो गया और वे मौरुसी काश्तकार बना दिये गए।

कमायूं में काश्तकारों के अधिकार

कमायूं में बहुधा रैयतवारी प्रथा है। उन जमीनों के हकदार चाहे जिस प्रकार के हों पर व्यवहार में वे हिस्सेदार कहे जाते हैं। मालगुजारी वसूल करने के लिए जमीन का क्षेत्र एक गांव का होता है और गांव के सब हकदार एक साथ वा अलग-अलग मालगुजारी के देनदार होते हैं पर सब हिस्सेदारों में से एक या अधिक प्रधान मालगुजार नियत कर दिये जाते हैं। प्रधान सब हिस्सेदारों से मालगुजारी वसूल करता है इसलिए उस मालगुजारी के कुछ हिस्से पर उसका हक होता है। वह सब पंच हिस्सेदारों की ओर से गांव का प्रबंध करता है व उससे जो कुछ फायदा होता है अपने पास रख लेता है। यदि किसान चाहे तो अपनी पट्टी की जमीन और अपना हिसाब किताब अदालत के द्वारा अलग करवा सकता है। हिस्सेदारी का हक कमायूं प्रथा के अनुसार उत्तराधिकारियों को मिल सकता है।

(२) हिस्सेदारों के ऊपर थोकदार या कनिपुर या सयाने होते हैं। यह तीनों एक ही प्रकार हकदारों के नाम हैं और यह पहाड़ी हिस्सों के किसानों के एक प्रकार के प्रतिनिधि है। वे जमीन के मालिक नहीं होते पर उन्हें जमीन की मालगुजारी वसूल करने का हक होता है और उन्हें उस मालगुजारी में से कुछ हिस्सा मिलता है। उनका हक भी उत्तराधिकारी को मिल

सकता है या दूसरों को किसी अन्य प्रकार से दिया जा सकता है।

(३) हिस्सेदारों के नीचे खैकार होते हैं जो बहुत कुछ मैदान के मौरुसी काश्तकारों से मिलते जुलते हैं। और उनके अलावा एक किस्म के काश्तकार सिरतन होते हैं जो गैर दखीलकार की तरह होते हैं। खैकारी जमीन के हिस्सेदार खैकारों से जो लगान वसूल करते हैं उसमें का कुछ हिस्सा उन्हें मालिकाना रूप में मिलता है। और यदि खैकार बिना उत्तराधिकारी के मर जाय तो जमीन हिस्सेदारों की खुदकाश्त हो जाती है।

खैकार एक प्रकार का किसान होता है जिसका हक उत्तराधिकारी को मिल जाता है पर दूसरों को किसी अन्य प्रकार से नहीं मिल सकता। बन्दोबस्त के समय उनका लगान निश्चित कर दिया जाता है और उस बन्दोबस्त की अवधि में वह बढ़ाया नहीं जा सकता सरकार भी उन लोगों को खैकारी हक देती है जो सरकारी बेकार जमीन की उन्नति करके उनसे खेती के काम लायक कर दिया है।

सिरतन गैर दखीलकारी काश्तकार होते थे किन्तु वे कमायूं में बहुत कम थे केवल ६ प्रतिशत सिरतन काश्तकार थे किन्तु १९४० के अनुसार वे भी मौरुसी काश्तकार बना दिये गए।

बनारस डिवीजन में काश्तकारों के अधिकार

बनारस में स्थायी बन्दोबस्त है। अस्तु वहाँ वे ही सब काश्तकारी के अधिकार हैं जो बंगाल में हैं। अर्थात वहाँ पटनीदार (Permanent Tenure Holders) काश्तकार शरह मोअय्यन (Rate Tenants) काश्तकार साब्तुल मल्कियत (Ex-proprietary Tenants) मौरुसी काश्तकार होते हैं। १९४० के कानून के अनुसार गैर मौरुसी काश्तकारों को भी मौरुसी हक मिल गए हैं।

संयुक्तप्रान्त का काश्तकारी कानून १९४०

यद्यपि १९२६ के काश्तकारी कानून से काश्तकारों को हक हीन हयात मिल गया था किन्तु फिर भी किसानों की स्थिति बहुत संतोषजनक न थी। अधिक लगान वसूल करना, नजराना लेना लाग और बेगार लेना और विनाशकारी मुकदमेबाजी में कोई कमी नहीं हुई थी। अतएव यह सोचा गया कि जब तक काश्तकारों को मौरुसी हक नहीं दे दिये जावेंगे तब तक काश्तकारों के हितों की रक्षा नहीं हो सकती।

जब नवीन शासन विधान के अन्दर प्रान्त में कांग्रेस मंत्रिमंडल की स्थापना हुई तो कांग्रेस मंत्रिमंडल ने १९३९ में एक काश्तकारी कानून बना कर काश्तकारों को मौरुसी हक दे दिये। उस कानून की मुख्य बातें नीचे लिखी हैं :—

यह कानून आगरा और अवध दोनों ही प्रान्तों में लागू है। केवल देहरादून और मिर्जापुर जिलों के कुछ भागों जिसे जैनसार बावर कहते हैं यह लागू नहीं होता।

काश्तकारों के मौरुसी हक

इस कानून के अनुसार सारे कानून काश्तकार या हीन हयात काश्तकार मौरुसी काश्तकार बना दिये गए। इस कानून के अनुसार सारे आगरा और अवध में सारे कानूनी काश्तकार उनके उत्तराधिकारी, अवध के वे काश्तकार जिन्हें जमीन में कुछ मालकाना हक थे वे अवध के गाँवों में न रहने वाले काश्तकार, तथा गगवार महाल और चाय के बागों का हक उत्तराधिकारियों को भी प्राप्त होगा। भविष्य में जो भी किसान किसी जमींदार की भूमि जोतेगा वह उसका मौरुसी काश्तकार हो जावेगा। सीर के काश्तकारों को भी पाँच वर्ष के पहले जमींदार जमीन से बेदखल नहीं कर सकता। अस्तु सीर के काश्तकार तथा काश्तकार के काश्तकारों को छोड़कर सभी काश्तकारों को मौरुसी काश्तकार बना दिया गया।

जमींदार की सीर को कम कर दिया गया

कानून के अनुसार किसी भी जमींदार की सीर ५० एकड़ से अधिक नहीं हो सकती। जो जमींदार २५ रु० से अधिक अबवाब देते हैं अथवा २५० रु० मालगुजारी देते हैं उनके पास १९२६ से पहले जो भूमि सीर के रूप में नहीं थी वह 'सीर' नहीं रह सकती। ऐसे जमींदारों की शेष 'सीर' का वह भाग जो कि इस कानून के आरम्भ पर किसानों को उठा दिया गया हो 'सीर' नहीं रहेगा और किसान का उस पर भी मौरुसी हक स्थापित हो जावेगा। छोटे जमींदार जो कि २५ रु० या उससे कम अबवाब देते हैं या २५० रुपये से कम मालगुजारी देते हैं उनकी सीर में कोई कमी नहीं की गई। फिर चाहे उन्होंने १९२६ (आगरा में) १९२१ (अवध में) के उपरान्त उसको 'सीर' बनाया हो और चाहे वे उसको दूसरों को उठा देते हों। 'सीर' के

काश्तकारों को मौरुसी हक नहीं दिये गए किन्तु वह भी पांच वर्ष से पहले उस भूमि से बेदखल नहीं किया जा सकता। यदि किसी जमींदार के पास ५० एकड़ से कम सीर हो तो उसको कम नहीं किया जावेगा और यदि उसके पास ५० एकड़ से अधिक सीर हो तो उसको कम करके ५० एकड़ ही वह रख सकता है।

भूमि में सुधार करने के काश्तकारों के अधिकार

कोई भी मौरुसी काश्तकार अपनी भूमि पर रहने के लिए मकान, पशुओं के रहने के लिए अथवा गल्ला इत्यादि रखने के लिए मकान बना सकता है। अन्य खेती के कार्य के लिए उसे मकान बनाने की आवश्यकता हो तो भी वह मकान बना सकता है। इसके लिए उसे जमींदार की आज्ञा लेने की जरूरत नहीं है। किन्तु यदि किसान उस भूमि पर से किसी कारण से बेदखल हो जावे तो वह उस सुधार के लिए जमींदार से मुआवजा नहीं मांग सकता। हाँ वह जमींदार की राय से उसे किसी दूसरे को बेच सकता है या अपना ईंट इत्यादि सामान हटा सकता है। मौरुसी काश्तकार पटनीदार काश्तकार, तथा काश्तकार शरह-मोअय्यन अथवा अवध के विशेष प्रकार के काश्तकार कोई भी इमारत बना सकते हैं। कुयें, तालाब, तथा नाली बना सकते हैं, भूमि में सब तरह का सुधार कर सकते हैं, जैसे बंजर तोड़ना, जमीन के चारों ओर मेढ़ लगाना, भूमि को चौरस करना, तथा पहाड़ी ढाल को खेती के योग्य करना, इत्यादि। आगरा का मौरुसी काश्तकार तथा साक्नुल मिल्कियत काश्तकार सभी अन्य सुधार कर सकता है केवल वह तालाब नहीं बना सकता तथा अपने खेत के समीप ही कोई इमारत नहीं खड़ी कर सकता। यदि वहाँ ऐसा स्थानीय रिवाज हो अथवा उसने जमींदार से इसके लिए लिखित आज्ञा प्राप्त करली हो तो वह तालाब या इमारत भी बना सकता है। जमींदार भी काश्तकार की लिखित सम्मति से उसके खेत में सुधार कर सकता है। केवल अवध में जमींदार को यह अधिकार नहीं है। यदि किसी काश्तकार ने जमींदार की सम्मति से यह सुधार किये हों और आगे चल कर उसको बेदखल किया जावे तो उसको मुआविजा दिया जावेगा। गैर मौरुसी काश्तकार के सिवाय सभी काश्तकार अपनी जमीन पर पेड़ लगा सकते हैं। शर्त केवल इतनी है कि वे उससे दूसरों के खेत की कीमत कम न कर दें। काश्तकार के खेत में जो पेड़ होंगे वह काश्तकार की सम्पत्ति होंगे।

लागात तथा बेगार को समाप्त कर देना

लगान से अधिक वसूल करना, नजराना लेना, अबवाब, हरी बयाई इत्यादि लागतें वसूल करना तथा बेगार लेना कानून के विरुद्ध कर दिया गया है। केवल बाजारों और मेलों पर लागात लगाना जिसे प्रान्तीय सरकार ने स्वीकृति दे दी है और किसी प्रकार की लाग बेगार, या कर नहीं लगाया जा सकता। यदि कोई जमींदार इसके विरुद्ध कार्य करेगा तो वह दण्ड का भागी होगा।

बेदखली

कोई काश्तकार केवल इसलिए कि वह जमीन पर से बेदखल हो गया है गाँव में अपने रहने के मकान से बेदखल नहीं हो सकेगा। साख्तुल मिल्कियत, और मौरुसी काश्तकार तथा नवीन कानून से बनाये गए पैतृक (मौरुसी) काश्तकार बकाया लगान के कारण केवल उसी दशा में बेदखल किये जा सकते हैं जब कि एक साल से अधिक का लगान बकाया न हो। काश्तकार को बकाया लगान देने के लिए दो वर्ष का समय दिया जाता है। यदि दो वर्षों में भी वह लगान अदा न करे तो बेदखल कर दिया जावेगा। किन्तु किसान के लगान न देने पर उसकी फसल को कुर्क करने का जो जमींदार का अधिकार था वह छीन लिया गया। अस्तु, जमींदार को अब किसान को परेशान करने का अधिकार नहीं रहा। साथ ही वह अपनी मालगुजारी सुविधापूर्वक वसूल कर सकता है।

लगान का निश्चित करना और उसकी अदायगी

जब किसान जमींदार को लगान दे तो जमींदार को छपे हुए फार्म पर, जो कि प्रान्तीय सरकार देगी, किसान को लगान वसूली की रसीद देनी होगी। प्रत्येक रसीद की प्रतिलिप (Counter Foil) जमींदार को तैयार करके अपने पास रखनी होगी। यदि कोई जमींदार लगान वसूल करके रसीद न दे तो वह दण्ड का भागी होगा। इसके अतिरिक्त लगान सम्बन्धी मुकदमों मे यदि जमींदार रसीद की प्रतिलिपि न दिखा सकेगा तो अदालत उसके विरुद्ध अनुमान कर सकेगी।

इसके अतिरिक्त कानून में लगान और मालगुजारी वसूल करने का तरीका भी निश्चित कर दिया गया है। लगान निश्चित करते समय बन्दोबस्त

का अफसर केवल दी जाने वाली लगान, भूमि की किस्म, और उसकी पैदावार, को ही ध्यान में नहीं रक्खेगा, वरन् जो लगान वह निर्धारित करने जा रहा है उसका मिलान भूमि की पैदावार से भी करेगा कि जिससे लगान किसी दशा में भी पैदावार के बीस प्रतिशत से अधिक न हो। और वह उन वस्तुओं के मूल्य को भी ध्यान में रक्खेगा कि जो किसान की खेती के खर्चे में शामिल हैं (अर्थात घर गृहस्थी का व्यय तथा खेती का खर्चा)। यदि कीमतों में यकायक कमी या वृद्धि होजावे तो एक विशेष आफिसर उसी अनुपात में महाल की लगान में वृद्धि या कमी कर देगा। लगान में छूट नीचे लिखे अनुसार दी जावेगी:—

(अ) यदि फसल में ८ आना हानि हुई है और १० आना रुपया से से कम हानि हुई है तो रुपये में ६ आना छूट दी जावेगी।

(ब) यदि हानि १० आना रुपया है और १२ आना रुपया से कम है १० आना रुपये की छूट दी जावेगी।

(क) यदि हानि १२ आना हो और १४ आने रुपये कम हो तो १ रुपया छूट दी जावेगी।

लगान में वृद्धि तभी हो सकती है जब जमींदार अपने व्यय से जमीन में सुधार करे। इस प्रकार १६४० के कानून के अनुसार किसान को बेदखली का भय नहीं रहा, उचित लगान की व्यवस्था हो गई, और जमींदार के अत्याचार से उसका छुटकारा हो गया। यद्यपि इस कानून में भी बहुत दोष हैं फिर भी पहले से बहुत अच्छा है।

पंजाब

पंजाब में मालगुजारी वसूल करने की प्रथा जमींदारी की है। सरकार अलग-अलग किसानों से लगान वसूल करके भिन्न-भिन्न स्थानों के जमींदारों से वसूल करती है। आम तौर पर वहां बहुत से कुटुम्ब एक साथ उस गांव के मालिक होते हैं और खुद अपनी जमीन जोतते हैं। वे सारे कुटुम्ब एक ही पुरखे की शाखा नहीं होते प्रत्येक के पास बहुधा थोड़ी-थोड़ी-सी जमीन होती है। यद्यपि इन कुटुम्बों के मुखिया लोग सब मिलकर संयुक्त जमींदार माने जाते हैं और कानून सब एक साथ मिलकर मालगुजारी के जिम्मेदार होते हैं और उन सबका प्रतिनिधि उन्हीं में से एक होता है जिसे सरदार या लम्बरदार कहते हैं। पर व्यवहार में प्रत्येक कुटुम्ब के हिस्से की इस मालगुजारी अलग

अलग वसूल की जाती है। इसलिए यह जमींदार ऐसे काश्तकार होते हैं जो खुद अपनी जमीन के मालिक होते हैं (Peasant Proprietors) किसी किसी अवस्था में किसी गांव के बहुत से काश्तकार मालिक (Peasant Proprietors)) एक ही वंश के होते हैं। सबकी जमीन एक होती है और अलग-अलग काश्तकार जो काश्तकारी करता है वह उसे एक समूह के काश्तकार की हैसियत से करता है। उस जमीन में उनका जितना हिस्सा होता है उतनी ही उनकी जमीन होती है और उसी के परिणाम में वे फायदे के हकदार होते हैं। मालगुजारी वगैरह उन्हीं के हिस्सों के अनुसार लगाई जाती है। पर वह समूह उस सारी जमीन की मालगुजारी का जिम्मेदार होता है। यदि उनमें से कोई एक काश्तकार अपने हिस्सेदारों को छोड़ किसी बाहरी आदमी को बेंचे तो उसके साथ हिस्सेदारों को उस जमीन पर पर हक्शफा का अधिकार होता है। अर्थात् दूसरा हिस्सेदार चाहे तो उतने ही दाम पर किसी बाहरी आदमी के बदले लेने का अधिकारी हो सकता है। यहां पर बेचने वाले को या उस बाहरी खरीदार को कुछ बोलने की गुंजाइश नहीं है। पर यह समूह टूट सकते हैं और उनके सब हिस्सेदार उस जमीन को अलग बंटवाकर मालगुजारी की जिम्मेदारी भी अलग करवा सकते हैं। उस जमीन का बंटवारा भाईचारा या पट्टीदारी सिद्धान्त पर हो सकता है। ऊपर दिया हुआ सारा वर्णन पंजाब के मध्यभाग और नैऋत्य भाग में लागू होता है। पंजाब के नैऋत्य भाग में जमीन के मालिकों के सिवाय एक प्रकार के और हकदार पाये जाते हैं जिन्हें चकदार, सिलहदार, तरादादागार या कासूर-खवार कहते हैं। यह बहुधा दूसरों की जमीन में अपने पैसों से सिंचाई के लिए कुयें व नहर बनवाते हैं। उन कुओं या नहरों पर तथा उन कुओं और नहरों से जिस जमीन पर सिंचाई होती है उसपर उसके उत्तराधिकार को दूसरों को दे देने का अधिकार होता है। पर जमीदार यदि चाहे तो उन हकदारों से उनके कुयें या नहरों के दाम देकर उन्हें खरीद सकता है।

जमींदारों के जो हक आगरा प्रान्त में हैं वही पंजाब में होते हैं। परन्तु पंजाब के १९०० ईसवी के भूमि हस्तान्तरकरण कानून (Alienation of Land Act) जमीन को बेंचने में कुछ अड़चन हो गई है। इस कानून के अनुसार कुछ जातियां खेतिहर जातियां मान ली गई हैं। कोई काश्तकार

ऐसे व्यक्ति के हाथ जमीन बेंच या रहन नहीं रख सकता जो खेतिहर जाते का नहीं है। वहां कुछ जमीन को छोड़कर बाकी की जमीन का कहीं-कहीं ३० वर्षों में और कहीं-कहीं २० वर्षों में बन्दोबस्त किया जाता है।

पंजाब में काश्तकारों के अधिकार

यद्यपि पंजाब में काश्तकार मालिकों (Peasant Proprietors) की ही संख्या अधिक है फिर वह काफी जमीन पर काश्तकार खेती करते हैं। वहां निम्न प्रकार के किसान पाये जाते हैं।

(१) मौरुसी काश्तकार

इस श्रेणी में वे काश्तकार आते हैं जिन्होंने सन् १८८७ ईसवी के लैंड ऐक्ट के बनने के समय दो पीढ़ी तक जमींदार को सरकारी मालगुजारी के सिवाय और कुछ नहीं दिया था। और इनके अलावा वे काश्तकार भी हैं जो इस कानून के बनने से पहले किसी विशेष कारण से मौरुसी काश्तकार या दखीलकार काश्तकार मान लिए गए थे। लगभग इन्हीं के बराबर एक और काश्तकार भी हैं जिन्हें हल्के-जमींदार (Inferior owners) कहते हैं। इन जमींदारों का सादा हक अन्य जमींदारों की भांति होता है। अन्तर केवल यही होता है वे अपने से ऊँची श्रेणी के जमींदारों को कुछ देते हैं। उत्तराधिकारियों के सिवाय किसी दूसरे को अपनी जमीन देने का अधिकार मौरुसी काश्तकारों तथा हल्के जमींदारों को मिल सकता है, और नहीं भी मिल सकता है। इससे अतिरिक्त मौरुसी काश्तकारों के दूसरे अधिकार आगरा के मौरुसी काश्तकारों की तरह ही होते हैं। केवल अन्तर यह है कि उनका हक कुछ कैद के साथ दूसरों को दिया जा सकता है। इसके सिवाय जिस गांव में उनकी जमीन होती है यदि वहां कोई जमीन बेची जाती हो तो उस पर उनका हकशफा का अधिकार होता है।

(२) गैरदखीलकार काश्तकार

इस श्रेणी में काश्तकार सिवाय अदालत के नोटिस के बेदखल नहीं किया जा सकता। अदालत का यह नोटिस उनके नाम साल के कुछ खास-खास मौकों पर निकाला जाता है। और उन्हें बेदखल करने के पहले यह मौका दिया जाता है कि अगर वे चाहें तो अदालत में अपने दखल कब्जा का हक साबित करें, या उन्होंने जो उस जमीन की उन्नति की है और जिस उन्नति

का असर अब भी बाकी है दाम ले लें। इसके लिए वहां के काश्तकारी कानून में खास तौर से कुछ नियम बना दिये गए हैं।

सरकारी बेकार जमीन पर काश्तकारों का अधिकार

बेकार जमीन को काम के लायक बना देने के लिए यह नियम बनाया गया कि कोई भी बेकार जमीन सस्ते भाव में ३५ वर्ष के लिए पट्टे पर दे दी जा सकती है। पट्टेदार का पट्टा पूरा होने पर उसे मौरुसी काश्तकार के हक मिलते हैं।

नहर-उपनिवेशों के काश्तकारों के अधिकार

पंजाब के नहर उपनिवेशों में करीब-करीब नये प्रकार के काश्तकारी के अधिकार और नये प्रकार के गाँव बसाये गये हैं। सिंधनद (मुलतान) तथा मान्टगोमरी के पहले के किसानों को जो पहले पट्टा दिया गया था उन पट्टेदारों को इस बात का अधिकार था कि यदि वे चाहें तो एक हल्के दाम में उस जमीन पर मौरुसी हक खरीद लें। जब जमीन को निकाल देने के हक का काश्तकार दुरुपयोग करने लगे तो सरकार केवल उसी प्रकार का मौरुसी हक देने लगी जिससे कि वे अपने हक दूसरों को न दे सकते थे। चिनाब के उपनिवेश में अन्त में इस्तमरारी काश्तकारी ही स्थापित हो गई। अदालती डिक्री पर काश्तकारों के हक बेचे (बैय) नहीं जा सकते और फायनैंनशल कमिश्नर की आज्ञा बिना उनके हकों बैयनामा, हियानामा, या रेहन नहीं हो सकता दक्षिण चिनाब-नहर-उपनिवेशों में काश्तकारी के अधिकार बीस वर्ष के लिए दिये जाते हैं और उसके बाद पट्टे देने की तारीख के पांचवें वर्ष बाद मौरुसी हक दिया जाता है।

मध्यप्रदेश में काश्तकारी कानून

बरार को छोड़ कर सारे मध्यप्रान्त में जमींदारी या मालगुजारी प्रथा प्रचलित है। यहाँ भी मालगुजारी वसूल करने की एक इकाई एक गाँव है। यहाँ के मालगुजारों को मालगुजार कहते हैं। मालगुजारों का अधिकार आगरा प्रान्त के जमींदारों के बराबर होता है। पर मध्यप्रान्त के मालगुजारों का उनके किसानों पर अधिकार आगरा प्रान्त के जमींदारों से कम होता है। यहाँ के खास प्रकार के किसानों की बेदखली किसी खास कानूनी कारण से अदालत की डिग्री पर हो सकती है। मालगुजारों को

काश्तकारों पर लगान बढ़ाने का अधिकार बहुत कम होता है क्योंकि लगान बन्दोबस्त अफसरों द्वारा नियत किया जाता है और जो कुछ किसी तरह बढ़ाया भी जाता है वह कुछ नियमित अवधि के बाद ही बढ़ाया जा सकता है। मध्यप्रान्त में बीस-बीस वर्ष के लिए बन्दोबस्त किया जाता है। अगर एक गाँव में एक से ज्यादा मालगुजार हुए तो उनमें से एक लम्बरदार बना दिया जाता है।

अगर गाँव का बंटवारा न हुआ हो तो उस गाँव के व्यवहारों के अनुसार लम्बरदार गाँव का प्रबंध बाकी हिस्सेदारों की तरफ से करता है। पर उसे यह अधिकार कभी नहीं होता कि वह हिस्सेदारों की जमीन हमेशा के लिए किसी को दे दे। वह गाँव के चलन के अनुसार किसी जमीन को थोड़े दिनों के लिए किसान को पट्टे पर दे सकता है। किसानों से लगान वसूल करने का लम्बरदार का अधिकार गाँव के व्यवहार या किसी समझौते पर निर्भर रहता है। यदि उस गाँव में ऐसा व्यवहार या समझौता नहीं है तो केवल लम्बरदार बना देने से उसे यह अधिकार नहीं मिलता कि वह सारे गाँव के किसानों से लगान वसूल करे। जहाँ कहीं लम्बरदार लगान वसूल करता है तो इसलिए कि वहाँ के मालगुजारों ने उसे ऐसा करने का हक दे दिया है। गाँव का बँटवारा करते समय मालगुजार उससे यह अधिकार वापस ले सकते हैं।

मध्यप्रान्त में तीन प्रकार के काश्तकार होते थे। (१) कतई मौरुसी काश्तकार (Absolute Occupancy Tenants) (२) मौरुसी किसान (३) गैर मौरुसी किसान।

कतई मौरुसी हक पर उत्तराधिकार का हक होता है और मालगुजारों के हकशफा की शर्त पर दूसरों को बैय किया जा सकता है। मौरुसी हक कुछ कैद के भीतर उत्तराधिकारियों तक जा सकता है और वह कुछ उत्तराधिकारियों तक जा सकता है और कुछ उत्तराधिकारियों को बैय भी किया जा सकता है। दूसरों के नाम बैय करने के लिए मालगुजार की आज्ञा की आवश्यकता होती है। और बिना उस आज्ञा के बैयनामा रद्द किया जा सकता है। अगर मौरुसी काश्तकार किसी बाहरी आदमी को अपनी जमीन बैय कर देना चाहता है तो उसे सिर्फ मालगुजार ही की मंजूरी लेना नहीं पड़ती वरन् यदि उसका कोई उत्तराधिकारी हो तो उसकी भी मंजूरी

लेनी पड़ती है। मौरुसी काश्तकारी को रेहन नहीं किया जा सकता पर एक साल के लिए पट्टे पर दी जा सकती है।

जब तक कतई मौरुसी काश्तकार और मौरुसी काश्तकार मौरुसी जमीन का लगान देते रहते हैं और जब तक वे अपनी जमीन को खेती के सिवाय दूसरे काम में नहीं लगाते तब तक वे अपनी जमीन से बेदखल नहीं किये जा सकते। कतई मौरुसी काश्तकार का लगान बन्दोबस्त अफसर के द्वारा तय किया जाता है और जब तक कोई खास कारण न हो तब तक लगान बन्दोबस्त की अवधि के अन्दर बढ़ाया नहीं जा सकता। मौरुसी काश्तकार का लगान दस वर्ष के बाद बढ़ाया जा सकता है, यदि काश्तकार और मालगुजार के बीच या मालगुजार के अर्जी पेश करने पर काश्तकार और बन्दोबस्त अफसर के बीच समझौता हो जावे कि उसके हक की जमीन पर जो लगान लगाया गया था वह उचित लगान से कम है या पिछली बार लगान लगाने के बाद पैदावार का दाम बढ़ गया है या खेती की उन्नति में कोई स्थायी उन्नति हो गई है। साधारणतया हम कह सकते हैं कि मौरुसी काश्तकारों का लगान भी कतई मौरुसी काश्तकारों की तरह सिर्फ बन्दोबस्त के समय में ही बढ़ाया जा सकता है।

जिस जमीन में मालगुजार खुद खेती करता है वह उसकी निजी जमीन कहलाती है। निजी जमीन दो प्रकार की होती है सीर और खुदकाश्त। लगातार किसी जमीन पर १२ वर्ष तक खेती करते रहने से वह सीर हो जाती है। सीर की जमीन गैर मौरुसी काश्तकार को पट्टे पर दी जा सकती है।

किसी-किसी गाँव में ऐसे स्वतंत्र काश्तकार होते हैं जो मालगुजार को सिवाय सरकारी मालगुजारी के और कुछ नहीं देते। इन लोगों को मालिक मकबूजा कहते हैं। मालगुजार के काश्तकारों का लगान लगाते समय बन्दोबस्त अफसर मालिक मकबूजा का भी लगान निश्चित कर देते हैं।

मध्यप्रान्त के नवीन काश्तकारी कानून के अनुसार प्रत्येक काश्तकार को स्थायी मौरुसी अधिकार (Permanent Occupancy Tenant) बना दिया गया। फिर चाहे उसने खेत कितने समय तक बोता हो इसका कोई विचार नहीं किया जाता।

बिहार और उड़ीसा

बिहार और उड़ीसा में जमींदारी पद्धति है और अधिकांश में अस्थायी बन्दोबस्त है। जमींदारों के यहाँ वही अधिकार है जो अन्य प्रान्तों में है।

उड़ीसा

उड़ीसा में कांग्रेस सरकार ने जमींदारों का विरोध करने पर भी दो बिल पास किये। पहले बिल का उद्देश्य लगान को घटा कर समीपवर्ती रैय्यतवारी जिलों के समान करना था। दूसरे बिल का उद्देश्य किसानों को मौरुसी हक देना है। उड़ीसा का १६३७ का टिनैन्सी बिल के अनुसार मौरुसी काश्तकारी को दूसरे को देने में जो फीस देनी पड़ती थी वह खतम करदी गई, वृक्षों पर रैयत का अधिकार मान लिया गया और लाग बेगार इत्यादि गैरकानूनी बना दिये गए। उसके द्वारा बकाया लगान पर १२ प्रतिशत से सूद घटा कर ६ प्रतिशत कर दिया गया।

उड़ीसा सरकार ने किसानों की स्थिति को सुधारने के लिए १६३८ में एक बिल (Orissa Small Holders Bill) पास किया। उसके द्वारा असंख्य छोटे किसानों और काश्तकार मालिकों की बेदखली रोक दी गई और अदालत की डिक्री पर उनकी भूमि का नीलाम किया जाना रोक दिया गया।

बिहार

१६३७ में बिहार के कांग्रेस मंत्रिमंडल ने वहाँ के काश्तकारी कानून में संशोधन किया और उसके द्वारा किसानों को अधिक संरक्षण प्रदान किया गया।

अब बिहार के काश्तकारी कानून के अनुसार किसान को नीचे लिखी सुविधाएँ मिली हैं। (१) जनवरी १६११ और दिसम्बर १६३६ के बीच जो भी लगान में वृद्धि की गई थी वह कम करदी गई। (२) लगान को पैदावार के रूप में वसूल करने की प्रथा को समाप्त कर दिया गया। (३) जहाँ भूमि की उर्वरा शक्ति रेत जमने से, भूमि पर जल आ जाने से, या अन्य किसी कारण से भूमि की उर्वरा शक्ति कम हो गई है अथवा जहाँ जमींदारों ने सिंचाई के साधनों की देख भाल न करके उन्हें नष्ट हो जाने

दिया हो उस भूमि की लगान में छूट कर दी जाती है। जहाँ स्थानीय बाजारों में (अस्थायी कारणों से नहीं) पैदावार का मूल्य घट गया हो वहाँ भी लगान में कमी की जाती है। शेष भूमि पर एक उचित लगान बन्दोबस्त के समय निर्धारित करदी जाती। (४) इस प्रकार घटाई हुई लगान या निर्धारित की हुई लगान १५ वर्ष तक बढ़ाई नहीं जा सकती। (५) मौरुसी अधिकार को बिना किसी रुकावट के काश्तकार दूसरे को दे सकता है। किसी प्रकार की सलामी जमींदार को नहीं देनी पड़ती। गैर मौरुसी काश्तकार यदि १२ वर्ष तक भूमि को जोतले तो उसे मौरुसी काश्तकार बना दिया जावेगा (६) किसी प्रकार का अबवाब लगाना गैर कानूनी बना दिया गया है। (७) बकाया लगान पर ६½ प्रतिशत सूद निर्धारित कर दिया गया है।

रैय्यतवारी प्रथा (मदरास और बम्बई)

मदरास के उत्तरी भाग में स्थायी बन्दोबस्त पाया जाता है और यहाँ की जमींदारी और काश्तकारी प्रथा वैसी ही है जैसी कि बंगाल की। बाकी हिस्सों में रैय्यतवारी प्रथा प्रचलित है। सरकार अपनी मालगुजारी वसूल करने के लिए किसी जमींदार के बदले किसानों से सम्बंध रखती है। कुछ अन्तर के साथ यह प्रथा बम्बई प्रान्त, सिंध और बरार में भी पाई जाती है। लगान सीधे किसान से तय किया जाता है और प्रत्येक किसान जितनी जमीन पर खेती करता है उतनी का ही लगान देता है। काश्तकारों का लगान ३० वर्षों के लिए नियत होता है। जब तक किसान लगान देता रहता है तब तक जमीन उसकी बनी रहती है और उसमें कुछ अन्तर नहीं आने पाता। यदि किसान चाहे तो खुद अपनी जमींन का हिस्सा छोड़ सकता है या अपनी जमींन कुछ और बढ़ा सकता है। फिर जितनी जमींन उसके पास रहेगी उतनी ही का लगान उसे देना होगा। लगान देने की जिम्मेदारी व्यक्तिगत होती है। काश्तकार का उस जमीन पर पूरा मालिकाना अधिकार होता है उसकी जमीन रेहन या बैय की जासकती है और उस जमीन पर उसका हक ठीक दूसरे प्रान्तों के जमींदारों की तरह होता है।

मदरास की कुछ विशेषतायें

(१) स्थायी बे-लगान के किसान— इस प्रकार के किसान सरकार को कुछ लगान नहीं देते।

(२) इनामदार—इन किसानों का उनकी जमीन पर मालिकाना हक होता है और वे लोग सरकार को एक प्रकार का नजराना देते हैं। उनका यह लगान (नजराना) न बढ़ाया जाता है और न घटाया जाता है। (३) रैय्यतवारी काश्तकार—मदरास प्रान्त में इस प्रकार के काश्तकार अधिक हैं। व्यवहार में यह किसान अपने-अपने पट्टे की जमीन के पूरे जिम्मेदार होते हैं। अगर वे अपनी जमीन में कुछ उन्नति करते हैं तो उसके लिए उनका लगान नहीं बढ़ाया जाता।

बम्बई प्रान्त की विशेषतायें

मदरास की तरह बम्बई में भी मुख्य रैय्यतवारी प्रथा पर वहाँ कुछ जमींदार गांव भी हैं और उनके जमींदार खोत—कहलाते हैं। यहाँ पुराने जमाने की तरह कुछ किसान रहते हैं जिनके अधिकार अन्य प्रान्तों के दखीलकार काश्तकारों की तरह सुरक्षित रहते हैं। मदरास प्रान्त में एक करोड़ नब्बे लाख एकड़ भूमि पर जमींदारी है और २ करोड़ ७० लाख एकड़ भूमि पर रैय्यतवारी प्रथा प्रचलित है। यद्यपि वहां निश्चित लगान और मौरूसी काश्तकारी के अधिकार किसान को मिले हुए हैं फिर भी यदि वह लगान न दे या भूमि की ठीक देखभाल न करे तो उसको बेदखल किया जा सकता था। इसी प्रकार बम्बई के खोट जमींदारों के काश्तकारों को भी भूमि पर मालिकाना हक नहीं है। इसी प्रकार अन्य रैय्यतवारी प्रान्तों में जहाँ-जहां थोड़े बहुत जमींदार हैं वे अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते हैं। सिंध में 'हारिस' किसानों की स्थिति जो बटाई पर भूमि जोतते हैं अत्यन्त दयनीय है। मालाबार में के नामदार जो कि १२ वर्ष के पट्टे पर भूमि जोतता है, कुछ अच्छी नहीं।

मदरास की कांग्रेस सरकार ने १९३९ में मदरास स्टेटलैंड ऐक्ट कानून पास किया जिसके अनुसार रैयत (पट्टीदार) को जमींदार की भूमि पर और खड़ी हुई फसल पर अधिकार दे दिया गया जो लगान जमींदार को देनी होगी उसमे कोई परिवर्तन न हो सकेगा।

बम्बई

बम्बई में एक कानून (Small Holders Act 1938) बनाकर कांग्रेस सरकार ने जमींदारी क्षेत्रों में काश्तकारों को सुरक्षित कर दिया है। इस कानून के अनुसार जमींदार काश्तकार को जमीन से

बेदखल नहीं कर सकता यदि काश्तकार १ जनवरी १९३२ से लगातार जमीन को जोतता रहा है और १९३८ की लगान उसने दे दी है। और उस जमीन को वह पुरानी शर्तों पर आगे भी जोतना चाहता है।

इससे पहले जमींदार लोग खालसा के गांवों में काश्तकार को स्थायी अधिकार नहीं देना चाहते थे जब वे चाहते थे तभी शिकमी-काश्तकार (Tenant at will) को बेदखल कर देते थे। शिकमी काश्तकार की स्थिति वास्तव में अत्यन्त दयनीय थी। बम्बई का काश्तकारी बिल (Bombay Tenancy Bill) ऐसे काश्तकारों की रक्षा करता है। इस बिल के अनुसार सुरक्षित काश्तकारों (Protected Tenants) का नया वर्ग उत्पन्न कर दिया जावेगा। सुरक्षित काश्तकार वह होगा (१) जो १ जनवरी १९३८ से पूर्व लगातार ६ वर्ष तक भूमि को इनाम, खोटी, या ताल्लुकेदारी गांवों में जोतता रहा हो। (२) जिसने इस प्रकार की भूमि को व्यक्तिगत रूप से जोता हो और जिसके जमीदार के पास ३३⅓ एकड़ या अधिक सींची हुई भूमि या १०० एकड़ या अधिक दूसरे प्रकार की भूमि हो या और किसी भी प्रकार की भूमि क्यों न हो जिसकी वार्षिक मालगुजारी १५० रु० से अधिक हो। ऐसे किसानों को जो भी १ दिसम्बर १९३८ को बकाया लगान है वह ४ बराबर-बराबर किश्तों में देनी होगी। उन्हें तभी बेदखल किया जा सकेगा कि जब वे लगान न दें जमीन को खराब करें उसे दूसरों को उठा दें या स्वंय न जोतें, या फिर जमींदार उस भूमि को स्वंय जोतना चाहे या फिर भूमि को खेती के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में लगाना चाहे। सरकार इस प्रकार के काश्तकारों से उचित लगान लिया जावेगा इसकी गारंटी देती है। साथ ही यदि किसान ने भूमि में कुछ सुधार किये हों और वह बेदखल किया जावे तो उसको उसका मुआवजा दिया जावेगा। किसान उस अधिकार को रेहन या बैय नहीं कर सकता किन्तु वह अपने वारिसों को कुछ कैद के साथ दे सकता है। इस अधिकार को अदालती डिक्री से भी नष्ट नहीं हो सकता। जहां तक सभी किसानों का प्रश्न है इस बिल के अनुसार जमींदार द्वारा जो भी कर लाग या बेगार ली जाती थी वे सब गैर कानूनी घोषित करदी गई। यदि कोई जमींदार इस कानून की अवहेलना करे तो उसपर ही १००० रु० तक जुर्माना हो सकता है।

यद्यपि इस बिल से किसानों को भूमि पर स्थायी अधिकार मिलता है, भूमि में किये हुए सुधारों का मुआवजा मिलने की व्यवस्था की गई है और लाग बेगार इत्यादि को गैर कानूनी बना दिया गया है कि इसका असर प्रान्त में ८ या ९ प्रतिशत भूमि पर ही पड़ता है।

खेत मजदूर

यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि पिछले दिनों में किसानों के अधिकारों को सुरक्षित करने के लिए सभी प्रान्तों में कानून बनाये गए किन्तु किसी भी प्रान्त में खेत मजदूरों के लिए कोई प्रयत्न नहीं हुआ। हां संयुक्त-प्रान्त में कांग्रेस मंत्रिमंडल के समय १९३८ में माननीय श्री रफीअहमद किदवई ने जो योजना एसेम्बली के सामने रक्खी थी वह विचार योग्य है।

(१) किसी गांव मे रहने वाला कोई व्यक्ति जो न तो जमींदार है और न काश्तकार है उस डिवीजन (परगने) के असिस्टैंट कलक्टर से प्रार्थना कर सकता है कि वह उस गांव में भूमि जोतना चाहता है। इस आशय का प्रार्थना-पत्र पाने पर असिस्टैंट कलक्टर यह जांच करेगा कि क्या वह वास्तव में भूमि जोतना चाहता है। जब उसे संतोष हो जावेगा कि प्रार्थी भूमि जोतना चाहता है तब वह नीचे लिखे अनुसार करेगा (अ) उसको वह भूमि दे देगा जिस पर कि कोई जमींदार खेती करता है २५ रु० से अधिक अबवाब देता है (ब) यदि इस प्रकार की कोई जमीन नहीं है तो वह ऐसे जमींदार की भूमि उस प्रार्थी को देगा कि जिस पर वह जमींदार खेती करता हो और २५रु० या उससे कम अबवाब देता हो और उसके पास २० एकड़ से अधिक भूमि हो। (क) यदि इस प्रकार की भी भूमि उपलब्ध न हो तो वह किसी ऐसे काश्तकार की जमीन उस प्रार्थी को देगा कि जो २० एकड़ से अधिक भूमि जोतता हो किन्तु वह सीर का काश्तकार या किसी काश्तकार का काश्तकार (Sub-Tenant) न हो इस प्रकार भी भूमि यदि उपलब्ध न हो तो वह बंजर भूमि प्रार्थी को देगा।

(२) असिस्टैंट कलक्टर उसको ५ एकड़ से अधिक भूमि नहीं देगा। काश्तकार का उस भूमि पर उत्तराधिकार का हक होगा और वह असिस्टैंट कलक्टर द्वारा निर्धारित लगान देगा। यदि जमींदार की भूमि इस प्रार्थी को दी जावे और वह जमीन सीर हो तो वह फिर सीर नहीं रहेगी। और यदि किसी काश्तकार की जमीन इस प्रार्थी को दी जावे तो फिर काश्तकार

का उस भूमि पर कोई अधिकार नहीं रहेगा और असिस्टैंट कलक्टर उस काश्तकार की बची हुई भूमि का लगान निर्धारित कर देगा।

सच तो यह कि खेत मजदूर की आर्थिक दशा अत्यन्त दयनीय है और भूमि का अकाल होने के कारण उसे खेती के योग्य भूमि नहीं मिल पाती। अस्तु इस प्रकार की योजना सभी प्रान्तों में चलाई जानी चाहिए। किन्तु केवल इतना करने से ही खेत मजदूरों की स्थिति में सुधार नहीं हो जावेगा। इसके लिए एक विस्तृत योजना बनानी होगी। प्रान्तीय सरकारों को अपने प्रान्तों में ऊसर, बंजर, तथा बीहड़ जमीन को पूँजी लगाकर खेती के योग्य बनाना चाहिए, उसमें सिंचाई के साधन उपलब्ध करने चाहिए और यह नियम बना देना चाहिए कि वह भूमि केवल खेत मजदूरों को दी जावेगी। अच्छा तो यह हो कि वह भूमि खेत मजदूरों को व्यक्तिगत रूप से न दी जावे। वरन् उनकी सहकारी कृषि समितियां स्थापित कर दी जावे और वह भूमि लम्बे पट्टे पर उन समितियों को दी जावे। इस प्रकार यहां सहकारी अथवा सामूहिक फार्मों का श्री गणेश किया जा सकता है। इससे केवल यही समस्या हल नहीं होगी कि खेत मजदूरों को खेती के लिए भूमि मिल जावेगी किन्तु सहकारी फार्म तथा सामूहिक खेती का भी देश में प्रचार हो सकेगा।

क्या जमींदारी प्रथा नष्ट की जानी चाहिए ?

हम ऊपर लिख चुके हैं कि जमींदारों के शोषण से किसानों की रक्षा करने के उद्देश्य से काश्तकारी कानून बनाकर काश्तकारों के अधिकारों के सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है परन्तु फिर भी जमींदार लोग किसानों से बेगार लाग इत्यादि लेते ही हैं और गैर-दखीलकार काश्तकार तथा शिकमी काश्तकारों से मन माने लगान वसूल करने का प्रयत्न किया जाता है। सच तो यह है कि जब तक किसानों के सर पर जमींदार मौजूद है तब तक काश्तकारों की स्थिति में सुधार नहीं हो सकता।

जमींदारों से यह आशा की गई थी की वे किसानों को अपने परिवार का अंग समझेंगे और देशहित के लिए समाज नेतृत्व ग्रहण करने वाले होंगे। किन्तु अधिकांश किसानों ने अपनी उपयोगिता का परिचय नहीं दिया। प्रायः वे आरामतलबी और कुछ दशाओं में विलासिता का जीवन बिताते हैं। कितने ही जमींदार गांव छोड़कर अपने शौक पूरा करने के लिए शहरों

में आ बसते हैं। उन लोगों से यह आशा करना व्यर्थ है कि वे कभी गांवों के सुधार की ओर प्रयत्नशील होंगे। इस प्रथा के सबन्ध में नीचे लिखी बातें विचार करने योग्य हैं।

(१) जमींदार बिना श्रम किये धन पाते हैं और उसका उपभोग अपने व्यक्तिगत सुख के लिए करते हैं, समाज हित के विचार से नहीं।

(२) वर्तमान अवस्था में किसान लगान के भारी बोझ से दबे रहते हैं; तो भी सरकार को राष्ट्र- निर्माण के कार्यों के लिए धन की कमी रहती है। यदि जमींदारी प्रथा नष्ट कर दी जावे तो किसानों का बोझ भी हलका हो सकता और राज्य की आय भी बढ़ सकती है।

(३) जमींदार गैर मौरुसी काश्तकारों से मनमाना लगान वसूल करते हैं और उन्हें पट्टा होने के समय बेदखल करने की धमकी देते हैं।

(४) जमींदार त्योहार तथा विवाह शादी के अवसर पर किसानों से नजराना तथा अनेक कर लेते हैं।

(५) वे किसानों से रसद और बेगार लेते हैं उनके गुमाश्ते और कारिन्दे उनका दिन रात शोषण करते हैं।

(६) प्रायः किसान जमींदारों के अत्याचारों के शिकार होते हैं तथा उन्हें मुकदमेबाजी में फंसना पड़ता है। इस प्रथा को हटाने से किसानों को इन बातों से छुटकारा मिलेगा। दूसरे शब्दों में भारतीय जनता के एक बहुत बड़े भाग की सुख शान्ति बढ़ेगी।

(७) जमींदारी प्रथा के कारण साधारण किसान का व्यक्तित्व दबा रहता है, वह अपने को नीच और हेय समझता है, जमींदारी प्रथा के नष्ट हो जाने से उसमें स्वाभिमान की भावना जाग्रत होगी और उसके व्यक्तित्व का विकास होगा।

(८) अधिकतर जमींदार ब्रिटिश साम्राज्यवाद के समर्थक और सहायक हैं तथा राष्ट्रीय आन्दोलन के शत्रु हैं जैसा कि केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभाओं और प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के चुनावों तथा अन्य अवसरों पर स्पष्ट हो जाता है।

इन बातों से यह स्पष्ट है कि जमींदारी प्रथा बहुत हानिकर है, यह हटा दी जानी चाहिए।

मुआवजे का प्रश्न

अब प्रश्न यह है कि जमींदारी प्रथा हटाने की विधि क्या हो। क्या जमींदारों को मुआवजा दिया जावे, मुआवजे की रकम कितनी हो और किस प्रकार दी जाय। एक मत (जैसा कि समाजवादियों का है) तो यह है कि जमींदारों को कोई मुआवजा न दिया जाय। उनका कहना है कि जमींदारी प्रथा ब्रिटिश की देन है अतएव उन्हें कोई मुआवजा न मिलना चाहिए। यदि मुआवजा दिया गया तो अन्त में उसकी अदायगी तो किसान को ही करनी होगी यदि सरकार ने उन्हें बौंड दे दिये तो उसका सूद किसान को देना होगा और अन्त में किसान को उसका भुगतान भी करना होगा। ऐसी दशा में किसान का शोषण तो जारी रहेगा। एक रूप में जमींदारी प्रथा हटेगी किन्तु दूसरे रूप में वह विद्यमान रहेगी। यह भी सम्भव है कि किसानों को इसके लिए ऋण लेना पड़े और वे ऋण भार से दबे रहें।

दूसरा मत बंगाल के फ्लाउड कमीशन के मत पर निर्भर है। उन लोगों का कहना है कि धार्मिक तथा दान में लगी हुई जमींदारी का मुआवजा तो अधिक दिया जावे कि जिससे उस पूंजी के सूद से उन संस्थाओं का कार्य चल सके किन्तु जमींदार की आय में से १८ से २५ प्रतिशत तक वसूली का खर्चा काटकर शेष का दसगुना मुआवजा निर्धारित किया जावे और उतने के सरकारी बौंड २½ या ३ प्रतिशत सूद के हिसाब से जमींदारों के दे दिये जावें। फिर जैसे जैसे किसानों से रुपया वसूल हो उनको चुका दिया जावे। इस सम्बन्ध में एक मत यह भी है कि छोटे जमींदारों को मुआवजा ऊँची दर से दिया जावे और बड़े जमींदारों के लिए मुआवजे की दर अधिक हो इस सम्बन्ध में एक मत और भी है श्री सम्पूर्णानन्द जी का। उनका कहना यह है कि जमींदारी प्रथा के लोप होने पर जमींदारों को इस समय के लगान का १० फीसदी मुआवजा दिया जावे। जब सन् १७९५ में जमींदारी प्रथा कायम की गई तो जमींदारों को लगान का १० फीसदी से अधिक नहीं मिलता था। पीछे समय-समय पर जमींदारों का हिस्सा बढ़ाया गया। इसका कारण यह नहीं था कि जमींदारों को अधिक आय का अधिकार था, वरन् इसका कारण राजनैतिक परिस्थितियां थीं। विदेशी सरकार की स्वभावतः यह इच्छा रहती है कि प्रभावशाली वर्ग को प्रलोभन देकर अपना समर्थक बनाये रक्खे। निदान जमींदारों को मुआ

बजे के रूप में, लगान की उससे अधिक प्रतिशत रकम पाने का अधिकार नहीं है, जितना उन्हें जमींदारी प्रथा के आरम्भ होने के समय लेने का अधिकार था।

जमींदारों का यह मुआवजा सरकारी कोष से तिमाही या छः माही किश्त के रूप में मिलता रहे। अभिप्राय यह कि बदलने वाली अब अवस्था में यह रकम भत्ते के तौर से दी जाय। जिससे कि जमींदार अपने को नये युग के अनुसार बना लें। इसलिए यह रकम जमींदारों को उनके जीवन काल में तथा उनके एक उत्तराधिकारी के समय तक मिले। अगर वह और उसका उत्तराधिकारी जमींदारी के उठने के समय से २५ वर्ष से कम में मर जाय तो यह रकम २५ वर्ष तक मिलती रहे।

अधिकांश जमींदार केवल नाम के ही जमींदार हैं। उनके पास जमीन बहुत थोड़ी-सी है और उस पर वे खुद ही काश्त करते हैं। २५० रु० तक मालगुजारी देने वालों को यदि वे चाहें तो काश्तकार बनने का अधिकार मिल जाना चाहिए। इससे दिये जाने वाले मुआवजे की रकम कम हो जावेगी, और बड़ा लाभ यह होगा कि जमींदारी प्रथा के विरोधियों की संख्या कम रह जावेगी और जमींदारी प्रथा को हटा देने में सुविधा होगी। जो लोग खेती करने के योग्य हैं, उन्हें उसका अच्छा अवसर मिलेगा। जो जमींदार २५० रु० से अधिक सालाना मालगुजारी देते हैं उनमें से जो चाहें वे ढाई सौ रुपये तक की मालगुजारी की जमीन अपने पास रक्खें और उसमें खुद खेती करें नहीं तो ऊपर बताया हुआ मुआवजा लेकर जमींदारी का हक छोड़ दें। सारांश यह कि भविष्य में जमीन ऐसे ही आदमियों के अधिकार में रहे जो खुद खेती करते हों, दूसरों से खेती कराकर उसके मुनाफे से मौज उड़ानेवाले 'जमींदार' न हों।

क्या रैयतवारी प्रथा निर्दोष है ?

ऊपर हमने जमींदारी प्रथा को हटा देने की आवश्यकता बतलाई। किन्तु वर्तमान रैयतवारी प्रथा भी निर्दोष नहीं है। रैयतवारी प्रथा, जमींदारी प्रथा की अपेक्षा, राज्य तथा प्रजा के बीच से एक मध्यस्थ कम होने के कारण अच्छी हो सकती है, परन्तु सिद्धान्त से वह किसी भी दूसरी अनुपस्थित भूस्वामी प्रणाली से भिन्न नहीं है। कृषक तथा जनता के दृष्टिकोण, जमींदार के स्थान पर, राज्य के अनुपस्थित भूस्वामी बन जाने से भी कोई विशेष

भलाई होने वाली नहीं है। रैयतवारी प्रणाली में सरकार अनुपस्थित भू-स्वामी से किसी प्रकार भी कम नहीं है। जिसका केवल लगान वसूल करने तथा अवसर पड़ने पर उसे बढ़ा देने में ही स्वार्थ रहता है। किसान को लगान, नकद अथवा जिन्स के रूप में चुकाने की जिम्मेदारी के बिना निर्वाह वेतन दिया जाना चाहिए। जब तक राज्य भूमि के, जिसका कि वह स्वामी होने का दावा रखता है, सुधार की जिम्मेदारी अपने ऊपर नहीं लेता तथा स्वयं मौसम तथा खेती की खराबी का उत्तरदायित्व वहन करते हुए किसान को उसका निर्वाह-वेतन नहीं दिलाता, वह अनुपस्थित भू-स्वामी से किसी हालत में अच्छा नहीं है।

जमींदारी प्रथा को समाप्त कर देने के लिए संयुक्तप्रान्त की व्यवस्थापिका सभा ने एक प्रस्ताव उपस्थित कर दिया है जिसका आशय मुआवजा देकर जमींदारी प्रथा को समाप्त कर देना है। बिहार में भी कॉंग्रेस मंत्रिमंडल शीघ्र ही इस आशय का एक प्रस्ताव लाने वाला है। आशा है कि इन प्रान्तों में शीघ्र ही जमींदारी प्रथा का अन्त हो जावेगा।

जमींदारी प्रथा के समाप्त होने पर हमारे सामने दो रास्ते होंगे—(१) जमीन पर किसानों का अधिकार हो और जिस तरह नगरों में लोग आय कर देते हैं उसी तरह किसान भी अपनी खेती की आय पर राज्य कर दें। (२) सारी जमीन का राष्ट्रीयकरण हो अर्थात् उस पर राज्य का अधिकार हो, राज्य उस पर लोकहित की दृष्टि से खेती कराने का प्रयत्न करे।

किन्तु वर्तमान अवस्था में किसानों को भूमि न देने से कठिनाई उपस्थित हो सकती है।

यह तो बाद की बातें रहीं किन्तु नीचे लिखे सुधार तो तुरन्त होने ही चाहिए:—

(१) बे-मुनाफे की खेती करने वालों से कोई लगान न लिया जाय।

(२) किसान अपनी जमीन खुद ही जोते। न तो वह किसी आदमी को खेती करने के लिए दे और न बटाई पर ही दे। हाँ नाबालिग और विधवा को दूसरों के द्वारा खेती कराने का अधिकार रहे।

(३) जिस खेती से किसान की और उसके परिवार के लोगों की मजदूरी तथा अन्य सब खेती का व्यय निकल आने पर मुनाफा रहे, उसी पर लगान लिया जाय।

(४) रैयतवारी प्रान्तों में किसान मालगुजारी देने से मुक्त कर दिये जावें। जिन किसानों की खेती से होने वाली आय उनके जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक आय से अधिक हो उनसे आय कर वसूल किया जावे।

(५) कोई किसान किसी भी अवस्था में जब तक कि वह लगान देना बन्द न कर दे बेदखल न किया जाय।

(६) जो जमींदार लोग बेगार इत्यादि लेते हैं उन्हें कठोर दंड देकर इस प्रथा को समाप्त कर दिया जावे।

ऊपर लिखे सुधारों से किसानों का कष्ट कुछ कम होगा किन्तु आवश्यकता तो इसी बात की है कि जमींदारी प्रथा शीघ्र ही समाप्त कर दी जावे।

जमींदारी प्रथा का नाश

भारतवर्ष में जमींदारी प्रथा के नाश का आन्दोलन तीव्र होता जा रहा था। किसान आन्दोलन उग्र होता जा रहा था किन्तु ब्रिटिश सरकार भला क्यों सुनती क्योंकि जमींदारों ने ब्रिटिश-सरकार की जड़ को इस देश में जमाने का कार्य किया था और वे ही उसके प्रबल सहायक थे। किन्तु जब १९४६ में साधारण चुनाव हुए और अधिकांश प्रान्तों में कांग्रेस मंत्रिमंडलों की स्थापना हो गई तो "जमींदारी प्रथा का नाश हो" का आन्दोलन उग्र रूप धारण कर गया। कांग्रेस ने चुनाव सम्बन्धी घोषणा में किसानों को आश्वासन दिया था कि वे अधिकारारूढ़ होने पर जमींदारी प्रथा का नाश कर देंगे। अतएव बिहार तथा संयुक्तप्रान्त में प्रान्तीय एसेम्बलियों ने जमींदारी प्रथा को नष्ट करने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और जमींदारी नष्ट करने के लिए कमेटियां बिठा दी गईं। पुस्तक प्रेस में जाते समय बिहार तथा संयुक्त-प्रान्त में कमेटियों की रिपोर्ट तैयार हो गई है। इन कमेटियों ने इस बात की सिफारिश की है कि छोटे बड़े सभी जमींदार नष्ट कर दिये जावें और उन्हें एक निश्चित योजना के अनुसार हर्जाना दे दिया जावे। संयुक्त-प्रान्त में हर्जाने की रकम जमींदारी से होने वाली आय की ७ गुनी से १६ गुनी तक होगी। जो बड़े जमींदार हैं उन्हें कम हर्जाना मिलेगा और जो छोटे हैं उन्हें अधिक हर्जाना मिलेगा। हर्जाने की रकम को सरकार सरकारी बौंडों में जमींदारों के दे देगी जो कि ४० वर्षों के अन्दर चुका दी जावेगी। किसी एक व्यक्ति को दस लाख रुपये से अधिक हर्जाना न दिया जावेगा। मंदिरों तथा सार्वजनिक हितकर कार्यों में लगी हुई जमींदारी का हर्जाना अधिक दिया

जावेगा। भविष्य में भूमि पर स्वामित्व किसान का होगा। यद्यपि बिहार तथा कुछ अन्य प्रान्तों में भी यह चर्चा चल रही है कि सरकार की मालगुजारी वसूल करने के लिए गांव में सहकारी समितियाँ स्थापित कर दी जावें जो कि सरकार की मालगुजारी एकत्रित करके उसे गाँव की ओर से चुका दे।

बिहार तथा संयुक्तप्रान्त के अतिरिक्त पश्चिमी बंगाल (हिन्दुस्तान में) तथा मद्रास में भी जमींदारी प्रथा का शीघ्र ही उन्मूलन होगा। यद्यपि यह तो निश्चित है कि अब जमींदारी प्रथा का शीघ्र ही अन्त होने जा रहा है किन्तु उसके उपरान्त जमीन का बन्दोबस्त किस प्रकार होगा यह अभी निश्चित नहीं है। यद्यपि सम्भावना इसी बात की है कि किसान का ही भूमि पर स्वामित्व स्वीकार कर लिया जावेगा।

होना तो यह चाहिए था कि इस अवसर से लाभ उठाकर सरकार सहकारी खेती (Co-operative Farming) को प्रोत्साहन देती जिससे खेती का सुधार हो सकता और देश में गहरी खेती वैज्ञानिक ढंग से हो सकती।

आवश्यकता इस बात की है कि जब जमींदारी प्रथा नष्ट हो जाय तो गाँवों में ग्राम सहकारी समिति या ग्राम सहकारी फार्म स्थापित कर दिये जावें यह समितियाँ या सहकारी फार्म ही गांव की भूमि का स्वामित्व ग्रहण करें। भारतवर्ष में ग्राम सहकारी समितियाँ अधिक सफल होंगी। सहकारी समिति गांव वालों की ओर से भूमि का स्वामित्व ग्रहण करे। मूलतः किसान ही भूमि के स्वामी होंगे किन्तु स्वामित्व का यह अधिकार सहकारी समिति ग्रहण करेगी। सहकारी समिति बहुमत होने पर चकबन्दी करवा सकेगी। सिंचाई के लिए सहकारी समिति कुएँ अथवा सहकारी तालाब खुदवा सकेगी। अच्छे बीज औजार और खाद का प्रबन्ध करेगी और यंत्र किराये पर देगी। यही नहीं सहकारी समिति किसान सदस्य को यह भी बतलावेगी कि उनको कितनी भूमि पर कितनी फसल उत्पन्न करनी होगी और समिति ही गाँव की फसल को बेचने का प्रबन्ध करेगी। इसमें कोई संदेह नहीं कि सहकारी समिति का संगठन हो जाने से किसान की स्वतंत्रता कुछ कम हो जावेगी। किन्तु खेती की उन्नति के लिए तथा किसान के लाभ के लिए यह आवश्यक है जमींदारी प्रथा का नाश होने के उपरान्त यह असंगठित न छोड़ दिये जावें।

इससे दो बड़े लाभ होंगे। एक तो किसान को बड़ी मात्रा की खेती के सभी लाभ प्राप्त हो जावेंगे, वे आधुनिक ढंग से गहरी खेती कर सकेंगे और भूमि की पैदावार बढ़ाई जा सकेगी। यही नहीं, यदि राज्य का कृषि-विभाग खेती सम्बन्धी कोई नवीन पद्धति, अच्छे बीज, खाद, यंत्र इत्यादि का किसानों में प्रचार करना चाहेगा तो इन समितियों द्वारा आसानी से हो सकेगा। आज देश में खेती का धंधा अत्यन्त असंगठित दशा में है। उदाहरण के लिए युद्ध के पूर्व जूट का मूल्य गिर रहा था किन्तु बहुत कुछ प्रचार करने पर भी बंगाल का किसान जूट कम उत्पन्न नहीं करता था। आज अधिक अनाज उत्पन्न करने की आवश्यकता है किन्तु किसानों के साथ सीधा सम्पर्क न होने के कारण अधिक अनाज उत्पन्न करने का आन्दोलन सफल नहीं हो पा रहा है। यदि प्रत्येक गांव में इस प्रकार खेती के धंधे का नियंत्रण सहकारी समितियों के द्वारा होता तो अनायास ही अनाज की पैदावार को बढ़ाया जा सकता था।

सोवियत रूस में राज्य का औद्योगिक विभाग पहले से ही प्रत्येक सामूहिक खेत को सूचित कर देता है कि उससे अमुक कच्चे माल को उत्पन्न करने की आशा की जाती है। यही नहीं, उस खेत को कितना कच्चा माल देना होगा यह भी पहले से ही निश्चित हो जाता हैं। इस प्रकार खेती तथा उद्योग धंधों का सामंजस्य स्थापित हो जाता है। देश में आवश्यकता से अधिक कच्चा माल उत्पन्न नहीं किया जाता और न कच्चे माल की कमी के कारण उद्योग धंधों की क्षति ही होती है।

सहकारी समिति का प्रबंध

समिति ही गांव भर की मालगुजारी अथवा भूमि कर इकट्ठा करेगी और उसी के द्वारा सरकारी मालगुजारी दी जावेगी। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि यदि राज्य ने मालगुजारी इकट्ठा करने के लिए कर्मचारी नियुक्त किए तो किसान के शोषण को रोका नहीं जा सकेगा। कर्मचारियों की एक भारी सेना रखनी होगी। इस विभाग के भारी खर्चे के कारण किसान को जो कुछ मालगुजारी के रूप में देना होगा उसमें आज की अपेक्षा कुछ कमी तो सम्भव होगी किन्तु अधिक कमी सम्भव न हो सकेगी। साथ ही सरकारी विभाग में मानवता की कमी तथा लाल फीते की पद्धति उसे कठोर बना देती है। सह-

कारी समिति बहुत कम खर्च में यह काम कर सकती है और साथ ही उसका सम्बन्ध अपने सदस्यों से अधिक मानवीय होगा।

जो सहकारी समितियाँ भूमि की चकबन्दी करें सिंचाई तथा खेती के आधुनिक साधन उपलब्ध करें उनकी मालगुजारी अथवा भूमि कर में कमी कर के उनको राज्य प्रोत्साहन दे सकता है।

आज के युग में किसान को बिना सहारे के छोड़ देने का अर्थ होगा उसकी आर्थिक मृत्यु वह आधुनिक साधनों से सम्पन्न पूँजीपतियों की होड़ में न ठहर सकेगा। साथ ही यदि भविष्य में यदि हम देश की आर्थिक उन्नति करना चाहते हैं तो हमें उत्पादन पर नियंत्रण रखना होगा। साथ ही किसान में अत्यधिक व्यक्तिवाद तथा भूस्वामित्व की तीव्र भावना उत्पन्न न हो जावे इसको भी देखना होगा। भविष्य में देश की बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए अन्न तथा अन्य खाद्य सामग्री तथा उद्योग धंधों के लिए अधिकाधिक कच्चा माल उत्पन्न करने की आवश्यकता होगी। यह सब छोटे-छोटे बिखरे हुए खेतों, पुराने औजारों तथा पिछड़ी हुई खेती की पद्धति से नहीं हो सकता और जब तक हम किसान को आज की भाँति असंगठित छोड़ देते हैं तब तक यह कल्पना करना कि खेती की उन्नति होगी, दुराशा मात्र रहेगी। अस्तु, जमींदारी प्रथा को नष्ट करने के साथ-साथ हमें गाँव सहकारी समितियों की स्थापना की ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए।

यदि हमने जमींदारी प्रथा को नष्ट करने के साथ साथ खेती के उन दोषों को दूर नहीं कर दिया जिनके कारण खेती का धंधा आज पिछड़ी दशा में है तो उसका परिणाम यह होगा कि न तो हम देश में उत्पादन ही बढ़ा सकेंगे, जिसकी आज देश को बहुत आवश्यकता है और न किसान को शोषण से ही बचा सकेंगे। यदि केवल जमींदारी प्रथा को ही नष्ट कर दिया गया और कुछ सुधार न किए गए तो कुछ समय के उपरान्त छोटे किसानों के स्थान पर पूंजीपति किसान दिखलाई देंगे और साधारण किसान का शोषण ज्यों का त्यों बना रहेगा। आज भी पूँजीपति इस ओर से उदासीन हो ऐसी बात नहीं है। तनिक संयुक्त प्रान्त के लखीमपुर सीतापुर तथा अवध के अन्य जिलों में जाइए। भारत के प्रसिद्ध व्यवसायियों के हजारों एकड़ के फार्म मिलेंगे। लखीमपुर जिले में बिड़लाजी के विशाल फार्म को देखिये जहाँ बड़ी मात्रा की खेती के लिए सभी साधन उपलब्ध हैं बिहार के चम्पारन तथा अन्य प्रदेशों

में भी पूंजीपति किसानों का प्रादुर्भाव हो रहा है। लेखक का यह निश्चित मत है कि जमींदारी प्रथा के नष्ट करने साथ ही साथ सरकार ने यदि साधारण किसान की आर्थिक स्थिति को दृढ़ करने तथा उसको आधुनिक ढंग की खेती करने की सारी सुविधायें प्रदान न की तो थोड़े वर्षों के उपरान्त देश में पूंजीपति किसान ही दिखलाई देंगे और किसान उन विशाल फार्मों पर मजदूर की भाँति मजदूरी करता दिखलाई पड़ेगा। जमींदारी प्रथा नष्ट कर देने से ही हमारा उद्देश्य सफल नहीं हो जावेगा हमें उसके लिए नवीन प्रबन्ध करना होगा।

किन्तु दिखलाई ऐसा देता है कि हमारी प्रान्तीय सरकारों का ध्यान इस महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर इतना अधिक नहीं है। वे केवल इस समय जमींदारी प्रथा को नष्ट कर देने का ही विचार कर रही है और किसान को भूमि का स्वामी बना देना चाहती हैं।

———

परिच्छेद—११

ग्राम सुधार—(सफाई-स्वास्थ्य और शिक्षा)

भारतवर्ष कृषि प्रधान देश है। लगभग चालीस करोड़ वाले इस महादेश में लगभग ७५ प्रतिशत जनसंख्या प्रत्यक्ष रूप से खेती पर निर्भर है। जिस देश में लगभग तीन चौथाई जनसंख्या खेती करके गुजारा करती हो वहाँ गाँवों की बहुतायत होना अवश्यम्भावी है। यही कारण है कि भारत में सात लाख से कुछ कम गाँव हैं जिनमें देश की लगभग ८८ प्रतिशत जनसंख्या निवास करती है। ऐसी दशा में यदि भारतवर्ष को गाँवों का देश कहा जाता है तो कोई आश्चर्य नहीं है। महात्मा गाँधी ने ठीक ही कहा है कि 'वास्तविक भारत की जानकारी कलकत्ता और बम्बई जैसे विशाल नगरों को देखने से नहीं हो सकती। यदि किसी को भारतवर्ष का सच्चा रूप देखना हो तो उसे गाँवों की ओर जाना चाहिए।'

ऊपर दिये हुए विवरण से यह तो ज्ञात हो गया कि हिन्दुस्तान में गाँवों का बहुत महत्व है। गाँव कोई नवीन संस्था नहीं है, वह हजारों वर्ष पुरानी है, और आज भी जबकि उसकी सब ओर से उपेक्षा हो रही है वह जीवित है। परन्तु गाँवों की दशा अत्यन्त गिरी हुई है। गाँवों में रहने वाले अधिकांश ग्रामीण पशुवत जीवन व्यतीत करते हैं। दरिद्रता, गंदगी, रोग, ईर्षा-द्वेष, लड़ाई-झगड़े, रूढ़िवादिता, अंधविश्वास, मुकदमेबाजी, ऋण और अशिक्षा का गाँवों में एकछत्र राज्य है। सच तो यह है कि गाँवों की दशा अत्यन्त दयनीय है। न तो वहाँ स्कूल, हास्पिटल और सड़कें ही होती हैं और न वहाँ सभ्यता के दूसरे साधन ही मिलते हैं।

सैकड़ों वर्षों से नगरों द्वारा गाँवों का शोषण होता रहा है। गाँवों का केवल आर्थिक शोषण ही हुआ हो केवल यही बात नहीं है। प्रान्तीय सरकार अपनी आय का अधिकांश भाग गाँवों से वसूल करती है और उस आय का अधिकांश भाग नगरों पर व्यय करती है। जमींदार भी लगान वसूल करके अधिकतर नगरों में व्यय करते हैं। इसका फल यह हुआ कि गाँव निर्धन हो गए। जमींदारों के नगरों में जाकर बसने से एक हानि यह

हुई कि जो भी गाँवों में शिक्षित और बुद्धिमान व्यक्ति थे वे गाँवों में नहीं रहे। क्रमशः गाँवों में बुद्धि और धन का अकाल हो गया। इसका फल यह हुआ कि गाँवों की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई। उनका सब तरह से पतन हो गया।

हर्ष का विषय है कि सैकड़ों वर्षों के उपरान्त, अब सरकार, देश के नेताओं तथा शिक्षित व्यक्तियों का ध्यान गाँवों की गिरी हुई दशा की ओर आकर्षित हुआ है और देश में ग्राम सुधार आन्दोलन उठ खड़ा हुआ है। इसमें तो तनिक भी संदेह नहीं कि यदि हम चाहते हैं कि देश की अधिकांश जनसंख्या आज जैसा नीची श्रेणी का जीवन व्यतीत न करके अच्छा जीवन व्यतीत करे तो हमें गाँवों का सुधार करना होगा।

इससे पूर्व कि हम गाँवों को सुधारने की बात सोचें हमें यह जान लेना आवश्यक है कि भारत के गाँवों की कौन-सी ऐसी समस्यायें हैं जिनको हल किये बिना गाँवों का सुधार नहीं हो सकता।

यह तो हम पहले परिच्छेद में ही लिख चुके हैं कि ग्रामों की जनसंख्या पर ही किसी देश की शक्ति का आधार है। यदि ग्रामीण जनसंख्या गिरी हुई दशा में रही तो देश की अवनति हुए बिना नहीं रह सकती। इसके लिए यह आवश्यक है कि स्वस्थ, बुद्धिमान, और पुरुषार्थी स्त्री-पुरुष गाँव में रहें।

आज भारतीय ग्रामों की दशा यह है कि जो भी गाँव का युवक पढ़-लिख जाता है, या जो चार पैसे वाला हो जाता है वह सदैव के लिए गाँव छोड़कर शहरों में जाकर बस जाता है। जमींदार भी शहरों के आकर्षण के कारण अपनी जमींदारियाँ कारिंदों के भरोसे छोड़कर शहरों में जाकर बस गए हैं। भारतीय गाँवों का मस्तिष्क और पूँजी बाहर चला जाता है। गाँव दिवालिया हो रहे हैं। जो भी तनिक साहसी, बुद्धिमान तथा महत्वाकांक्षी होता है वही गाँव छोड़कर शहर में जा बसता है। क्रमशः गाँवों में मनुष्यों का छांटन रह गया है और प्रथम श्रेणी के लोग शहरों में जाकर निस्तेज हो रहे हैं उसका देश पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ रहा है और हमारा सब तरह से पतन हो रहा है।

कुछ सीमा तक गाँवों से शहरों की ओर प्रवास होना अनिवार्य है।

हमारा कहना तो केवल इतना है कि गाँवों में भी बुद्धिमान और साहसी व्यक्ति रहना पसन्द करें। जिससे जाति का ह्रास न हो।

अब हमें देखना यह चाहिए कि लोग गाँवों से भागते क्यों हैं। गाँव में आय के साधन कम हैं। ऊँचे दर्जे का सामाजिक जीवन, शिक्षा, मनोरंजन, सड़क, डाक, रेल, तार इत्यादि आधुनिक काल की सुविधाओं का अभाव है। यही कारण है कि कुशाग्र बुद्धि और महत्वाकांक्षी युवक शहरों की ओर भागते हैं।

अस्तु जब तक हम गाँवों में यथेष्ट आय के साधन, शिक्षा, चिकित्सा मनोरंजन, सड़कें, डाक, इत्यादि की सुविधा उपलब्ध नहीं कर देते तब तक यह प्रवास रुक नहीं सकता। वास्तव में हमारे ग्रामसुधार आन्दोलन का यही लक्ष्य होना चाहिए।

मोटे तौर पर हम यह कह सकते हैं कि नीचे लिखी गाँवों की मुख्य समस्यायें हैं:—

१—ग्रामवासियों का पूर्ण निराशावादी दृष्टिकोण। गाँव वाला इस बात का विश्वास ही नहीं करता कि उसकी दशा सुधर सकती है। अस्तु वह अपनी दशा सुधारने का प्रयत्न भी नहीं करता।

२—गाँवों में सफाई का अभाव।

३—गाँव में स्वास्थ्यरक्षा तथा उसके सिद्धान्तों की जानकारी न होना और चिकित्सा तथा औषधियों का नितान्त अभाव।

४—गाँवों में शिक्षा की कमी।

५—गाँव में मनोरंजन के साधनों की कमी।

६—पशुओं की समस्या तथा उनकी उन्नति के उपाय।

७—खेतीबारी की उन्नति।

८—गावों में लड़ाई-झगड़े और मुकदमेबाजी।

९—ग्रामीण ऋण की समस्या।

१०—गाँव में धंधों की कमी और आय के साधनों का न होना।

११—गाँवों में गमनागमन के साधनों का अभाव।

१२—गाँवों का सामजिक जीवन गिरा हुआ होना।

अब हम इन समस्याओं के सम्बंध में विस्तार पूर्वक लिखेंगे। इनमें से कुछ समस्याओं के सम्बन्ध में तो हम पहले ही विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं।

उदाहरण के लिए खेती बारी की उन्नति, ग्रामीण ऋण, पशु पालन, इत्यादि। अस्तु हम यहाँ केवल उन्हीं समस्याओं के सम्बन्ध में लिखेंगे जिनके बारे में हमने पिछले परिच्छेदों में नहीं लिखा है।

किसानों का निराशावादी दृष्टिकोण

वास्तविक बात तो यह है कि ग्रामवासी इतने अधिक निराशावादी बन गए हैं कि उनको चाहे कितना कहा जावे यह विश्वास ही नहीं होता कि उनकी दशा सुधर सकती है। यही कारण है कि जब उनसे किसी नवीन सुधार को स्वीकार करने के लिए कहा जाता है तो वे इच्छापूर्वक उसे कभी स्वीकार नहीं करते। यदि ग्राम का रहने वाला चेचक का टीका लगवाता है तो इस कारण नहीं कि उसका विश्वास है कि वह लाभदायक है किन्तु सरकारी कर्मचारियों के भय से अथवा सरकारी कर्मचारियों को प्रसन्न करने के लिए वह ऐसा करता है। सरकार किसानों के हितों की रक्षा करने के लिए कानून बनाती है, परन्तु वह कानून का बहुत कम उपयोग करता है। आजकल ग्राम-सुधार आन्दोलन का जोर है। किसी-किसी गाँव में यह दिखलाई पड़ता है मानों किसानों ने सफाई घरों में हवा और रोशनी तथा अन्य आवश्यक सुधारों को अपना लिया है। किन्तु वास्तविक बात यह है कि यह सब सरकारी अफसरों के भय से अथवा उनको प्रसन्न करने के लिए किया जाता है। यदि सरकारी कर्मचारी अथवा जिलाधीश उस गाँव की ओर से अपना ध्यान हटा लेते हैं तो थोड़े ही दिनों में वह गाँव पुरानी दशा को पहुँच जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि ग्रामवासियों के हृदय में अपनी तथा अपने गाँव की दशा सुधारने की तीव्र इच्छा उत्पन्न नहीं होती, जो कुछ भी वे करते हैं बाहरी दबाव के कारण।

प्रश्न यह है कि ग्रामवासी इतना निराशावादी क्यों हैं? क्यों वह अपने सुख, स्वास्थ्य, तथा समृद्धि के प्रति इतना उदासीन है? इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिए हमें ग्रामवासियों की वास्तविक स्थिति को समझना होगा। वे शताब्दियों से दुर्भिक्ष और रोगों के शिकार होते चले आ रहे हैं। प्रकृति ऐसी चंचल और अस्थिर है कि खेती का धंधा बिलकुल अनिश्चित धंधा बन गया है। किसान चाहे जितनी ही मेहनत करे, चाहे जितनी सावधानी से भूमि जोते बोवे, परन्तु वर्षा के कम होने से, ओलों तथा तुषार से तथा अन्य प्राकृतिक परिवर्तनों से उसकी खेती नष्ट हो सकती है।

किसान इस प्राकृतिक आक्रमण से अपनी फसल की रक्षा करने में असमर्थ रहता है। यही नहीं शताब्दियों से वह और उसके पशु भयंकर रोगों के शिकार होते आ रहे हैं। जहां पशुओं की बीमारी फैली कि लाखों पशु मरने लगते हैं और यही दशा मनुष्यों की होती है।

यही नहीं किसान भयंकर कर्जे के बोझ से इतना दबा रहता है कि वह अपने खेत में जो कुछ पैदा करता है उसका बहुत बड़ा अंश महाजन के पास चला जाता है। बेचारे गरीब किसान के पास ६ या १० महीने के खाने का अनाज भर रह जाता है। इन परिस्थितियों के कारण ग्रामवासी किसान भाग्यवादी तथा निराशावादी बन गया। पटवारी, तहसील के कर्मचारी और पुलिस आये दिन किसी न किसी बहाने उसको लूटते हैं और वह अपनी रक्षा का कोई उपाय नहीं कर पाता है। विवश होकर वह यह मान लेता है कि उसके भाग्य में यह दुख सहन करना ही लिखा है।

यही कारण है कि ग्रामवासियों के जीवन का सिद्धान्त यह बन गया है कि 'वर्तमान को देखो भविष्य की चिन्ता न करो'। क्योंकि भविष्य में क्या होगा यह कोई नहीं जानता। एक कारण और भी है जो किसान को अपने धंधे की उन्नति करने से रोकता है। वह है उसका ऋणी होना। ऋणी होने के कारण परिश्रम का लाभ उसके महाजन उठाते हैं। उसे तो निर्धनता का जीवन ही व्यतीत करना पड़ता है। ऐसी दशा में खेती की उन्नति करने की ओर उसका ध्यान न जाना आश्चर्य की बात नहीं है।

ग्रामवासियों को भाग्यवादी से पुरुषार्थी और निराशावादी से आशावादी कैसे बनाया जावे? इसमें तनिक भी संदेह नहीं, जब तक ग्रामवासी यह विश्वास नहीं करने लगते कि उनकी गिरी हुई दशा में सुधार होना सम्भव है और अपनी दशा सुधारने के लिए उनमें उत्कट लालसा उत्पन्न नहीं होती तब तक गांवों का सुधार होना सम्भव नहीं है। गांवों का सुधार स्वयं ग्रामवासियों के द्वारा ही होना सम्भव है, अन्यथा हो ही नहीं सकता। यदि सरकार अथवा अन्य कोई संस्था किसी गांव में नालियां सड़कें तथा अन्य आवश्यक सुविधायें उपलब्ध कर दे तो थोड़े दिनों के पश्चात गांव में उनका चिन्ह भी नहीं रहेगा। नालियां, और सड़कों की देखभाल, सफाई और मरम्मत कौन करेगा? गांववाले तो उन्हें चाहते नहीं थे। वे तो उन्हें दान स्वरूप में मिली हैं। जिस वस्तु के लिए हम परिश्रम करते हैं अथवा धन व्यय करते

हैं, उसका ठीक उपयोग भी करते हैं और उसकी देखभाल भी करते हैं। अतएव सरकार तथा ग्राम-सुधार का कार्य करने वाली संस्थाओं का कार्य केवल इतना ही होना चाहिए कि वे अनुसंधान करें, ग्राम समस्याओं को किस प्रकार हल किया जा सकता है, इसका अध्ययन करें और उसके अनुसार योजना बनाकर गांव वालों को बतावें।

यह तो हुआ काम करने का ढंग परन्तु किसान के निराशावादी तथा भाग्यवादी दृष्टिकोण को कैसे बदला जावे। इसके लिए निरन्तर प्रचार तथा शिक्षा की आवश्यकता होगी। शिक्षा तथा प्रचार के द्वारा ही ग्रामवासियों का दृष्टिकोण बदला जा सकता है। जब ग्रामवासियों का दृष्टिकोण बदल जावेगा तभी उनमें अपनी वर्तमान दयनीय दशा के विरुद्ध असंतोष और घृणा उत्पन्न होगी। जिस दिन ग्रामवासियों में अपनी गिरी हुई दशा के विरुद्ध असंतोष उत्पन्न हो जावेगा और वे भाग्यवादी नहीं रहेंगे, उसी दिन से गांवों की दशा स्वयं सुधरने लगेगी।

आज तो भारतीय किसान घोर भाग्यवादी बन गया है। यदि खेती की फसल नष्ट हो जाती है, बैल मर जाता है, कर्जे में जमीन-जायदाद बिक जाती हैया बीमारी में उसके परिवार का कोई व्यक्ति मर जाता है तो वह 'भाग्य का दोष' कह कर चुप हो जाता है। उस विपत्ति को दूर करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता। बाप दादों से चला आने वाला ऋण, जमींदार, पुलिस, तहसील के कर्मचारियों तथा अदालत के अहलकारों का अत्याचार और शोषण निर्धनता बीमारी, अशिक्षा और गरीबी ने उसे इतना निराशावादी बना दिया है कि वह यह स्वप्न में भी नहीं सोचता कि उसकी दयनीय स्थिति में सुधार हो सकता है। जब ग्राम सुधार कार्यकर्ता उससे कहता है कि यदि किसान उसकी बातों पर ध्यान दें तो उनकी दशा सुधर सकती है तो किसान उसकी बात सुन तो लेते हैं किन्तु उस पर विश्वास नहीं करते। और जब तक गांव के रहने वालों का यह निराशावादी दृष्टिकोण बना हुआ है तब तक कोई स्थायी सुधार नहीं हो सकता।

अस्तु, आवश्यकता इस बात की है कि गाँव वालों के हृदय में अपनी इस दयनीय अवस्था के विरुद्ध घृणा और घोर असंतोष उत्पन्न किया जावे। गाँव वाले यह सोचने लगें कि वे इस बुरी दशा में कदापि नहीं रहेंगे, तब फिर उन्हें बतलाया जावे कि वे अपनी दशा किस प्रकार सुधार सकते हैं। तभी ग्राम-

वासी नई बातों को स्वीकार करेगा।

अतएव जब तक किसान के हृदय में अपनी दयनीय दशा के विरुद्ध तीव्र असंतोष उत्पन्न नहीं हो जाता तब तक न तो उसका निराशावादी दृष्टिकोण ही दूर होगा और न वह अपनी दशा को सुधारने की चेष्टा ही करेगा।

आज तो ग्रामवासी "मृत्यु का संतोष" लेकर जी रहा है। जो लोग गाँवों की दशा को सुधारना चाहते हैं उन्हें उसके विरुद्ध ग्रामवासियों में "असंतोष" की भावना भरना चाहिए।

गांवों की सफाई

साधारणतः हम लोगों की यह धारणा बन गई है कि हमारे गाँवों में रहने वालों का स्वास्थ्य बहुत अच्छा रहता है। गाँवों में रोग और महामारी बहुत कम होती है, क्योंकि मनुष्यों को खुली हुई हवा और सूर्य की धूप मिलती है; किन्तु वस्तुस्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। प्लेग, हैजा, दुकवर्म, काला जार, चेचक, क्षयरोग, गाँवों में घर बनाये हुए हैं। इन भयंकर रोगों के अतिरिक्त वर्षा के उपरान्त गाँवों में सर्वदा जूड़ी बुखार का भंयकर प्रकोप होता है। बंगाल और आसाम में तो मलेरिया का ऐसा भीषण प्रकोप होता है कि धान की फसल खड़ी रहती है किन्तु काटने वाले नहीं मिलते। इसका कारण है गाँवों की गंदगी। हम शिक्षित वर्ग के लोग गाँव वालों के सम्बंध में केवल कल्पना के द्वारा अपनी धारणा बना लेते हैं। वास्तव में हम गावों से नितान्त अनभिज्ञ हैं।

इस सम्बंध में अखिल भारतवर्षीय मेडिकल कान्फ्रेंस का यह प्रस्ताव जो उक्त सम्मेलन ने पास किया था अत्यन्त महत्वपूर्ण है और हमारे गाँवों की स्वास्थ्य सम्बधी समस्या पर पूरा प्रकाश डालता है। प्रस्ताव निम्नलिखित है :—

'इस सम्मेलन का विश्वास है कि उन रोगों से जो दूर किए जा सकते हैं प्रतिवर्ष देश में पचास या साठ लाख मृत्युएँ होती हैं। ऐसे रोके जा सकने वाले रोगों से भारतवर्ष में प्रत्येक मनुष्य वर्ष में दो या तीन सप्ताह के लिए काम करने के अयोग्य हो जाता है। यही नहीं उसकी कार्य क्षमता भी २० प्रतिशत घट जाती है। भारतवर्ष में उत्पन्न हुए बच्चों

में से केवल पचास प्रतिशत ही कमाने योग्य हो पाते हैं जब कि थोड़ा-सा प्रयत्न करने से उनकी संख्या ८०—९० प्रतिशत तक बढ़ाई जा सकती है इस सम्मेलन का विश्वास है कि यह आँकड़े किसी भी प्रकार अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है फिर भी भूल हो जाने की सम्भावना का ध्यान रखते हुए हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि इन रोके जा सकने वाले रोगों द्वारा होने वाली जीवन तथा कार्य क्षमता की हानि के कारण भारतवर्ष को प्रतिवर्ष कई अरब रूपये की हानि उठानी पड़ती है। इस भयंकर आर्थिक हानि के अतिरिक्त प्रतिवर्ष लाखों स्त्री-पुरुष को घोर कष्ट उठाना पड़ता है।

'इस सम्मेलन का विश्वास है कि इस भंयकर जनशक्ति की हानि अपेक्षाकृति थोड़े से व्यय से रोकी जा सकती है। सम्मेलन की राय में यह स्थिति अत्यन्त चिन्ताजनक है जिसका सुधार होना नितान्त आवश्यक है। इस सम्मेलन का यह भी विश्वास है कि भारत की निर्धनता का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण रोके जा सकने वाले रोगों द्वारा होने वाली कार्यक्षमता की हानि ही है। अतएव धन की कमी इस आवश्यक सुधार में बाधक न होनी चाहिए।'

ध्यान रहे, ऊपर दिया हुआ प्रस्ताव भारत के प्रमुख डाक्टरों के सम्मेलन ने पास किया है। इससे हमारे गाँव के स्वास्थ्य और सफाई की समस्या पर प्रकाश पड़ता है।

किसी-किसी प्रान्त में कुछ भंयकर रोगों ने स्थायी अड्डा जमा लिया है जो प्रतिवर्ष लाखों की संख्या में ग्रामवासियों को मृत्यु के कराल गाल में पंहुचा देते हैं। असहाय ग्रामवासी इसको दैवी कोप समझकर चुपचाप सहन करते रहते हैं। वे समझते हैं कि इनका कोई उपचार नहीं है। क्रमशः वे पूर्ण भाग्यवादी बन गए हैं। यह सब कुछ होते हुए भी गाँवों में चिकित्सा का कोई भी प्रबंध नहीं है।

अब तनिक गाँवों की सफाई के विषय में सुनिये। गाँवों में जाकर देखिए तो सर्वत्र गंदगी पाइयेगा। यदि आप किसी रास्ते पर जारहे हों, हवा में दुर्गन्ध आने लगे, मक्खियाँ उड़ती हुई अधिक दिखलाई दें तो समझ लेना चाहिए कि गाँव समीप आ रहा है। यदि आगे बढ़ने पर गंदे पानी से भरे हुए ताल और पोखरे तथा खाद और कूड़े के ढेर दिखलाई दें तो समझ लेना चाहिए कि हम आबादी में प्रवेश कर रहे हैं। इन

तालाबों तथा पोखरों में गंदा पानी सड़ा करता है। अनेकों रोगों के कीटाणु यहीं जन्म लेते हैं। घरों में नालियाँ या नाबदान नहीं होते जिनके कारण घरों का पानी गलियों में बहता रहता है। गाँव की गलियाँ कच्ची होती हैं वे कभी भी साफ नहीं होतीं, उन पर धूल और कूड़ा जमा रहता है, वर्षा में तो यह दलदल बन जाती हैं। किसानों की स्त्रियाँ घरों को तो साफ रखती हैं किन्तु गली में कोई भी सफाई नहीं करता। अधिकतर गाँवों के घरों में शौचगृह नहीं होते, स्त्री-पुरुष बाहर मैदान में शौच को जाते हैं। गाँव के चारों ओर मैदान, खेत, जङ्गल तथा तालाब ही गाँव वालों के शौच स्थान होते हैं। इससे गांव में गंदगी फैलती है तथा वायु अशुद्ध होती है। गांव के तालाब का जल अंग साफ करने के काम में लाया जाता है। इस कारण वह बंधा हुआ पानी अत्यन्त दूषित और विषाक्त हो जाता है। गांव के अन्दर ही खाद के ढेर लगे रहते हैं। जिनपर मक्खियां भिनभिनाया करती हैं। घरों में काफी हवा और रोशनी आने का कोई प्रबंध नहीं होता और जिन कोठों में मनुष्य रहते है उनमें ही पशुओं को रक्खा जाता है। इस कारण घर भी गंदे रहते हैं। इन सब कारणों से गांव बहुत गंदे रहते हैं और इसी कारण वहां पशु और मनुष्यों की भयंकर बीमारियां होती हैं। अब हम प्रत्येक गंदगी के कारण पर विचार करेंगे।

ताल व पोखरे

ग्रामवासी अपने मकान कच्ची मिट्टी के बनाते हैं और प्रतिवर्ष वर्षा बीत जाने पर उन्हें अपने मकानों की मरम्मत करनी पड़ती है अतएव उन्हें मिट्टी की बहुत आवश्यकता होती है। दूर न जाकर वे आबादी के पास ही भूमि को खोदकर मिट्टी निकालते है जिससे उन्हें मिट्टी ढोना न पड़े। धीरे-धीरे वह स्थान ताल या पोखरे का रूप धारण कर लेता है। गांव जितना ही पुराना होता जाता है उतने ही अधिक ताल और पोखरे बनते जाते हैं क्योंकि गांव वालों को मिट्टी की प्रति वर्ष आवश्यकता होती है।

इस ताल व पोखरे में बरसात का पानी भर जाता है। वर्षा के दिनों में गांव की गंदगी लेकर पानी इस तालाब में आता है और वहीं सड़ता रहता है। गांव वाले मैदान में, अथवा ताल के किनारे शौच जाते हैं और अधिकतर ताल के पानी से ही अपना अंग धोते हैं। इस कारण ताल का पानी और भी गंदा और दुर्गन्धयुक्त हो जाता है। सड़े हुए गंदे पानी में मलेरिया

के मच्छड़ तथा अन्य रोगों के कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं, और पोखरों का पानी गाय और बैल पीते हैं। भला इतने गंदे पानी को पी कर पशु रोगों से कैसे बच सकते हैं। पशुओं के रोग फैलने का यह गंदा पानी एक मुख्य कारण है। गांव की स्त्रियां इन्हीं तालाबों में अपने कपड़े धोती हैं और कोई-कोई स्त्री-पुरुष तो इनमें नहाते भी हैं। ताल के पास रहने वाले लोग उसी में कूड़ा भी डाल देते हैं। वह सड़ता रहता है। इन सब कारणों से यह ताल और पोखरे निरन्तर गांव को दुर्गन्ध और गंदी वायु देते रहते हैं। यह तो प्रत्येक समझदार व्यक्ति जानता है कि इस गंदे ताल पोखरों का प्रभाव गांव के स्वास्थ्य के लिए कैसा घातक सिद्ध होता है।

गांव के ताल व पोखरे एक बहुत बड़ी समस्या है। गांव के चारों ओर यह ताल बंध जाते हैं, इसका फल यह होता है कि गांव के बालकों को खेलने के लिए, खाद के गड्ढे बनाने के लिए और गांव को बढ़ाने के लिए जमीन ही नहीं रहती। आवश्यकता इस बात की है कि गांव के समीपवर्ती ताल तथा पोखरे भर दिये जावें, और गांव से यथेष्ट दूरी पर तालाब खोदा जावे। गांव के समीपवर्ती तालों को भरने के लिए नए तालों की मिट्टी काम में लाई जा सकती है। तालाबों का उपयोग करने का एक ढंग यह भी है कि उसके चारों ओर एक ऊँची मेड़ बना दी जावे जिससे गांव का पानी उसमें न जाने पावे। जब ताल बिलकुल सूख जावे तब उसे लैवल (चौरस) करवा दिया जावे और गांव के बालकों के लिए खेल का मैदान बना दिया जावे। यदि गांव में चकबंदी (Consolidation) कर दी जावे तो गांव की आसपास की भूमि, खाद के गड्ढों, शौच-स्थानों, तथा खेल के मैदानों के लिए बचाई जा सकती है। और ताल कुछ दूरी पर खोदा जा सकता है। एक बात और ध्यान में रखने की है। नये ताल में गांव का पानी न जाने दिया जावे। गांव की ओर एक मेड़ बना दी जावे, केवल जंगल का पानी ही ताल में जावे। गाँव से बहा हुआ पानी बहुत गंदा होता है। गांव का पानी यदि खेतों की ओर बह जावे तो अच्छा है। गाँव की मरम्मत करने के लिए गांव वाले दूर से मिट्टी लावें, गाँव के पास से न खोदें।

खाद के गड्ढे

अभी तक गांव वाले जो कुछ भी खाद बनाते हैं। वह ढेर लगाकर बनाते हैं, इससे खाद भी अच्छी तैयार नहीं होती और गांव में गंदगी बढ़ती

है। इन्हीं खाद के ढेरों के कारण गाँव में मक्खियां बढ़ जाती हैं और हवा से गंदगी के कण उड़-उड़ कर पानी, भोजन, तथा आंखों में पड़ता है। गांव की सफाई के लिए यह आवश्यक है कि खाद को गड्ढों में रक्खा जावे। प्रत्येक किसान दो गड्ढे खोदे, और जब तक एक में खाद तैयार होवे दूसरे में गोबर तथा कूड़ा-करकट डाला जावे। गड्ढे के भर जाने पर उसे मिट्टी से ढक दिया जावे। गड्ढा पाँच या ६ फुट गहरा होना चाहिए। इससे दो लाभ होंगे, एक तो गांव में कूड़े के ढेर नहीं रहेंगे और दूसरे अभी जो बहुत-सी खाद व्यर्थ फिक जाती है वह उपयोग में आ जावेगी। अच्छी खाद से अच्छी फसल तैयार हो सकेगी। किन्तु एक कठिनाई यह है कि गाँव के पास गड्ढे खोदने को जगह नहीं मिलती, और बहुत दूर खोदने पर घर का गोबर, कूड़ा तथा करकट उसमें सारा का सारा डाला नहीं जा सकता।

शौच स्थान

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि गाँव के घरों में शौच स्थान नहीं होते, इस कारण गाँव के चारो ओर गंदगी रहती है। गाँववासी अधिकतर नंगे पैर रहते हैं, अतः मल उनके पैरों में लगता है। उससे एक प्रकार का हुकवर्म रोग उत्पन्न होता है। जब मल सूख जाता है तब वह हवा के साथ उड़कर गाँव के कुंयें के पानी, भोजन, तथा पशुओं के चारे को दूषित करता है और मनुष्यों की आँखों में पड़ता है। गाँव वालों का यह विचार भ्रमपूर्ण है कि खेतों में शौच जाने से भूमि की उत्पादक शक्ति बढ़ती है। जब तक खाद सड़ कर तैयार न हो जावे वह भूमि की उत्पादक शक्ति नहीं बढ़ा सकती। जिस प्रकार कच्चा भोजन नहीं पचता, उसी प्रकार कच्ची खाद से कोई लाभ नहीं होता, वरन् उससे दीमक उत्पन्न होती है। खाद को गड्ढों में सड़ा कर ही खेतों में डालना चाहिए। प्रयत्न तो यह करना चाहिए कि प्रत्येक घर में एक शौच स्थान हो और कुछ सार्वजनिक शौच स्थान हों जिनका उपयोग अपरिचित तथा बाहर से आने वाले व्यक्ति कर सकें। परन्तु अभी यह सम्भव नहीं है। भारतवर्ष में तीन प्रकार के शौच स्थान गाँवों के लिए उपयोगी बतलाये गए हैं। एक तो खाद के गड्ढे ही शौच स्थान की भाँति काम में लाये जावें। किन्तु किसान मल की खाद को स्वयं छूना नहीं चाहता, इस कारण इन गड्ढों का उपयोग इस कार्य के लिए नहीं किया जा सकता। दूसरे प्रकार का शौच स्थान बोर-लैट्रिन (Bore Latrine) भूमि के

सूराख करके बनाया जाता है किन्तु स्वास्थ्य विभाग का कहना है कि इससे पानी दूषित हो सकता है। तीसरे प्रकार का शौच स्थान साधारण गड्ढे के रूप में बनाया जाता है। इन गड्ढों के चारों ओर अरहर की एक ऊंची बाढ़ खड़ी करके दो तख्ते उस पर रखने से एक अच्छा शौच स्थान तैयार हो सकता है। प्रतिदिन मेहतर उसमें बहुत सी मिट्टी छोड़ दे तो दुर्गन्ध कम होगी। और जब यह गड्ढे भर जावें तो इनमें खाद बनती रहे और दूसरे गड्ढों का उपयोग किया जावे। किन्तु इन शौच गृहों में एक प्रकार की हरी मक्खी उत्पन्न हो जाती है और दुर्गन्ध भी आती है। अस्तु यदि शौच स्थान तैयार करने में कुछ कठिनाइयाँ हों तो इस बात का खूब प्रचार करना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति मैदान में शौच जाते समय अपने साथ खुर्पी अवश्य ले जावे और एक फुट का छोटा-सा गड्ढा करके उसमें शौच कर मल को दबा दे। इससे गाँव में हुकवर्म रोग नहीं होगा और वह गंदगी से मिट्टी बचेगा।

नाबदान तथा नालियों की समस्या

गाँव की यह समस्या भी महत्वपूर्ण है। घरों में, रसोई, बर्तन भोजन, तथा नहाने धोने में जो पानी काम में लाया जाता है वह घरों में अथवा गलियों में गंदगी फैलाता है। जहाँ देखिये वहाँ घरों के बाहर गलियों में काली-काली कीचड़ दिखलाई देती है इसका फल यह होता है कि उससे मच्छर उत्पन्न होते हैं और गंदगी उत्पन्न होती है। कुओं के पास भी पानी बहुत गिरता है, किन्तु उसके निकास का कोई भी प्रबंध नहीं होता। फल यह होता है कि कुएँ के पास दलदल तथा कीचड़ हो जाती है और वहाँ से पानी बह कर गलियों में जाता है।

होना तो यह चाहिए कि कुओं के पास ही औरतों के नहाने तथा कपड़े धोने के लिए एक पर्दे की जगह बनवा दी जावे। पुरुषों के लिए खुली जगह भी उपयुक्त हो सकती है। इससे यह लाभ होगा कि घरों में अधिक पानी खर्च नहीं होगा और वहाँ गंदगी कम होगी। कुएँ की मन (जगत) को ऊँचा बनाया जाना चाहिए। अच्छा तो यह हो कि वह पटा हो जिससे पत्तियां और कूड़ा कुयें में न जा सके। कुएँ के चारों ओर ढलुवां सीमेंट की नाली बनवा दी जावे जिससे जो पानी गिरे वह कुएँ के पास ही न भरे। कुएँ के पास ही पानी गिरने से कुएँ का पानी दूषित हो

जाता है। कुयें की नाली और स्नान तथा कपड़ा धोने से स्थानों की नालियां एक बड़ी नाली में मिला दी जावे। यह नाली भी कंकरीट की बनाई जावें, या कुयें का पानी नाली द्वारा गाँव के बाहर ले जाया जावे, या दूसरा उपाय यह हो सकता है कि कुयें के पास ही एक बगीची लगाई जावे और उसके पेड़ों और पौधों की सिंचाई के लिए कुयें के पानी का उपयोग कर लिया जावे। इन वाटिकाओं में फल और फूल के पेड़ लगाये जावें। इनसे यह लाभ होगा कि गाँव का सौन्दर्य बढ़ेगा और गंदगी भी नहीं होगी जिन घरों में जल बहुत अधिक काम में लाया जाता है वहाँ भी गृह वाटिका में, अथवा तरकारी में उस पानी का उपयोग किया जा सकता है। संयुक्तप्रान्त तथा अन्य प्रान्तों में इस समस्या को हल करने के लिए सोकेज पिट बनवाये गए हैं, किन्तु जब तक सोकेज पिट बहुत गहरे, बड़े तथा अच्छी तरह न बनवाये जावें उनसे कोई विशेष लाभ न होगा। और कुछ प्रबन्ध न होने से वे ही अच्छे हैं। वाटिकाओं द्वारा इस समस्या को अच्छा तरह हल किया जा सकता है।

घरों में हवा और उजाले का प्रबन्ध

गाँव की स्त्रियाँ अपने घरों को गोबर तथा मिट्टी से लीप-पोत कर साफ रखती हैं और इस दृष्टि से गाँव के मकानों में बहुत सफाई रहती है। जहाँ गाँव बहुत गंदा रहता है वहाँ घरों में ज्यादेष्ट सफाई मिलती है। यह स्त्रियों के परिश्रम का फल है। घरों में जो भी वस्तु होगी वह साफ सुथरी होगी। पीतल तथा कांसे के बर्तन तो इतने साफ रहते हैं कि उनकी चमक बहुत सुन्दर प्रतीत होती है। किन्तु ग्रामवासी अपने मकानों में हवा और रोशनी का उचित प्रबंध नहीं करते। उनके मकानों में खिड़की अथवा प्रकाश मार्ग (रोशनदान) होते ही नहीं। ग्रामवासी खिड़की तथा प्रकाशमार्ग चोरों के भय से नहीं लगाते परन्तु वायु और प्रकाश जीवन और स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है अतएव प्रकाशमार्ग अवश्य होने चाहिए। यदि छत के समीप ऊँचे पर प्रकाशमार्ग बनाया जावे और उसमें लोहे की छड़ें हों तो चोरों का भी इतना भय नहीं रहेगा। यदि मकान एक दूसरे से भिड़े हों तो छत में प्रकाशमार्ग बनाना चाहिए। भविष्य में एक दूसरे मकान से सटा कर मकान न बनाने के लिए गाँव वालों को कहना चाहिए।

बहुत से घरों में स्त्रियाँ सोने के कमरे (कोठे) में ही एक किनारे भोजन बनाती हैं जिससे धुआँ घुटता है और सोने का कमरा गंदा हो जाता है। अतएव उन्हें यह बतलाया जाना चाहिए कि रसोई आँगन के एक किनारे पर सोने के कमरे से दूर होना चाहिए और रसोई घर में धुआँ निकलने का मार्ग होना चाहिए इससे दो लाभ होंगे। धुयें से रसोई घर काला नहीं होगा और घर की स्त्रियों की आँखें खराब होने से बच जावेंगी।

बहुत से किसान मकान में रहने के स्थान पर ही पशुओं को बाँध देते हैं, इससे स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है और गंदगी बढ़ती है। मकान के साथ एक छोटी सी पशुशाला होनी चाहिए जहाँ बैल बाँधे जावें। यदि पृथक पशुशाला का प्रबन्ध न हो सके तो भी मकान में पशुओं को रहने के स्थान से दूर बाँधना चाहिए।

गांव के मार्ग

गाँव के मार्ग कच्चे होते हैं। दोनों ओर खेतों के मालिक धीरे-धीरे सड़क को खोद कर खेतों में मिलाने का प्रयत्न करते हैं, इससे सड़क पतली और टेढ़ी हो जाती है। यही नहीं किसान अपने खेत की मेंढ़ को बनाने के लिए सड़क में से मिट्टी खोद लेते हैं, जिससे सड़क में गड्ढे बन जाते हैं। नहर तथा कुओं का पानी जब सड़क के पार ले जाया जाता है तो वह सड़क पर ही बहता रहता है। अधिकतर यह कच्ची सड़कें आस पास के खेतों से नीची होती हैं। इस कारण बरसात में इनमें पानी भर जाता है। सच तो यह है कि बरसात के दिनों में बैलगाड़ियों का इन कच्चे मार्गों पर चलना असम्भव हो जाता है। वे मार्ग न रहकर दल-दल बन जाते हैं। सड़क खेतों से ऊँची होनी चाहिए जिससे वर्षा का पानी खेतों में चला जावे। गाँव की पंचायत गाँव वालों को मार्ग में से मिट्टी खोदने की मनाही करदे और प्रति वर्ष वर्षा के उपरान्त गाँव वाले मिलकर स्वयं सड़क की मरम्मत करलें तो गाँव वालों को अपनी पैदावार मंडियों में ले जाने तथा आने जाने में बहुत सुविधा हो। प्रान्तीय सरकार तथा डिस्ट्रिक्टबोर्ड यह नियम बना दे कि जो गाँव सड़क बनाने के लिए मजदूरी मुफ्त देगा उसके कंकड़ या पत्थर तथा अन्य सामिग्री जो गाँव में पक्की सड़क बनाने के लिए आवश्यक होगी मुफ्त दे दी जावेगी। इस प्रकार बहुत थोड़े व्यय से और

गाँव वालों के परिश्रम से गाँवों में पक्की सड़कें बन सकती हैं। हाँ वहाँ वालों को उन सड़कों की प्रतिवर्ष मरम्मत करने की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेनी होगी किन्तु यह कार्य तभी हो सकेगा जबकि गाँव वालों में अपने गाँव की दशा सुधारने की उत्कट लालसा उत्पन्न हो जावेगी।

गांवों में कुशल दाइयों की समस्या

आज हमारे गाँवों की दशा यह है कि वहाँ जो दाइयाँ हैं वे न तो गर्भवती स्त्रियों की ठीक तरह से देखभाल ही करना जानती हैं और न बच्चा जनाने का काम ही वे ठीक तरह से कर सकती हैं। गंदी तो वे इतनी होती हैं कि उनके छूने से ही माँ और बच्चे को रोग हो सकता है। सच तो यह है कि गाँवों में बहुत बड़ी संख्या में जो गर्भवती मातायें और बच्चे मरते हैं उसका एकमात्र कारण कुशल और साफ दाइयों का न होना है।

जब तक एक गाँव में या दो चार गाँवों के बीच एक कुशल और ट्रेंड दाई न होगी तब तक यह बच्चों और माताओं की मृत्यु रोकी नहीं जा सकती। यह दाइयां माताओं और बच्चों के जीवन से खिलवाड़ करती हैं। अतएव प्रान्तीय सरकार, डिस्ट्रिक्टबोर्ड तथा अन्य सभी संस्थाओं का यह कर्तव्य है कि इस हानि को रोका जावे।

प्रान्तीय सरकार को प्रत्येक जिले में दाइयों को ट्रेनिंग के लिए स्कूल स्थापित करने चाहिए और डिस्ट्रिक्टबोर्ड तथा अन्य संस्थाओं को गांवों की दाइयों तथा अन्य स्त्रियों को जो दाई का काम करना चाहें छात्रवृत्ति देकर वहां शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजना चाहिए।

जब यथेष्ट शिक्षित दाइयां तैयार हो जावें तब सरकार को यह कानून बना देना चाहिए कि बिना लायसैंस लिए हुए कोई भी दाई का काम नहीं कर सकती। और लाइसैंस केवल उन्हीं को दिया जावे कि जो ट्रेंड हैं और इस कार्य में कुशल हैं।

जब तक ऐसा नहीं किया जावेगा तब तक बच्चों और माताओं के जीवन की रक्षा नहीं की जा सकती।

केवल बच्चा जनाने के लिए कुशल दाइयों का प्रबन्ध कर देने से ही काम नहीं चलेगा। गांव की स्त्रियों को बच्चों के ठीक प्रकार से लालन-पालन करने की शिक्षा देना भी आवश्यक है। माताओं की अज्ञानता तथा

भूल से बच्चों का स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। अतएव इन शिक्षित और ट्रेंड दाइयों का यह भी कर्तव्य होगा कि वे बच्चों के लालन-पालन की शिक्षा स्वयं प्राप्त करें और माताओं को दें।

प्रतिवर्ष गाँव के बच्चों के स्वास्थ्य का प्रदर्शन किया जावे और स्वास्थ्य बच्चों की माँ को पारितोषिक दिया जावे। इसके साथ ही बच्चों का लालन-पालन किया जाना चाहिए इसकी भी शिक्षा माताओं को देने की आवश्यकता होगी।

चिकित्सा की सुविधा का अभाव

यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि कुछ रोगों ने तो गाँवों में स्थायी रूप से अड्डा जमा लिया है। पिछले कुछ वर्षों से क्षय रोग भी गाँवों में भयंकर रूप से बढ़ रहा है। फिर भी गाँवों में चिकित्सा का कोई प्रबन्ध नहीं है। किसी किसी गाँव में अनपढ़ और अशिक्षित वैद्य या हकीम गाँव वालों का उपचार करते हैं। ऐसी स्थिति में गाँव वालों के जीवन का ईश्वर ही मालिक है। सच तो यह है कि चिकित्सा के अभाव में असंख्य ग्रामवासी अकाल मृत्यु के ग्रास बन जाते हैं।

बंगाल की ऐन्टी मलेरिया समितियाँ

गांव वालों को रोगों से बचाने के लिए बंगाल में एक सफल प्रयोग हुआ है। बंगाल में मलेरिया ज्वर का भीषण प्रकोप होता है, वहाँ प्रतिवर्ष बहुत बड़ी संख्या में लोग इससे मरते हैं और कहीं कहीं तो मलेरिया के कारण गाँव के गाँव उजड़ जाते हैं अभीतक विशेषज्ञों का मत था कि मलेरिया का कीटाणु रुके हुए पानी में उत्पन्न होता है और उत्पन्न होने के स्थान से ८ मील तक जा सकता है सरकार का विश्वास था कि ऐसी दशा में मलेरिया को रोकने का केवल एक ही उपाय हो सकता है कि आठ मील के घेरे में जितने भी गड्ढे हों भर दिये जावें और पानी कहीं भी रुकने न दिया जावे। इस कार्य में इतना अधिक व्यय होने की सम्भावना थी कि बंगाल सरकार ने इसको अपनी शक्ति के बाहर समझा। जनता का भी यही विश्वास था कि यह रोग तभी रोका जा सकता है कि जब कोई बड़ी योजना तैयार की जावे। इसी कारण बंगाल के ग्रामीण इस ओर से हताश हो चुके थे।

किन्तु डाक्टर गोपालचन्द्र चटर्जी ने खोज करने के उपरान्त यह पता

लगाया कि मलेरिया का कीड़ा अपने जन्म स्थान से आध मील से अधिक दूर जा ही नहीं सकता। अब तो सभी विशेषज्ञों ने डाक्टर चटर्जी के सिद्धान्त को मान लिया है। डाक्टर चटर्जी ने सोचा कि इस रोग से छुटकारा पाने के लिए सबसे सस्ता और अच्छा उपाय यही है कि गाँवों में सहकारी समितियाँ स्थापित की जावें। इसी उद्देश्य को लेकर उन्होंने १६१२ में प्रान्त में मलेरिया के विरुद्ध युद्ध करने के लिए ऐन्टी मलेरिया (मलेरिया निवारक) लीग स्थापित की। प्रान्त भर में इस आन्दोलन का संचालन करने के लिए उन्होंने एक सहकारी ऐन्टी मलेरिया सोसायटी लिमिटेड की स्थापना की। क्रमशः ग्राम समितियों की संख्या बढ़ती गई और आज बंगाल में ७०० से ऊपर मलेरिया निवारक समितियाँ सफलतापूर्वक कार्य कर रही है।

ग्राम समितियां अपने अपने गाँवों में मलेरिया अन्य रोगों को रोकने का उपाय करती हैं। समितियों को चार आने से लेकर एक रुपया तक मासिक चदा देना पड़ता है। प्रत्येक समिति वैद्य अथवा डाक्टर को कुछ वेतन देकर नौकर रखती है जो समिति के सदस्यों के घर पर बिना फीस लिए जाता है और रोगियों की चिकित्सा करता है। प्रान्तीय सरकार इन समितियों को कुछ सहायता भी देती है। इन समितियों ने बहुत से स्कूल तथा अस्पताल खोल रक्खे हैं। कुछ अस्पताल तो ऐसे हैं जो सर्वसाधारण को दवा देते हैं और कुछ ऐसे हैं जो केवल समितियों के सदस्यों को ही दवा देते हैं।

जब किसी क्षेत्र में कुछ समितियाँ स्थापित हो जाती हैं तो केन्द्रीय समिति उनको दृढ़ करने के लिए एक 'ग्रूप' (समूह) समिति स्थापित कर देती है। इस समिति में प्रत्येक ग्राम समिति का एक प्रतिनिधि होता है। यह ग्रूप समिति प्रत्येक ग्राम समिति से कुछ चंदा लेकर एक चिकित्सक रखती है। यदि कहीं मलेरिया, हैजा, काला आजार, अथवा प्लेग का प्रकोप होता है तो एक स्थान पर एक औषधालय खोला जाता है और चिकित्सक सभी को मुफ्त दवा देता है।

ग्राम समितियाँ वर्षा के पूर्व गाँव के समीपवर्ती सब गड्ढों, खाइयों तथा पोखरों को भरवा देती हैं। नाले तथा नालियाँ ठीक कर दी जाती हैं जिससे वर्षा का पानी रुके नहीं बह जावे। यह कार्य प्रति वर्ष वर्षा के आने से पूर्व समाप्त कर दिया जाता है। वर्षा के उपरान्त तीन महीने

तक गाँव के समीप जहाँ जहाँ पानी इकट्ठा हो जाता है, वहाँ वहाँ समिति मिट्टी का तेल छुड़वाती है, जिससे मलेरिया के कीटाणु उत्पन्न न हो सकें। समिति के प्रत्येक सदस्य को एक छपी हुई पुस्तक दी जाती है· जिसमें वह प्रति सप्ताह, उसके घर के लोग कितने दिन मलेरिया से बीमार पड़े यह लिख देता है.। समिति का मंत्री इन पुस्तकों के द्वारा गाँव में मलेरिया का प्रकोप कैसा रहा, इसका लेखा तैयार करता है। इससे सदस्यों को यह ज्ञात हो जाता है कि मलेरिया घट रहा है कि नहीं।

लेखक की योजना

भारतवर्ष में रोगों के कारण मनुष्य जीवन तथा शक्ति का जो भंयकर ह्रास हो रहा है, वह हम पहले ही लिख चुके हैं। हमारे गाँवों की गंदगी और वहाँ चिकित्सा का कोई प्रबंध न होने के कारण ही यह ह्रास निरंतर हो रहा है अस्तु गाँवों की सफाई तथा स्वास्थ्य रक्षा की समस्या हमारे लिए अत्यन्त महत्व की है। यह कार्य सहकारी समितियों के द्वारा सफलता पूर्वक किया जा सकता है।

होना यह चाहिए कि प्रत्येक गाँवों में एक स्वास्थ्य रक्षक समिति स्थापित की जावे। गाँव वालों को समिति के लाभ समझा कर समिति का सदस्य बना लिया जावे। प्रयत्न यह होना चाहिए कि प्रत्येक घर से एक सदस्य बनाया जावे। सदस्य चार आना प्रतिमास चंदा दे। जो लोग बहुत निर्धन हों और चार आना प्रति मास चंदा न दे सकें उनसे चंदा न लिया जावे, उसके बदले वे महिने में एक दिन समिति का कार्य कर दिया करें। यदि कोई सदस्य चाहे तो अपना चन्दा अनाज में भी दे सकता है। किन्तु चंदा देने वालों तथा कार्य करने वालों में कोई अंतर न होना चाहिए। सब प्रकार के सदस्यों के अधिकार एक ही हों।

सब सदस्यों की एक साधारण सभा हो प्रति वर्ष सभा वार्षिक प्रोग्राम निश्चित करे और दो मंत्री तथा पंच निर्वाचित करदे। एक मंत्री गांव की सफाई की देखभाल करे और दूसरा मंत्री गांव में चिकित्सा और दवा का प्रबंध करे।

गाँव के पास के सब गड्ढों को पाट दिया जावे। नालियों और खेतों के बहाव को ठीक कर दिया जावे। वर्षा समाप्त हो जाने पर जहाँ पानी रुक जावे वहाँ मिट्टी का तेल छिड़क दिया जाय। इससे मलेरिया

बुखार गांव में नहीं फैलेगा। क्योंकि मलेरिया ज्वर का कीड़ा रुके हुए पानी में ही उत्पन्न होता है।

पास के चार पाँच गाँवों की स्वास्थ्य रक्षक समितियाँ मिलकर एक ग्रूप (समूह) समिति बनालें। हर एक ग्राम समिति का पंच या अन्य प्रतिनिधि ग्रूप समिति का सदस्य हो। ग्रूप समिति एक कुशल चिकित्सक तथा एक योग्य नर्स जो कि दाई का काम भली भाँति जानती हो। दाई का काम यह होगा कि वह बड़ी समिति से सम्बंधित गाँवों में बच्चे जनाने का काम करे। बड़ी समिति का चिकित्सक केन्द्रीय गाँवों में रहकर और प्रति दिन दो गाँव में जाकर वहाँ जो भी बीमार हों उन्हें दवा दे।

चिकित्सक का मुख्य कर्त्तव्य केवल चिकित्सा करना ही न होगा। वरन रोगों से बचने का उपाय बताना भी उसका कर्तव्य होगा। प्रत्येक तीसरे दिन चिकित्सक प्रत्येक गांव में पहुँच सकता है और वहां के रोगियों को देखकर औषधि लिख देगा और समिति का मंत्री औषधि देने की व्यवस्था करेगा। मास में एक दिन प्रत्येक गांव में चिकित्सक मैजिक लालटैन अथवा चार्टों की सहायता से व्याख्यान देकर बतावे कि रोग क्यों उत्पन्न होते हैं, और उनसे बचने का क्या उपाय है। इसी प्रकार समिति की नर्स गर्भवती स्त्रियों का निरीक्षण करे और उनको बच्चों के लालन पालन करने तथा गर्भवती स्त्रियों को किस प्रकार रहना चाहिए इसकी शिक्षा दे।

प्रत्येक समिति अपने सदस्यों के लिए औषधियां भी रक्खे। यह समूह समितियां मिलकर जिला स्वास्थ्य रक्षक समिति की स्थापना करें जिला समिति का कार्य केवल ग्राम समितियों की देखभाल करना, स्वास्थ्य रक्षा सम्बंधी प्रचार करना जिले के स्वाथ्य विभाग के कर्मचारियों से लिखा पढ़ी करके जब कभी उस जिले के किसी भाग में बीमारी फैल जावे उसको रुकवाने का प्रयत्न करना होगा।

प्रान्तीय सरकार और डिस्ट्रिक्टबोर्ड इन समितियों को आर्थिक सहायता देकर इस कार्य को आगे बढ़ा सकते हैं। इस प्रकार यदि प्रयत्न हो तो ग्रामवासी अपने प्रयत्न तथा प्रान्तीय सरकार तथा जिला बोर्डों की सहायता से स्वास्थ्य रक्षा की समस्या को हल कर सकते हैं।

ग्राम शिक्षा

सैकड़ों वर्षों से हमारे गांवों का शोषण होता चला आ रहा है और

उसने उनकी आर्थिक स्थिति को भयावह बना दिया है। गांवों में फैली हुई निर्धनता और बेकारी इसका सबसे श्रेष्ठ प्रमाण है। लेकिन धन का ह्रास ही हमारे गांवों की एकमात्र समस्या नहीं है। धन के इस ह्रास के साथ साथ हमारे गांवों जन ह्रास भी बड़ी तेजी से हो रहा है। सामाजिक और धार्मिक रुढ़िवादिता के हमारे ग्रामीण भाई बहिन आज पूरी तरह से शिकार बने हुए हैं अशिक्षा का आज गाँवों में साम्राज्य स्थापित है गाँव वालों की मनोवृत्ति आज इतनी दूषित और गिरी हुई अवस्था में है कि उनको अपनी गिरी हुई दशा से तनिक भी असंतोष नहीं जान पड़ता जीवन की सारी विपत्तियों और कठिनाइयों को वह एक ईश्वरीय कोप का परिणाम मानते हैं और उनका किसी प्रकार अन्त किया भी जा सकता है इस बात की उनको कल्पना तक नहीं होती। भाग्य और कर्म के अत्यन्त शून्य सिद्धान्तों में दृढ़ विश्वास होने के कारण वे अपने आत्म विश्वास को बिलकुल खो चुके हैं और उनका जीवन सम्बंधी दृष्टिकोण इतना निराशा वादी बन गया है कि उनको उसमें सुधार करने के लिए तनिक भी उत्साह नहीं होता। गाँव के कार्यकर्ताओं को प्रायः गाँवों के रहने वालों के प्रति यह शिकायत करते हुए सुना गया है कि उनको स्वयं ही अपनी स्थिति के सुधारने की चिन्ता बहुत कम होती है, और यदि उनको कुछ आवश्यक सुधार काम में लाने के लिए कहा भी जाता है तो वे उनको काम में लाने के लिए बहुत कम उत्साह प्रगट करते हैं। अतः इस बारे में दो मत नहीं हो सकते कि गाँव वालों की इस मनोवृत्ति को ही बदल दिया जावे। आज जो निराशावादी उत्साहहीनता, और उदासीनता उनमें पाई जाती है जब तक इनका नाश नहीं हो जाता गांवों की चतुर्मुखी समस्याओं का ठीक ठीक हल निकाल सकना असम्भव सा ही है। अब तक देश में ग्रामोद्धार की जो भिन्न भिन्न योजनायें चलाई गईं और उनमें कोई विशेष सफलता नहीं मिली उनका मूल कारण यह है कि गाँव वालों की वर्तमान मनोवृत्ति बदलने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया इसलिए इसमें तनिक भी सदेह नहीं कि गाँवों की यदि सबसे महत्वपूर्ण और केन्द्रीय समस्या कोई है तो वह गाँव के रहने वालों की वर्तमान मनोवृत्ति में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने की। हमें उनमें नवीन उत्साह और आत्मविश्वास का संचार करना होगा और भाग्य और कर्म के प्रतिक्रियावादी सिद्धान्तों के प्रभाव से उन्हें

मुक्त करना होगा जब तक उनमें यह विश्वास उत्पन्न नहीं होता कि उनकी वर्तमान गिरी हुई अवस्था का कारण कोई ईश्वरीय कोप नहीं है वरन् मनुष्य का ही कोप है और उसका अन्त करने की शक्ति भी मनुष्य में ही है, वे अपने निराशावादी दृष्टिकोण को नहीं छोड़ सकते। अब प्रश्न यह है कि उनकी वर्तमान मनोवृत्ति को कैसे बदला जावे।

हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि गाँव वालों की वर्तमान मनोवृत्ति का कारण बहुत कुछ हद तक वे परिस्थितियाँ हैं जिनके बीच वह जन्म लेता है, उसका पालन पोषण होता हैं, और जिनके बीच में रहते-रहते वह अपनी जीवन यात्रा की समाप्ति भी कर देता है। जो किसान बालक जन्म से ही कर्ज का बोझ लेकर इस संसार में आता है और माता-पिता को अत्याचार, कर्ज, शोषण और निर्धनता की चक्की में दिन-रात पिसते देखता है और जिसको अपने लिए भी इससे उज्ज्वल भविष्य की कल्पना करने का कोई कारण नहीं दिखलाई देता वह अगर जीवन में आशा और उत्साह से सर्वथा अछूता रहे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? अस्तु, गाँव वालों की मौजूदा मनोवृत्ति को बदलने के लिए इन परिस्थितियों के बदलने की अत्यन्त आवश्यकता है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। पर एक बात और है जिसका महत्व भी कम नहीं है और वह है उनमें फैली हुई अशिक्षा का अन्त करना और शिक्षा के द्वारा उनमें एक विचार-क्रान्ति उत्पन्न कर देना। किसी भी मनुष्य या समूह की मनोवृत्ति बदलने का एक अत्यन्त कारगर उपाय उनमें विचार-क्रान्ति उत्पन्न कर देना है, जिसका सबसे सरल उपाय शिक्षा ही है। अतः ग्रामवासियों की शिक्षा का प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है और उसका अन्य बुनियादी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों से घनिष्ट सम्बंध है।

ग्राम शिक्षा का आदर्श

शिक्षा से हमारा अर्थ केवल यही नहीं होना चाहिए कि हम गांव वालों को केवल लिखना-पढ़ना सिखा दें। इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारी शिक्षा-योजना में लिखने-पढ़ने को एक आवश्यक स्थान प्राप्त होगा। हम अवश्य चाहेंगे कि गाँव का प्रत्येक व्यक्ति प्रौढ़ हो अथवा युवक, स्त्री हो अथवा पुरुष पढ़ना और लिखना सीखे। पर हमारे लक्ष्य का यहीं पर अन्त नहीं हो जाता। शिक्षा से हमारी कल्पना अधिक ऊँची और

व्यापक होगी। हम गाँवों में ऐसी शिक्षा का प्रचार करना चाहेंगे जो उनकी मनोवृत्ति को एकदम बदल दे। हम जीवन सम्बंधी उनके दृष्टि-बिन्दु में विशेष प्रकार का परिवर्तन करना चाहेंगे। आज जिस प्रकार के सामाजिक और धार्मिक रूढ़िवाद का प्रभाव हमारे गांव वालों पर देखने को मिलता है उससे हम उनको सर्वथा मुक्त करना चाहते हैं। उनकी शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि उनका सामाजिक दृष्टिकोण अधिक उदार बने, उनमें स्वावलम्बन की भावना का उदय हो, उनमें राष्ट्र के प्रति प्रेम उत्पन्न हो और वे श्रम के महत्व को समझें। अशिक्षा के कारण जो आज गाँवों में बहुत से कुसंस्कार पाये जाते हैं, गाँव वालों में आपस में जो द्वेष, लड़ाई, झगड़ा देखने को मिलता है, और आपस के सहयोग की भावना का जितना आज उनके जीवन में अभाव है; उसका हम अन्त करना चाहते हैं और शिक्षा के प्रचार के द्वारा ग्राम जीवन को अत्यन्त सुखी और सम्पन्न बनाना हमारा लक्ष्य है। किन्तु जिस प्रकार की शिक्षा हम गाँव के भाई बहिनों को देना चाहते हैं उसका एक विशेष लक्ष्य और होगा। हमारा ध्येय होगा शिक्षा के द्वारा उनको एक अच्छा नागरिक बनाना और जीविकोपार्जन के लिए उन्हें पूरी तरह से योग्य और उपयुक्त बनाना। दूसरे शब्दों में उनकी शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए कि अपने शिक्षाकाल में कोई न कोई ऐसा उपयोगी कार्य सीखें जिसके द्वारा वे अपने और अपने परिवार वालों का पालन-पोषण कर सकें। सारांश यह है कि ग्राम शिक्षा की योजना ऐसी होनी चाहिए जो गाँव वालों में मानसिक क्रान्ति उत्पन्न कर सके और उनकी सर्वाङ्गीय उन्नति में सहायक हो। इस प्रकार की शिक्षा वही हो सकती है जो एक खास लक्ष्य को सामने रख कर दी जावे और जिसको किसी मानव-समाज को अधिक सुखी बनाने वाले आदर्श से प्रेरणा मिले। इस शिक्षा का भार भी ऐसे ही व्यक्तियों पर होना आवश्यक है जो अपने महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व के उठाने के सर्वथा योग्य हों। उन व्यक्तियों को स्वयं अपना उदाहरण ग्रामवासियों के सामने उपस्थित करना होगा। ग्राम जीवन से इनका प्रेम और उसकी समस्याओं को सहानुभूतिपूर्वक समझने और उनको हल करने की उनमें इच्छा होना अनिवार्य है। ये लोग जो शिक्षा के कार्य का सच्चा महत्व नहीं समझते हैं और जो उसको अपने

जीविकोपार्जन के लिए एक पेशा मात्र समझते हैं। उनके हाथों में ग्राम-शिक्षा का कार्य देना भूल होगी। यह कार्य तो सफलतापूर्वक वे ही लोग चला सकते हैं जो स्वयं भी एक आदर्श-विशेष से प्रेरित हों और उसको अपने जीवन का एक लक्ष्य मान कर चलें। अतः शिक्षा योजना के साथ सच्चे शिक्षकों की समस्या का भी हल हमें सोचना होगा।

शिक्षा के सम्बंध में जो कुछ हम ऊपर लिख आये हैं उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रामवासियों की शिक्षा के लिए तीन बातों की आवश्यकता है। (१) हमारी शिक्षा योजना का आधार मानव-जीवन के किसी आदर्श-विशेष पर हो। (२) वह योजना इस प्रकार की हो कि वह मनुष्य का सर्वाङ्गीय विकास करने में सहायक सिद्ध हो, और उसको प्राप्त करने के पश्चात प्रत्येक व्यक्ति एक सफल नागरिक तो बने ही, साथ ही साथ वह अपने जीवन की आवश्यकताओं को भी सफलतापूर्वक पूरी करने के लिए योग्य सिद्ध हो, और (३) अन्तिम शर्त यह है कि शिक्षा का कार्य उन लोगों के हाथ में हो जो स्वयं उस आदर्श विशेष से प्रेरित हों और जो अपने व्यक्तिगत जीवन द्वारा लोगों के सामने एक उदाहरण उपस्थित कर सकें।

ऊपर जो दृष्टिकोण हम रख चुके हैं उसको ध्यान में रखते हुए हम वर्तमान शिक्षा प्रणाली के सम्बंध में अब तनिक विचार कर लेना चाहेंगे। सबसे पहली बात जिसकी ओर हमारा ध्यान इस सम्बंध में जाता है वह है हमारी वर्तमान दशा में शिक्षा की कमी। भारतवर्ष में शिक्षित लोगों की संख्या ८ या ९ प्रतिशत है। और इन अङ्कों का महत्व पूरा-पूरा समझने के लिए दो बातों का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। पहली बात तो यह है कि शिक्षित से हमारा अर्थ उस व्यक्ति से है जो कोई एक भाषा लिखना और पढ़ना जानता है। दूसरी बात यह है कि वर्तमान स्थिति में शिक्षा का थोड़ा बहुत जो कुछ भी प्रचार है वह अधिकतर शहरों तक ही सीमित है, और गांवों की इस मामले में भी वैसी ही अवहेलना की गई है जैसी कि अन्य मामलों में की गई है। अतः वर्तमान शिक्षा का एक दोष तो यही है कि इसका प्रचार अभी तक गांव वालों में तो नहीं के बराबर है। अब हम वर्तमान शिक्षा प्रणाली की अन्य महत्वपूर्ण कमियों का संक्षेप में वर्णन करना उचित समझेंगे।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली की कमियों को समझने के लिए यह

आवश्यक है कि जिस उद्देश्य से इसको जन्म दिया गया है उसको अच्छी तरह जान लें। जब ब्रिटिश शासन इस देश पर स्थापित हो गया और उन पर राज्य प्रबंध का उत्तरदायित्व आगया, तो उनको देश के अन्दर एक ऐसी श्रेणी को उत्पन्न करना आवश्यक जान पड़ा जो उनके शासन को चलाने में सहायक हो सके और जिसमें राष्ट्र प्रेम, राष्ट्र गौरव, और आत्म सम्मान का लवलेश भी न हो; एक ऐसी श्रेणी जो अपनी सभ्यता, और संस्कृति से सर्वथा अनिभिज्ञ हो इस प्रकार वर्तमान शिक्षा द्वारा भारतवासियों की एक ऐसी पिछलग्गू और जी-हुजूरों की कृपाजीवी श्रेणी तैयार की गई जिसके लिए सिवाय सरकारी नौकरी करने के और कुछ नहीं रह गया और जिसकी न इससे स्वतंत्र कोई आकांक्षा रह गई और न शक्ति और न योग्यता। अतः वर्तमान शिक्षा प्रणाली का सबसे तात्विक दोष यही है कि वह किसी भी उच्च आदर्श से प्रेरित नहीं है, और देश के युवकों को जीवन सम्बंधी लक्ष्य से सर्वथा शून्य रखती है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली का दूसरा दोष यह है कि साधारण शिक्षा के अतिरिक्त बालकों को अन्य कोई ऐसी दस्तकारी या कला नहीं सिखाई जाती जो ग्राम परिस्थितियों के अनुकूल हो और उनको जीवकोपार्जन में सहायता दे सके। इसी का परिणाम आज हम देखते हैं कि गाँव का युवक यदि थोड़ी-सी भी शिक्षा प्राप्त कर लेता है तो उसे गाँव के जीवन से घृणा हो जाती है। गाँव का वातावरण उसे अपने अनुपयुक्त प्रतीत होने लगता है, अपने बाप-दादों के धंधे से और अन्य प्रत्येक प्रकार के शारीरिक परिश्रम से उसे घृणा हो जाती है, उसे वह अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझने लगता है, और इन सब बातों का अंतिम परिणाम यह होता है कि वह गाँव को छोड़कर शहर के किसी दफ्तर में ब्राबूगिरी की खोज में निकलता है और बीसियों स्थानों पर अपमानित होकर अन्त में उसे कोई क्लर्की मिल जाती है तो वह अपने को धन्य मानता है और दासता की उसी दशा में अपना सारा जीवन व्यतीत कर देता है। तीसरा महत्वपूर्ण दोष आधुनिक शिक्षा प्रणाली का यह है कि वह हमारे युवकों के हृदय और मस्तिष्क को दास बना देती है। पाठशालाओं का वातावरण, अध्यापकों की मनोवृत्ति, और वर्तमान पाठ्यक्रम, जिसका एक मात्र लक्ष्य आरम्भ से भारतीय विद्यार्थियों के मस्तिष्क में देश, और उसकी

सभ्यता तथा इतिहास के प्रति घृणा और पाश्चात्य सभ्यता की उच्चता उत्पन्न करना है, इस स्थिति के लिए बहुत कुछ उत्तरदायी है। इसके अतिरिक्त वर्तमान शिक्षा हमारे गांव वालों तथा अन्य शिक्षित व्यक्तियों में सेवा की भावना बिलकुल उत्पन्न नहीं करती। शिक्षित ग्रामवासियों में यह विचार भी उत्पन्न नहीं होता कि वे अपने गाँव को हर प्रकार से रहने योग्य स्थान बनाने का प्रयत्न करें। वे तो जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं गाँवों को छोड़कर शहरों में जाकर बस जाना अपना ध्येय बना लेते हैं। आधुनिक ग्राम शिक्षा की एक भारी कमी यह भी है कि जब बालक एक बार पाठशालाओं में कुछ पढ़ना-लिखना सीख लेता है तो पाठशाला छोड़ने के उपरान्त वह सब पढ़ा-पढ़ाया भूल जाता है। इसका कारण यह है कि गाँव में पढ़ने लिखने की सुविधा न मिलने से, पुस्तकालय और वाचनालय के अभाव में, उसको बाद में लिखने पढ़ने का कोई अवसर प्राप्त नहीं होता।

यह तो हम देख चुके कि जो शिक्षा प्रणाली आज देश में प्रचलित है वह सर्वथा आदर्श हीन है और जिस प्रकार की शिक्षा दी जाती है वह हमारे गाँवों के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। परन्तु इसके साथ साथ एक दोष जो कि आधुनिक ग्राम शिक्षा में पाया जाता है वह शिक्षकों से सम्बंध रखता है। शिक्षक जैसे कि होने चाहिए वैसे नहीं होते। उनकी स्वयं की मनोवृत्ति गिरी हुई होती है, ग्राम जीवन से उन्हें कोई प्रेम और सहानुभूति नहीं होती और अपने कार्य की गुरुता को वे बहुत कम समझते हैं। अतः हम इस परिणाम पर पहुचते हैं कि ग्राम शिक्षा की वर्तमान स्थिति में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन की और उसको सजीव और आदर्शयुक्त व्यवहारिक दृष्टि से लाभदायक बनाने की अत्यन्त आवश्यकता है।

हमारी ग्राम शिक्षा की योजना किस प्रकार की हो ?

हमारी ग्राम शिक्षा की योजना किस प्रकार की हो इस संबंध में सिद्धान्त की दृष्टि से हम ऊपर विचार कर चुके हैं। अब हम उन सिद्धान्तों के आधार पर शिक्षा की एक ऐसी योजना में वास्तव में क्या क्या बातें होनी चाहिए इस सम्बंध में तनिक विस्तार से विचार करेंगे।

यह हम पहले लिख चुके हैं कि हमारी ग्राम शिक्षा का आदर्श ऐसा होना चाहिए कि जिसके द्वारा हम गांव के बालकों में ग्राम जीवन के प्रति प्रेम और सहानुभूति उत्पन्न कर सकें और उनके मन में अपने राष्ट्र के प्रति

सच्चे सेवा भाव का संचार कर सकें। गांवों की वर्तमान गिरी हुई दशा से असंतुष्ट होकर शहरों में जाकर रहने की जो प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है उस का एकदम अन्त होना चाहिए। और उसके स्थान में बालकों की मनोवृत्ति ऐसी बनाने का प्रयत्न होना आवश्यक है कि वे शिक्षित होने के उपरान्त अपनी शक्ति और साधन का गांवों की दशा को सुधारने में उपयोग करें। इसके लिए यह आवश्यक है कि पाठशाला वातावरण, पाठ्यक्रम, और शिक्षक का व्यक्तित्व सब इस प्रकार के हों कि बालक उनसे प्रभावित हो सकें और उनमें ग्रामीण दृष्टिकोण उत्पन्न हो सके। पाठशाला के वातावरण के सम्बंध में सबसे अधिक ध्यान रखने की बात यह है कि उसमें और घर के वातावरण में एक साम्य हो। यही नहीं पाठशाला ग्राम सुधार का एक केन्द्र बन जाना चाहिए जिन सुधारों का गांवों में प्रचलित करना आवश्यक समझा जावे उनको सर्वप्रथम ग्राम पाठशाला में भली भाँति अपनाना चाहिए। उदाहरण के लिए, गांव के मकान कैसे हों? उनमें रोशनी, हवा इत्यादि का कैसा प्रबंध हो, शौच गृह, कुआं, नाली, नावदान तथा वाटिका इत्यादि जितने भी सुधार हम गांवों में करना चाहते हैं वे सब पहले पाठशाला में अपनाये जाने चाहिए। गांव की पाठशाला एक ऐसा सजीव केन्द्र बनना चाहिए कि जिसका प्रतिविम्ब गांव भर पड़े।

पाठशाला और घर के वातावरण में साम्य उत्पन्न करना शिक्षा-शास्त्र की दृष्टि से भी आवश्यक है क्योंकि यह तो एक मानी हुई बात है कि वह शिक्षा प्रणाली अत्यन्त दूषित है जिसमें घर और स्कूल का वातावरण सर्वथा मेल नहीं खाता। आज हमारे स्कूलों में जहां बाहरी अनुकरण की पतित मनोवृत्ति पाई जाती है, वहां हमारे घरों में प्राचीनता अन्ध-विश्वास और रूढ़िवाद का बोलबाला होता है। दोनों ही दशायें अवांछनीय है, और इनमें परिवर्तन की आवश्यकता है। एक ओर जहाँ हमको अपनी संस्कृति और सभ्यता के प्रति रुचिपूर्ण मनोवृत्ति उत्पन्न करने की आवश्यकता दिखलाई देती है, वहां दूसरी ओर हमें आधुनिक जीवन के प्रति अधिक उदार बनाना है। वातावरण सम्बंधी दूसरी बात उसमें सादगी, आपसी प्रेम और सेवा-भाव उत्पन्न करने का है। वातावरण के बनाने में जहा पाठ्यक्रम का प्रभाव पड़ेगा वहां शिक्षक के व्यक्तिगत जीवन का उससे अधिक घनिष्ट सम्बंध रहेगा। पहले हम पाठ्यक्रम के बारे में ही विचार करेंगे।

आज हमारे गाँवों की पाठशालाओं के जिस प्रकार का पाठ्यक्रम पढ़ाया जाता है वह सर्वथा अनुपयुक्त है। भाषा, साधारण हिसाब और कुछ भूगोल या गलत दृष्टिकोण से लिखे हुए इतिहास के अतिरिक्त और कोई भी विषय आज गाँव के बालकों को नहीं पढ़ाया जाता। इस पाठ्यक्रम में परिवर्तन की कितनी आवश्यकता है यह तो स्पष्ट ही है। सारे पाठ्यक्रम का केन्द्र एक ऐसा उद्योग होना चाहिए जो उस गाँव की परिस्थिति और वातावरण के अनुकूल हो और उसी को आधार बनाकर अन्य विषयों की शिक्षा बालकों को देनी चाहिए, जिससे कि उसके शरीर और मानसिक दोनों प्रकार के विकास के लिए मार्ग खुले रहें। उसे शारीरिक परिश्रम से घृणा उत्पन्न न होने पावे, और वह कोई उपयोगी धंधा भी सीख जावे जिसे वह अपने जीवन के निर्वाह का साधन बना सके। इसके अतिरिक्त भाषा, भूगोल, इतिहास, साधारण गणित का तो ज्ञान कराया ही जावे किन्तु बालकों को स्वास्थ्य विज्ञान, नागरिक शास्त्र, ग्राम्य अर्थशास्त्र, विज्ञान की साधारण बातों, और हमारे देश की वर्तमान राज्य व्यवस्था का भी संक्षेप और स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए। लड़कियों को सिलाई, घरों की सफाई, पाक शास्त्र, संगीत, बच्चों का लालन-पालन, घरों को आकर्षक बनाना, इत्यादि आवश्यक बातों की जानकारी विशेष रूप से कराई जानी चाहिए। साथ-साथ बालकों के दृष्टिकोण को वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न करना भी आवश्यक है और उनमें अखबार इत्यादि पढ़ने की आदत डालने की आवश्यकता है जिससे कि उनका बाहरी दुनिया का ज्ञान भी अच्छा हो और आधुनिक जीवन की विशेषताओं से वे सर्वथा अपरिचित और अनभिज्ञ न रहें। वस्तु पाठ के द्वारा बच्चों की अनुभव शक्ति को जाग्रत किया जावे। पढ़ने के साथ साथ खेल और व्यायाम का भी उचित प्रबंध किया जावे। खेल और व्यायाम अधिकतर भारतीय हों क्योंकि वे कम खर्चीले और अच्छे होते हैं। खेल में बालकों में अनुशासन, सामूहिक रूप से काम करने की प्रवृत्ति और टीम स्पिरिट (Team Spirit) तथा सेवा भाव अधिक अच्छी तरह पैदा किया जा सकता है। और स्वास्थ्य के लिए खेल और व्यायाम कितने आवश्यक हैं यह तो प्रकट ही है। स्वयं सेवक दलों वा संगठन इस दिशा में उपयोगी सिद्ध हो सकता है। गाँव के बालकों में कला और सुन्दरता के प्रति आज जो उदासीनता है उसे भी मिटाने की आवश्यकता है। पाठशाला में एक छोटी-सी पुष्प वाटिका का होना और उसे ठीक प्रकार

से रखने में बालकों की सहायता लेना इस दृष्टि से लाभदायक सिद्ध हो सकता है।

जैसा कि हम ऊपर भी संकेत कर चुके हैं कि ग्राम शिक्षा का अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग स्वयं शिक्षक हैं। उसके व्यक्तिगत आचरण का विद्यार्थियों के जीवन पर जितना गहरा असर पड़ सकता है उतना किसी दूसरी चीज का नहीं। पाठशाला के वातावरण को बनाने या बिगाड़ने में उसका बहुत कुछ हाथ हो सकता है। अच्छा से अच्छा पाठ्यक्रम भी गलत हाथों में पहुँच कर आवश्यक परिणाम उत्पन्न करने में सफल नहीं होगा और अगर शिक्षक स्वयं आदर्श और चरित्रवान है तो बुरे पाठ्यक्रम से होने वाली बुराइयाँ भी कुछ कम की जा सकेंगी। अतः शिक्षक को चुनने में अत्यधिक सावधानी रखने की जरूरत है। ग्रामीण पाठशाला का अध्यापक ऐसा होना चाहिए जिसे स्वयं ग्राम-जीवन से स्नेह हो। और उसके पुनः उत्थान में उसका विश्वास और लगन हो, और जो चरित्र का ऊँचा व्यक्ति हो। जहाँ तक सम्भव हो इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि वह उसी गाँव का या आसपास के अन्य किसी गाँव का रहने वाला हो जिससे कि गाँव के लोगों का आसानी से प्रेम और श्रद्धा का भाजन बन सके और अपने व्यक्तित्व और आचरण के बल से उनके जीवन को प्रभावित कर सके। क्योंकि जैसा हम आगे चल कर देखेंगे प्रौढ़ों के विचारों और जीवन सम्बंधी दृष्टिकोण का बालकों पर यथेष्ट प्रभाव पड़ता है। इसलिए बालकों के विचारों को बदलने के लिए उनके विचारों में भी आवश्यक अनुरूपता लानी होगी।

पाठशाला के वातावरण और पाठ्यक्रम में उपर्युक्त परिवर्तन करने और शिक्षा का कार्य योग्य हाथों में सौंपने का परिणाम अत्यन्त आशाजनक होगा यह निस्संदेह है। अपने गांव के बालकों की इस प्रकार हम काया पलट कर सकेंगे और उनमें उत्साह और आत्मविश्वास उत्पन्न करने के लिए एक नवीन मनोवृत्ति का बीजारोपण कर सकेंगे।

वर्धा-योजना

हमारे देश में शिक्षा के सम्बंध में इस प्रकार के क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता तो बड़े-बड़े विद्वान् लोग अनुभव कर रहे थे, किन्तु वे कोई व्यवहारिक योजना उपस्थित करने में सर्वथा असमर्थ थे। किन्तु महात्मा गांधी ने अब देश का इस मामले में पथ प्रदर्शन किया है और वर्धा-शिक्षा-प्रणाली

को जन्म देकर शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने क्रान्तिकारी परिवर्तन करने की बात सोची है। ग्राम शिक्षा के लिए जिन आवश्यक गुणों का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं वे सब इस योजना में मौजूद हैं। यह एक विशेष आदर्श को लेकर बनाई गई है और उसका आदर्श है हमारी प्राचीन सभ्यता की नींव पर युवकों में अहिंसक और राष्ट्रीय मनोवृत्ति को उत्पन्न करना और ग्राम जीवन और सभ्यता के प्रति उनमें प्रेम और श्रद्धा के भावों को जाग्रत करना दूसरी विशेषता इस योजना की यह है कि इसमें शिक्षा किसी ऐसे उद्योग के चारो ओर केन्द्रित की जावेगी जो विद्यार्थी की रुचि और परिस्थिति के अनुकूल हो। उद्योग को शिक्षा का केन्द्र बनाने की उपयोगिता के सम्बन्ध में हम ऊपर लिख चुके हैं। इस योजना में तीसरी महत्वपूर्ण विशेषता यह बतलाई जाती है कि जहाँ तक शिक्षकों के वेतन सम्बन्धी व्यय का प्रश्न है वह स्वावलम्बी होगी, क्योंकि विद्यार्थियों द्वारा बनाई गई वस्तुओं को बेचने से इतनी आय हो सकेगी, ऐसा इस योजना के प्रवर्तक महात्मा गांधी का विश्वास है। यद्यपि कुछ शिक्षा-शास्त्री इसको स्वीकार नहीं करते। भारतवर्ष की दरिद्र और महान् जनसंख्या का यदि हम ध्यान करें तो यह स्पष्ट होते देर न लगेगी कि सारे देश में शिक्षा प्रचार के कार्य में कितना अधिक व्यय होगा। ऐसी दशा में यदि हम किसी ऐसी शिक्षा योजना को कार्यान्वित कर सकें कि जो किसी सीमा तक स्वावलम्बी हो तो उससे अच्छी क्या बात हो सकती है। इस योजना का सम्बन्ध केवल प्रारम्भिक शिक्षा से है और प्रारम्भिक शिक्षा का समय सात वर्ष रक्खा गया है। अर्थात् सात वर्ष की आयु से शिक्षा आरम्भ होगी और चौदह वर्ष की आयु में समाप्त हो जावेगी। यह आशा करना अनुचित न होगा कि इन सात वर्षों में बालक पूरी तरह से योग्य नागरिक, राष्ट्रीय विचार वाले, और स्वावलम्बी बन सकेंगे। अतः हमारे देश में इस शिक्षा प्रणाली का अच्छा स्वागत हुआ है और जिन प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल कार्य कर रहे हैं वहाँ इस योजना के अनुसार कार्य आरम्भ कर दिया गया है।

यहाँ ग्राम शिक्षा के अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग पर विचार कर लेना आवश्यक है। यदि हम वास्तव में चाहते हैं कि गाँवों के जीवन में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन हो तो हमारे लिए यह आवश्यक होगा कि हम लड़कों के साथ-साथ लड़कियों को भी शिक्षा दें। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उत्पन्न होता है

कि लड़कियों के लिए पाठशालायें लड़कों से भिन्न हों अथवा लड़के-लड़कियों को एक साथ शिक्षा दी जावे। दूसरे शब्दों में हमारे सामने प्रश्न यह है कि सहशिक्षा होनी चाहिए अथवा नहीं। सहशिक्षा का वैसे तो एक स्वतंत्र विषय है, परन्तु इस सम्बंध में इतना संकेत कर देना आवश्यक है कि यदि हमारा उद्देश्य भविष्य में स्त्री और पुरुषों का पारस्परिक अगाध सम्पर्क स्थापित करना है, यदि हम चाहते हैं कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्त्री और पुरुष मिल-जुल कर कार्य करें, तो यह आवश्यक है कि हम आरम्भ से ही बालक और बालिकाओं को सम्पर्क में लावें, और उनको एक दूसरे का अध्ययन करने और एक दूसरे के स्वभाव से परिचित होने का अवसर दें। इसके अतिरिक्त आर्थिक दृष्टि से भी यह लाभदायक सिद्ध होगी। क्योंकि लड़के और लड़कियों के लिए अलग-अलग पाठशालायें चलाना बहुत ही व्यय-साध्य होगा, और भारत जैसे निर्धन देश के लिए यह भार असहनीय होगा। अस्तु, आर्थिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टिकोणों से सहशिक्षा का हमें प्रचार करना चाहिए। उसी दशा में लड़कियों की शिक्षा का प्रश्न हम सफलतापूर्वक हल कर सकेंगे। बिना लड़कियों को शिक्षित बनाये हम घरों के वातावरण को नहीं बदल सकेंगे जो किसी भी प्रकार की विचार-क्रान्ति करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

अभी तक हमने इसी सम्बन्ध में विचार किया है कि हमारी शिक्षा का आधार क्या हो, वह किस आदर्श से प्रेरित हो, और उसका रूप क्या हो। अब इस सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न यह है कि शिक्षा के प्रचार का कार्य किसके जिम्मे हो। यद्यपि शिक्षा प्रचार का कार्य बहुत से स्थानों पर सहकारिता के सिद्धान्त के आधार पर चलाया गया है और पंजाब की सहकारी शिक्षा समितियों को इस कार्य में सफलता भी मिली है। फिर भी कार्य की व्यापकता को देखते हुए हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि गांवों में प्रारम्भिक शिक्षा का उत्तरदायित्व सरकार को अपने ऊपर लेना चाहिए, फिर चाहे वह सहकारी शिक्षा समितियों के द्वारा ग्राम जनता का सहयोग भी प्राप्त करे। राष्ट्र को शिक्षित बनाना तो प्रत्येक राज्य का प्रथम कर्तव्य है। सरकारी शिक्षा-विभाग को इस कार्य में अन्य सरकारी और गैर-सरकारी तथा अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं की सहायता लेनी चाहिए।

शिक्षा-योजना की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि प्रत्येक

प्रान्तीय सरकार कानून द्वारा प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य कर दे। हर्ष की बात है कि कांग्रेस मन्त्रि-मंडल इस ओर प्रयत्नशील हैं। प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य तो होनी ही चाहिए, वह निःशुल्क भी होना चाहिए अर्थात् पाठशालाओं में लड़के और लड़कियों से किसी प्रकार की फीस नहीं ली जानी चाहिए। इसके लिए प्रान्तीय सरकारों को जो खर्च करना हो, उसका वह दूसरे उपायों से प्रबंध करे।

अब तक ग्राम शिक्षा के बारे में एक कमी यह रही है कि पाठशाला छोड़ने के बाद लड़के और लड़कियां जो कुछ पढ़ सकते हैं वह बिलकुल भूल जाते हैं और फिर अशिक्षितों की श्रेणी में जा मिलते हैं। इसका एक उपाय यह है कि एक तो विद्यार्थी-काल में प्रत्येक विद्यार्थी को पढ़ने में दिलचस्पी उत्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए जिससे कि विद्यार्थी-जीवन के उपरान्त भी उसको पढ़ने-लिखने की इच्छा बनी रहे। विविध प्रकार की पुस्तकों तथा समाचार पत्रों को पढ़ने की आदत डालने से इस प्रकार की दिलचस्पी उत्पन्न की जा सकती है। पर इतने से ही काम नहीं चलेगा। इस बात का भी प्रबंध करना होगा कि गांव के लोगों को पढ़ने-लिखने के लिए आवश्यक लाभदायक सामग्री बराबर मिलती रहे जिससे कि उनके पढ़ने-लिखने की इच्छा बराबर बनी रहे। आज हमारे गांवों में इस प्रकार की सुविधाओं की बहुत कमी है। यही नहीं, गांव वालों के लिए उपयोगी साहित्य की भी कमी है। साहित्य की कमी का कारण साहित्य उत्पन्न करने वालों की कमी इतना नहीं है जितनी कि उनको सुविधा और प्रोत्साहन मिलने की है। लेखकों का संगठित होना और सरकार का प्रकाशकों पर उचित नियंत्रण स्थापित करना इस सम्बन्ध में आवश्यक है। पढ़ने-लिखने के लिए सुविधा गांवों में पुस्तकालय और वाचनालय स्थापित करके उत्पन्न की जा सकती है। वाचनालय में एक-दो दैनिक, कुछ साप्ताहिक और मासिक पत्र मँगवाये जावें जिससे कि प्रतिदिन के समाचार जानने के उद्देश्य से लोग उन्हें पढ़ें। पुस्तकालयों में उपयोगी और अच्छी पुस्तकों का संकलन किया जावे। इस काम को करने का सर्वश्रेष्ठ ढंग यह होगा कि प्रान्तीय सरकार का शिक्षा विभाग गांवों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए एक सूची उपयोगी पुस्तकों की बनावे जिसमें सब विषयों की पुस्तकें हों। इसी प्रकार समाचार-पत्रों की

भी एक सूची बनाई जावे और प्रान्त के सब वाचनालय और पुस्तकालयों में सूची के अनुसार ही पुस्तकें और समाचारपत्र मंगवाये जावें। पुस्तकें ऐसी हों जो पढ़ने वालों में जीवन के प्रति वैज्ञानिक और प्रगतिशील दृष्टिकोण उत्पन्न करने में सहायक हो सकें। इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रान्त में कुछ चलते-फिरते पुस्तकालय भी हों जिनमें तनिक कीमती और ऊंचे स्टैन्डर्ड की पुस्तकें रहें। इसके अतिरिक्त गाँवों में वाद-विवाद के लिए क्लब और संस्थायें भी स्थापित करने का प्रयत्न किया जावे जहाँ राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार विनिमय और वाद-विवाद हो। विशेष अवसरों पर पारितोषिक भी रक्खे जा सकते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक गांव वर्ष में एक बार खेलों का टूर्नामेंट का प्रबंध करे। इस प्रकार गांवों का जीवन भी अधिक सुन्दर और रोचक बन सकेगा, साथ-साथ शिक्षा के प्रति लोगों की प्रेम और दिलचस्पी बढ़ेगी, और शिक्षा से होने वाले लाभ उनको प्रत्यक्ष देखने को मिलेंगे।

अब तक हमने शिक्षा के सम्बंध में जो कुछ लिखा है उसका विशेष रूप से गाँवों के लड़कों और लड़कियों की शिक्षा से ही सम्बंध है। इसमें कोई संदेह नहीं कि जिन लोगों पर समाज के अच्छे या बुरे होने की जिम्मेदारी भविष्य में आने वाली है उनकी शिक्षा का उचित प्रबंध किया जावे। किन्तु इसी वस्तु को अधिक सफल बनाने के लिए, उसकी प्रगति को अधिक तेज करने के लिए और साथ-साथ वर्तमान स्थिति में गांवों की दशा में कुछ सुधार करने के लिए यह आवश्यक जान पड़ता है कि प्रौढ़ों की शिक्षा का भी प्रबंध किया जावे। यहाँ हमारा अर्थ केवल प्रौढ़ पुरुषों से ही नहीं है स्त्रियों से भी है। यह समझना कठिन नहीं है कि जिन बालकों के माता-पिता दोनों शिक्षित हैं उनके घर का वातावरण अधिक सुधरा हुआ होगा, वे कम रूढ़िवादी होंगे और प्रगतिशील विचारों का स्वागत करेंगे। इस प्रकार वे न केवल अपने वर्तमान वातावरण को पहले से अच्छा बना सकेंगे, वरन् उनके बच्चों पर भी उसका अच्छा असर होगा और उनको दी गई शिक्षा अधिक कारगर और सफल सिद्ध होगी। बालकों के लालन-पालन का उत्तरदायित्व पिता की अपेक्षा माता पर ही अधिक होता है और उसके चरित्र और विचारों का बालक पर अधिक प्रभाव पड़ता है, इसलिए प्रौढ़ स्त्रियों को शिक्षित बनाना अत्यन्त आवश्यक

है। अतः प्रौढ़ शिक्षा के सम्बंध में हम अब कुछ विचार करेंगे। प्रौढ़ों की शिक्षा के लिए रात्रि-पाठशालाओं की योजना करनी होगी। स्त्री और पुरुषों की शिक्षा का प्रबंध अलग-अलग करना होगा। यह कार्य गैर-सरकारी कार्यकर्ताओं को जिनमें सेवा-भाव है अपने ऊपर लेना चाहिए। हां, गांव की पंचायत या टाउन एरिया से उन्हें इस कार्य में सहायता मिल सकेगी। सहकारिता के सिद्धान्त पर प्रौढ़-शिक्षा का कार्य अधिक अच्छा चल सकेगा जैसा कि पंजाब में सम्भव हुआ है। इस समस्या को हल करने के लिए संयुक्तप्रान्त में कांग्रेस मंत्रिमंडल ने साक्षरता-दिवस मना कर प्रौढ़ शिक्षा लिए प्रत्येक जिले में ज़िला कमेटियां स्थापित करके प्रौढ़ शिक्षा को प्रोत्साहन दिया है। अन्य प्रान्तों को भी इन दोनों प्रान्तों का अनुकरण करना चाहिए। स्त्रियों और पुरुषों के लिए अलग-अलग समितियाँ स्थापित होनी चाहिए। प्रयत्न तो इस बात का होना चाहिए कि स्त्रियों की समिति में गांव की स्त्रियाँ अधिक से अधिक संख्या में हों, और पुरूषों की समिति में अधिक से अधिक पुरुष सम्मिलित हों। गांव के सेवाभावी और पढ़े लिखे स्त्री और पुरूषों को इस कार्य में अपना थोड़ा-सा समय देना होगा, तब ही इस कार्य में सफलता मिल सकती है। शिक्षा के सम्बंध में अध्यापक आदि का जो व्यय हो वह समिति के सदस्य चंदे के रूप में सदस्यों से इकट्ठा करें। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और सरकार भी उन्हें आर्थिक सहायता दे। सदस्यता की फीस के रूप में चाहे रुपया एकत्रित किया जा सकता है और चाहे अनाज या अन्य किसी वस्तु के रूप में फीस वसूल की जा सकती है। अस्तु इन समितियों को अपना व्यय बहुत कुछ गांव से धन एकत्रित करके करना होगा। पुस्तकीय शिक्षा के अतिरिक्त प्रौढ़ों को पुस्तकें तथा समाचार-पत्र पढ़ने की आदत डालनी चाहिए। यदि गाँव में रामायण-मंडल जैसी कोई चीज बनाई जावे जहां गांव वाले रामायण तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों को सुनने के लिए एकत्रित हों तो यह उपयोगी सिद्ध होगा। इसके अतिरिक्त ऐसे अवसरों पर केवल धार्मिक ग्रन्थों का ही पाठ न करके अच्छा यह होगा कि सब धर्मों के बारे में चर्चा हो और धर्मों की एकता को स्पष्ट किया जावे। यह चीज साम्प्रदायिक विष को कम करने में सहायक होगी। एक धर्म के लोग दूसरे धर्मों को अच्छी तरह से समझ सकेंगे और आपस में सहानुभूति उत्पन्न होगी।

इसके अतिरिक्त गांव वालों के स्वास्थ्य, विज्ञान आदि सम्बंधी बातें समझाने

के लिए तथा भौतिक शिक्षा देने के लिए मैजिक लैनटर्न तथा शिक्षा-सम्बन्धी सिनेमा फिल्मों का उपयोग अच्छी प्रकार करना चाहिए। और साधारण ज्ञान की वृद्धि करने के लिए रेडियो का भी उपयोग करना चाहिए। स्त्रियों को बच्चों के पालन-पोषण और घर की सफाई तथा घरों को सुन्दर और आकर्षक बनाने की शिक्षा देना चाहिए। सारांश यह है कि ग्राम-शिक्षा की पूर्णता के लिए केवल लड़के और लड़कियों को ही शिक्षित बनाना यथेष्ट नहीं होगा। प्रौढ़-स्त्री पुरुषों को शिक्षित बनाना होगा।

सार्जेंट रिपोर्ट

युद्ध के उपरान्त भारत में शिक्षा की उन्नति किस प्रकार की जावे इस सम्बन्ध में जाँच करने के लिए भारत सरकार ने एक बोर्ड बनाया था जिसके मंत्री श्री सार्जेंट थे, जो भारत सरकार के शिक्षा विषयक मामलों के सलाहकार थे। बोर्ड ने युद्ध के उपरान्त भारत में शिक्षा किस प्रकार फैले इस सम्बन्ध में एक रिपोर्ट प्रकाशित की। उस रिपोर्ट में गाँवों में प्रारम्भिक शिक्षा का किस प्रकार आयोजन किया जावे इस सम्बन्ध में नीचे लिखी सिफारिशें की गई हैं: (१) हमारी सम्मति में भारतवर्ष में अनिवार्य और निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा ६ से १४ वर्ष तक के लड़के-लड़कियों के लिए सर्वत्र शीघ्र ही प्रचलित कर देना चाहिए। ऐसा करने के लिए लगभग १८ लाख अध्यापकों की आवश्यकता होगी और २०० करोड़ रुपया व्यय होगा। इसलिए यह योजना लगभग ४० वर्षों में पूरी होगी। (२) शिक्षा किसी दस्तकारी के द्वारा दी जावे जिसे बेसिक शिक्षा प्रणाली कहते हैं। (३) इस शिक्षा योजना को सफल बनाने के लिए अध्यापकों की आज जो गिरी हुई दशा है उसमें आवश्यक सुधार करना होगा। उन्हें उचित वेतन देना होगा और योग्य व्यक्तियों को अध्यापक बनाने के लिए उत्साहित करना होगा।

अगर ग्राम शिक्षा के सम्बन्ध में हमने जिन विचारों का प्रतिपादन किया है उनके अनुसार बाल और प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्रों में कार्य किया जावे, तो यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि गाँव वालों के दृष्टिकोण में आवश्यक परिवर्तन किया जा सकता और उनमें एक नवीन विचार-क्रान्ति उत्पन्न की जा सकती है जो उनके पुनरुत्थान की पहली शर्त है।

परिच्छेद-१२

ग्राम सुधार—(गांवों का सामाजिक जीवन तथा ग्राम सुधार आन्दोलन)

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि गांवों का सर्वाङ्गीय पतन हो रहा है, महत्वाकांक्षी, कुशाग्र बुद्धि, धनी और साहसी व्यक्ति गांव छोड़कर शहरों में जाकर बसते हैं। जहां भारतीय ग्राम पहले एक जीवित संस्था थी वहां अब मनुष्यों की छांटन निवास करती है। आज हमारे गाँवों में तीसरी श्रेणी के ही लोग रहते हैं; भला फिर देश एक उन्नतिशील राष्ट्र किस प्रकार बन सकता है।

आज गांव पूँजी, मस्तिष्क, स्वास्थ्य और साहस की दृष्टि से दिवालिया होते जा रहे हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि हमारे ग्राम-समाज की नींव ही खोखली हो गई है। अतएव उसका पतन अवश्यम्भावी है। स्वास्थ्य, मस्तिष्क, पूंजी और साहस का गांवों से प्रवास होने के कारण गाँवों में शक्तिहीन, निर्बल, निर्धन, और साहसहीन व्यक्ति ही रह जाते हैं। इस प्रकार की जनसंख्या का यदि कुछ लोग शोषण करते हैं, ऐसे लोग यदि नितान्त भाग्यवादी, और निराशावादी बन गए हैं, उनके जीवन में घातक संतोष ने अड्डा जमा लिया है, वे रुढ़ियों और अंधविश्वास के दास बन गए हैं तथा अत्यन्त अकर्मण्य बन गए हैं तो इसमें आश्चय की बात ही क्या है। इस भयंकर परिस्थिति का इससे अच्छा परिणाम हो भी क्या सकता था।

यदि देखा जावे तो आज का राजनैतिक तथा आर्थिक संगठन ऐसा बन गया है कि शहरों में रहने वाले गाँव वालों का शोषण करने में ही अपना गौरव समझते हैं। राज्य के उन विभागों को ले लीजिये जिनका सम्बंध गाँवों से पड़ता है तो आपको ज्ञात होगा कि वे भी गाँव के शोषक बने हुए हैं। पटवारी से लेकर जिला हाकिम तक रैवेन्यू विभाग के कर्मचारी, नहर के पतरौल, पुलिस का दरोगा, शिक्षा, स्वास्थ्य, सहकारिता विभाग के सुपरवाइजर, यहाँ तक कि ग्राम सुधार विभाग के

कर्मचारी भी गांव वालों की दृष्टि में शोषक के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। यदि पटवारी, कानूनगो तथा पुलिस के लोग गाँव वालों पर अत्याचार करके उनका शोषण करते हैं। तो गाँव का शिक्षक, स्वास्थ्य विभाग का फ्तरौल, सहकारिता विभाग और ग्राम सुधार विभाग के कर्मचारी उनको दबाकर चालाकी से उनके हितैषी बन कर और कभी-कभी अन्यायपूर्ण ढंग से उनका शोषण करते हैं किसी विभाग का भी कर्मचारी क्यों न हो वह अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझता है कि वह गाँव में जाकर पूड़ी, दूध, दही पर हाथ साफ करे, अपने सामान को ले जाने के लिए मुफ्त में बैलगाड़ी मंगवा ले। पुलिस और रैवन्यू विभाग के कर्मचारी तो केवल इतने पर ही संतोष नहीं करते, वरन् अपनी दक्षिणा भी वसूल करते हैं।

पिछले सौ वर्षों में लगातार शोषित होने के कारण ग्राम जनता की मनोवृत्ति ऐसी बन गई है कि वह इस अत्याचार को चुपचाप सहन कर लेती है। गाँव वालों का शोषण ही होता हो केवल यही बात नहीं है, उन्हें पद-पद पर अपमानित होना पड़ता है। भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में ग्रामीण अथवा किसान शब्दों को अपमानजनक समझा जाना किस बात का द्योतक है ? अपमान सहते-सहते ग्राम जनता में स्वाभिमान का लेश मात्र भी नहीं रह गया है।

दुर्भिक्ष, महामारी, राज्य-कर्मचारियों का अत्याचार और शोषण-ऋण का भार और जमींदारों का बोझ इन सब ने मिल कर भारतीय ग्रामवासी को स्वाभिमानशून्य, भाग्यवादी, और हीनता की भावना से ओत-प्रोत कर दिया है। वह यह समझ बैठा है कि भाग्य में दुख लिखा है तो सुख कहां से मिल सकता है। इस भाग्यवाद ने उसे मृत्यु का संतोष प्रदान कर दिया है।

इस भाग्यवादिता और घातक संतोष मनोवृत्ति का फल यह हुआ कि ग्रामीण अकर्मण्य बन गया। जब सब कुछ भाग्य के अनुसार ही होना है तब पुरुषार्थ की आवश्यकता ही क्या है। इस नैराश्यपूर्ण वातावरण का अवश्यम्भावी परिणाम जो होना था वह हुआ, ग्राम्यसंस्था मृतप्राय हो गई। उधर गांवों से पूंजी, साहस और मस्तिष्क के बाहर चले जाने के कारण गांवों में मनुष्य की छांटन रह गई। अस्तु रूढ़िवाद और अंधविश्वास का प्राबल्य हो गया। इसके कारण ग्राम संस्था और भी नष्ट

हो गई। जहां गांवों में भाई चारे की भावना काम करती थी, गाँव में बहुत से जनहित के कार्य सामूहिक रुप से होते थे, सारा गांव एक बड़े कुटुम्ब के समान था वहां आज कलह, ईर्षा, द्वेष की भावना ने घर कर लिया है।

उधर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शोषण तथा उनके छुटभइया देशी शोषकों के कारण गाँवों में निर्धनता का नग्न नृत्य होने लगा। निर्धन व्यक्ति का पतन होते कितनी देर लगती है। वही भारतीय ग्रामों की दशा हुई। आज जो हमें गांवों का सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त दशा में दिखलाई दे रहा है, उसके मूल कारण यही हैं। अब हम गाँवों के सामाजिक जीवन पर एक दृष्टि डालेंगे।

गांवों में मनोरंजन के साधनों का अभाव

जो लोग कि ग्राम जीवन से परिचित हैं वे जानते हैं कि गाँवों का जीवन कितना नीरस है। यह बात नहीं है कि गाँव के लोग मनोरंजन के इच्छुक नहीं होते। वास्तव में गाँव के लोग मनोरंजन के इतने भूखे होते हैं कि रद्दी से रद्दी तमाशे को वे बड़े चाव से देखते हैं। नौटंकी में रात-रात भर जमे रहना किस बात का द्योतक है। यदि कोई रीछ या बंदर नचाने वाला किसी गाँव में पहुँच जाता है तो सारा गाँव उसके पीछे हो लेता है। यदि कहीं दो बैल या कुत्ते लड़ते हैं तो गाँव के लोग खड़े होकर उस लड़ाई को देखने लगते हैं। कुछ देर के लिए ग्रामवासियों के शुष्क जीवन में जानवरों की लड़ाई से उत्तेजना प्राप्त होती है। मेले तमाशों में गाँव की स्त्रियाँ, बालक और वृद्ध सभी जिस उत्साह से भाग लेते हैं उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गाँव वालों को मनोरंजन की बहुत आवश्यकता है।

यह तो प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि दिन भर कार्य करने के उपरान्त भोजन विश्राम और मनोरंजन मनुष्य के लिए अत्यन्त ही आवश्यक है। दुर्भाग्यवश ग्राम निवासियों को न तो उत्तम भोजन ही मिलता है और मनोरंजन का तो उसके जीवन में सर्वथा अभाव है। इस नीरसता का मनोवैज्ञानिक फल यह होता है कि उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। तनिक सा झगड़ा होने पर वह अपने आपे से बाहर हो जाता है और भंयकर फौजदारी हो जाती है। यही नहीं मुकदमेबाजी में

उसे खेल का आनन्द आता है और उसमें हानि लाभ का विचार न करके वह हार जीत का आनन्द और उत्तेजना का अनुभव करने लगता है। बहुत से विद्वानों का कहना है कि मनोरंजन के साधनों का अभाव गांवों में लड़ाई, झगड़े और मुकदमेबाजी की बहुलता का मुख्य कारण है। श्रीयुत डार्लिंग महोदय का तो यहाँ तक कहना है कि ऐसा प्रतीत होता है कि मुकदमेबाजी हिन्दुओं का जातीय खेल है। इसमें कोई संदेह नहीं कि मुकदमेबाजी और लड़ाई झगड़ों का मनोरंजन के साधनों के अभाव से बहुत घनिष्ट सम्बंध है।

आवश्यकता इस बात की है कि गाँव के लड़के-लड़कियों के लिये तथा स्त्री-पुरुषों के लिए सुरुचिपूर्ण तथा स्वास्थ्यप्रद मनोरंजन के साधन उपलब्ध किये जावें। मनोरंजन के साधनों से गाँवों का नीरस जीवन सरस बनेगा और गांव वालों में जो लड़ाई झगड़े के लिये एक स्वाभाविक आकर्षण उत्पन्न हो गया है वह नष्ट हो जावेगा। इसके लिए नीचे लिखी बातों का प्रबंध करना होगा।

आज जो ग्रामीण युवक थोड़ी सी शिक्षा भी पा जाता है उसे गाँव अत्यन्त नीरस स्थान प्रतीत होने लगता है और वह वहाँ रहना नहीं चाहता। गाँव बहुत सुनसान और निर्जन स्थान होता है। यही कारण है कि गाँव में रहने वाला व्यक्ति बहुत उदास मनोवृत्ति का होता है और उसकी बुद्धि का विकास नहीं हो पाता। क्योंकि उसको कोई नई बात देखने, सुनने या उस पर विचार करने के लिए नहीं मिलती।

ग्रामवासियों की बुद्धि का विकास तभी हो सकता है जब कि वे कभी-कभी खेल खेलें, तमाशे, प्रदर्शनियां तथा मेले देखें और उन्हें संसार में क्या हो रहा है उसके समाचार प्रति दिन मिलते रहें। यहीं नहीं सायंकाल को जब वह काम से थक कर घर आवें तो उनके लिए थोड़े मनोरंजन की भी आवश्यकता है जिससे कि उनका मस्तिष्क और शरीर स्फूर्ति पाकर ताजा हो जावे। प्रौढ़ों के अतिरिक्त युवकों के लिए तो खेलों की और भी अधिक आवश्यकता है कि जिससे उनमें अनुशासन, साहस, फुर्ती, तथा सामूहिक भावना का उदय हो।

खेल

युवकों तथा लड़कों को मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य प्रदान

करने तथा उनमें अनुशासन की भावना भरने के लिए खेलों की बड़ी आवश्यकता है, साथ ही उनसे मनोरंजन भी कुछ कम नहीं होता। किन्तु दुर्भाग्यवश जिस प्रकार हमारी सभी संस्थाओं का पतन हो चुका है उसी प्रकार हमारे खेलों की दशा है। गांवों में लड़के जिन खेलों को खेलते हैं उनमें बहुधा ऊपर लिखे गुणों का अभाव होता है। हमारे स्कूलों में विदेशी खेलों का प्रचार है, वे बहुत ही खर्चीले हैं। अतएव उनका गाँवों में प्रचार करना न तो सम्भव ही है और न बुद्धिमत्ता ही कही जा सकती है। हां, विदेशी खेलों में फुटबाल का खेल ऐसा अवश्य है जिसमें एक उत्तम खेल के सभी गुण विद्यमान हैं और वह खर्चीला भी अधिक नहीं है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि अच्छे खेल ढूंढ़ निकाले जावें और गांवों में उनका प्रचार किया जावे। गांव के समीप ही किसी मैदान को चौरस कर लिया जावे। जब गाँव में खेलों का यथेष्ट प्रचार हो जावेगा तो एक गांव के युवक दूसरे गाँव से खेल खेला करेंगे। यह खेल ही गाँव वालों के लिए यथेष्ट मनोरंजन के साधन उपलब्ध कर देंगे।

ग्राम खेल बोर्ड

आवश्यकता इस बात की है कि एक ग्राम खेल बोर्ड स्थापित किया जावे। हमारे देश के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न प्रकार के खेल प्रचलित हैं। इन सब खेलों को इकट्ठा करके उनके नियम इत्यादि बनाकर पुस्तकें प्रकाशित की जावें और उनका गाँवों में प्रचार किया जावे। फुटबाल, कबड्डी, रामडंडा, नमक चोर, वालीबाल, बास्केट बाल, गेंद बल्ला इत्यादि तथा अन्य जितने भी खेल हों उनका चुनाव किया जावे और उनका प्रचार किया जावे। ग्राम खेल बोर्ड इन खेलों का नियंत्रण, प्रचार और देखभाल करे, खेल ऐसे हों जो अधिक खर्चीले न हों, जिसे अधिक व्यक्ति खेल सकें और जिनमें संगठन, सामूहिक भावना, शारीरिक विकास, साहस, स्फूर्ति तथा अनुशासन का उदय हो।

ग्राम सेवादल

खेलों के अतिरिक्त लड़कों और युवकों को मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य प्रदान करने के लिए तथा उनको योग्य नागरिक बनाने के लिए ग्राम सेवादल की बड़ी आवश्यकता है। प्रत्येक गाँव में एक ग्राम सेवादल बनाया जावे। ग्राम सेवादल में गाँव के बड़े लड़के तथा युवक भर्ती

किये जावें। ग्राम सेवा दल के सदस्यों को सेवा का महत्व समझाया जावे, प्रयत्न यह किया जावे कि गाँव का प्रत्येक युवक ग्राम सेवा को अपने लिए गौरव समझे। ग्राम सेवादल निम्नलिखित कार्य करे। होली, दिवाली, दशहरा ईद इत्यादि त्योहारों तथा अन्य अवसरों पर गाँव की सफाई करना, टिड्डी तथा अन्य फसलों के शत्रुओं (कीड़े आदि) को मारने में गाँव वालों की सहायता करना, विशेष अवसरों पर नाटक, प्रहसन, तथा अन्य खेल-तमाशों का आयोजन करके गाँव वालों के लिए मनोरंजन का साधन उपलब्ध करना। गाँव के रास्तों को ठीक करना और गाँव में फलों के वृक्ष लगाना गाँव में फलों के वृक्ष लगाने का कार्य तो प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए। इससे दो लाभ होंगे, एक गाँव की सुन्दरता बढ़ेगी दूसरे खाने के लिए फल मिल सकेंगे। गाँव के रास्तों को ठीक करने तथा गाँव के समीपवर्ती गड्ढों को भरने में ग्राम सेवादल गाँव वालों की सहायता कर सकता है।

नाटक, प्रहसन, भजन मंडली इत्यादि

गाँवों के नीरस जीवन को सरस और मधुर बनाने के लिए यह आवश्यक है कि ग्राम सुधार विभाग अथवा अन्य कोई प्रान्तीय संस्था गाँवों के जीवन, उनकी आवश्यकताओं के आधार पर छोटे-छोटे नाटक, प्रहसन, भजन योग्य लेखकों तथा कवियों से लिखवावें। वही नाटक स्कूलों तथा ग्राम सेवादल की सहायता से गाँवों में खेले जावें। गाँव का शिक्षक अथवा अन्य कोई शिक्षित व्यक्ति उनको तैयार करावे। स्टेज, पर्दे तथा पोशाकों की उन नाटकों में कोई आवश्यकता न होनी चाहिए। चाँदनी रात्रि में गाँव की किसी चौपाल पर या गाँव के स्कूल में नाटक हों, गाँव के लोग उसे देखें। विशेष अवसरों पर अथवा त्योहारों पर लड़के सामूहिक रूप से उन गानों को गायें जो गाँवों के लिए विशेष रूप से लिखवाये गए हैं। अच्छे भजनों के प्रचार से दो लाभ होंगे। एक तो प्रचलित कुरीतियों के विरुद्ध वातावरण बनेगा, दूसरे मनोरंजन होगा।

गांव में खेलकूद और मनोरंजन का प्रबंध करने वाली एक सभा स्थापित की जावे जो हिन्दुओं, मुसलमानों तथा इसाइयों के त्योहारों के समय मनोरंजन के साधन उपलब्ध करे, खेल, नाटक, भजन इत्यादि करवावे और एक प्रान्तीय बोर्ड हो जो उस प्रान्त की भाषा में इस प्रकार के भजन और

नाटक लिखवावे।

घरों को आकर्षक बनाना

जिस प्रकार हमारे गाँवों में कोई आकर्षण नहीं रह गया है उसी प्रकार गाँवों में रहने वालों के घरों में कोई आकर्षण नहीं है। जब कभी थका हुआ किसान खेतों पर से आता है तो घर में उसके लिए ऐसा कोई भी आकर्षण नहीं होता कि जिससे उसका मन बहले। खाली समय में वह चिलम लेकर किसी चौपाल पर गप उड़ाता है। एक दूसरे की बुराई करना, दूसरे के घरों की आलोचना करना यही ग्रामवासियों के मनोरंजन का साधन हो गया है। इसका फल यह होता है कि एक दूसरे के प्रति ईर्षा, द्वेष, और वैमनस्य के भाव उत्पन्न होते हैं। पटवारी, मुखिया तथा कुछ अन्य व्यक्ति जिनका मुकदमेबाजी तथा लड़ाई-झगड़े से लाभ होता है इसका लाभ उठाते हैं। यह तभी बंद हो सकता है कि जब घरों को अधिक आकर्षक बनाया जावे। घरों को अधिक आकर्षक बनाने के लिए गृह-वाटिका (Cottage Garden) आन्दोलन अत्यन्त आवश्यक है। फूलों की क्यारियों में उत्पन्न होने वाले फूल और साग सब्जी उसके लिए आकर्षण की वस्तु होगी। फूलों से घर को अधिक आकर्षक बनाया जा सकता है। लेकिन जहाँ इसके लिए हमें पुष्प वाटिका आन्दोलन को चलाना होगा वहाँ हमें गृह स्वामिनी को भी घरों को अधिक सुन्दर बनाने की शिक्षा देनी होगी। अभी तक ग्राम सुधार कार्यकर्ताओं ने गृह-स्वामिनी की ओर ध्यान ही नहीं दिया है। जब तक गाँवों में स्त्रियाँ ग्राम जीवन को मधुर और घरों को अधिक आकर्षक बनाने का काम अपने हाथ में नहीं ले लेतीं तब तक स्थिति ऐसी ही रहेगी।

यह तो स्वास्थ्य और सफाई के परिच्छेद में लिखा जा चुका है कि गृह-वाटिका से दो लाभ होंगे। एक तो उससे फूल और सब्जी मिलेगी दूसरे घर के काम में लाया हुआ जल जो कि नाली न होने के कारण सड़ता रहता है और गंदगी उत्पन्न करता है उसका उपयोग हो सकेगा घर के काम में आने वाले पानी की समस्या को पानी सोखने वाले गड्ढों के द्वारा भी हल किया जा सकता है। यदि सड़ने वाले पानी की समस्या सोकेज पिट्स से हल किया जावे तो भी गृह-वाटिका तो हर एक घर में होनी ही चाहिए। प्रकृति ने फूल जैसी सुन्दर वस्तु उत्पन्न की है। गाँवों में वह सरलता से उत्पन्न हो

सकती है। लेकिन हम उसके आनन्द से वंचित हैं।

इस सम्बंध में एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। गाँवों के कुओं के पास इतना अधिक पानी गिरता है कि वहाँ दलदल बन जाता है। उससे केवल यही हानि नहीं होती कि गंदगी उत्पन्न होती है वरन् गंदा पानी क्रमशः पृथ्वी में पहुँच कर कुयें के पानी से मिलता और उसे दूषित करता है। बहुत से लोग कुओं पर नहाते और कपड़े साफ करते हैं, गाँव की स्त्रियाँ कुओं से पानी भरती हैं और घरों में नहाती हैं, यदि कुओं पर नहाने और कपड़ा साफ करने के लिए सीमेंट का पक्का चबूतरा बनवा दिया जावे और औरतों के नहाने और कपड़ा साफ करने के लिए एक बंद जगह बनवा दी जावे तो गाँव की स्त्रियों को बहुत सुविधा हो और उनकी बहुत सी मेहनत बच जावे। कुओं की जगत ऊँची उठवा कर उसके चारों ओर ढलवा नाली बनवा दी जावे और उसे सार्वजनिक स्नान-गृहों की नाली से मिलवा दी जावे। अब प्रश्न यह है कि इनको ले कहाँ जाया जावे। या तो एक नाली के द्वारा उस पानी को बस्ती से दूर ले जाकर खेतों अथवा मैदानों में छोड़ दिया जावे और यदि यह सम्भव न हो तो कुयें के पास ही केले, तथा अन्य पौधों को लगा दिया जावे कि जो उस पानी को सोख लें। यदि गाँव के लोग या पंचायत इधर ध्यान दे तो एक छोटी सी वाटिका लगाई जा सकती है इससे एक लाभ तो यह होगा कि गंदगी दूर हो जावेगी, गंदे पानी का उपयोग वाटिका में हो सकेगा, दूसरे गाँव का आकर्षण बढ़ेगा।

मुकद्दमेबाजी

यह तो पहले ही कह चुके हैं कि मुकदमेबाजी का रोग किस भयंकरता से हमारे गाँवों में फैला हुआ है। गाँवों में मनोरंजन के साधनों का अभाव, ईर्षा, द्वेष, और पारस्परिक वैमनस्य का प्राबल्य, पटवारी, मुखिया तथा जमींदार इत्यादि का षड़यंत्र इसके मुख्य कारण हैं। अभी तक देश के नेताओं और सरकार ने इसके अनिष्टकारी आर्थिक प्रभाव की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना कि उन्हें देना चाहिए था। सच तो यह है कि ग्रामवासियों की पतित अवस्था का यह मुख्य कारण है। स्थिति यहाँ तक खराब हो गई है कि प्रत्येक गाँव में दो-एक चालाक व्यक्ति आपको ऐसे मिलेंगे जिनका पेशा केवल मुकदमे लड़वाना ही है। वे मुकदमा लड़वाने वालों के लिए वकील का प्रबंध करते हैं, झूठी सच्ची गवाही जुटाते हैं और अदालती दौड़ धूप

करते हैं। उनका जीवन निर्वाह केवल दूसरों के मुकदमे लड़वाने से ही होता है। यही उनका पेशा है। यह गाँव का "बैरिस्टर" यह कभी नहीं चाहता कि किसी झगड़े का गाँव में ही निपटारा हो जावे। वह तो यही चाहता है कि मुकदमेबाजी गहरी हो। तभी उसे लाभ होगा, निर्धन किसान को अदालत के चपरासी से लेकर, वकील तथा अदालत के कर्मचारी किस प्रकार लूटते हैं यह किसी से छिपा नहीं है। ग्राम निवासी मुकदमेबाजी में जितना धन नष्ट करते हैं उसका अनुमान बहुत कम लोगों को है। लेखक ने इस सम्बंध में जो थोड़ी-सी खोज की है उससे उसे ज्ञात हुआ कि साधारणतः जितना लगान वह जमींदार को देता है उससे कहीं अधिक वह मुकदमेबाजी और अदालती कार्य में व्यय करता है। लेकिन इतने ही से मुकदमेबाजी से होने वाली आर्थिक हानि का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। किसान कितने दिन अदालतों में चक्कर काट कर व्यर्थ खोता है, उन दिनों खेती के काम की जो हानि होती है यदि उनका हिसाब लगाया जावे तो मुकदमेबाजी से होने वाली आर्थिक हानि का अनुमान् लगाया जा सकता है।

यही नहीं मुकदमेबाजी के फलस्वरूप गाँव का सामाजिक जीवन कटु और विषाक्त हो जाता है। जिन दो व्यक्तियों में मुकदमेबाजी होती है उनमें तथा उनके सहायकों और सम्बंधियों में सदैव के लिए वैमनस्य उत्पन्न हो जाता है। वे कभी किसी कार्य में सामूहिक रूप से भाग नहीं ले सकते। एक दूसरे को सब प्रकार से हानि पहुँचाना चाहता है। इससे गाँव का वातावरण बहुत खराब होता है।

इस घातक मुकदमेबाजी को रोकने का उपाय यह है कि गांव में मनोरंजन के साधन उपलब्ध किये जावें। गांव वालों को शिक्षित बनाया जावे, गांव में मुकदमेबाजी को एक दोष समझा जावे, ऐसा वातावरण बना दिया जावे जो लोग मुकदमेबाजी कराते हैं उन्हें नीचा समझा जावे। इस प्रकार गांव में मुकदमेबाजी के विरुद्ध प्रचार किया जावे। गांव वालों में स्नेह और भ्रातृ-भाव उत्पन्न हो इसके लिए त्योहारों तथा उत्सवों पर ऐसा कार्य क्रम रक्खा जावे कि गांव में मेल बढ़े।

इसके अतिरिक्त गांवों को मुकदमेबाजी से होने वाली भयंकर आर्थिक हानि से बचाने के लिए दो-चार गांवों के बीच एक ग्राम पंचायत स्थापित का जावे जो कि गाँव के झगड़ों का फैसला वहीं कर दिया करे। पंचायतों की

स्थापना इस समस्या को हल करने के उद्देश्य से बहुत आवश्यक है। किन्तु वर्तमान पंचायतों में बहुत दोष हैं। पंचायतों को दीवानी और फौजदारी के यथेष्ट अधिकार मिलने चाहिए और यह नियम बना दिया जाना चाहिए कि वकील या कोई मुख्तार उनमें किसी पक्ष की पैरवी नहीं कर सकता। जितने शीघ्र इस प्रकार की पंचायतों का संगठन किया जा सके उतना ही अच्छा है। प्रचार, शिक्षा, तथा अन्य सब प्रकार हमें गाँवों में मुकदमेबाजी से युद्ध करना होगा। तभी ग्राम निवासियों का इस रोग से छुटकारा होगा। यह रोग घुन की तरह से गाँवों को खाये जा रहा है।

रेडियो और सिनेमा फिल्म

गांवों में मनोरंजन के साधन उपलब्ध करने तथा शिक्षा और ग्राम-सुधार सम्बन्धी प्रचार कार्य करने के लिए रेडियो तथा सिनेमा का अधिक से अधिक उपयोग होना चाहिए। प्रत्येक प्रान्त में आवश्यकतानुसार प्रान्तीय सरकार ब्रॉडकास्टिंग स्टेशन स्थापित करे जो कि केवल गांवों का प्रोग्राम ब्रॉडकास्ट किया करें। साथ ही प्रान्तीय सरकारों को रेडियो के कारखाने स्थापित करके सस्ते रेडियो बनवाकर उनका गांवों में उपयोग करना चाहिए। संयुक्तप्रान्त तथा अन्य प्रान्तों में जहां-जहां गांवों में बिजली पहुँच गई है वहां रेडियो से काम लिया जा सकता है। जहाँ बिजली नहीं है वहां बैटरी से काम लिया जा सकता है। यदि रेडियो के द्वारा गांवों में सब कुरीतियों के विरुद्ध प्रचार करना शुरू कर दिया जावे, संसार भरके समाचार ग्राम निवासियों को दिये जावें, स्वास्थ्य, खेती, सफाई, तथा पशुओं के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी कराई जावे, तथा गांव वालों के लिए मनोरंजन का प्रोग्राम रक्खा जावे तो गांवों का जीवन बहुत कुछ बदल सकता है। ग्राम सुधार-कार्य में रेडियो का बहुत महत्त्व है। परन्तु अभी तक इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। आजकल ब्रॉडकास्टिंग स्टेशन जिस प्रकार का प्रोग्राम ब्रॉडकास्ट करते हैं वह गांव वालों के मतलब का नहीं होता। साथ ही सरकार ने सस्ते रेडियो सेट बनवाने तथा उनको गांवों को देने की ओर भी ध्यान नहीं दिया।

रेडियो के अतिरिक्त प्रत्येक प्रान्त में ग्राम सुधार विभाग ग्राम-जीवन संबन्धी छोटे-छोटे फिल्म बनवा ले और कुछ टाकी मशीनों की सहायता से वह उन फिल्मों को घुमा-घुमा कर गांवों में दिखलाने का आयोजन करें।

यह भी प्रचार शिक्षा और मनोरंजन का उत्तम साधन बन सकता है किन्तु होना यह चाहिए कि फिल्म बनाने का कार्य सरकार की देख रेख में हो। व्यवसायियों को यह कार्य न सौंपा जावे नहीं तो वे गंदे फिल्म तैयार करके गांव वालों की रुचि और मनोवृत्ति को और भी बिगाड़ देंगे।

गांवों में रूढ़िवाद

जिस प्रकार के वातावरण में ग्राम निवासी जीवन व्यतीत करता है उसमें रहकर यदि वह रूढ़िवादी हो जावे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। वह पुरानी रीतियों को फिर वे चाहे कितनी अनर्थकारी क्यों न हों बिना किसी प्रकार का विरोध किये हुए मानता चला जाता है। विवाह, मृत्यु, जनेऊ आदि संस्कार में, या किसी धार्मिक कृत्य में वह ऋण लेकर भी बिरादरी के लोगों को भोज देता है। बिरादरी वालों को भोज न देने से उसकी हंसी होगी इसको वह कभी सहन नहीं करता। यही नहीं, बिरादरी के लोग कभी-कभी दबाव डाल कर भोज इत्यादि के लिए निर्धन व्यक्ति को विवश कर देते हैं।

यदि कोई व्यक्ति ऐसा कार्य करता है तो सामाजिक दृष्टि से हेय समझा जावे तो बिरादरी उसको दण्ड रूप में बिरादरी को भोजन कराने पर विवश करती है। इन्हीं सब कारणों से निर्धन व्यक्ति ऋणी हो जाता है।

विवाह में दहेज प्रथा ने तो और भी गजब ढा दिया है। प्रत्येक ग्राम निवासी यह समझता है कि यदि मैं रस्म को तोड़ूँगा तो नक्कू बनूंगा, यह है भी कुछ हद तक ठीक। यह समस्या तभी हल हो सकती है कि जब गांव के अधिकांश लोग इन रीतियों को तोड़ें। इस समस्या को हल करने के लिए प्रचार तथा शिक्षा ही एकमात्र उपाय है।

रहन-सहन सुधार समितियाँ (Better living societies)

धार्मिक तथा सामाजिक कृत्यों पर होने वाले अपव्यय को रोकने के लिए कुछ प्रान्तों में रहन-सहन सुधार समितियां स्थापित की गई हैं। पंजाब और संयुक्तप्रान्त में इनकी संख्या अधिक है। पंजाब के सहकारिता विभाग के रजिस्ट्रार का कथन है कि जिन स्थानों पर यह समितियां स्थापित हो गई हैं वहां के रहने वालों को इनके द्वारा प्रतिवर्ष हजारों रुपये की बचत होती है। जो भी मनुष्य इन समितियों के सदस्य होते हैं वे तो नियमानुसार इस प्रकार का अपव्यय कर ही नहीं सकते, साथ ही वे अन्य किसी मनुष्य के विवाहोत्सव में भी सम्मिलित नहीं हो सकते, जहाँ इस प्रकार का अपव्यय

किया जावे। इस प्रकार समिति का प्रभाव गैर सदस्यों पर भी पड़ता है। समिति विवाह तथा अन्य उत्सवों पर कितना व्यय होना चाहिए, यह निश्चित करती है, और जो सदस्य नियमानुसार कार्य नहीं करता उस पर जुर्माना करती है। यह समितियाँ गाँवों की सफाई का कार्य भी करती हैं। गलियों को साफ तथा एक-सी करवाती हैं। कुछ समितियाँ गाँव वालों को हवा का महत्व बतला कर मकानों में खिड़की लगवाती हैं। यह समितियाँ जेवर बनवाने का भी विरोध करती हैं। यह समितियाँ सदस्यों को बाध्य करती हैं कि खाद को गड्ढों में डालें जिससे कि गांव में गंदगी न हो और खाद उत्तम हो। पंजाब में एक समिति ऐसी है जिसके सदस्यों ने कंडे न बनाने और सारे गोबर की खाद बनाकर खेतों में डालने का निश्चय किया है रहन सहन सुधार समितियों की संख्या पंजाब में ३०० से ऊपर है यह समितियाँ इस बात का प्रयत्न करती हैं कि अपव्यय कम हो।

काश्मीर राज्य में सहकारी साख समितियों ने यह नियम बना लिया है कि यदि कोई सदस्य सामाजिक कार्यों पर अधिक व्यय करे तो उस पर जुर्माना किया जावे।

पिछले वर्षों में संयुक्तप्रान्त में यह समितियाँ बहुत बड़ी संख्या में (एक हजार से अधिक) स्थापित की गई हैं। अधिकाँश समितियाँ प्रान्त के पूर्वीय भाग में हैं। यह समितियाँ ग्राम सुधार विभाग की देखरेख में सड़कों की मरम्मत करती हैं, कुयें खुदवाती हैं, तालाबों को साफ रखती हैं, गाँव की सफाई करवाती हैं, औषधालय चलाती हैं, स्कूल खोलती हैं। सामाजिक उत्सवों पर फिजूलखर्ची रोकती हैं, अच्छे बीज और खाद देती हैं, वैज्ञानिक ढंग की खेती का प्रचार करती हैं और पशुओं की नस्ल का सुधार करती हैं। संक्षेप में ग्रामसुधार सम्बंधी जितने भी कार्य हैं यह सभी करती हैं। पंजाब में भी ग्रामसुधार के लिए इन समितियों का खूब प्रयोग किया जा रहा है। बंगाल में भी इनकी स्थापना हुई है।

पंजाब में एक अत्यन्त उपयोगी संस्था को जन्म दिया गया है, वह है मुकदमे तय करने वाली समितियाँ। आज हमारे देश में मुकदमेबाजी का रोग बहुत बुरी तरह से फैला हुआ है। इसको दूर करने के लिए पंजाब में ५० ऐसी समितियों की स्थापना हुई है। समिति की पंचायत सदस्यों के मुकदमों का फैसला करती है। यदि पंचायत समझौता नहीं करा पाती तो

पंच नियुक्त कर दिये जाते हैं और वे फैसला दे देते हैं। पंचों का फैसला अदालत को मान्य होता है। किन्तु ऐसे बहुत कम अवसर आते हैं कि जब समिति को फैसला अदालत के द्वारा मनवाना पड़े। सदस्य स्वयं फैसलों को मान लेते हैं।

अब तो प्रान्तीय सरकारें दहेज सम्बन्धी कानून बनाने की बात भी सोच रही हैं। यदि दहेज सम्बन्धी कानून बन गया तो विवाह पर जो धन व्यर्थ नष्ट होता है वह बच जावेगा। परन्तु वास्तव में यह समस्या तभी हल होगी जब कि ग्राम निवासी इस प्रकार के व्यय से होने वाली हानि को समझ लें और स्वयं ही उसको बंद कर दें।

भाग्यवादी तथा अशिक्षित होने के कारण ग्राम निवासी जंत्र, मंत्र, झाड़, फूँक, टोना इत्यादि में बहुत विश्वास करता है। कभी-कभी तो उसकी इस अज्ञानता के कारण महा अनर्थ हो जाता है। बहुत से ग्रामीण बीमार होने पर दवा न खाकर केवल झाड़ फूंक पर निर्भर रहते हैं। बच्चों के लालन-पालन में भी रूढ़िवाद और अज्ञानता के कारण बड़ी बुरी प्रथायें गाँवों में प्रचलित हो गई हैं। किन्तु यह सब बातें केवल शिक्षा और प्रचार से ही दूर हो सकती हैं।

गाँवों के जीवन में सरसता और मधुरता लाने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि गृहिणी को शिक्षित तथा गृह कार्य में दक्ष बनाया जावे। ग्रामसुधार का कार्य गृहिणी की उपेक्षा करके कभी भी सफल नहीं हो सकता। हर्ष का विषय है कि महात्मा गाँधी के नेतृत्व में कस्तूरबा स्मारक कोष इस ओर अग्रसर है।

ग्राम सुधार आन्दोलन

भारतवर्ष गांवों का देश है। सात लाख गांवों में देश की लगभग ९० प्रतिशत जनसंख्या निवास करती है। लेकिन गांवों में निर्धनता, कलह, रोग, गंदगी, अशिक्षा और पुरानी हानिकर रस्मों का ऐसा प्रभाव है कि गांवों की दशा बहुत गिर गई है। हमारे गाँव मनुष्यों के रहने लायक नहीं रह गए हैं। यही कारण है कि गांव का जो भी रहने वाला कुछ लिख पढ़ जाता है, या जिसके पास कुछ धन इकट्ठा हो जाता है अथवा यह सब कुछ न होते हुए महत्त्वाकांक्षी होता है वह गाँव छोड़ कर शहरों की ओर दौड़ता है। यही नहीं, वृद्धावस्था में जब वह नौकरी या अपने

धंधे से छुट्टी लेता है तब भी वह गाँव को न लौटकर शहर में ही बस जाता है। पढ़े-लिखे लोगों की बात जाने दीजिये, जमींदार भी गाँवों में रहना नहीं चाहते। वे भी गांवों की आमदनी से शहरों में रहना चाहते हैं। जो कारीगर गाँव में रहकर कुशलता प्राप्त कर लेता है, वह भी शहर की ओर चल देता है। इस प्रकार आज हमारे गांव से पूंजी, मस्तिष्क तथा हुनर बाहर निकला जा रहा है और गांवों में अशिक्षित तथा निर्धन किसान और कारीगरों के बीच में चतुर साहूकार उनको लूटने के लिए रह जाता है। फल यह हो रहा है कि गाँवों में निर्धन किसानों को रास्ता दिखलाने वाला कोई नहीं रहता। जब मनुष्यों की छाँटन ही गाँवों में निवास करती है तो क्रमशः जातीय ह्रास होने लगता है और राष्ट्र की शक्ति क्षीण होती जाती है (देखो पहला परिच्छेद), दूसरे गांव वाले बुरी तरह शोषित होते हैं। सरकारी कर्मचारी, महाजन, जमींदार सभी निर्धन किन्तु भोले किसान को लूटते हैं। अस्तु गाँवों को उजड़ने से बचाने के लिए तथा जातीय ह्रास को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि गांवों की दशा में सुधार किया जावे जिससे पढ़े-लिखे युवक तथा धनी व्यक्ति गांव छोड़ कर शहरों की ओर न दौड़ें।

अब हमें यह देखना चाहिए कि गाँवों में महत्त्वाकांक्षी, शिक्षित, धनी और साहसी व्यक्ति क्यों नहीं रहते। गाँवों में जमींदारी के अतिरिक्त यथेष्ट आय के साधन, ऊंचे दर्जे का सामाजिक जीवन, मानसिक विकास तथा स्वस्थ मनोरंजन के साधन उपलब्ध नहीं हैं। इसके अतिरिक्त गमनागमन के साधन तथा चिकित्सा का भी अभाव है। यही कारण है कि कुशाग्र बुद्धि तथा क्षमतावान युवक गाँवों से भाग जाते हैं। समस्या बहुत जटिल है। जब तक गाँवों में यथेष्ट आय के साधन न हों तब तक यह समस्या हल नहीं हो सकती। जब गांवों मे भी यथेष्ट धन कमाने के अवसर हों और फिर गाँवों के सामाजिक जीवन को उन्नत करने तथा गाँवों के अन्य अभावों को दूर करने का प्रयत्न किया जावे तभी यह समस्या हल हो सकती है। किन्तु भारतीय ग्रामों की आर्थिक दशा इस समय ऐसी गिर गई है कि साधारण प्रयत्नों से वह ठीक नहीं हो सकती। इसके लिए क्रान्तिकारी परिवर्तनों की आवश्यकता होगी।

हमें आवश्यकता पड़ने पर दबाव डाल कर भी बिखरे हुए खेतों

की चकबंदी करनी होगी तथा एक दूसरा कानून बना कर यह नियम बनाना होगा कि किसी किसान के पास परिवार पालन योग्य भूमि से कम भूमि न रहे। साथ ही भविष्य में परिवार पालन योग्य भूमि का भाइयों में बटवारा न हो सके। अब प्रश्न यह हो सकता है कि इस प्रकार का का कानून बना देने से किसान बेकार हो जावेंगे। इसके लिए हमें वैज्ञानिक ढंग से संगठित गृह-उद्योग धंधों को सरकारी सहायता से गांवों में स्थापित करना होगा। गृह-उद्योग धंधों को स्थापित करने का अर्थ यह नहीं है कि उनको उसी प्रकार चलाया जावे जैसे कि वे आज चल रहे हैं। उनको आधुनिक वैज्ञानिक ढंग से चलाना होगा। नवीन यंत्रों द्वारा और जहाँ-जहां सम्भव हो पानी से बिजली उत्पन्न करके गांवों के गृह उद्योग धंधों का नवीन संस्करण करना होगा।

पूंजी का प्रबंध राज्य की सहायता से हो और तैयार माल की बिक्री प्रान्तीय सिंडिकेट के द्वारा की जाय। खेती पर आजकल जितने लोग निर्वाह कर रहे हैं वे बहुत अधिक हैं और यदि यह नियम बना दिया जावे कि केवल परिवार पोषण योग्य भूमि ही किसानों के पास रहेगी तो बहुत से मनुष्यों को खेती से हटना होगा अतः केवल गृह उद्योग धंधों से ही काम नहीं चलेगा। उसके लिए हमें बड़े-बड़े उद्योग धंधों का जहां तक हो सके विकेन्द्रीयकरण (Decntralisations) करना होगा। जो भी मौसमी कारखाने हैं उनको गाँवों में स्थापित किया जावे और अन्य कारखानों को भी जहां तक सम्भव हो वर्कशाप का रूप देकर गावों में स्थापित किया जावे इससे यह न समझना चाहिए कि औद्योगिक केन्द्र नष्ट हो जावेंगे नगरों का ह्रास होने लगेगा। जिन धंधों का केन्द्रीयकरण (Loca lisation) ही आवश्यक है वे धंधे औद्योगिक केन्द्रों में बड़े-बड़े कारखानों के रूप में चलते रहेंगे। किन्तु दूसरे धंधों का विकेन्द्रीयकरण किया जावेगा। किन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि केन्द्रीय सरकार तथा सब प्रान्तीय सरकारें पूर्ण सहयोग तथा साहस के साथ देश की औद्योगिक उन्नति का प्रयत्न करें। केन्द्रीय सरकार (Central government)को अपनी कर, व्यापारिक तथा औद्योगिक नीति में आमूल परिवर्तन करना होगा तब जाकर देश में यह नवीन औद्योगिक संगठन सफल होगा। और तभी गाँवों में यथेष्ट आय के साधन उपलब्ध होंगे। जिससे कि शिक्षित, महत्त्वाकांक्षी तथा

साहसी व्यक्ति गाँव में रहना पसंद करेंगे।

किंतु उद्योग धंधों की उन्नति के साथ कृषि की उन्नति आवश्यक है, क्योंकि कृषि भारत का राष्ट्रीय धंधा है और देश की अधिकांश जनसंख्या कृषि पर ही निर्भर रहेगी। कृषि की सफलता के लिए किसान को ऋण मुक्त करना होगा, जमींदारों के शोषण से किसान को बचाना होगा। लगान सम्बन्धी कानूनों में आमूल परिवर्तन करना होगा, बिखरे हुए खेतों की चकबंदी करना होगा तथा अच्छे पशु, अच्छे बीज, हल इत्यादि तथा खाद का प्रबंध करना होगा। तभी खेती की उन्नति हो सकती है। इस सम्बन्ध में यह बात समझ लेनी चाहिए कि पिंगले लगाने से काम नहीं चलेगा, हमें दृढ़ता और साहसपूर्वक इस व्यवस्था में क्रान्तिकारी कदम उठाना होगा।

आर्थिक समस्याओं को हल करने के साथ ही गमनागमन की सुविधायें शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, सफाई, स्वास्थ्यवर्धक मनोरंजन के साधन भी उपलब्ध करने होंगे। इसके अतिरिक्त ऊँचे दर्जे का सामाजिक जीवन भी निर्माण करना होगा। आर्थिक स्थिति के सुधरने पर गाँव के रहने वाले भी इन कार्यों पर व्यय करेंगे। इसके अतिरिक्त राज्य कर्मचारियों की मनोवृत्ति को बदलना होगा। आज गांव का रहने वाला नीची दृष्टि से देखा जाता है, उससे अभद्रतापूर्वक बोलना तथा उसको पद-पद पर अपमानित करना, कोई अपराध नहीं समझा जाता है। यह सब कठोरतापूर्वक बंद करना होगा। तभी ग्रामीण स्वाभिमानपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकेगा और अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकेगा। गाँवों के पुनः निर्माण का कार्य अर्द्ध-निद्रित अवस्था में नहीं हो सकता। इसके लिए समस्त राष्ट्र की शक्ति को केन्द्रित करना होगा। देश के आर्थिक ढाँचे में मूलभूत परिवर्तन करना होगा।

कुछ समय हुआ कि भारतवासियों का ध्यान उन सात लाख गाँवों की ओर गया जो कि अत्यन्त गिरी हुई अवस्था में थे। क्रमशः कुछ व्यक्तियों ने अपने-अपने क्षेत्रों में ग्राम सुधार कार्य करना आरम्भ किया। इन प्रयत्नों में श्री ब्रेन और श्रीमती ब्रेन पंजाब के गुरगाँव जिले का ग्राम सुधार कार्य, स्वर्गीय विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर का श्री निकेतन का प्रयोग तथा वाई० यम० सी० ए० का दक्षिण भारत के मालाबार प्रान्त में किया जाने वाला ग्राम सुधार कार्य विशेष उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त बनारस जिले में श्री वी० यन० मेहता के उद्योग से ग्रामसुधार का प्रशंसनीय कार्य हुआ। तथा

डैनियल हैमिल्टन द्वारा स्थापित सुंदरबन उपनिवेश भी इस दिशा में एक प्रशंसनीय कदम था। कुछ अन्य स्थानों पर भी समाज सेवी व्यक्तियों ने ग्राम सुधार कार्य किये। उधर अखिल भारतीय चर्खा संघ भी ग्राम सुधार कार्य को परोक्ष रूप से कर रहा था। परन्तु राज्य का ध्यान इस महत्वपूर्ण समस्या की ओर उस समय तक नहीं गया जब तक कि दिसम्बर १९३४ के बम्बई कांग्रेस के अधिवेशन में महात्मा गाँधी की अध्यक्षता में ग्राम-उद्योग संघ (Village Industries Association) की स्थापना हुई ग्राम उद्योग संघ की स्थापना से सरकार बहुत ही चौकन्नी हुई। सरकार ने महात्मा जी के इस कार्य को केवल गाँवों में कांग्रेस के प्रभाव को बढ़ाने की एक चाल समझी। अतएव भारत सरकार ने भी एक करोड़ रुपये की ग्रांट देकर प्रान्तीय सरकारों को ग्राम सुधार कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया अस्तु सभी प्रान्तों में १९३५ के आरम्भ से ग्राम सुधार का कार्य आरम्भ हो गया। तब तक इस कार्य के लिए कोई पृथक विभाग स्थापित नहीं किया गया था। जब नवीन निर्वाचन हुआ और सब प्रान्तों में उत्तरदायी मंत्रि-मंडल स्थापित हुए तो हर एक प्रान्त में ग्राम सुधार विभाग स्थापित करके मंत्रि मंडलों ने इस कार्य को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया।

आज तो भारत में ग्राम सुधार आन्दोलन की बहुत चर्चा है। प्रत्येक प्रान्तीय सरकार ग्रामसुधार विभाग को स्थापित करके गाँवों की काया-पलट कर देना चाहती है। सरकार का प्रयत्न कहां तक सफल होगा यह तो समय ही बतलावेगा किन्तु हमारे विचार में जिस प्रकार यह आन्दोलन चलाया जा रहा है वह त्रुटिपूर्ण है और उसके सफल होने में बहुत संदेह है। हमारा तो विश्वास यह है कि यदि ग्रामसुधार योजना में क्रान्तिकारी परिवर्तन न किये गए तो उसका असफल होना अवश्यम्भवी है।

वास्तव में हमारे गांवों की समस्या बहुत ही उलझी हुई है। अस्तु जब तक उसका पूर्ण रूप से अध्ययन नहीं कर लिया जाता तब तक सफलता मिलना कठिन है। आज भारतीय ग्रामीण की दशा ठीक उस घोड़े के समान है जिसको चारे और दाने का अभाव रहता है, शक्ति से अधिक बोझा ढोना पड़ता है, कभी आराम करने को नहीं मिलता जिससे क्रमशः वह हृष्ट-पुष्ट सुन्दर घोड़ा क्षीणकाय होकर अत्यन्त निर्बल और जर्जर हो गया है। उस मरणासन्न घोड़े की पीठ पर बोझ लाद कर उस पर स्वयं बैठे

हुए उसका मालिक सोचता है कि घोड़ा बीमार है, उसे किसी डाक्टर या विशेषज्ञ को दिखलाना चाहिए, किन्तु उसके ध्यान में यह बात नहीं आती कि सबसे पहला काम उसे यह करना चाहिए कि वह उस निर्बल और भूखे घोड़े पर से बोझा उतार ले और स्वयं उतर पड़े और उसे आराम की साँस लेने दे। यदि घोड़े का स्वामी केवल इतना ही करे तो घोड़ा बिना किसी डाक्टर या विशेषज्ञ के ही चंगा हो सकता है।

ठीक यही दशा आज हमारे ग्रामवासियों की है। विदेशी शासन द्वारा होने वाला शोषण, बढ़े हुए करों का बोझ, बढ़ी हुई लगान, जमींदार, महाजन, नगरवासी, व्यापारी, दलाल, वकील तथा शिक्षित-वर्ग तथा राज्य-कर्मचारियों के वैज्ञानिक शोषण ने भारतीय ग्राम-जन के अन्तिम रक्त-बिंदु को भी चूस लिया है। अतएव ग्रामसुधार पूर्णतः तभी सम्भव होगा कि जब बिना विलम्ब इस बहुमुखी शोषण को रोका जावे। और यह कार्य तभी सफलतापूर्वक हो सकता है कि जब देश में उत्तरदायी शासन हो और गाँव वालो में राजनैतिक चैतन्य का उदय हो।

इसका यह अर्थ नहीं है कि ग्रामसुधार कार्य को तब तक के लिए स्थगित कर दिया जावे। परन्तु हमारे कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि हमें इस होने वाले शोषण का सदैव ध्यान रखना चाहिए और जहां तक सम्भव हो इस शोषण को रोकना चाहिए। प्रान्तीय सरकारों ने इस ओर अब विशेष रूप से ध्यान दिया है यह हर्ष की बात है।

इस सैद्धान्तिक बात को ध्यान में रखने के उपरान्त हमें कोई ग्राम सुधार की योजना बनानी चाहिए। आज ग्राम संस्था निर्बल तथा निर्जीव हो रही है। उसे सतेज बनाने के लिए यह आवश्यक है कि गाँव वालों में अपनी वर्तमान दयनीय स्थिति से असंतोष उत्पन्न कर दिया जाय। उससे ग्रामीण जनता में अपनी स्थिति में सुधार करने की इच्छा बलवती हो ऊठेगी। गाँवों पर बाहर से सुधार लादने में कभी भी सफलता नहीं मिल सकती। खेद है कि इस महत्वपूर्ण तथ्य की ओर कार्यकर्ताओं का ध्यान बहुत कम गया है। शीघ्र सफलता मिलने की आशा में उत्साही कार्यकर्ता गाँव की प्रत्येक बुराई को दूर करने के लिए दौड़ पड़ते हैं। किन्तु वे सुधार ग्रामीणों को छूते तक नहीं। फल यह होता है कि जब कार्यकर्ता का उत्साह मंद पड़ जाता है अथवा वह वहाँ से हट जाता है तो उस गाँव की

दशा पहले जैसी ही हो जाती है। गाँव वाले अधिकांश सुधारों को अधिकारियों के दवाव या भय से स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु वे स्वयं उनको नहीं चाहते। आज गाँवों में जो सुधार कार्य हो रहा है वह अधिकतर इसी तरह का है। ग्राम सुधार कार्य तभी स्थायी और सफल हो सकता है जब सुधार अन्दर से हो न कि बाहर से। साथही ग्राम सुधार कार्य को स्थायित्व प्रदान करने के लिए यह भी आवश्यक है कि ग्राम सुधार आन्दोलन चलाने के लिए ग्रामीण नेतृत्व उत्पन्न किया जावे।

एक दूसरा प्रश्न भी इस विषय में महत्वपूर्ण है। अभी तक ग्राम सुधार कार्य को टुकड़े-टुकड़े करके करने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु इस प्रकार सफलता मिलना कठिन है। गाँवों की जितनी भी समस्याएँ हैं एक दूसरे से सम्बन्ध रखती हैं। अतएव ग्राम सुधार कार्य में सफलता तभी मिल सकती है कि जब सारी समस्याओं के विरुद्ध एक साथ युद्ध छेड़ दिया जाय। उदाहरण के लिए ग्रामीण ऋण की समस्या तभी हल हो सकती है कि जब मुकदमेबाजी, सामाजिक कुरीतियाँ खेती की उन्नति, स्वास्थ्य और सफाई, पशुओं की चिकित्सा और शिक्षा की समस्यायें हल की जाँय। फिर पुराने ऋण को चुकाने के लिए कानून बनाने और भविष्य में पूँजी का प्रबंध करने के लिए साख समितियाँ स्थापित करने की आवश्यकता है। इसी प्रकार मुकदमेबाजी का रोग दूसरी कुरीतियों तथा मनोरंजन के साधनों के अभाव से सम्बन्ध रखता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय ग्रामों की समस्याओं को एक-एक करके हल नहीं किया जा सकता।

भारतवर्ष में सात लाख के लगभग गाँव हैं। यदि मान लिया जाय कि एक गाँव की दशा को सुधारने में पाँच वर्ष लगेंगे तो कार्य की गुरुता स्पष्ट हो जाती है। ऐसी दशा में यह निश्चय करना कि ग्राम सुधार कार्य की प्रणाली कैसी हो, अत्यन्त आवश्यक हो। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि एक केन्द्रीय ग्राम सुधार केन्द्र स्थापित किया जाय और समीपवर्ती ग्रामों को उस केन्द्र का प्रभाव क्षेत्र बनाया जाय केन्द्र का ग्राम सुधार केन्द्र समीपवर्ती गाँवों पर प्रभाव डालने वाला Reflecting Centre बने, और समीपवर्ती गाँव, वहाँ जो कुछ हो रहा है उसको ग्रहण करें। कार्यकर्ता का आरम्भ से ही यह उद्देश्य होना चाहिए कि वह प्रत्येक काम में स्थानीय नेता उत्पन्न कर दे। जो उस काम को अपने हाथ में

ले लें। नहीं तो इतने गावों का सुधार करने के लिए अपार धन और असंख्य कार्यकर्ताओं की आवश्यकता होगी। जब कार्यकर्ता समझ ले कि स्थानीय कार्यकर्ता इस कार्य को चला सकेंगे तो ग्राम सुधार केन्द्र को वहाँ से हटा कर दूसरी जगह ले जायँ और स्थानीय कार्यकर्ताओं को केवल सलाह देता रहे।

आज भारतीय ग्रामीण संसार का सबसे अधिक निराशावादी, भाग्यवादी, और मूर्खता की सीमा तक पहुँचने वाला संतोष लेकर जीवित रह रहा है। सैकड़ों वर्षों से उसका अनवरत शोषण हो रहा है। इसलिए उसे विश्वास ही नहीं होता कि कोई ऐसा व्यक्ति भी हो सकता है जो उसका शोषण न करे। और न वह इस बात की कल्पना ही करता है कि उसकी दशा का सुधार हो सकता है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि ग्राम सुधार का कार्य करने वाला पहले अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करे और किसानों को अपनी दयनीय अवस्था के प्रति असंतोष उत्पन्न करके आत्म-विश्वास और आत्मसम्मान का भाव उत्पन्न करे। यह कार्य वे लोग ही कर सकते हैं जो उसकी सेवाभाव से कार्य करने जाँय। नौकरी करने की दृष्टि से जो लोग इस कार्य को करेंगे उन्हें सफलता नहीं मिल सकती। हमारा अनुभव हमें यह बतलाता है कि ग्रामसुधार विभाग के कार्यकर्ताओं की नियुक्ति ने गाँव के शोषकों की संख्या को और भी बढ़ा दिया है। जिस प्रकार राज्य के दूसरे कर्मचारी गाँव वालों का शोषण करते हैं उसी प्रकार ग्राम सुधार विभाग के कर्मचारी भी हैं। यह स्थिति देखकर कभी-कभी तो यह विचार प्रबल हो उठता है कि गाँव वालों को इसी प्रकार रहने दिया जाय। केवल उनके आर्थिक भार को कम कर दिया जाय। ग्रामसुधार कार्य ग्राम सेवकों से होगा भाड़े के कर्मचारियों से नहीं हो सकता।

सेवा-भाव से जो लोग गाँवों में रहकर काम करना चाहते है उन्हें राज्य सहायता दे। हमारे देश में बहुत से शिक्षित व्यक्ति अपना कार्य-काल समाप्त करने पर भी नगर का मोह नहीं छोड़ते। यदि रिटायर होकर शिक्षित व्यक्ति गांवों में बसना और गाँव वालों की सेवा करना अपना कर्तव्य समझें तो बहुत कुछ काम हो सकता है। यही नहीं, आवश्यकता तो इस बात की है कि चीन की भांति शिक्षित युवक गाँवों की ओर लौटें और आश्रम स्थापित करके ग्रामसुधार कार्य करें। आज देश के शिक्षित युवकों

को यह कहने की आवश्यकता है "गाँवों की ओर लौटो"। ग्राम सुधार का कार्य गुरुतर है और यह तभी सम्भव हो सकता है जब राष्ट्र की सम्मिलित शक्ति अर्थात सरकार और जनता दोनों ही इस कार्य में जुट जाँय। जब तक ऐसा नहीं होगा तब तक पूर्ण सफलता नहीं मिल सकती। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि जो कुछ इस दिशा में हो रहा है वह व्यर्थ है। यद्यपि जिस प्रकार इस समय ग्रामसुधार कार्य हो रहा है वह दोषपूर्ण है। फिर भी उसने देश का ध्यान इस आवश्यक समस्या की ओर आकर्षित किया है और गाँवों की स्थिति में उससे थोड़ा बहुत सुधार होने की भी सम्भावना हो सकती है।

परिच्छेद–१३

भारतीय ग्राम और उनकी वर्तमान दशा

भारत में ग्राम्य अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिए यह जान लेना बहुत आवश्यक है कि यहाँ कितने तरह के गांव हैं। एक प्रकार के गांव तो वे हैं जिनके रहने वाले सब पास ही पास रहते हैं। इस प्रकार के गाँव यहाँ सर्वत्र समथल भूमि या मैदान में पाए जाते हैं, जैसे संयुक्तप्रान्त, बिहार, बंगाल इत्यादि। दूसरे वे हैं जिनके रहने वाले आपस में एक दूसरे से दूर अपने-अपने खेतों पर घर बनाकर रहते हैं। इस प्रकार के गाँव भारत के पहाड़ी भागों में पाए जाते हैं। जैसे हिमालय पर्वतीय प्रदेश, मध्यप्रान्त के पहाड़ी भागों तथा दक्षिण राजपूताने के पहाड़ी प्रदेश में पाये जाते हैं।

गाँवों की आबादी का कारण कोई विशेष व्यवस्था की बात नहीं है परन्तु वह केवल प्राकृतिक है। यही बात हम सारे भारत के समथल भागों में देखते हैं किन्तु हिमालय आदि के पास के गाँवों की बात दूसरी है। पहाड़ी स्थानों में लोगों का इकट्ठा होकर रहना असम्भव है। एक दूसरे की आपस में मदद करने के लिए ही लोग एक दूसरे के पास और विशेषकर ऐसे स्थानों में, जहाँ की भूमि मिली हुई बस्ती बनाने के प्रतिकूल न थी, रहने लगे। पहले पहल गाँव घने जंगलों के बीच में बसा करते थे, क्योंकि फसल को हमेशा हिरन और सुअरों का तथा मनुष्यों को बड़े-बड़े जंगली जानवरों का डर लगा रहता था। इसके अतिरिक्त चारों तरफ घूमते हुए डाकुओं के गिरोहों का भी भय बना रहता था। इससे इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वहाँ की अवस्थाओं को देख कर कहीं-कहीं एक विशेष व्यवस्था के साथ बसाये गए हों। इस तरह गाँवों की व्यवस्था करने का दूसरा कारण था। कहीं-कहीं ऐसा हुआ कि एक जाति के लोगों ने पास-पास गाँव बसा कर एक क्षेत्र को अपना उपनिवेश बना लिया। संयुक्तप्रान्त और पंजाब के गूजर, जाट और अहीर आदि कुछ किसान लोग अब भी अपना जातीय समुदाय कायम रक्खे हुए हैं। वे केवल अपना निज का एक गाँव ही नहीं बसाते वरन् एक बड़े भारी क्षेत्र में फैले रहते हैं। अहीरों और जाटों के

ये उपनिवेश मथुरा जिले और संयुक्तप्रान्त के पश्चिमी भागों—जैसे बुलंद-शहर मेरठ, सहारनपुर, आदि में पाए जाते हैं। गूजर और जाटों के ऐसे उपनिवेश सारे पंजाब में पाये जाते हैं।

पहाड़ों में—जहाँ जगह कम होती है और जहाँ जुताई-बुवाई के योग्य भूमि टुकड़ों में बंटी रहती है—गांव की झोपड़ियाँ भी कुछ यहाँ और कुछ वहाँ रहती हैं। यहाँ किसानों के मकान उनके खेतों में बने रहते हैं। उनके लगान आदि का प्रबन्ध करने के लिए उनमें से कुछ खेतों और कुछ झोपड़ियों को मिलाकर गाँव बना देते हैं।

अब हम पहली तरह के गाँवों को लेते हैं। ऐसे गाँवों में बस्ती बीचो-बीच में होती है गाँव की बस्ती में चारों ओर पोखरे होते हैं। जो भिन्न-भिन्न स्थानों में तलैया या कुलम आदि के नाम से पुकारे जाते हैं। इन्हीं पोखरों और तलैयों से मिट्टी निकाल निकाल कर गाँव के घर बनाये जाते हैं। इन्हीं के चारों ओर गाँव का सारा कूड़ा कर्कट और गाय-बैलों का गोबर फेंका जाता है। हर एक गृहस्थ अपने-अपने घर के कूड़े आदि की अलग-अलग ढ़ेरी बनाता है (मदरास प्रान्त में बहुधा कूड़ा-कर्कट घरों के पिछवाड़े की ओर रक्खा जाता है और वहाँ साग इत्यादि बोया जाता है)।

इन्हीं पोखरों आदि की कतार में आस पास जो बगीचे और खुली हुई जगहें होती हैं वहाँ उन लोगों का खरिहान रहता है। इसके बाद खेत होते हैं जो तीन घेरों में बंटे रहते हैं। बस्ती के समीप या दूर रहने के अनुसार ही इन खेतों के तीन भाग किये जाते हैं, क्योंकि इसी पर उनमें खाद पंहुचाना निर्भर है। इन खेतों का पहला घेरा जो बस्ती के समीप ही होता है "गोहन" गोड़ा या "गोयड" कहलाता है, दूसरा "मंझा" और तीसरा घेरा "हार" या "पालू" कहलाता है। आबादी भी जातियों के अनुसार भिन्न-भिन्न मुहल्लों में बंटी रहती है।

किसी भी गाँव के भिन्न-भिन्न जाति के लोगों की व्यवस्था उस गाँव की उत्पत्ति पर निर्भर है। पर अधिकतर ऊँची जाति के लोग गाँव के बीच में रहते हैं और सबसे नीची जाति के लोग गाँव के किनारे-किनारे रहते हैं।

भारत में गाँवों की उत्पत्ति नीचे लिखे हुए दो में से एक ढङ्ग से हुई है। या तो एक जाति के या एक पंथ के ही कुछ लोग एक जगह बस गए हों और वही बस्ती आगे चलकर एक गाँव बन गया हो, या किसी एक

आदमी ने किसी कारण से उस बस्ती को बसाया हो। बैडन पावल महोदय ने पहले प्रकार के गाँव को जातीय अथवा साम्प्रदायिक गाँव कहा है (Tribal Village) और दूसरे प्रकार के गाँव को असाम्प्रदायिक और अजातीय गाँव कहा है। पहले प्रकार के गाँवों की उत्पत्ति के बारे में उनका कहना है कि या तो किसी जाति के काफिले के लोगों ने—जिनकी संख्या यथेष्ट रही हो—उस जमीन को जीत लिया हो और वहाँ की जमीन को आपस में बाँट लिया हो या कोई एक ही कुटुम्ब अपने बंधु-बांधवों के साथ पहले किसी एक जगह में आकर बस गया हो और दो-चार पीढ़ी के उपरान्त उसी कुटुम्ब के नाती-पोते वहीं पर अपना-अपना घर बना कर रहने लगे हों। यह ठीक पता नहीं लग सकता कि इन दो में से किस तरीके से जातीय या साम्प्रदायिक गाँवों को उत्पत्ति हुई है पर इतना अवश्य है कि इनमें दूसरे गाँवों की अपेक्षा एक विशेषता दिखलाई पड़ती है। जातीय गाँवों में लगभग सभी किसान एक ही जाति अथवा कुनबे के होते हैं, केवल नौकर-चाकर तथा अन्य सेवक लोग दूसरी जाति के पाये जाते हैं, जिन्हें सेवा कार्य करने के लिये बसा लिया गया है। दूसरी विशेषता वहाँ के जमींदारों में जमीन के बँटवारे के सम्बन्ध में पाई जाती है। यह सिद्धान्त 'भाई चारा' का सिद्धान्त कहलाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक कुटुम्ब के तीन पीढ़ी तक के लोगों को उस गाँव की सारी भूमि उनकी वंशावली के अनुसार बाँटी जाती है और उसके बाद चौथी; पाँचवीं और आगे की पीढ़ी के लोग भूमि बराबर बाँट लेते हैं। आजकल भाईचारे के गाँव में तीन पीढ़ी का बँटवारा कहीं नजर नहीं आता। इसका कारण यह है कि इसको बीते हुए बहुत समय हो गया और अब जो भाईचारे का बटवारा मिलता है केवल दो तरह का है—एक तो वह जहां प्रत्येक व्यक्ति बराबर भूमि बांटे हुए हैं, और दूसरा वह जहां कि भूमि कब्जे के अनुसार बँटती है। यद्यपि ऐसे जातीय गांवों के जमींदारों और मालगुजारी में जमीन का बँटवारा करने के लिए 'भाई चारे' का सिद्धान्त सर्वसाधारण है, पर साथ ही साथ बहुत से गांवों में पट्टीदारी की प्रथा भी प्रचलित है। एक से अधिक गाँव एक ही जमींदार या मालगुजार के हाथ में होता है जिसका एक ही कुटुम्ब होता है। गाँव की पीढ़ी के हिसाब से गाँव भिन्न-भिन्न हिस्सों में लोगों में बांटा रहता है। आगरा जिले के लगभग सभी गूजर और अहीरों के गाँव इसी प्रकार के हैं।

दूसरे अजातीय गाँव हैं। इन गांवों की उत्पत्ति बहुधा इस प्रकार से होती है। किसी भी एक कुटुम्ब में जब लोगों ने देखा कि उनका सारा का सारा गाँव लोगों से पूरी तरह आबाद हो रहा है तो वे दूसरी जगह की तलाश में निकले और उसे आबाद कर लिया। ऐसा कई जगह होता आया है और अब भी कहीं-कहीं होता है। ऐसा उस समय हुआ है कि जब सरकार या कोई बड़ा ताल्लुकेदार गैर आबाद जमीन को जिस पर अब तक खेती नहीं की गई—किसी उद्यमी या उत्साही किसान को खेती के लिये दे देता है। बेनेट महोदय के शब्दों में ऐसे गांव भिन्न-भिन्न जाति के कुछ लोगों का समुदाय ही है। यह लोग गाँव की सीमा में रहकर खेती बारी के जरिये अपनी जीविका चलाते हैं। आपस में एक दूसरे की रक्षा के विचार से या उस जमीन पर अधिक दिनों तक रहते-रहते उससे और वहाँ के रहने वालों से प्रेम हो जाने से वहाँ के एक जमीदार या मालगुजार के नीचे रहने से लोग एक प्रकार से इकट्ठे होकर रहते हैं। ऐसे गाँवों में जमींदारों के बीच जमीन का बँटवारा करने में पट्टीदारी प्रथा ही अधिकतर प्रचलित है। पर साथ ही ऐसे भी कुछ उदाहरण मौजूद हैं जहाँ एक ही आदमी द्वारा बसाये हुए गाँव के सभी लोगों में बराबर जमीन बाँटने की प्रथा हो गई है या यह बँटवारा वहाँ के रहने वालों के धन या उसके हल (खेती करने की शक्ति का एक माप है) के अनुसार होता है देखिये बेडन पावल लिखित (Land Settlements in India Part I and the Indian Village Community)।

देहाती समाज (Village Community) में सर हेनरी मेन ने लिखा है कि "एक गाँव की जमीन का बहुत से लोगों में मुश्तरका होना एक नियम था और जमींदारों का अलग-अलग जमीन का मालिक होना एक विशेषता थी।" फिर वे एक दूसरे स्थान पर लिखते हैं "बहुत से लोगों का एक जगह एकत्रित होना उस जमीन पर ही निर्भर था जिसे वे सब साथ-साथ जोतते थे। पर ग्रामीण समाज की यह परिभाषा भारत के किसी गाँव के लिये लागू नहीं हो सकती। भारतीय ग्रामीण समाज के लिए हमें किसी ऐसे शब्द का उपयोग न करना चाहिए जिसका अर्थ किसी प्रकार साम्यवादी (Communistic) हो।

हमने ऊपर गाँवों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखा है अब हम गाँव

का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराना चाहते हैं। गाँवों में लोगों के रहने के मकानों के अतिरिक्त प्रत्येक गाँव में एक सार्वजनिक स्थान होता है जहाँ सभी लोग आकर विश्राम करते हैं या किसी सार्वजनिक कार्य के लिए आपस में मिल सकते हैं। इसे चौपाल या गुड़ी कहते हैं।

यह चौपाल बहुधा नीम, पीपल या बड़ के पेड़ के नीचे एक चौरस उठी हुई भूमि होती है या किसी मंदिर का आँगन होता है। इसी स्थान पर गाँव के बड़े-बूढ़े लोग रोज शाम को इकट्ठा होकर ग्राम सम्बंधी विषयों पर वाद-विवाद करते हैं। यहीं पर पुलिस का सब इंस्पेक्टर या उस गाँव का पटवारी गाँव के लोगों पर अपना प्रभुत्व दिखलाता है और यहीं पर संत और महात्मा आकर गांव वालों को उपदेश देते हैं। प्रत्येक गांव का एक विशेष देवता होता है जैसे दूल्हा देव, भोंड देव, भैंसासुर, धननेश्री महामाया इत्यादि। कहीं-कहीं इनके मंदिर होते हैं और कहीं-कहीं नहीं भी होते हैं।

बिखरी हुई आबादी वाले गाँव भारत के पहाड़ी भागों में पाये जाते हैं। हर गांव में कुछ पुरवे बसे होते हैं और प्रत्येक पुरवे में दो या तीन मकान होते हैं, और हर एक पुरवे के साथ कुछ खेत होते हैं जो इनके बसने के पूर्व जंगली पेड़ों से ढके हुए थे और जिनको इन लोगों ने बराबर करके खेती के योग्य बना लिया था। मैदानों की तरह पहाड़ी गांवों में ऐसे बड़े-बड़े खेत बहुत कम पाये जाते हैं। इसी से पहाड़ी गांवों में 'गोहन', 'माँझा', और 'हार' नहीं पाये जाते।

सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से भारतीय ग्राम एक ऐसी संस्था है जिसमें कुछ लोग आपस के स्वार्थ के लिए एक समाज में रहते हैं और एक दूसरे से सहायता पाते हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी गाँव के सभी रहनेवालों की कोई एक ही सम्पत्ति हो या सब एक ही खेत को जोता करते हों। इसका केवल यही अर्थ है कि कुछ कुटुम्ब जिनकी आर्थिक दशा एक दूसरे से भिन्न है अपने-अपने रोजगार जैसे खेती, जुलाहे या बढई का काम चलाते हुए वहाँ रहते हैं।

जीवन-निर्वाह के उपायों को इकट्ठा करने में कुटुम्ब एक जीव माना जाता है। इस कुटुम्ब के लोग जितने प्रकार के धंधों में लगे हों उन सब का स्थायी और अस्थायी मूलधन उस कुटुम्ब नामक जीव का ही होता है। इसके अतिरिक्त दूसरी बातों में भी कुटुम्ब एक जीव समझा जाता है।

प्रत्येक गांव में कई किसान पेशेवाले कुटुम्ब रहते हैं, चाहे वह जमीन जिस पर वे खेती करते हैं उन्हीं की हो या वे लोग उसके लिए जमींदार, मालगुजार अथवा सरकार को लगान देते हों। जमींदार या मालगुजार चाहे उस गांव में रहे या न रहे पर जब वह गांव में रहता है तो बहुधा वह गांव की आबादी के बीच में घर बना कर रहता है और वह समाज का अगुआ समझा जाता है। गांव के लोग अपने झगड़ों का उसी से निपटारा करवा लेते हैं। दक्षिण भारत के रैय्यतवारी गांवों में यह पद गांव के पटेल या मुंसिफ को मिलता है।

भारतीय गांवों में किसानों और जमींदारों के सिवा और बहुत से कुटुम्ब रहते हैं जो कि खेतों से कुछ सम्बन्ध रखते हुए दूसरा रोजगार करते हैं। लगभग सभी गांवों में बढ़ई और लुहार रहते हैं जो किसानों के हल, तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं को बनाते या सुधारते हैं। वहां कुम्हार, तेली, जुलाहे इत्यादि भी रहते हैं जो कि गांव की सारी आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। इसके अतिरिक्त गांवों में पुरोहित या मौलवी भी रहते हैं जो तिथि, त्योहारों पर जजमानों का काम कराते रहते हैं। हर एक गांव में नाई, धोबी, मोची, कहार और भिश्ती भी रहते हैं जो गांव वालों की सेवा करते रहते हैं। ऐसे लोगों की तनख्वाह अक्सर हर एक फसल के बाद वहां के प्रचलित नियम के अनुसार अनाज रूप में ही दे दी जाती है परन्तु अब जब लोगों का शहरों में आने जाने का सुभीता होने लगा है और लोगों के विचार भी बदलते जा रहे हैं तो अनाज के स्थान पर सिक्कों में वेतन देना आरम्भ कर दिया गया है।

प्रत्येक गांव में एक साहूकार होता है जो गांव के लोगों को रुपया ब्याज पर उधार दिया करता है। भिन्न-भिन्न स्थानों में साहूकार के भिन्न-भिन्न नाम हैं जैसे, सावजी, महाजन, धनी, चेट्टी आदि। गांव की पैदावार अधिकतर वही खरीदता और मंडियों तक पहुँचाता है। वह एक प्रकार से गांव की उपज के सम्बन्ध में शहर और गांव के बीच दरमियानी आदमी (Middle Man) का काम करता है। जीवन की अन्य आवश्यक वस्तुएँ जैसे गुड़, नमक, मसाला, तम्बाकू इत्यादि भी वही बेंचता है। साहूकार गांव में प्रतिष्ठित व्यक्ति माना जाता है। उसके ब्याज की दर बहुत ऊंची होती है और वह किसान को खूब लूटता है। परन्तु फिर अधिकतर

किसान उसकी बहुत इज्जत करते हैं क्योंकि वह आड़े समय पर उन्हे मदद करता है। कहीं-कहीं जमींदार और मालगुजार ही साहूकारी का भी काम करते हैं।

खेत मजदूर

जैसे-जैसे देश की जनसंख्या बढ़ती गई और खेती के योग्य भूमि की कमी होती गई वैसे-वैसे भारतीय गांवों में एक और भी वर्ग उत्पन्न हो गया। जिसे 'खेत मजदूर' कहते हैं। आज देश में इन 'खेत मजदूरों' की संख्या कई करोड़ है और प्रति दिन इनकी संख्या बढ़ती ही जाती है। क्योंकि गांवों में खेती योग्य भूमि का अभाव है और ग्राम उद्योग धंधे पनप नहीं रहे हैं जिनमें वे काम पा सकें। इस वर्ग का उदय होना ग्राम अर्थशास्त्र के लिहाज से एक मार्के की बात हो गई है।

पहले जमाने में भी प्रत्येक गाँव में चमार, पासी आदि जाति के बहुत से मजदूर हुआ करते थे जो अनाज लेकर किसानी कारबार में दूसरों की मजदूरी किया करते थे। अब इन खेत मजदूरों की संख्या बहुत बढ़ गई है और उन्हें अनाज की जगह अब पैसे भी मिलने लगे हैं। वास्तव में इन खेत मजदूरों की दशा अत्यन्त दयनीय है। इनके घरों में जाकर देखिये निर्धनता का नग्न नृत्य देखने को मिलता है। इनको न भरपेट भोजन मिलता है और न शरीर ढकने को वस्त्र ही मिलते हैं। बुवाई और कटाई के साथ इन मजदूरों को खेतों पर मजदूरी मिल जाती है। उस समय किसान को खेत मजदूरों की आवश्यकता होती है। वर्ष के शेष भाग में इन्हें गांव में कोई भी काम नहीं मिलता उस समय यह घास छील कर लकड़ी इकट्ठा करके, समीप के शहरों में मजदूरी करके भट्टों या अन्य कारखानों में काम करते हैं। अधिकांश खेत मजदूर ही बड़े-बड़े कारखानों में जाकर मजदूर बनते हैं जो कोई खेत मजदूर गांव में भोजन-वस्त्र का साधन उपलब्ध नहीं कर सकता वह औद्योगिक केन्द्रों की ओर जाता है। वहां से यह रुपया कमा कर घर भेजते हैं। जब कभी घर वापस आ जाते हैं तो कुछ भूमि लगान पर लेकर खेती आरम्भ कर देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि गांव में लगान की दर ऊँची हो जाती है और किसानों को हानि उठाना पड़ती है।

खेत मजदूरों की समस्या वास्तव में बहुत जटिल है। जब तक देश में उद्योगधंधों का विकेन्द्रीयकर नहीं होता तथा उनकी उन्नति नहीं

होती तब तक खेत मजदूरों की समस्या हल नहीं हो सकती। आवश्यकता इस बात की है गृह-उद्योग धंधों की गांवों में स्थापना हो और बिजली तथा हल्के यंत्रों के द्वारा उनको अच्छी तरह संगठित किया जाय। राज्य इन खेत मजदूरों को उत्पादक समितियों (Producers societies) में संगठित करे और यंत्र तथा पूँजी की सहायता दे। साथ ही उनके द्वारा उत्पन्न की हुई वस्तुओं की बिक्री के लिए प्रान्तीय समितियां स्थापित की जावें यही नहीं जैसा हम ग्राम सुधार के परिच्छेद में लिख चुके हैं बड़े बड़े उद्योग-धंधों कल कारखानों का विकेन्द्रीयकरण किया जावे और जहां तक सम्भव है उन्हें गांवों में स्थापित किया जावे। मौसमी कारखाने तो गांवों में ही स्थापित किये जाना चाहिए। इसका फल यह होगा कि खेत मजदूर उनमें काम पा सकेगा। इसके अतिरिक्त राज्य को एक ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। जो भी बंजर और परती भूमि है उसको खेती योग्य बनाकर उसपर खेत मजदूरों को संगठित करके उस भूमि पर सामूहिक खेती कराई जावे। इससे दो लाभ होंगे एक देश में सामूहिक खेती का प्रचार होगा दूसरे मजदूरों को काम मिल जावेगा। परन्तु इसके लिए राज्य को पूंजी की व्यवस्था करनी होगी। खेत मजदूरों के सामूहिक या सहकारी फार्मों को हल, बैल इत्यादि देने होंगे और उनकी सिंचाई के लिए कुओं की व्यवस्था करनी होगी। खेत मजदूरों की समस्या ऐसी जटिल होती जा रही है कि राज्य को उस ओर बिना विलम्ब के ध्यान देना चाहिए। देश में आज भी ऐसी भूमि है जिसको पूँजी लगाकर खेती के योग्य बनाया जा सकता है। इस भूमि को खेती के योग्य बनाकर खेत मजदूरों को सामूहिक रूप से (व्यक्तिगत रूप से नहीं) दे देना चाहिए। तभी यह समस्या हल हो सकती है।

गांवों का शासन कार्य

अब हम गांवों का किस प्रकार शासन होता है इस पर विचार करेंगे। अधिकांश गाँवों की दशा अत्यन्त गिरी हुई है। पढ़-लिख कर सुयोग्य हो जाने पर गांव के लोग शहरों में बस जाते हैं, वे ग्रामों का ध्यान भी नहीं रखते। गाँव में जो व्यक्ति रहते हैं वे राज्यकर्मचारियों के द्वारा शोषित होते हैं वे कायदे कानूनों से अनिभिज्ञ होते हैं और अपनेअधिकारों और राज्य—कर्मचारियों के कर्तव्यों से परिचित नहीं होते इस कारण राज्य कर्मचारी विशेषकर पुलिस और तहसील के कर्मचारी उन पर मनमाना अत्याचार

करते हैं और उनसे रुपया ऐंठते हैं। राज्य को कठोरता पूर्वक इस अत्याचार को बन्द करना चाहिए। यदि शिक्षित व्यक्ति गाँवों में रहें तो यह अत्याचार अनायास ही कम हो जावेगा।

गांव के मुख्य कर्मचारी

प्रत्येक गांव में चार कर्मचारी होते हैं (१) मुखिया (२) नम्बरदार (३) पटवारी और (४) चौकीदार। नम्बरदार जमींदारों से मालगुजारी तथा सिंचाई (आबपाशी) की रकम वसूल करता है और उसे तहसील में जमा कर देता है। वह अपने गांव में शान्ति रखने का प्रयत्न करता है।

मुखिया

प्रत्येक गाँव में एक मुखिया होता है जो मुकद्दम, पटेल, मुखिया, तलियार आदि के नाम से पुकारा जाता है। उसके नीचे एक या दो चौकीदार होते हैं जो गांव में पुलिस का काम करते हैं। गाँव की सारी कार्यवाही की रिपोर्ट पहले मुखिया के पास पहुँचती है और यदि वह आवश्यक समझता है तो सरकिल पुलिस अफसर या तहसीलदार को खबर भेजता है। गांव में चोरी आदि की जांच पड़ताल या अन्य दूसरे काम गांव का मुखिया ही करता है। उसे लोगों के लगान वसूल करने से कोई मतलब नहीं रहता। मुखिया दौरे के समय राज्यकर्मचारियों के साथ सहयोग करता है। गाँव के किसी प्रभावशाली व्यक्ति को मुखिया बना दिया जाता है। जिस गाँव में खुद जमींदार रहता है वहाँ बेचारे मुखिया की कुछ अधिक प्रतिष्ठा नहीं होती और कहीं जमींदार या मालगुजार ही मुखिया होता है।

पटवारी

गाँव का हिसाब रखने वाला भी एक अफसर प्रत्येक गाँव में रहता है। उसे पटवारी या कारनाम कहते हैं। बड़े गाँवों में एक ही गाँव का और छोटे-छोटे गाँवों में दो-दो या अधिक का एक पटवारी होता है। गाँव के हर एक किसान के खेत का नाम और हिसाब उसके पास रहता है जमींदारी प्रथा वाले गांवों में भिन्न-भिन्न जमींदारों की जमीन का हिसाब पटवारी के खेवट नाम के रजिस्टर में रहता है। और साधारण किसानों के खेत, उनके हक-हकूकात का हिसाब खतौनी नाम के रजिस्टर में रहता है। रैय्यतवारी मौजों में पटवारी के पास केवल वही रजिस्टर (खतौनी) रहता है जिसमें किसान के हक-हकूकात लिखे होते हैं। इसके अतिरिक्त हर एक पटवारी के पास उस

गांव का एक नकशा होता है जिसे शजरा कहते हैं जिसमें हर खेत के नम्बर पड़े रहते हैं। एक खसरा या खेत बहीखाता होता है जिसमें शजरे के अनुसार सब खेतों की एक सूची होती है। उन खेतों के बारे में कुछ खास-खास बातें होती हैं; जैसे: (१) किसान के हक में परिवर्तन (२) किसान का नाम (३) फसल और सिंचाई की चर्चा। पटवारी के पास जमाबंदी नाम का एक बही खाता भी होता है जिसमें जमींदार और रैय्यतों की पटाई हुई मालगुजारी की रकमें लिखी जाती हैं।

जब खेतों में कोई तबदीली हो, कोई खेत या उसका हिस्सा बिक जावे या किसी खेत का मालिक बदल जावे या मर जावे तो पटवारी इस बात की रिपोर्ट तहसील में करता है। वह खेतों के नक्शे बनाता है, मालगुजारी का हिसाब रखता है। खेतों में कितनी पैदावार हुई है, कितनी भूमि पर अमुक फसल उत्पन्न की गई है, गाँव में कितने पशु हैं उनके आँकड़े भी पटवारी रखता है।

पटवारी प्रत्येक गाँव के लिए एक बहुत महत्वपूर्ण व्यक्ति होता है। यदि किसी किसान को यह पता लगाना है कि उसके पास कितनी भूमि है और उसे कितना लगान देना होगा, या यदि किसी जमींदार को यह पता लगाना है कि किसी किसान के पास उसकी कितनी जमीन है और उसका कितना लगान है तो उसे पटवारी के पास जाना पड़ेगा। जमींदारी वाले मौजों में पटवारी का ओहदा करीब-करीब जमींदार के बाद है। अगर उसी गाँव में दो या अधिक जमींदार हो गए तब तो सबका मालिक यह पटवारी ही हो जाता है और मौके-मौके से दोनों को कचहरी में मुकदमे लड़ा-लड़ा कर मिटा देता है। किसानों को भी वह मनमाने ढंग से लूटता है। मुकदमेदारी आरम्भ करवा देना तो उसके बाँये हाथ का खेल होता है। सच तो यह है कि पटवारी ग्राम संस्था का राहु है जो उसके सुख-समृद्धि को नष्ट कर डालता है। जब तक पटवारी के इन हथकंडों और अत्याचारों को बंद नहीं किया जाता तब तक गांवों की उन्नति होना कठिन है। प्रान्तीय सरकारों को पटवारी के इस भयानक प्रभाव का अन्त कर देना चाहिए।

चौकीदार

चौकीदार मुखिया की अधीनता में काम करता है। वह गाँव में पहरा देता है। वह पुलिस में प्रति सप्ताह यह खबर देता है कि उस सप्ताह में

गाँव में कितने आदमी मरे, कितने बच्चों का जन्म हुआ, वह गाँव की चोरी फौजदारी तथा अन्य अपराधों की भी रिपोर्ट देता है।

तहसीलदार

ऊपर बतलाये हुए कर्मचारी तहसीलदार के आधीन होते हैं। तहसीलदार अपनी तहसील का प्रधान अधिकारी होता है। तहसीलदार के सहायक कर्मचारी नायब तहसीलदार, कानूनगो इत्यादि होते हैं। प्रत्येक कानूनगो को एक परगना दे दिया जाता है। वह उस परगने के पटवारियों की देखभाल करता है; तहसीलदार प्रजा और अपने से ऊपर के अधिकारियों को एक दूसरे के सम्बंध में आवश्यक सूचना देता रहता है। उसका मुख्य कार्य तहसील की मालगुजारी वसूल करना है, जिसे वह अपने आधीन कानूनगोओं की सहायता से करता है। उसे तीसरे या दूसरे दर्जे की मैजिस्ट्रेटी के अधिकारी भी होते हैं।

इन राज्यकर्मचारियों के अतिरिक्त कुछ ऐसे विभाग हैं जिनका गाँव के शासन से तो कोई सम्बंध नहीं है वरन् गाँव की भलाई करना उनका कर्तव्य है। इन विभागों के कर्मचारियों का भी गाँवों से सम्पर्क रहता है उदाहरण के लिए आबपाशी, कृषि विभाग, सहकारिता विभाग, ग्राम सुधार तथा स्वास्थ्य विभाग के कर्मचारी। इन कर्मचारियों का गाँव की सेवा करना मुख्य कार्य है।

देहाती जिला बोर्ड और जिला कौंसिल (District Board and District Council) देहातों में प्रारम्भिक शिक्षा और स्वास्थ्य आदि का कार्य करने वाली मुख्य संस्थायें बोर्ड कहलाती हैं। इनके तीन भेद हैं। किसी प्रान्त में तो इनमें से तीनों ही प्रकार के बोर्ड है और कहीं-कहीं केवल दो या एक तरह के ही हैं।

(१) लोकल बोर्ड—यह कुछ ग्रामों के समूह में होते हैं।

(२) ताल्लुका या सब डिवीजनल बोर्ड—यह एक ताल्लुके या सब डिवीजन में होता है। यह लोकल बोर्डों के काम की देखभाल करता है।

(३) जिला बोर्ड—इसे किसी-किसी प्रान्त में जिला कौंसिल भी कहते हैं। यह एक जिले में होता है और जिले भरके लोकल बोर्डों (या ताल्लुका बोर्डों) का निरीक्षण करता है।

किसी-किसी प्रान्त में लोकल बोर्ड या ताल्लुका बोर्ड नहीं होते केवल

जिला-बोर्ड ही होते हैं जो कि शिक्षा, स्वास्थ्य इत्यादि का कार्य करते हैं। संयुक्तप्रान्त में केवल जिला बोर्ड ही होते हैं।

इन बोर्डों का संगठन कुछ-कुछ म्यूनिस्पैलटी की ही भाँति होता है। यद्यपि बोर्डों में अधिकतर चुने हुए सदस्य ही होते हैं। तथापि कहीं-कहीं नामजद सदस्य भी यथेष्ट होते हैं। किस जिला बोर्ड में कितने सदस्य हों तथा उसका सभापति चुना हुआ रहे या नियुक्त किया जावे। यह प्रत्येक प्रान्त के जिला बोर्ड कानून से निश्चित किया हुआ है। संयुक्तप्रान्त में सभापति चुना हुआ तथा गैर सरकारी होता है।

निर्वाचन और सदस्य

जिला बोर्डों के निम्नलिखित व्यक्ति निर्वाचक नहीं हो सकते। (क) जो ब्रिटिश प्रजा न हो (ख) जो अदालत से पागल ठहराये गए हों (ग) जो २१ वर्ष से कम हों। इन्हें छोड़कर साधारणतया ऐसा प्रत्येक व्यक्ति (पुरुष या स्त्री) निर्वाचक होसकता है जो कि एक निश्चित मालगुजारी लगान अथवा कर देता हो। अथवा वह शिक्षित हो। शिक्षा कौन से दर्जे तक हो यह भी निश्चित है। आवश्यकता इस बात की है कि जिला बोर्डों के चुनाव के लिए बालिग मताधिकार (Adult franchise) हो। जो भी स्त्री या पुरुष बालिग है उसे मत देने का अधिकार होना चाहिए। लगान मालगुजारी अथवा कर देने की कोई शर्त न होनी चाहिए।

बोर्ड के चुनाव के लिए जिले को भिन्न भिन्न निर्वाचन क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से एक सदस्य बोर्ड में जाता है। यदि बोर्ड के सदस्य चाहें तो गाँवों के हित का बहुत कुछ काम कर सकते हैं। उन्हें गाँव वालों की सेवा का बहुत अवसर मिलता है। यदि सच्चाई और ईमानदारी से सदस्य ग्रामवासियों की सेवा करना चाहें तो वे बहुत कुछ कर सकते हैं। अतएव उन्हीं लोगों को उम्मीदवार होकर चुनाव के लिए खड़े होना चाहिए जो कि योग्य हों और समय देकर गाँव वालों की सेवा करना चाहें। किन्तु अभी तक सर्वसाधारण में यह भावना कि योग्य व्यक्ति को ही मत देना चाहिए उत्पन्न नहीं हुई है इस कारण अधिकतर ऐसे लोग जो कि जनता की सेवा करने के लिए वरन् अपने हित साधन के लिए बोर्डों में जाना चाहते हैं चुने जाते हैं।

जिला बोर्डों के कार्य

जिला बोर्ड का कर्तव्य अपने ग्राम्य क्षेत्र में शिक्षा स्वाथ्य, सफाई आदि के अतिरिक्त कृषि और पशुओं की उन्नति करना है। इस प्रकार उनके मुख्य कार्य ये हैं:— १—सड़कें बनवाना और उनकी मरम्मत करवाना, उन पर पेड़ लगवाना और उन पेड़ो की रक्षा करना। २—प्रारम्भिक शिक्षा का प्रचार और प्रबंध करना (देहातों में प्राइमरी, या मिडिल स्कूल जिला बोर्ड के ही होते हैं)। ३—चिकित्सा और स्वास्थ्य का प्रबंध करना—चेचक या प्लेग आदि का टीका लगवाना, पशुओं के इलाज के लिए पशु चिकित्सालयों की व्यवस्था करना। ४—बाजार, मेला, नुमायश, या कृषि प्रदर्शनी का प्रबंध करना। ५—पीने के पानी के लिए तालाब या कुयें खुदवाना और उनकी मरम्मत करवाना। ६—कांजी हौज अर्थात ऐसे स्थानों की व्यवस्था करना जहां खेती आदि की हानि करने वाले पशुओं को रक्खा जाता है (जिस आदमी का पशु नुकसान करता है वह उस पशु को कांजी हौज भेज देता है जब पशु का मालिक उसे लेने आता है तो उसे निर्धारित जुर्माना देना पड़ता है)। ७—घाट नाव पुल आदि का प्रबंध करना।

जिला बोर्डों की आय

ब्रिटिश-भारत में बोर्डों के क्षेत्र में रहने वाले व्यक्तियों की संख्या २५ करोड़ से भी अधिक है। उपर्युक्त कार्यों तथा जनसंख्या को देखते हुए उनकी कुल वार्षिक आय जो लगभग १६ करोड़ रूपये है, बहुत कम है। बोर्डों की आय अधिकतर उस कर (अबवाब) से होती है जो भूमि पर लगाया गया है और जो सरकारी मालगुजारी के साथ ही प्रायः एक आना या अधिक प्रति रुपये के हिसाब से वसूल करके इन बोर्डों को दे दिया जाता है। इनके अतिरिक्त विशेष कार्यों के लिए प्रान्तीय सरकार बोर्डों को कुछ रकम कुछ शर्तों पर प्रदान करती है। आय के अन्य साधन, तालाब, घाट, सड़क पर महसूल-पशु-चिकित्सा और स्कूलों की फीस, कांजी हौज की आमदनी, मेले नुमाइशों पर कर तथा सार्वजनिक उद्यानों का भूमि-कर है। प्रायः लोकल बोर्डों की कोई आय नहीं होती, उन्हें समय समय पर जिला बोर्डों से ही कुछ सहायता मिल जाती है, वे उस रूपये को जिला बोर्ड की इच्छा या सम्मति के विरूद्ध व्यय नहीं कर सकते।

हम यहाँ एक डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की आय-व्यय का अनुमान पत्र देते

हैं। इससे यह ज्ञात हो जावगा कि बोर्डों की आय के क्या साधन हैं

डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का आय-व्यय

आय

प्रान्तीय सरकार से सहायता	रुपया
शिक्षा	२,६६,३६८
चिकित्सा	१२,५५०
स्वास्थ्य	११,३२८
अन्य	५६,४००
	जोड़—'३४६,६४६
अबवाब (Land tax)	२,५१,५७४
हैसियत या जायदाद कर (Property tax)	३०,०००
मवेशीखाना	१७,६००
यातायात	३६,०००
शिक्षा शुल्क	१०,५००
चिकित्सा	१,१५०
पब्लिक हेल्थ	१,५००,
पशु चिकित्सा	१३०
बाजार	१,३००
किराया	२,०००
वृक्षलगाना	७००
अन्य	५,०००
कर्ज	१४,०००
बैलेंस (वर्ष के आरम्भ में)	१६,६६६
कुल	७,३८,२६६

व्यय

प्रबंध	३६,२८०

मवेशीखाना	१२,०१५
शिक्षा	४१७,८६७
चिकित्सा	४१,०६६
स्वास्थ्य	१६,१०३
टीका-चेचक	११,२६५
मवेशी अस्पताल	१२,६४०
मेला व नुमाइश	५००
वृक्ष लगाना	१,४७०
सिविल निर्माण कार्य	४६,७६०
अन्य	७,५००
कर्ज	१४,२००
बैलेंस (वर्ष के अन्त में)	१७,५४३
	कुल ७,३८,२६६

ऊपर दिये हुए आंकड़ों से यह तो स्पष्ट हो जावेगा कि डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की आय के मुख्य साधन प्रान्तीय सरकार से मिली हुई सहायता तथा अवबाब है। परन्तु डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को शिक्षा, चिकित्सा, स्वास्थ्य सड़कों का निर्माण इत्यादि ऐसे महत्वपूर्ण जन-हित कार्य करने पड़ते हैं कि उनके लिए यह आय के साधन बहुत कम हैं। आवश्यकता इस बात की है कि डिस्ट्रिक्ट बोर्डों की आय बढ़ाई जावे। इसके लिए दो ही उपाय हो सकते हैं। या तो प्रान्तीय सरकार उन्हें अधिक सहायता दे अथवा बोर्डों को अन्य कर लगाने का अधिकार दिया जावे परन्तु जो भी हो डिस्ट्रिक्ट बोर्डों की आय को बढ़ाने की नितान्त आवश्यकता है।

केवल आय के साधनों को बढ़ाने से ही डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को हम उपयोगी नहीं बना सकते। आवश्यकता इस बात की भी है कि बोर्डों को अधिक अधिकार दिये जावें और इस बात का प्रयत्न किया जावे कि वह ग्राम जीवन को सुधारने में अधिक तत्परता से कार्य करें।

गांव वालों का पारस्परिक सम्बंध

यद्यपि गांवों की दशा अत्यन्त शोचनीय है और हानिकर रूढ़ियों के कारण उनकी दशा और भी गिरी हुई है। फिर भी गांवों के सामाजिक जीवन में कुछ ऐसी अच्छाइयां हैं जो आज भी नष्ट नहीं हुई हैं। यदि

गांवों की अच्छी रस्मों के आधार पर गांवों में कार्य किया जावे तो वहां बहुत कुछ सुधार हो सकता है। गाँवों में सामाजिक जीवन का अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि गाँव वालों के पारस्परिक संबन्ध को समझ लिया जावे।

जमींदार और किसान का सम्बन्ध

भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में जमींदारी और रैयतवारी प्रथा प्रचलित है। उत्तर भारत में जमींदारी और दक्षिण में रैयतवारी प्रथा प्रचलित है आरम्भ में जमींदारों और किसानों के सम्बन्ध अच्छे थे। जमींदार अधिकतर गाँवों में रहता था, किसानों के दुख दर्द में सम्मिलित होता था, अकाल अथवा अन्य किसी आपत्ति के समय अपनी रैयत की आर्थिक सहायता करता था और उसके प्रतिफल स्वरूप किसान जमींदार से प्रेम करते थे उसका आदर करते थे और समय पड़ने पर उसके लिये कष्ट सहने के लिए तैयार रहते थे। इसका मुख्य कारण यह था कि गाँव के लोग संगठित होते थे, गाँव की पंचायत बहुत शक्तिशाली संस्था होती थी, इस कारण जमींदार का यह साहस ही नहीं होता था कि वह किसानों पर अत्याचार करे। दूसरे राजनैतिक अव्यवस्था और रक्षा का समुचित प्रबन्ध न होने के कारण भी जमींदार अपनी रैयत के स्नेह भाजन बने रहना आवश्यक समझते थे। किन्तु अब जमींदार अधिकतर गाँवों में न रहकर शहरों में रहते हैं, उनके कारिन्दे किसानों का मनमाना शोषण करते हैं और उन पर अत्याचार करते हैं। बेगार, नजराना, लगान और भाँति भाँति के उपायों से किसानों से धन ऐंठा जाता है। समय पड़ने पर जमींदार किसानों की सहायता नहीं करते अधिकांश जमींदारों के अत्याचार से किसान पीड़ित हैं और उनके आपसी सम्बन्ध अच्छे नहीं हैं। आवश्यकता इस बात की है कि जमींदारी प्रथा को समाप्त कर दिया जावे तभी ग्राम जीवन सुखी और समृद्धिशाली बन सकता है। हर्ष का विषय है कि प्रान्तीय सरकारें इस ओर ध्यान दे रही हैं। संयुक्तप्रान्त, बिहार, और मदरास की सरकारों ने जमींदारी प्रथा को समाप्त करने की घोषणा कर दी है।

महाजन और किसान

महाजन गाँव वालों को कर्ज देता है। अर्थशास्त्र के विद्वानों का

कथन है कि भारतवर्ष में महाजन एक आवश्यक बुराई है (Neecessary evil) किसान समय पर प्रत्येक कार्य के लिए महाजन से कर्ज पा सकता है। अभी तक और कोई संस्था (बैंक अथवा सहकारी खाद समिति) महाजन को परास्त नहीं कर सकी। महाजन अपनी इस परिस्थिति का अनुचित लाभ उठाता है और किसान को लूटता है। परन्तु अब भिन्न-भिन्न ऋण सम्बन्धी कानून बन जाने तथा सहकारी समितियों की स्थापना हो जाने के कारण उसकी शक्ति पहले से घट गई है। भविष्य में महाजन की शक्ति और भी घट जाने की सम्भावना है। यदि महाजन को उचित सूद पर ईमानदारी से ऋण देने के लिए विवश किया जा सके तो वह गाँवों के लिए उपयोगी हो सकता है। यदि उसकी पूंजी सहकारी समितियों में जमा के रूप में ली जा सके तो महाजनों को अपनी जमा (Deposit) पर उचित सूद मिल सकेगा और किसानों को उचित मूल्य पर साख (credit) मिल सकेगी अस्तु आवश्यकता इस बात की है कि महाजन को सीधे लेन देन न करने देकर साख समितियों (credit societies) के द्वारा अपने रुपये को किसानों को उठाने पर विवश कर दिया जावे। इससे दो लाभ होंगे। सहकारी साख समितियों को अपने गाँव में से ही पूंजी मिल सकेगी और महाजन के द्वारा होने वाला शोषण रुक जावेगा।

गाँव वालों का पारस्परिक सम्बन्ध

गाँवों में भ्रातृ भाव तथा सहयोग की भावना अब भी बहुत कुछ अंशों में शेष है। सारा गाँव एक बड़े कुटुम्ब के समान होता है और समय पड़ने पर सब लोग एक दूसरे की सहायता के लिए तैयार रहते हैं

यदि किसी गाँव वाले के यहाँ लड़की का विवाह होता है तो गाँव भर के लोग चारा, लकड़ी दही, दूध, तथा ठीके के रुपयों से उसकी सहायता करते हैं। विवाह का सारा कार्य बिरादरी तथा गाँव की अन्य स्त्रियाँ मिलकर कर लेती हैं। पुरुष भी बारात की सेवा में भरसक सहायता देते हैं। खेतों की बुवाई, कटाई, सिंचाई के समय भी किसान एक दूसरे का मिलकर काम करवा लेते हैं जिससे कि काम हलका हो जाता है। प्रत्येक बिरादरी की एक पंचायत होती है जो कि अपनी बिरादरी के सामाजिक जीवन का नियंत्रण करती है। किसी किसी प्रदेश में जहाँ पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव नहीं पड़ा है गांव का सारा आर्थिक और सामाजिक संगठन ही सहयोग के आधार पर खड़ा हुआ मिलता

है। राजपूताने के गाँवों में सिंचाई के लिए गांवों के तालाबों की मरम्मत ग्राम के प्रत्येक' पुरुष और गांव की बहू (गांव की लड़कियां इस श्रम से मुक्त हैं) को करनी पड़ती है। गाँवों के मंदिर के लिए घर पीछे रुई, घी और तेल निश्चित राशि में लिया जाता है। जहां कुयें बहुत कम हैं और पानी की कमी है पशुओं को चरते समय पानी पिलाने के लिए बारी बारी से प्रत्येक घर का पुरुष चरस लेकर गांव के कुयें पर रहता है और पशुओं को पानी पिलाता है। गाँव के झगड़ों का फैसला पंचायत करती है और शिक्षा तथा अन्य सार्वजनिक कार्यों के लिए ग्राम पंचायत घर पीछे कुछ कर उगाहती है एक प्रकार से सारा स्थानीय शासन ग्राम पंचायत करती है। गाँव के लोग फिर चाहे वे भिन्न-भिन्न जातियों के क्यों न हों एक दूसरे को भाई के समान ही मानते हैं। एक क्षत्रिय का लड़का भी एक कहार को जो उससे आयु में बड़ा है चाचा या दादा कह कर पुकारता है। पहले तो गांव का जीवन अत्यन्त सुन्दर मधुर, और सहयोग का आदर्श जीवन था। किन्तु आधुनिक काल पश्चिमीय सभ्यता के मूल आधार व्यक्तिवाद (Individualism) के प्रभाव के कारण तथा नवीन आर्थिक संगठन के फलस्वरूप पुरानी संस्थाओं के शक्ति हीन हो जाने के कारण तथा गाँवों का आर्थिक और सामाजिक पतन हो जाने के कारण गांवों का यह सुन्दर सामाजिक जीवन नष्ट होता जा रहा है। आवश्यकता इस बात की है इन अच्छी रस्मों और भातृ-भाव को नष्ट होने से बचाया जावे और गांव वालों को नवजीवन प्रदान किया जावे।

गांवों की संस्थायें और उनका महत्व

भारतीय ग्रामों की मुख्य संस्था पंचायत थी ब्रिटिश शासन के पूर्व वस्तुतः गांव का शासन पंचायत ही करती थी। और प्रत्येक ग्राम इस दृष्टि से स्वावलम्बी था। किन्तु ब्रिटिश शासन काल में पंचायतों का महत्व जाता रहा। ब्रिटिश शासन काल में वे क्रमशः नष्ट हो गईं। भविष्य में सम्भवतः पंचायतें फिर महत्वपूर्ण हो जावेंगी। (पंचायतों के संबन्ध में नीचे विस्तार-पूर्वक लिखा गया है)

दूसरी महत्वपूर्ण संस्था जो कि किसी गांव में पाई जाती है वह है सहकारी समिति (Cooperative Society)। सहकारी समितियां भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। किन्तु भारतीय ग्रामों में अधिकतर साख

समितियां ही मिलती हैं। कुछ प्रान्तों में रहन-सहन सुधार समितियां और क्रय विक्रय समितियां (Marketing societies) भी हैं। सहकारी समितियां गांव वालों को ऋण देने तथा उनकी आर्थिक स्थिति को अच्छा बनाने का प्रयत्न करती हैं। इनके सम्बंध में सहकारिता के परिच्छेद में लिखा गया है।

थोड़े दिनों से गांवों में प्रान्तीय सरकारों की ओर से ग्राम सुधार का कार्य हो रहा है। जिस गांव को ग्राम सुधार कार्य के लिए छांटा जाता है वहां एक ग्राम सुधार पंचायत का चुनाव कर लिया जाता है। आर्गनाइजर इन पंचायतों के सहयोग तथा परामर्श से ग्राम सुधार का कार्य करते हैं।

इनके अतिरिक्त किसी-किसी गांव में स्वतंत्र पंचायतों के अविशेष चिन्ह मात्र होती हैं। वे सरकार द्वारा स्वीकृति नहीं होती परन्तु गांव के सार्वजनिक कार्यों की देख भाल करती हैं तथा उन पर नियंत्रण रखती हैं। गऊशाला, मंदिर, प्याऊ, तथा कहीं-कहीं पाठशालाओं को भी यह पंचायतें चलाती हैं। परन्तु इस प्रकार की पंचायतें बहुत कम हैं।

पंचायतें

प्राचीन काल में प्रत्येक गाँव और नगर में एक प्रभावशाली पंचायत रहती थी जो सारा स्थानीय शासन स्वयं करती थी और केन्द्रीय (Central) सरकार अर्थात राजा के सामने अपने क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करती थी। पंचायत स्थानीय रक्षा के लिए अपनी पुलिस रखती, स्वयं भूमिकर वसूल करके राजकोष में जमा करती, गाँव और नगर की सफाई का प्रबंध करती, अपने क्षेत्र के धार्मिक स्थानों, जलाशयों तथा पाठशालाओं की देख भाल तथा उनका संचालन करती थी, और अपने गांव या नगर छोटे-छोटे दीवानी और फौजदारी के झगड़ों का निपटारा करती थी। भारतवर्ष में पंचायतों का यहां तक विश्वास और प्रभाव था कि अब तक भी "पंच परमेश्वर" की कहावत चली आती है। हिन्दू राजाओं के जमाने से ही यहां पंचायतें थी, मुसलमानी शासन में भी वे एक महत्वपूर्ण संस्था के रूप में रहीं परन्तु अंग्रेजी शासनकाल में उनकी आय और अधिकार प्रान्तीय सरकार ने ले लिए। पंचायतों को कर लगाने का अधिकार नहीं रहा अस्तु उनकी आय का साधन नष्ट हो गया और वे सार्वजनिक हितकर

कार्यों को करने में असमर्थ हो गईं। पुलिस का प्रबन्ध प्रान्तीय सरकार के हाथ में चला गया। साथ ही उनको दीवानी फौजदारी मामलों का फैसला करने का अधिकार भी जाता रहा। फौजदारी और दीवानी अदालतों की स्थापना के फल स्वरूप पंचायतों का और भी ह्रास हो गया। अब भी कहीं कहीं पंचायते हैं जो धर्मशाला, मंदिर, जलाशय तथा अन्य धार्मिक हित का कार्य करती हैं किन्तु यह प्राचीन व्यवस्था के स्मृति चिन्ह मात्र हैं।

सच तो यह है कि पंचायतें गांवों की सबसे महत्वपूर्ण संस्था होनी चाहिए जिस प्रकार कि प्रजातन्त्र पद्धति के द्वारा जनता स्वयं शासक यन्त्र को चलाती है। उसी प्रकार यदि स्थानीय शासन का उत्तरदायित्व पंचायतों को दे दिया जावे तो सर्वसाधारण में राजनैतिक चैतन्य उदय हो तथा उसमें उत्तरदायित्व की भावना प्रस्फुटित हो।

कुछ वर्षों से भारतीय ग्रामों की संस्था का महत्व सरकार ने समझा है। पंचायतों को पुनः स्थापित करने का उद्योग किया जा रहा है। इनके सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रान्तों में कानून बनाये गए हैं और धीरे-धीरे इनकी स्थापना हो रही है।

पंचायतों की स्थापना

यदि किसी ग्राम के निवासी अपने यहां पंचायत स्थापित करना चाहें तो उस ग्राम के कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियों को कलक्टर के यहां इस आशय का प्रार्थना पत्र देना चाहिए। कलक्टर इस बात की जांच करेगा कि पंचों का कार्य करने योग्य यथेष्ट व्यक्ति मिल सकते हैं या नहीं। यदि इस जांच में फल अनुकूल हो तो वह पंचों को मनोनीत कर देता है और उन पंचों में से एक को सरपंच-नियुक्त कर देता है। साथ ही यह भी निश्चय कर दिया जाता है कि सप्ताह में किस दिन और किस स्थान पर तथा किस समय पंचायत काम किया करेगी।

संयुक्तप्रान्त में पंचायतें

यह तो पूर्व ही कहा जा चुका है कि कलक्टर पंचों को मनोनीति करता है। यदि भविष्य में कलक्टर को यह ज्ञात हुआ कि कोई पंच अथवा सरपंच बेईमान अथवा अयोग्य है तो वह उस पंच अथवा सरपंच को हटा भी सकता है। यदि कोई पंच त्यागपत्र दे दे अथवा मर जावे तो कलक्टर

उसके स्थान पर दूसरा पंच नियुक्त कर देता है।

कमिश्नर की लिखित सम्मति से कलक्टर किसी भी पंचायत का ताड़ सकता है। पंचायत में कम से कम पाँच और अधिक से अधिक सात पंच होते हैं किन्तु तीन पंच उपस्थित हों तो कार्य हो सकता है।

पंचायत को छोटे मोटे दीवानी तथा फौजदारी मामलों का फैसला करने का अधिकार होता है तथा (Cattle Trespass Act) अवारा घूमने वाले पशुओं द्वारा खेतों की हानि होने पर उनके मालिकों पर जुर्माना करने का भी अधिकार होता है। इसके अतिरिक्त सफाई सम्बन्धी कानून (Village Sanitation Act) के अनुसार पंचायतों को सफाई सम्बन्धी अधिकार भी हैं।

फौजदारी के मामलों में पंचायतों को अधिक से अधिक दस रुपये, पशुओं द्वारा हानि पहुँचाये जाने के मामलों में अधिक से अधिक पाँच रुपए तथा गांव की सफाई सम्बन्धी मामलों में अधिक से अधिक एक रुपया जुर्माना करने का अधिकार है।

प्रत्येक पंचायत के क्षेत्र में एक ग्राम फंड (Village Fund) खोला जाता है जिसका प्रबन्ध पंचायत करती है। ग्राम फंड में मुकदमा लड़ने वालों वादियों प्रतिवादियों से ली हुई फीस, जुर्माने का रुपया, तथा जिला बोर्ड, तथा प्रान्तीय सरकार द्वारा दी गई सहायता जमा की जाती है। इस फंड के द्वारा पंचायत अपने क्षेत्र में स्वास्थ्य, शिक्षा, सफाई, पानी गांव के मार्गों को ठीक करना तथा अन्य सार्वजनिक हितकर कार्यों को करती है।

पंचायतों के कार्य करने के ढंग

जो भी व्यक्ति कोई मुकदमा दायर करना चाहता है वह सरपंच को लिखित अथवा मौखिक प्रार्थना पत्र देता है और नियत फीस जमा कर देता है उस व्यक्ति की प्रार्थना रजिस्टर में लिख ली जाती है। पंचायत की आगामी बैठक में उस व्यक्ति की प्रार्थना सुनने के उपरान्त यदि पंचायत ठीक समझती है तो प्रतिवादी के नाम सम्मन भेजती है पंचायत में किसी भी पक्ष की ओर से कोई वकील पैरवी नहीं कर सकता। फैसला पंचों के बहुमत से होता है। अन्य प्रान्तों में भी लगभग ऊपर लिखे नियम लागू हैं।

पंचायत की सफलता के उपाय

पंचायतों से ग्राम सुधार तथा न्याय सम्बंधी बहुत कुछ काम हो सकता है। लोगों का मुकदमेबाजी में जो अपरिमित धन और शक्ति नष्ट होती है वह पंचायतों के द्वारा बहुत कुछ बच सकती है। हाँ ऐसी संस्थाओं की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने उत्तरदायित्व को समझें। वे अधिकारियों के दबाव में न रहकर अपने नैतिक बल से कार्य करें। तभी जनता का उनपर यथेष्ट विश्वास और श्रद्धा हो सकती है और उन्हें लोगों का समुचित सहयोग मिल सकता है। पंच ऐसे आदमी होने चाहिए जिनके लिए जनता की सम्मति हो जिन्होने सर्वसाधारण की सेवा की हो तथा भविष्य में जो लोकहित के अभिलाषी हों। पंचों का कर्तव्य है कि वे अधिकार की भावना न रख कर अपने कार्य को कर्तव्य समझ कर सेवा भाव से करें, जनता के अधिकाधिक सम्पर्क में आवें और उनकी आवश्यकताओं और परिस्थितियों की यथेष्ट जानकारी रखें।

किन्तु पंचायतों को गांव में विशेष प्रभावशाली और उपयोगी तभी बनाया जा सकता है कि जब उन्हें पूरे अधिकार दिये जावें। गांव का स्थानीय शासन उनके हाथ में हो सफाई, शिक्षा, सुरक्षा, स्वास्थ्य तथा न्याय करने का उन्हें पूरा अधिकार हो। केवल दस पाँच रुपये का जुर्माना करने का अधिकार देने मात्र से गाँव की पंचायत को प्रभावशाली नहीं बनाया जासकता। जब तक कि ग्राम पंचायत को पूर्णसत्तावान नहीं बनाया जावेगा और उसका निर्माण जनसत्ता के आधार पर नहीं होगा तब तक पंचायत एक निर्बल और प्रभावहीन संस्था बनी रहेगी। अभी जो अधिकार पंचायतों को मिले हुए हैं वह नहीं के बराबर हैं फिर पंच इत्यादि की नियुक्ति ऊपर से होती है अस्तु पंचायत ग्राम वासियों की कभी भी विश्वास भाजन नहीं हो सकती और न उसका गांव में कोई प्रभाव ही हो सकता है।

इस सम्बन्ध में माननीय कैलाशनाथ काटजू की योजना उल्लेखनीय है। यदि उस आधार पर ग्राम पंचायत का निर्माण हो तो पंचायत ग्राम शासन का आधार और प्रमुख साधन बन सकती है। उनकी योजना का सार नीचे दिया जाता है।

माननीय कैलाशनाथ काटजू की योजना

श्री काटजू महोदय का कहना है कि गाँव के प्रत्येक घर का मुखिया

या प्रतिनिधि इस पंचायत का सदस्य हो। वे चुनाव के विरुद्ध हैं। उनका कहना है कि जब गांव एक छोटा सा क्षेत्र है तो चुनाव के द्वारा अप्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व क्यों दिया जावे। एक परिवार या घर एक इकाई है और उसको प्रतिनिधित्व दिया जावे। इस ग्राम सभा को ग्राम सम्बन्धी सारे अधिकार दिये जावें। यह सभा जो वास्तव में गांव की व्यवस्थापिका सभा के समान होगी प्रत्येक कार्य के लिए अपने में से समितियां नियुक्त कर देगी। प्रत्येक समिति के लिए वर्ष भर का कार्यक्रम ग्राम सभा पास कर देगी और उस प्रोग्राम को पूरा करने का भार उस समिति को दिया जावे। समिति ग्राम सभा की देख भाल में कार्य करे। खेती की उन्नति, पशुओं की उन्नति, साख का प्रबन्ध, स्वास्थ्य, शिक्षा, पैदावार की बिक्री, सफाई, सुरक्षा इत्यादि सभी कार्य ग्राम सभा करे। इसके लिए ग्राम सभा को कुछ स्थानीय कर लगाने का अधिकार दिया जावे तथा प्रान्तीय सरकार तथा जिला बोर्डों से सहायता दी जावे। उन्होंने न्याय के लिए ऐसे दस पाँच गांवों की सभा के प्रतिनिधियों की एक न्याय समिति बनाने का प्रस्ताव किया है। जिससे कि योग्य-व्यक्ति इस कार्य के करने के लिए मिल सकें।

संयुक्तप्रान्त में नवीन पंचायत कानून

हर्ष का विषय है कि कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने इस ओर ध्यान दिया है। संयुक्त प्रान्तीय सरकार ने इस आशय का एक बिल उपस्थित किया है कि जिसके अन्तर्गत गांवों में पंचायतें स्थापित की जासकेंगी और उनको अदालतों के पूरे अधिकार दे दिये जावेंगे। आज जो पंचायतों को नाम मात्र के अधिकार हैं उनके कारण ही वे शक्ति हीन बनी हुई हैं। अब यदि यह कानून बन गया तो पंचायतों की स्थापना से किसान का समय और धन नष्ट होता है वह बच जावेगा। वकीलों को इन पंचायतों में पैरवी करने की मनाही रहेगी इस प्रकार ग्राम वासी अदालती शोषकों से बच सकेंगे आवश्यकता इस बात की है कि गांवों में मुकदमेबाजी को किसी प्रकार समाप्त किया जावे और जो अनिवार्य हो उसके लिए ऐसा प्रबन्ध किया जावे कि न्याय खर्चीला न हो और शीघ्र प्राप्त किया जासके। आज जिस प्रकार की भयानक मुकदमेबाजी में गांव वाले फंसे रहते हैं उसके घर के घर आर्थिक दृष्टि से बरबाद हो जाते हैं, ग्रामवासियों का समय व्यर्थ नष्ट होता है और गांव का सामाजिक जीवन अत्यन्त कटुता पूर्ण हो जाता है।

हम पहले ही कह आये हैं कि जब तक गांव अधिक आकर्षक नहीं बनाये जाते, ग्रामवासियों को शिक्षा नहीं दी जाती और न्याय को, पंचायतें स्थापित करके कम खर्चीला नहीं बनाया जाता तब तक इस रोग से ग्रामवासी मुक्त नहीं हो सकते।

संयुक्तप्रान्त का पंचायत राज्य ऐक्ट

संयुक्तप्रान्त में १९४७ में पंचायत राज्य ऐक्ट पास हुआ २७ दिसम्बर १९४७ से लागू कर दिया गया। इस ऐक्ट का मुख्य उद्देश्य गांव में, गांव पचायत के रूप में स्थानीय शासन संस्था को स्थापित करना है जिससे कि गाँवों का शासन तथा प्रबन्ध बहुत कुछ गाँव वाले स्वयं करें देश में गाँवों की इतनी अधिक संख्या है और देश की अधिकांश जनसंख्या गाँवों में निवास करती है अतएव गाँवों के रहने वालों को अपनी दयनीय स्थिति में सुधार करने का अवसर और अधिकार देना इसका मुख्य उद्देश्य है। अब इस ऐक्ट की मुख्य बातों को यहाँ देते हैं:—

गाँव सभा :—

इस ऐक्ट के अन्तर्गत सरकार को यह अधिकार दे दिया गया है कि वह गजट में प्रकाशित करके किसी भी गाँव में 'गाँव सभा' स्थापित करदे। इस प्रकार सरकार प्रत्येक गाँव में एक 'गांव सभा' स्थापित कर सकती है।

'गांव सभा' में वे सब प्रौढ़ स्त्री पुरुष सम्मिलित होंगे जो कि उस गाँव के निवासी होंगे अर्थात् प्रत्येक प्रौढ़ स्त्री पुरुष उसका सदस्य होगा। केवल नीचें लिखे व्यक्ति उसके सदस्य नहीं हो सकते :—

(क) जिसका दिमाग खराब हो।

(ख) जिसको कोढ़ हो।

(ग) जो दिवालियेपन से बरी न किया गया हो।

(घ) जो सरकारी या स्थानीय अधिकारी लोकल अथारिटी का ऐसा कर्मचारी हो, जो किसी गाँव सभा के क्षेत्र में कर्मचारी हो, या ऐसा आनरेरी मैजिस्ट्रेट, आनरेरी मुन्सिफ या आनरेरी असिस्टेंट कलेक्टर हो, जिसके अधिकार क्षेत्र में गाँव सभा का क्षेत्र हो।

(ङ) जो चुनाव सम्बन्धी किसी चुनाव में दंड पाचुका हो।

(च) जिसको नैतिक अपराध के लिए किसी न्यायालय ने अपराधी

ठहराया हो या उससे नेकचलनी के लिए जमानत जमा करने की आज्ञा दी गई हो।

पर शर्त यह है कि (ग) या (ङ) या (च) के आधीन अयोग्यता का प्रतिबंध प्रान्तीय सरकार या नियत अधिकारी हटा सकता है।

गांव सभा की बैठकें

गाँव सभा प्रतिवर्ष दो सार्वजनिक बैठक करेगी—एक खरीफ की बैठक और दूसरी रबी की बैठक। इसके अतिरिक्त सभापति स्वयं या कम से कम १/५ सदस्यों की लिखित मांग ३० दिन के अंदर किसी भी समय एक असाधारण सार्वजनिक बैठक बुला सकता है। गाँव सभा की किसी बैठक के लिए कुल सदस्यों की संख्या का १/५ कोरम होगा।

गाँव सभा अपने सदस्यों में से एक को सभापति और एक उपसभापति चुनेगी जो तीन वर्ष तक अपने पद पर रहेंगे।

गांव पंचायत

गाँव सभा अपने सदस्यों में एक कार्यकारिणी का चुनाव करेगी जो "गाँव पंचायत" कही जवेगी।

'गाँव सभा' के सभापति और उपसभापति ही गाँव पञ्चायत के भी सभापति और उपसभापति होंगे। उनके अतिरिक्त गाँव पञ्चायत के सदस्यों की संख्या ३० से ५१ के बीच होगी जिसे प्रान्तीय सरकार नियत करेगी।

गांव पंचायत के अधिकार और कर्तव्य

प्रत्येक गाँव पञ्चायत का यह कर्तव्य होगा कि वह अपने क्षेत्र में जहाँ तक उसका कोष आज्ञा दे नीचे दी हुई बातों की समुचित व्यवस्था करे।

(१) जनमार्ग बनवाना, उनकी मरम्मत कराना, उनकी सफाई तथा रोशनी का प्रबन्ध करना।

(२) चिकित्सा का प्रबन्ध करना।

(३) गाँव की सफाई कराना तथा संक्रामक रोगों को दूर करने के उपाय करना।

(४) जन्म मृत्यु और विवाहों का रजिस्टर रखना।

(५) मनुष्यों और पशुओं के शवों और किसी दूसरे दुर्गन्ध वाले पदार्थ का ठीक प्रबन्ध करने के लिए स्थानों की व्यवस्था करना।

(६) मेलों, बजारों, हाटों का नियंत्रण करना जो उनके क्षेत्र में लगते हों।

(७) प्रारम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध करना।

(८) अपने क्षेत्र में रहने वालों के लाभ के लिए सार्वजनिक चरागाहों और भूमि को छोड़ना और उनका प्रबन्ध करना।

(९) कुओं तालाबों और पोखरों का बनवाना, और उनका प्रबन्ध करना।

(१०) खेती बारी तथा व्यापार और धंधों की उन्नति करना।

(११) आग लग जाने पर लोगों के जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा करना।

(१२) पंचायत अदालत के पंच-मंडल की सूची में रक्खे जाने के लिए पंचों का निर्वाचन करना।

(१३) पशु-गणना, मनुष्य-गणना और ऐसे दूसरे आंकड़ों का लेखा रखना जो सरकार नियत करे।

(१४) सूतिका और शिशु का हित साधन करना।

ऐच्छिक कार्य:

कोई गांवपंचायत अपने अधिकार क्षेत्र के भीतर नीचे दी हुई बातों की भी व्यवस्था कर सकती है:—

(१) जनमार्गों के दोनों ओर तथा दूसरे सार्वजनिक स्थानों पर पेड़ लगाना।

(२) पशुओं की नस्ल सुधारना, उनकी चिकित्सा और उनके रोगों की रोक थाम करना।

(३) गंदे गड्ढों को भरवाना और भूमि को समतल करवाना।

(४) गांव की रक्षा और चौकी पहले के लिए, गांव पंचायत और पंचायत अदालत को उनका काम पूरा करने में सहायता करने के लिए 'गांव स्वयंसेवक दल' का संगठन करना।

(५) तकावी (सरकारी ऋण) प्राप्त करने और आपस में बांटने और उसके चुकाये जाने के सम्बंध में और पुराने ऋण का भुगतान करने

और साधारणतः कानून के अनुसार ऋण को लेने और देने की प्रणाली को अच्छे ढंग पर चलाने के सम्बंध में किसानों की सहायता करना और उनको परामर्श देना।

(६) सहयोग सम्बंधी कार्यों की उन्नति और उत्तम बीजों और औजारों के गोदाम स्थापित करना।

(७) दुर्भिक्ष या दूसरी विपत्तियों के समय सहायता करना।

(८) पुस्तकालय तथा वाचनालय स्थापित करना।

(९) मनोरंजन और खेलों के लिए अखाड़े या क्लब स्थापित करना।

(१०) सार्वजनिक रेडियो सेट और ग्रामोफोनों का प्रबंध करना।

(११) किसी गांव पंचायत के अधिकार क्षेत्र के भीतर रहने वाले किसी व्यक्ति से अमीन, टीका लगाने वाला, सिपाही, पटवारी, सिंचाई विभाग का पतरौल, या किसी सरकारी विभाग के चपरासी के विरुद्ध सरकारी कर्त्तव्यों का पालन करने में दुराचरण के बारे में शिकायत मिलने पर ऐसी पंचायत को अधिकार होगा कि वह उस शिकायत को अपनी रिपोर्ट के साथ उपर्युक्त अधिकारी के पास भेज दे। उस अधिकारी के लिए मान्य होगा कि वह ऐसी अतिरिक्त जांच करने पर जो करना आवश्यक हो, उपयुक्त कार्यवाही करे और उसके नतीजे की सूचना गांव पंचायत को भेज दे।

गांव पंचायत को अधिकार होगा कि अपने अधिकार क्षेत्र के भीतर रहने वालों की भलाई के सम्बंध में कोई प्रार्थना पत्र दे और सिंचाई विभाग के पतरौल, पटवारी या मुखिया की नियुक्ति बदली या बरखास्तगी के लिए सिफारिश करे।

गांव पंचायत को अधिकार होगा कि वह सरकार की तहसील वसूल करने अथवा अन्य टैक्स वसूल करने का काम करे।

गांव कोष

हर गांव सभा के अधिकार में एक गांव कोष होगा। गांव कोष में निम्नलिखित रकमें जमा होंगी।

(१) इस ऐक्ट के आधीन लगाये गए किसी टैक्स से वसूल की हुई रकमें।

(२) सरकार द्वारा दी हुई सहायता।

(३) ऐसी रकमें जो किसी अदालत की आज्ञा से गांव कोष में जमा की जावें।

(४) कूड़ा करकट, घर, गोबर या पांस तथा मरे हुए पशुओं की लाशों के बेंचने से जो आमदनी हो।

(५) नजूल की जमीन के लगान का या उससे होने वाली दूसरी आमदनियों का वह भाग जिसके बारे में प्रान्तीय सरकार ने गांव कोष में जमा करने के आदेश किये हों।

(६) ऐसी रकमें जो गांव कोष के लिए कोई डिस्ट्रिक्टबोर्ड या दूसरा स्थानीय अधिकारी दे।

(७) वे सब रकमें जो ऋण या दान के रूप में प्राप्त हों।

(८) ऐसी दूसरी रकम जो प्रान्तीय सरकार के किसी साधारण या विशेष आज्ञा द्वारा गांव कोष के लिए दी जावे।

गांव पंचायत प्रान्तीय सरकार से ऋण ले सकती है।

टैक्स जो लगाये जासकते हैं:—

(१) गांव पंचायत एक आना प्रति रुपया मालगुजारी पर किसानों से वसूल करेगी।

(२) गांव पंचायत अधिक से अधिक ६ पाई प्रति रुपया मालगुजारी पर जमींदारों से वसूल करेगी।

(३) गांव पंचायत एक टैक्स सीर या खुदकाश्त पर लगावेगी। यह टैक्स एक आना प्रति रुपया से अधिक न होगा।

(४) पंचायत व्यापार, कारबार, और पेशों पर भी एक टैक्स लगा सकती है। यह टैक्स कितना होगा यह प्रान्तीय सरकार नियत करेगी।

(५) पंचायत एक टैक्स उन इमारतों पर जो ऐसे व्यक्तियों की सम्पत्ति हो जो ऊपर दिये हुए कोई टैक्स अदा न करते हों और जो ऐसी दर से अधिक न होगा जो नियत की जाय।

टैक्सों से होने वाली आमदनी तथा अन्य आमदनी गांव कोष में जमा की जावेगी और बजट के अनुसार उसका व्यय होगा। खरीफ की गांव सभा की बैठक में बजट विचारार्थ उपस्थित किया जावेगा और रबी की बैठक में आय व्यय का हिसाब उपस्थित किया जावेगा। इस प्रकार गांव कोष गांव सभा की सम्मति से गांव के सार्वजनिक लाभ के लिए व्यय होगा।

पंचायत अदालत

प्रान्तीय सरकार या नियत अधिकारी जो जिला मैजिस्ट्रेट होगा, जिले

को बहुत से क्षेत्रों में बांटेगा प्रत्येक क्षेत्र में कई गांव सभायें होंगी।

उस क्षेत्र की प्रत्येक गांव सभा उस क्षेत्र की पंचायत अदालत में पंचों की हैसियत से काम करने के लिए पांच पंच चुनेगी। किसी क्षेत्र के सारे गांव सभाओं के इस प्रकार चुने हुए पंचों का पंचमंडल होगा।

सब पंच पंचायत अदालत का काम चलाने के लिए अपने में से एक सरपंच चुनेंगे। प्रत्येक पंच तीन वर्ष की अवधि के लिए होगा।

सरपंच प्रत्येक मुकदमे, नालिश या कार्यवाही के लिए पंचमंडल से पांच पंचों का एक होना नियुक्त करेगा। इन पांच पंचों में से एक पंच उस गांव का रहने वाला होगा कि जिसने मुकदमा दायर किया है इसी प्रकार एक पंच उस गांव का होगा कि जिस पर मुकदमा दायर किया गया है और तीन पंच उस गांव के होंगे कि जिनका उन दोनों गांवों से कोई भी सम्बन्ध न हो।

कोई पंच सरपंच किसी ऐसी नालिश, मुकदमे या कार्यवाही में भाग न लेगा जिसमें वह या उसका निकट सम्बंधी, या मालिक या नौकर या रोजगार में साझी एक पक्ष में हो या जिसमें उनमें से किसी का कोई व्यक्तिगत स्वार्थ हो।

(१) दंड विधि संग्रह ऐक्ट नं० ५ सन् १८९८ ई० में किसी बात के होते हुए भी इस ऐक्ट के आधीन दायर किया हुआ प्रत्येक मुकदमा उस क्षेत्र की पंचायत अदालत के सामने दायर किया जावेगा जिसमें अपराध किया गया हो।

(२) दीवानी नियम संग्रह ऐक्ट नं० ५ सन् १९०८ ई० में भले ही कोई बात हो, इस ऐक्ट के आधीन दायर किया हुआ प्रत्येक मुकदमा उस क्षेत्र की पंचायती अदालत के सामने दायर किया जायगा।

(३) ऐक्ट मालगुजारी संयुक्तप्रान्त ऐक्ट नं० ३ सन् १९०१ ई० में भले ही कोई बात हो तहसीलदार धारा ७० के आधीन प्रत्येक कार्यवाही को उस स्थानीय क्षेत्र की पंचायती अदालत के सुपुर्द करेगा।

(४) नीचे दी हुई धाराओं के आधीन अपराध यदि किसी पंचायत अदालत की अधिकार सीमा में किए जांय तो उनकी सुनवाई का अधिकार पंचायत अदालत को होगा।

भारतीय दंड विधान ऐक्ट नं० ४५ सन् १८६० ई० की धारायें

१४०, १६०, १७२, १७४, १७६, २७७, २७६, २८३, २८४, २८६, २६०
२६४, ३२३, ३३४, ३३६, ३४१, ३५२, ३५६, ३५७, ३५८, ३७४, ३७६
४०३, ४११, (जबकि चोरी या गबन किए हुए माल का जहां तक कि धारा
३७६, ४०३, और ४११ का सम्बन्ध है मूल्य ५० रुपये से अधिक न हो)
४२६, ४२८, ४३०, ४४७, ४४८, ५०४, ५०६, ५०६, ५६६ और ५१०,

जानवरों के अनाधिकार प्रवेश ऐक्ट नं० १ सन् १८७१ ई० की धारा २० से २४ तक

संयुक्तप्रान्त की डिस्ट्रिक्ट बोर्डों की प्रारम्भिक शिक्षा के ऐक्ट नं० १ सन् १६२६ ई० की धारा १० की उपधारा (१)

सार्वजनिक रूप से जुआ खेलने के ऐक्ट नं० ३ सन् १८६७ ई० की धारा ३, ४, ७ के आधीन कोई अपराध।

प्रान्तीय सरकार द्वारा घोषित किए गए किसी दूसरे कानून के आधीन कोई दूसरा अपराध जिसकी सुनवाई का अधिकार किसी पंचायती अदालत को हो।

कोई मुकदमा जिसका सम्बन्ध भारतीय दंडविधान ऐक्ट नं० ४५ सन् १८६० ई० की धारा १४०, १४५, १५१, या १५३ के आधीन किसी अपराध से हो और जो किसी अदालत में विचाराधीन हो, सुनवाई के लिए पंचायत अदालत को भेजा जा सकता है यदि ऐसी अदालत की राय में अपराध गम्भीर न हो।

अदालत सार्वजनिक शान्ति बनाये रखने के लिए किसी व्यक्ति विशेष से १०० रु० तक की जमानत मांग सकती है।

पंचायत अदालत १०० रु० तक जुर्माना कर सकती है।

पंचायत अदालत में कानून का पेशा करने वाला अर्थात् मुख्तार, वकील, प्लीडर, एडवोकेट या बैरिस्टर इत्यादि कोई पैरवी न कर सकेगा।

परिच्छेद १४ वाँ

कृषि की आधुनिक समस्याएँ और योजनाएँ

भारत में खाद्य पदार्थों की कमी :

१९३९ में जो द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हुआ उसके पूर्व यद्यपि साधारणतः लोग यह तो समझते थे कि भारतीय कृषि का धन्धा पिछड़ा हुआ है, उसमें उन्नति की आवश्यकता है, प्रति बीघा यहाँ पैदावार कम होती है। किन्तु उन्हें यह कल्पना तक नहीं थी कि भारतवर्ष में खाद्य पदार्थों का ऐसा भयंकर टोटा भी हो सकता है कि विदेशों से खाद्य पदार्थ न आने पर यहाँ अकाल पड़ सकता है और भूख से मनुष्य मर सकते हैं। यह बात नहीं थी कि अर्थशास्त्री इस बात को नहीं जानते थे। १९२८ में कृषि कमीशन ने यह चेतावनी दे दी थी कि २५ वर्षों में भारत निश्चित और स्थायी रूप से गेहूँ को विदेशों से मंगाने लगेगा। द्वितीय महायुद्ध के कुछ समय पूर्व ही डाक्टर राधाकमल मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'चालीस करोड़ के लिए भोजन' में इस मत को प्रतिपादित किया था कि भारत में लगभग दस करोड़ मनुष्यों के लिए भोजन का टोटा है। अन्य अर्थशास्त्रियों ने भी यह चेतावनी दी थी कि भारतवर्ष अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए यथेष्ट भोजन उत्पन्न नहीं कर पा रहा है परन्तु उस समय हमारी अंग्रेज सरकार ने इस ओर कभी ध्यान ही नहीं दिया। वरन् सरकारी अधिकारियों ने इसको मानने से अस्वीकार किया। शहरों में रहने वाले शिक्षित जनसमुदाय ने भी इस प्रश्न की ओर ध्यान नहीं दिया क्योंकि उन्हें बाजारों में मनमाना अनाज सस्ते मूल्य पर मिल जाता था। उन्हें कभी गेहूँ अथवा चावल की कमी नहीं मालूम हुई अस्तु वे इस ओर से निश्चिन्त थे। इसका कारण यह था कि खेती की पैदावार का मूल्य बहुत गिरा हुआ था। २½ और ३ रुपये मन गेहूँ बिकता था और लगान तथा सूद की दर अपेक्षाकृत बहुत अधिक थी। अस्तु किसान को अपनी मूल्यवान पैदावार को विवश होकर मन्डियों को बेंचना पड़ता था तब जाकर कहीं वह लगान और सूद चुका पाता था। परन्तु उसके पास यथेष्ट खाद्य पदार्थ नहीं बचते थे। और उसे भूखे रहकर एक समय मोटा भोजन करके जीवन व्यतीत करना पड़ता था। गेहूं तो वह त्योहार तथा

पर्वों के समय ही खाता था। कहने का तात्पर्य यह है कि १९३९ के पूर्व भी देश में खाद्य पदार्थों की कमी थी परन्तु वह कमी गांवों में ही थी शहरी जनता उसका तनिक भी अनुभव नहीं करती थी। क्योंकि ग्रामीण जनता शिक्षित नहीं थी और न वह संगठित ही थी इस कारण उसकी कठिनाइयों का विज्ञापन हो सका। ग्रामीण जनता कम खाकर भूखे रहकर काम चला रही थी और बर्मा से जो चावल आ जाता था उसके कारण सरकार ने इस ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया।

किन्तु युद्ध छिड़ जाने के उपरान्त परिस्थिति बदल गई। खेती की पैदावार का मूल्य आकाश छूने लगा। किसान को एक मन गेहूँ के २½ या ३ रुपये की जगह १५ और १६ रुपये मिलने लगे परन्तु लगान और सूद इत्यादि में कोई वृद्धि नहीं हुई। किसान स्वयं ही खेती का काम करता था अस्तु जहाँ उसकी पैदावार का मूल्य चार-पांच गुना हो गया उसका खेती का का व्यय अपेक्षाकृत दुगना भी नहीं हुआ। अब किसान अपनी कुल पैदावार का एक बहुत थोड़ा अंश बेंचकर ही लगान इत्यादि चुका सकता था। अस्तु अब उसे इस बात की आवश्यकता न रही कि वह भूखे रहकर अपना समय काटे और खेत की अधिकांश पैदावार बाजार में बेंच दे। अब वह कुछ अधिक खाने लगा। साथ ही गेहूँ इत्यादि भी बहुधा खाने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि खाद्य पदार्थों की कमी गांवों से हटकर शहरों में पहुँच गई। शहरों में खाद्य पदार्थों का टोटा पड़ गया। और तब जाकर सरकार तथा सर्वसाधारण को ज्ञात हुआ कि देश जनसंख्या के लिए यथेष्ट भोजन उत्पन्न नहीं करता।

भारत में युद्ध काल में खाद्य पदार्थों की कमी अनुभव होने का ऊपर लिखा केवल एक कारण ही नहीं था। दूसरे कारण भी उपस्थित हो गए जिनसे कि खाद्य पदार्थों की कमी और भी बढ़ गई और भोजन की समस्या ने और भी विकट रूप धारण कर लिया।

बर्मा पर जापान का आधिपत्य हो गया। इस कारण बर्मा से बंगाल तथा मदरास में जो चावल आता था उसका आयात एकदम बंद हो गया इस कारण उन प्रांतों में खाद्य पदार्थों का और भी अधिक टोटा पड़ गया।

युद्ध काल में सेना के लिए तथा उन असंख्य धंधों के लिए जो कि युद्ध सामग्री तैयार करने के लिए देश में स्थापित किए गए थे असंख्य

व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ी। बहुत बड़ी संख्या में छोटे किसान और विशेषकर खेत मजदूर सेना में और इन युद्ध जनित धंधों में भरती हो गए। खेती के लिए श्रमिकों की कमी हो गई। किसी-किसी प्रदेश में तो अधिक सैनिक भरती होने के कारण तथा मजदूरों के धंधों में चले जाने के कारण खेती करने के लिए यथेष्ट मजदूर ही नहीं रहे। कुछ भूमि तो परती पड़ी रही और शेष को भली भांति जोता न जा सका। यही नहीं युद्ध काल में खेती के औजारों की भी कमी हो गई। लोहा इत्यादि न मिलने के कारण औजारों को प्राप्त करना कठिन हो गया। पुराने औजार घिस गए और बेकार हो गए। नये औजार मिलने कठिन हो गए। सैनिकों के लिए मांस की बेहद मांग बढ़ जाने के कारण पशुओं का बध भी अधिक हुआ इस कारण अच्छे बैलों का अभाव हो गया। इन सब कारणों से खेती को बहुत हानि हुई। यों ही भारत में खेती बहुत पिछड़ी थी, इन कारणों से खेती की दशा और भी बिगड़ गई।

केवल स्थिति यहीं तक नहीं बिगड़ी, विदेशी सेनाओं (अमेरिकन तथा आस्ट्रेलियनों) के यहाँ आ जाने के कारण खाद्य पदार्थों की मांग बेहद बढ़ गई। खेत मजदूर जो कि गांवों में कठिनता से दिन में एक बार मोटा भोजन पाता था सेना में भरती हो जाने पर दिन में चार बार भर पेट अच्छा भोजन पाने लगा। इस कारण सैनिक आवश्यकताएँ कई गुना बढ़ गईं। सरकार ने बहुत अधिक अनाज भर कर रखना आरम्भ कर दिया। सैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बड़े-बड़े अन्न भंडार स्थापित किए गए।

पूर्वीय बंगाल तथा आसाम की स्थिति और भी बिगड़ गई। इम्फल के पास जब शत्रु सेना आ गई तो गांवों में भगदड़ पड़ बहुत सी भूमि बिना जुती पड़ गई। हमारी भारतीय सेनायें पीछे हटीं तो जो अनन्त राशि में खाद्य सामग्री सेना के उपयोग के लिए इकट्ठी की गई थी उसको नष्ट कर दिया गया कि जिससे वह नष्ट न हो जावे। ऊपर लिखे कारणों से पूर्वीय बंगाल तथा आसाम में खेती को अत्यधिक हानि पहुँची। वहां खेती का धंधा अस्तव्यस्त हो गया।

युद्ध काल मे रेलवे तथा यातायात के अन्य साधन अधिकतर युद्ध के लिए मनुष्यों और सामग्री ढोने में इतने व्यस्त थे कि पैदावार को एक स्थान

से दूसरे स्थान तक पहुँचाने में कठिनाई होने लगी। पूर्वीय बंगाल तथा आसाम में तो यातायात के साधन और भी अस्त-व्यस्त हो गए।

इन्हीं सब कारणों से देश में खाद्य पदार्थों की भयंकर कमी का अनुभव होने लगा। बंगाल में तो भीषण दुर्भिक्ष ही पड़ गया जिसमें २५ से ५० लाख मनुष्यों के मर जाने का अनुमान किया जाता है। बंगाल में जो इतनी मनुष्य जनसंख्या को मरना पड़ा उसका एकमात्र कारण सरकार की उदासीनता और भ्रष्ट शासन ही था। नहीं तो उनको बचाया जा सकता था।

इधर देश में खाद्य पदार्थों की बेहद कमी अनुभव होने लगी और उधर कपास और तिलहन की पैदावार आवश्यकता से अधिक हो रही थी। कारण यह था कि जापान हमारी कपास का मुख्य खरीदार था और तिलहन योरोपीय देशों को जाता था। युद्ध काल में योरोपीय देश जर्मनी के अधिकार में पहुँच गए थे और जापान शत्रु राष्ट्र था इस कारण कपास और तिलहन का निर्यात बिलकुल बन्द हो गया था।

देश में स्थिति ऐसी उत्पन्न हो गई थी कि खेती के धंधे में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया जाता और खेती के धन्धे की नवीन योजना के अनुसार पुनर्संगठन किया जाता। किन्तु सरकार ने ऐसा कुछ न करके केवल खाद्य पदार्थों की पैदावार को बढ़ाने का ही झिझकते हुए थोड़ा-सा प्रयत्न किया।

खाद्य पदार्थ अधिक उत्पन्न करो : आन्दोलन

खाद्य पदार्थों की ऐसी कमी देखकर भारत सरकार खाद्य पदार्थों का उत्पादन बढ़ाने के लिए एप्रिल १९४२ में एक सम्मेलन बुलाया। सम्मेलन ने "खाद्य पदार्थ अधिक उत्पन्न करो : आन्दोलन" चलाने की राय दी। फलस्वरूप, १९४२ के ग्रीष्मकाल में 'खाद्य पदार्थ अधिक उत्पन्न करो आन्दोलन चलाया गया। आरम्भ में छोटे फूल वाली कपास पैदा करने वालों को प्रोत्साहित किया गया कि वे अपनी भूमि पर कपास पैदा न करके अनाज पैदा करें। भारत सरकार ने 'कपास कोष' में से किसानों को इस कार्य के लिए आर्थिक सहायता दी जिससे वे अपने कपास के खेतों पर अनाज पैदा कर सकें। यही नहीं सरकार ने अनाज उत्पन्न करने वालों को यह आश्वासन दे दिया कि सरकार अनाज के मूल्य को गिरने नहीं देगी।

इसके उपरान्त १९४३-४४ के लिए यह निर्धारित कर दिया गया कि अनाज को उत्पन्न करने वाली भूमि को कितना बढ़ाया जावे। खाद्य विभाग ने खरीफ की पैदावार को १०० लाख एकड़ तथा रबी की फसल को १३½ लाख एकड़ बढ़ाने का निश्चय किया। कपास कोष में से ग्रांट देने के के अतिरिक्त भारत सरकार ने प्रान्तीय सरकारों को भी आर्थिक सहायता दी कि जिससे पैदावार बढ़ाई जा सके।

'खाद्य पदार्थ अधिक उत्पन्न करो : आन्दोलन' को थोड़ी सी सफलता मिली। मध्यप्रान्त, संयुक्तप्रान्त, आसाम, और बंगाल में अधिक भूमि पर अनाज उत्पन्न किया गया और कुछ ऐसी भूमि भी जोती गई जो पहले जोती नहीं जाती थी। हाँ बम्बई प्रान्त में पैदावार कम हो गई। परन्तु कपास को उत्पन्न करने वाली भूमि कम हो गई। इसी काल में कपास के क्षेत्रफल में ५३ लाख एकड़ की कमी हुई। परन्तु जो भूमि से कपास छूटी वह सबकी सब अनाज उत्पन्न करने में काम न आ सकी। १९४५ में सर जोगेन्द्रसिंह ने "अखिल भारतवर्षीय खाद्य सम्मेलन" में भाषण देते हुए कहा कि १९३९ की तुलना में १ करोड़ १० लाख एकड़ अधिक भूमि पर अनाज उत्पन्न हुआ और ४० लाख एकड़ भूमि कपास की थी और शेष भूमि परती थी जिस पर खेती की गई। भारत ने २५०० ट्यूब-वेल ४½ करोड़ रुपये की लागत के बनवाये तथा १७,००० पक्के कुयें २ करोड़ की लागत के बनवाये गए। १½ करोड़ रुपये सरकार ने अच्छे बीज को खरीदने के लिए सहायतार्थ दिए।

परन्तु सरकार ने 'खाद्य उत्पन्न करो : आन्दोलन' की सफलता का जो यह चित्र खींचा है उसको यों ही स्वीकार नहीं किया जा सकता। अनाज उत्पन्न करने वाली भूमि में जो यह वृद्धि हुई उसका एक मात्र कारण यही नहीं था। अनाज की कीमत आकाश छू रही थी इस कारण बहुत से किसानों ने स्वतः ही अनाज उत्पन्न करना आरम्भ कर दिया। बात यह थी कि अन्य पैदावारों का मूल्य इतना अधिक नहीं बढ़ा जितना कि अनाज का; अस्तु 'अधिक खाद्य पदार्थ उत्पन्न करो" आन्दोलन के कारण ही अनाज उत्पन्न करने वाली भूमि में वृद्धि हुई हो ऐसा नहीं कहा जा सकता।

अनाज नीति कमेटी (फूड ग्रेन पॉलिसी कमेटी) १९४३

खाद्य पदार्थों के इस संकट काल में स्थिति को सुधारने के लिए

भारत सरकार ने १९४३ में अनाज नीति कमेटी बिठाई। कमेटी ने अपनी रिपोर्ट उपस्थित करते हुए बतलाया कि साधारण समय में भी भारतवर्ष में खाद्य पदार्थों की कमी थी। अब युद्ध के कारण खाद्य पदार्थों की दृष्टि से स्थिति और भी खराब हो गई है। बम्बई तथा मालाबार का तटीय प्रदेश बाहर से आने वाले चावल पर विशेष रूप से निर्भर था। कमेटी के मतानुसार खाद्य पदार्थों की स्थिति को सुधारने के लिए नीचे लिखे प्रयत्न करना चाहिए। (१) विदेशों से अधिक अनाज मंगाकर देश में अनाज की वृद्धि करना (२) देश के अन्दर उत्पन्न होने वाले अनाज को सरकार वसूल करे, इकट्ठा करे और उसको उन प्रदेशों को दे जहां अनाज कम होता है। (३) राशनिंग की व्यवस्था की जावे और अधिकाधिक नगर राशनिंग के अन्तर्गत ले लिए जावें। (४) कानून बनाकर अनाज का मूल्य निर्धारित कर दिया जावे। अनाज को इकट्ठा करना तथा राशन इत्यादि का प्रबन्ध अधिक वैज्ञानिक ढंग से किया जावे।

कमेटी का मत था कि पहली साल १५ लाख टन और आगे १० लाख टन प्रतिवर्ष अनाज विदेशों से मंगाने का प्रयत्न किया जावे। देश के अन्दर अनाज के उत्पादन को बढ़ाने के लिए कमेटी ने नीचे लिखी सिफारशें की। (१) भारत सरकार को व्यवसायियों को ३५०,००० टन प्रतिवर्ष अमोनिया सलफेट उत्पन्न करने के लिए मशीनों को विदेशों से मंगाने की सुविधा प्रदान करे। खेती के औजारों को बनाने के लिए तथा पुराने और घिसे हुए औजारों को बदलने के लिए अधिक इस्पात और लोहा देने का प्रबन्ध करे। इसके अतिरिक्त शहरों के कूड़े तथा मल की खाद बनाने, अच्छे बीज को बाँटने तथा सिंचाई के उन साधनों का निर्माण करने जिनको जल्दी पूरा किया जा सके, दूध देने तथा खेती में काम आने वाले पशुओं का वध रोकने, ट्रैक्टर तथा अन्य खेती के यन्त्रों को बाहर से मँगवाने की सिफारिश भी कमेटी ने की। इसके अतिरिक्त कमेटी ने इस बात की भी सिफारिश की कि प्रान्तीय सरकारों को यह अधिकार दे दिया जावे कि वे फसलों को पैदा करने पर नियंत्रण स्थापित करें तथा जोते जा सकने वाली बंजर भूमि को जुतावें तथा खेती के सम्बंध में अनुसंधान करें। यदि इन सभी सिफारशों को मान कर काम किया गया होता तो अनाज की उत्पत्ति बहुत बढ़ गई होती किन्तु सरकार ने कुछ सिफारशों के अनुसार थोड़ा

बहुत कार्य किया किन्तु विशेष कुछ नहीं किया। कमेटी का यह भी मत था कि प्रति व्यक्ति पीछे प्रतिदिन एक पौंड अनाज मिलना चाहिए और उसके लिए आवश्यकता हो तो अनाज बाहर से मंगवाया जावे। इसके अतिरिक्त कमेटी ने खाद्य बोर्ड (Food board) की स्थापना भी आवश्यक बतलाई जो कि खाद्य सम्बन्धी सभी प्रयत्नों का नेतृत्व करे। कमेटी का मत था कि अनाज के मूल्य, अनाज का भिन्न-भिन्न प्रदेशों के लिए कोटा नियत करने तथा केन्द्रीय अनाज रक्षित कोष का नियंत्रण एक मात्र केन्द्रीय सरकार के हाथ मे होना चाहिए।

खाद कमीशन की रिपोर्ट

कमेटी ने इस बात की सिफारिश की थी कि अमोनिया सलफेट उत्पन्न करने के लिए कारखाना खड़ा किया जावे। सरकार ने इस प्रश्न पर पुनः विचार करने के लिए एक खाद कमीशन बिठाया। उसकी रिपोर्ट के आधार पर सरकार ने दो बड़े कारखाने स्थापित करने की घोषणा की है। एक कारखाना उत्तर भारत के लिए ३५०,००० टन अमोनिया सलफेट उत्पन्न करेगा और दक्षिण का कारखाना १००,००० टन उत्पन्न करेगा। उत्तरीय कारखानों में अधिकांश पूँजी भारत सरकार लगावेगी, किन्तु दक्षिणी कारखानों मे बम्बई, मदरास; मैसोर हैदराबाद और कोचीन साझीदार होंगे। ट्रावनकोर में एक कारखाना चल रहा है। खाद कमीशन का मत था कि इन कारखानों के लिए १० करोड़ पूंजी अपेक्षित होगी और १२६ रुपये प्रति टन के हिसाब से अमोनिया सलफेट की लागत होगी।

बम्बई योजना

इसी समय भारत की आर्थिक उन्नति के लिए कुछ योजनाएँ तैयार हुई उनमें ताता बिड़ला इत्यादि उद्योगपतियों द्वारा उपस्थित किया हुआ बम्बई प्लान अथवा बम्बई योजना महत्त्वपूर्ण है। पहले हम उस योजना का जहाँ तक कृषि से संबन्ध है अध्ययन करेंगे।

बम्बई योजना का मुख्य उद्देश्य पन्द्रह वर्षों मे भारत में प्रति मनुष्य पीछे औसत आय को दुगना करना था। क्योंकि पन्द्रह वर्षों में देश की जनसंख्या में भी वृद्धि हो जावेगी; अस्तु आय को दुगनी करने के लिए देश में धनोत्पत्ति तिगुनी होना आवश्यक है। बम्बई योजना इस वृद्धि को इस प्रकार प्राप्त करना चाहती है।

आमदनी करोड़ रुपयों में

	१९३१-३२	पन्द्रह वर्षों के उपरान्त संभावित आय	प्रतिशत वृद्धि
उद्योग धन्धे	३७४	२२४०	५००
कृषि	११६६	२६७०	१३०
सेवा कार्य	४८४	१४५०	२००

बम्बई योजना के निर्माताओं का मत था कि १५ वर्षों के उपरान्त भारतवर्ष कृषि की उपज में १३० प्रतिशत से अधिक की वृद्धि का उपयोग न कर सकेगा। उस दशा में देश में कुल धनोत्पत्ति का ४० प्रतिशत कृषि के द्वारा होगा। अवश्य ही बम्बई योजना के निर्माता स्वयं व्यवसायी थे अतएव उन्होंने उद्योग धंधों की उन्नति की ओर विशेष ध्यान दिया। जो भी हो, खेती में जितनी वृद्धि वे चाहते थे उसके लिए उन्होंने नीचे लिखे उपाय सुझाये थे।

बिखरे हुए खेतों की चकबंदी की जावे और जोतों को आर्थिक जोत बना दिया जावे। दबाव डालकर भी सहकारी खेती की उन्नति की जावे। उनकी राय में सहकारी समितियों द्वारा किसान के ऋण को भी चुका देना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त भूमि के कटाव को रोकना तथा भूमि की उन्नति करना आवश्यक है।

खेती के उत्पादन को दो तरीकों से बढ़ाया जा सकता है। एक तो नई भूमि को जोतकर दूसरे प्रति एकड़ अधिक पैदा करके। प्रति एकड़ पैदावार को बढ़ाने के लिए खेती के ढंग में सुधार करना आवश्यक होगा। उसके अन्तर्गत सिंचाई में उन्नति, अच्छे बीज हल औजार, तथा अच्छी खाद की आवश्यकता होगी। बम्बई योजना के अनुसार सिंचाई के साधनों में २०० प्रतिशत वृद्धि की आवश्यकता है। १९३९ में जो नहरें भारतवर्ष में सिंचाई करती थी उनकी लागत १५३ करोड़ रुपये थी और ५ करोड़ रुपये वार्षिक व्यय होता था। बम्बई योजना के निर्माताओं ने उसी आधार पर बताया कि ३०६ करोड़ रुपये मूलधन और १० करोड़ रुपया वार्षिक नई नहरों के लिए आवश्यक होंगे। किन्तु नई नहरों के बनाने में अधिक व्यय होगा इसलिए बम्बई योजना में नहरों के लिए ४००

करोड़ रुपये तथा कुओं के लिए ५० करोड़ रुपयों का अनुमान किया गया था। खेती के वैज्ञानिक तरीकों का प्रचार करने के लिए बम्बई योजना के निर्माताओं ने यह प्रस्ताव रक्खा था कि प्रति दस गांवों के बीच एक नमूने का फार्म खड़ा किया जावे। प्रत्येक फार्म को खड़ा करने में ३०,००० रुपये मूलधन लगेगा और प्रतिवर्ष २०,००० रुपये व्यय होगा।

बम्बई योजना के अनुसार खेती की पैदावार में १३० प्रतिशत वृद्धि करने के लिए नीचे लिखे अनुसार व्यय करना होगा।

करोड़ रुपयों में व्यय

	एक मुश्त	वार्षिक व्यय
मिट्टी की रक्षा (Soil Conservation) तथा सुधार	२००	१०
कार्यशील पूंजी	...	२५०
सिंचाई (नहरें)	४००	१०
सिंचाई (कुयें)	५०	...
नमूने के फार्म	१९५	१३०
	८४५	४००

इस प्रकार बम्बई योजना के अनुसार १२४५ करोड़ रुपये खेती की उन्नति के लिए आवश्यक हैं। यह ध्यान में रखने की बात है कि सम्पूर्ण आर्थिक योजना जो कि बम्बई के उद्योगपतियों ने उपस्थित की थी उसके लिए १०,००० करोड़ रुपयों की पूंजी की आवश्यकता थी। उस १०,००० करोड़ रुपये की पूंजी का विभाजन इस प्रकार था।

उद्योग धंधे ४४८० करोड़ रुपये, यातायात ९४० करोड़ रुपये, शिक्षा ४९० करोड़ रुपये, स्वास्थ्य ४५०करोड़ रुपये, गृहनिर्माण २,२०० करोड़ रुपये, फुटकर २०० करोड़ रुपये।

जहां तक सम्पत्ति के बंटवारे का प्रश्न था उसका विवेचन उद्योग-पतियों ने दूसरे भाग में किया था। १९३१-३२ में प्रति मनुष्य पीछे गांवों में ५१ रुपये तथा नगरों में १९६ रुपये वार्षिक आय कूती गई थी। बम्बई योजना के निर्माताओं का विचार था कि गांवों में प्रति मनुष्य पीछे अधिकांश व्यक्तियों की आय ५१ रुपये वार्षिक से भी कम थी। क्योंकि बहुत से किसानों के पास २ एकड़ से भी कम भूमि है वह उसे ६ महीने

तक बेकार रखता है, और खेत मजदूर जिसके पास तनिक भी भूमि नहीं होती उसकी आर्थिक स्थिति बहुत खराब होती है। अतएव उनके मतानुसार अधिकांश ग्रामीण जन की वार्षिक आय इससे भी कम होगी। जनसंख्या के बढ़ने से इस वर्ग की स्थिति और भी गिर जावेगी। अस्तु बम्बई योजना के अनुसार संपत्ति के बंटवारे को अधिक समान बनाना और उत्पत्ति के साधनों के स्वामित्व का विकेन्द्रियकरण करना आवश्यक है। इसके लिए उन्होंने मृत्यु-कर, मालगुजारी की पद्धति में सुधार, छोटे कुटीर धन्धों की उन्नति, मिश्रित पूँजी वाली कंपनियों के हिस्सों का अधिकाधिक लोगों में बांटना, उद्योग धंधों का प्रादेशिक विभाजन, सहकारिता के आधार पर उद्योग-धंधों का विभाजन तथा सार्वजनिक हित के धंधों पर राज्य का स्वामित्व स्थापित करना आवश्यक होगा।

ग्रामीण जनता के रहन-सहन के दर्जे को ऊँचा उठाने के लिए यह आवश्यक है कि खेत मजदूरों के लिए न्यूनतम मजदूरी निर्धारित कर दी जावे। उनकी राय में न्यूतम मजदूरी को तभी सफलतापूर्वक लागू किया जा सकता है जब कि सहकारी खेती की स्थापना हो। जहां तक उद्योग धन्धों में लगे हुए मजदूरों के लिए न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने का प्रश्न बम्बई योजना के निर्माताओं का विचार था इस समय धंधों में न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करना उचित नहीं होगा। हां सूती वस्तु की मिलों, जूट मिलों, खनिज, शक्कर और सीमेंट तथा इंजिनियरिंग में न्यूतम मजदूरी निर्धारित की जा सकती है। इसके अतिरिक्त बंबई योजनाओं के निर्माताओं का यह भी मत था कि सरकार को खेती की मुख्य पैदावारों का एक उचित मूल्य निर्धारित करने में लागत खर्च तथा रहन-सहन के खर्च को ध्यान में रखना आवश्यक होगा। बंबई योजना के निर्माताओं ने किसानों को अपनी पैदावार का उचित मूल्य प्राप्त कराने के लिए बहुउद्देश्य वाली सहकारी समितियां स्थापित करने की भी आवश्यकता बतलाई थी। ऊपर लिखे सुधारों से किसानों की आय में जो वृद्धि होगी उसके अतिरिक्त सहायक धंधों के द्वारा भी किसान कुछ आय प्राप्त करेगा। अस्तु बंबई योजना के अनुसार खेती में लगे हुए लोगों की १५ वर्ष के उपरान्त आय ६३ प्रतिशत बढ़ जायेगी धंधों में लगे हुए लोगों की आय के १५ के अन्दर १२६ प्रतिशत वृद्धि होगी और नौकरियों में लगे हुए लोगों की आय में ५० प्रतिशत वृद्धि होगी। रहन-

सहन का व्यय घटाने के लिए बंबई योजना में शिक्षा और चिकित्सा की निःशुल्क व्यवस्था करने का प्रस्ताव है तथा बिजली और यातायात की कम मूल्य पर सुविधायें उपलब्ध की जावेंगी।

किन्तु बंबई योजना का एक बड़ा दोष यह था कि उसमें अन्य धंधों में अधिक वृद्धि करने का प्रस्ताव किया गया परन्तु खेती की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया। बम्बई योजना के अनुसार ग्रामीण जन संख्या तथा उद्योग धंधों में लगे हुए व्यक्तियों की वार्षिक आय बढ़ेगी अवश्य किन्तु धंधों में लगे हुए व्यक्तियों की आय अधिक बढ़ जावेगी और उनका तथा खेती में लगे हुए लोगों की आय का अन्तर और अधिक हो जावेगा।

इम्पीरियल कौंसिल आफ एग्रीकल्चर रिसर्च (कृषि अनुसंधान कौंसिल) की योजना

१९४४ में कृषि अनुसंधान कौंसिल ने कृषि की उन्नति की योजना प्रकाशित की। कौंसिल का मत था कि भारत की कम से कम ३० प्रतिशत जनसंख्या अर्थात् १० करोड़ व्यक्तियों को पूरा भोजन प्राप्त नहीं होता। साथ ही जो कुछ भोजन भारतीय जनता को मिलता है न तो वह यथेष्ट है और न पुष्टिकर ही है। अतएव जनसंख्या को यथेष्टकर और पुष्टिकर भोजन देने के लिए खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति में नीचे लिखी वृद्धि आवश्यक है:—अनाज में १० प्रतिशत, दालों में २० प्रतिशत, २५० प्रतिशत तेल घी इत्यादि में, फलों में ५० प्रतिशत, सब्जी में १०० प्रतिशत, दूध में ३०० प्रतिशत, अंडे तथा मछली में ३०० प्रतिशत, इसके अतिरिक्त खली में ४०० प्रतिशत और चारे में ५५ प्रतिशत की वृद्धि होना आवश्यक है।

कौंसिल का विचार है कि खाद्य पदार्थों के उत्पादन में ऊपर लिखी वृद्धि करने के लिए यह आवश्यक है कि १७ करोड़ एकड़ भूमि जो आज जोती जा सकने वाली बंजर भूमि के श्रेणी में रक्खी जाती है उसको खेती के योग्य बनाया जावे। इस बात का पता लगाया जावे कि यह भूमि क्यों बिना जुती पड़ी है और फिर उन कारणों को दूर किया जावे। अमेरिकन विशेषज्ञों के अनुसार इस प्रकार की भूमि पर भली प्रकार खेती की जा सकती है। इसके अतिरिक्त कौंसिल का यह भी मत था कि सिंचाई के साधनों को अधिक से अधिक उपलब्ध करना आवश्यक है। जिन प्रदेशों में वर्षा अधिक होती

है वहां के पानी के बहाव को सुधारना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त भूमि के कटाव को रोकने तथा प्रत्येक प्रदेश में खेती का कार्यक्रम क्या हो, वहां कौन-सी फसलों को उत्पन्न करने के लिए किसान को कहा जावे इसका अनुसंधान करना तथा कार्यक्रम बनाना भी आवश्यक है। इसके अतिरिक्त अच्छे बीज खाद तथा खेती के उन्नत और वैज्ञानिक तरीकों का उपयोग करना तो आवश्यक है ही।

कौंसिल ने इस सम्बंध में कोई निश्चित मत व्यक्त नहीं किया कि खेती में शक्ति तथा यंत्रों का उपयोग कहां तक लाभदायक होगा। भूमि की चकबंदी हो यथेष्ट होगी अथवा सामूहिक या सहकारी खेती आवश्यक होगी। उसका कहना है कि उसके लिए विशेष रूप से अनुसंधान किया जावे।

पशुओं की नस्ल को सुधारने के लिए कौंसिल ने ५० बुल-फार्म स्थापित करने की सलाह दी है। इसके अतिरिक्त चारे की उचित व्यवस्था करना, पशु रोगों को रोकना, तथा दूध के धंधे की वैज्ञानिक पद्धति का प्रचार करना भी आवश्यक है। कौंसिल ने मछलियों को अधिक उत्पन्न करने की आवश्यकता बतलाई है।

कौंसिल का यह भी विचार है कि खेती की उन्नति इस कारण भी रुकी हुई है क्योंकि उसके सामने बहुत सी आर्थिक कठिनाइयां हैं। जब तक किसान का अपना पैदावार का उचित मूल्य नहीं मिलता उसकी फसल का बीमा नहीं होता जिससे कि फसल नष्ट हो जाने पर उसकी हानि की पूर्ति हो जावे, उसके ऋण भार को दूर नहीं कर दिया जाता, उसके लिए उचित सूद पर यथेष्ट साख का प्रबंध नहीं होता तथा मालगुजारी पद्धति में आवश्यक संशोधन नहीं होता, सहायक तथा ग्राम्य उद्योग धंधों की उन्नति नहीं होती तथा ग्राम सुधार के द्वारा गाँव के सामाजिक जीवन को अधिक आकर्षक नहीं बनाया जाता तब तक खेती की आशाजनक उन्नति नहीं हो सकती।

खेती की पैदावार की बिक्री की उचित व्यवस्था करने के लिए कौंसिल का मत है कि जो देश में २००० मंडियां हैं उनको कानून बनाकर 'नियंत्रित मंडी' बना दिया जावे। प्रत्येक मंडी के लिए एक निरीक्षक (इन्सपेक्टर) रख दिया जावे। प्रत्येक मंडी में वैज्ञानिक ढङ्ग के अन्न भंडार (गोदाम) बनाये जावें जहां २ करोड़ मन अनाज रक्खा जा सके। खेती की पैदावार की

बिक्री सहकारी विक्रय समितियों के द्वारा हो। सभी प्रकार के व्यापारियों को लायसेंस लेना अनिवार्य कर दिया जावे तथा सरकार को कुछ अनाज अपने अधिकार में रखना चाहिए जिसको आवश्यकता पड़ने पर बेंचकर अथवा और खरीद कर सरकार मूल्य में स्थिरता कायम रख सके।

फलों की अधिक उत्पत्ति करने के उद्देश्य से कृषि-कौंसिल ने यह राय दी है कि जो फलों के बाग पुराने हो गए हैं उन्हें काट दिया जावे और नये बाग लगाये जावें तथा एक फल टैकनालाजी इंस्टिट्यूट तथा एक केन्द्रीय फल सलाहकार नियुक्त किया जावे और प्रत्येक प्रान्त में फलों की पैदावार को बढ़ाने के लिए बोर्ड स्थापित किया जावे।

कौंसिल का कहना है कि यदि ऊपर लिखी योजना के अनुसार कार्य किया जावे तो १५ वर्षों में खेती की पैदावार दुगनी बढ़ सकती है। इस योजना को पूरा करने का व्यय १००० करोड़ रुपये होगा। इसमें से ३०० करोड़ रुपये सिंचाई के साधनों में वृद्धि करने, २५० करोड़ रुपये नई भूमि को खेती के योग्य बनाने के लिए तथा भूमि के कटाव रोकने के लिए तथा १३० करोड़ रुपये पानी के बहाव को ठीक करने के लिए व्यय करने होंगे। इस सम्बंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि ऊपर लिखे व्यय युद्ध पूर्व के मूल्यों के आधार पर अनुमान किए गए हैं।

भारत का विभाजन और उससे उत्पन्न होने वाली समस्यायें

यह योजनायें उस समय की हैं जब कि भारत का विभाजन नहीं हुआ था। १५ अगस्त १९४७ को देश स्वतंत्र हुआ किन्तु साथ ही देश की राजनैतिक एकता नष्ट हो गई। इसका प्रभाव देश के आर्थिक संगठन पर पड़े बिना नहीं रह सकता था। खेती के धन्धे तथा अन्य धंधों पर इसका प्रभाव पड़ा है। अस्तु हमें विभाजन से उत्पन्न होने वाली समस्याओं का भी अध्ययन कर लेना आवश्यक है।

विभाजन के उपरान्त कुल पाकिस्तान (पूर्वीय पाकिस्तान तथा पश्चिमी पाकिस्तान) का क्षेत्रफल २ लाख ३६ हजार वर्ग मील है जबकि विभाजन के पूर्व सम्पूर्ण भारत का क्षेत्रफल १६ लाख वर्ग मील था। १९४१ की गणना के अनुसार पाकिस्तान की जनसंख्या ६ करोड़ ६८ लाख है जबकि सम्पूर्ण भारत की जनसंख्या ३८ करोड़ से अधिक थी। अस्तु जहां तक क्षेत्रफल और जनसंख्या का प्रश्न है पाकिस्तान को देश की १४.९२

प्रतिशत भूमि १७.६ प्रतिशत जनसंख्या मिली है। जहां तक धनोत्पत्ति का प्रश्न है पाकिस्तान खनिज पदार्थों जैसे लोहा कोयला की दृष्टि से दिवालिया और औद्योगिक उन्नति की दृष्टि से भी अत्यन्त निर्धन और पिछड़ा हुआ राष्ट्र है। किन्तु जहां तक खेती के धंधे का प्रश्न है उसकी स्थिति भारतवर्ष से अच्छी है।

भारत में विभाजन के पूर्व २० करोड़ ६० लाख एकड़ भूमि पर खेती होती थी। विभाजन के उपरान्त ४ करोड़ १८ लाख जोती जाने वाली भूमि पाकिस्तान में चली गई। इसका अर्थ यह हुआ कि पाकिस्तान में २० प्रतिशत खेती की भूमि चली गई। जबकि पाकिस्तान में जनसंख्या केवल १७.६ प्रतिशत ही है। जहां तक मुख्य फसलों का प्रश्न है पाकिस्तान में चावल उत्पन्न करनेवाले क्षेत्रफल का २६.२७ प्रतिशत, गेहूँ का २५ प्रतिशत, गन्ना का १५.४१ प्रतिशत, जूट ७२.६२ प्रतिशत, और कपास का १३ प्रतिशत पाकिस्तान में चला गया है।

भविष्य में खेती का विस्तार भी पाकिस्तान में हिन्दोस्तान की अपेक्षा अधिक हो सकता है। वहाँ २ करोड़ ३० लाख एकड़ भूमि जोती जा सकने वाली बंजर है। जहाँ तक सिंचाई के साधनों का प्रश्न है देश में जितनी भूमि पर सिंचाई होती है उसकी ३१.८२ प्रतिशत पाकिस्तान में है। क्योंकि पंजाब, सतलज और सक्खर बांध की नहरें सब पाकिस्तान में चली गईं। यही कारण है कि जहां तक खाद्य पदार्थों का प्रश्न है अपनी जनसंख्या को देखते हुए पाकिस्तान हिन्दोस्तान की तुलना में अधिक खाद्य पदार्थ उत्पन्न करता है।

इस विभाजन के फलस्वरुप भारतवर्ष के लिए कुछ नई समस्याएं उठ खड़ी हुई हैं। पहली समस्या तो यह है कि खाद्य पदार्थों की देश में यों ही कमी थी किन्तु अब खाद्य पदार्थों की कमी और अधिक होगी। जहाँ तक मोटे अनाज का प्रश्न है पाकिस्तान की अपेक्षा हिन्दोस्तान की स्थिति अच्छी है परन्तु गेहूँ और चावल की दृष्टि से भारत की स्थिति खराब है। हाँ गन्ने की दृष्टि से भारत की स्थिति कहीं अधिक अच्छी है। पाकिस्तान में तो शक्कर का टोटा ही रहेगा क्योंकि वहां शक्कर के केवल ३ कारखाने हैं जबकि १५० से अधिक चीनी के कारखाने हिन्दोस्तान में हैं। परन्तु हिन्दोस्तान की स्थिति जूट की दृष्टि से बहुत बुरी है। इस देश

में ६७ मिलें जूट की हैं जो कि सारी की सारी हिन्दोस्तान में आगई हैं। किन्तु जूट भारत में केवल २८ प्रतिशत ही उत्पन्न होता है। ७२.६ प्रतिशत जूट पाकिस्तान में उत्पन्न होता है। जहां तक कपास का प्रश्न है भारत की स्थिति अच्छी है। यहां यथेष्ट कपास उत्पन्न होती है परन्तु जो कपास की १३ प्रतिशत भूमि पाकिस्तान में चली गई है वह पश्चिमी पंजाब तथा सिंध में है और वहीं लम्बे फून वाली उत्तम जाति की अमेरिकन कपास उत्पन्न होती थी; अस्तु, भारत में छोटे फून वाली कपास ही अधिक होती है।

भविष्य में हिन्दोस्तान के क्षेत्र में हमें केवल खाद्य पदार्थ ही अधिकाधिक उत्पन्न करना नहीं है वरन् जूट और बढ़िया लम्बी फूल वाली कपास भी उत्पन्न करना होगा। साथ ही, जो लाखों शरणार्थी पाकिस्तान छोड़कर हिन्दोस्तान में चले आये हैं उनके भोजन की समस्या को भी हल करना होगा।

अस्तु यदि हम खेती को उन्नतशील धंधा बनाना चाहते हैं तो हमें खेती में क्रांतिकारी परिवर्तन करने होंगे नहीं तो खेती के धंधे की दशा में सुधार नहीं हो सकता और न तब तक गांवों और ग्रामीण जनता की ही आर्थिक स्थिति सुधर सकती है।

आर्थिक कार्य-क्रम कमेटी रिपोर्ट

यह निश्चित है कि भारतवर्ष आज ऐसी स्थिति में पहुँच गया है कि बिना खेती में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये हम अपने देशवासियों के लिए यथेष्ट पुष्टिकर भोजन तथा उद्योग-धंधों के लिए यथेष्ट कच्चा माल उत्पन्न नहीं कर सकते। अभी हाल में भारत के स्वतंत्र हो जाने पर कांग्रेस कमेटी में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने आर्थिक कार्यक्रम कमेटी बिठाई थी। उस कमेटी के अनुसार खेती के धन्धे का पुनर्निर्माण सहकारिता के आधार पर होना चाहिए। खेती के सम्बंध में नेहरू कमेटी का मत नीचे लिखा है।

नेहरू कमेटी के मतानुसार जमींदारों, महाजनों, और खेती की पैदावार के व्यापारियों को जो किसान का आर्थिक शोषण करते हैं हटाकर सहकारी समितियों को उनके स्थान पर रख देना चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं कि केवल जमींदारों के द्वारा ही किसान का आर्थिक शोषण नहीं होता। महाजन और व्यापारी भी किसान का बहुत शोषण करते हैं। बहुत ऊँचे सूद पर ऋण देकर तथा उसकी पैदावार को सस्ते मूल्य पर खरीदकर

यह लोग किसान का अनवरत शोषण करते हैं। अतएव सहकारी समितियों के द्वारा इन शोषकों को अपने स्थान से हटाकर किसान को आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनाना नेहरू कमेटी का उद्देश्य है।

यही नहीं, नेहरू कमेटी ने बड़ी से बड़ी जोत कितनी हो इस सम्बंध में भी एक सीमा निर्धारित कर देने की सिफारिश की है।

बिखरे हुए खेतों की चकबंदी करने, उनको भविष्य में विभाजित न होने देने, तथा भविष्य में मालगुजारी के स्थान पर खेती की आय पर वर्द्धमान आय कर लगाने की सिफारिश की है।

खेत मजदूरों की दशा में सुधार करने के लिए नेहरू कमेटी ने खेती में काम करने वाले मजदूरों को जीवन निर्वाह-योग्य मजदूरी देने तथा ग्रामीण ऋण को चुकाने में सुविधायें देने की राय दी है।

लेखक की योजना

आज देश का नव आर्थिक संगठन होने जा रहा है अस्तु खेती के धंधे का भी नवीन संगठन होना आवश्यक है। यदि आज भी हमने अकबर के समय की खेती का ढङ्ग चलने दिया तो हम न तो देश की बढ़ती हुई जनसंख्या को यथेष्ट पुष्टिकर भोजन ही दे सकते हैं और न उद्योग धंधों की उन्नति ही कर सकते हैं।

खेती के धन्धे की योजना के सम्बंध में कुछ लिखते समय हमें एक बात न भूलनी चाहिए कि खेती के धन्धों को अन्य धंधों से अलग नहीं किया जा सकता। खेती के धन्धे तथा अन्य उद्योग धन्धों का बहुत ही गहरा सम्बंध है।

सबसे पहली समस्या जो हमें खेती के धन्धे की उन्नति करने के लिए शीघ्र हल कर देना चाहिए वह है जमींदारी प्रथा को दूर कर देना। जब तक जमींदारी प्रथा किसी न किसी रूप में वर्तमान है खेती की उन्नति हो ही नहीं सकती। हर्ष की बात है कि बिहार में तो जमींदारी प्रथा को नष्ट करने के लिए बिल पास हो गया। संयुक्तप्रान्त, बंगाल और मदरास में भी शीघ्र ही जमींदारी प्रथा नष्ट हो जावेगी।

अब प्रश्न यह है कि जमींदारी प्रथा का विनाश करने के उपरान्त भूमि का किस प्रकार का प्रबंध किया जावे। आवश्यकता तो इस बात की है कि राज्य भूमि का स्वामी स्वयं बन जावे और किसानों को भूमि जोतने

के लिए दें। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि संयुक्तप्रान्त में किसान का ही भूमि पर स्वामित्व स्वीकार कर लिया जावेगा।

उसके उपरान्त दूसरा प्रश्न यह है कि भारत में जो अलाभकारी जोत की समस्या है उसको दूर किया जावे। आज जो अधिकांश किसान चार पांच बीघा भूमि को अत्यन्त अवैज्ञानिक ढङ्ग से जोतते हैं उसको हटाना होगा। इसके लिए आवश्यकता इस बात की होगी कि प्रत्येक जिले एक निश्चित भूमि के क्षेत्रफल को आर्थिक जोत घोषित कर दिया जावे जिसका विभाजन नहीं किया जा सकता। साथ ही बिखरे हुए खेतों की आवश्यकता पड़नेपर दबाव डाल कर चकबंदी करनी होगी।

इसका परिणाम यह होगा कि कुछ लोग जो कि आज दो चार बीघा भूमि जोतते हैं और अर्द्ध खेत मजदूर हैं वे खेती से बिलकुल हट जावेंगे। आज भी भारतवर्ष में जो खेत मजदूर वर्ग हैं उसकी स्थिति दयनीय है। गाँव में उसे जुताई और बुवाई के समय तथा फसल कटने के समय खेती में काम मिलता है। बहुधा वह अपने मालिक का कर्जदार होता है उस ऋण के बदले फसल की बुवाई और कटने के समय उसे मालिक के खेत पर भोजन मात्र पर कार्य करना पड़ता है। कहीं-कहीं मालिक उसे कुछ मजदूरी भी दे देता है। शेष महीनों में यह खेत मजदूर घास छीलकर, भट्टों पर काम करके, लकड़ी बेंचकर, समीपवर्ती कस्बों तथा शहरों में मजदूरी करके आजीविका चलाता है। उसकी स्थिति एक दास की भाँति होती है। हाँ युद्ध के फल स्वरूप उसकी स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ है फिर भी उसकी दशा अत्यन्त दयनीय है।

इनके अतिरिक्त करोड़ों छोटे किसान हैं जो कि चार पाँच बीघा भूमि जोतते हैं किन्तु उनके खेत पर उनके लिए यथेष्ट काम नहीं होता अस्तु शेष समय में वे भी खेत मजदूरों की भांति ही काम करते हैं। यदि प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक जोत देने का प्रयत्न किया गया तो ऐसे खेत मजदूरों की संख्या बढ़ जावेगी कि जिनके पास भूमि नहीं होगी उनको गाँवों में काम देने की समस्या उठ खड़ी होगी।

उसके लिए हमें नीचे लिखे उपाय करने होंगे। एक तो देश में जो १७ करोड़ एकड़ भूमि जोती जा सकने वाली परती भूमि है राज्य को उसे खेती के योग्य बनाना होगा। उसके लिए सिंचाई इत्यादि के साधनों को

उपलब्ध करना होगा। तद्उपरान्त उस भूमि पर खेत मज़दूरों के सहकारी फार्म स्थापित करने होंगे। खेत मजदूरों को वह भूमि व्यक्तिगत रूप से न दी जाकर उस पर खेत मजदूरों के सहकारी फार्म स्थापित करने से एक लाभ यह होगा कि देश में सहकारी फार्मों की उन्नति होगी। जब यह सहकारी फार्म अधिक लाभदायक होंगे तो अन्य किसान भी सहकारी खेती के लिए तैयार हो जावेंगे।

किन्तु इतना करने से ही जो लोग कि खेती पर काम नहीं पा सकेंगे उनकी समस्या हल नहीं हो जावेगी। इसके लिए हमें खेत मजदूरों की सहकारी श्रम समितियां स्थापित करनी होंगी। राज्य तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड सड़कों, नहरों तथा अन्य निर्माण कार्य में इस सहकारी समितियों को ठेका दे व्यक्तियों (ठेकेदारों) को ठेका न दे। इटली तथा अन्य देशों में इस प्रकार सहकारी श्रम समितियों ने सड़कों, इमारतों, तथा पुल इत्यादि बनाने का बहुत अधिक कार्य किया है। भारतवर्ष में भी हमें उनकी स्थापना करनी होगी।

किन्तु इतना करने के उपरान्त भी हम उस सारी ग्रामीण जनसंख्या को काम नहीं दे सकेंगे कि जो खेती में काम न पा सकेगी। उसके लिए हमें अपने औद्योगिक संगठन में मूलभूत परिवर्तन करने होंगे। नेहरू कमेटी ने इस दिशा में एक अच्छा सुझाव रक्खा है। कमेटी का मत है कि भोजन वस्त्र तथा अन्य उपभोग पदार्थों को उत्पन्न करने वाले धंधों का विकेन्द्रीयकरण होना आवश्यक है। यह धंधे कुटीर धंधों अथवा छोटी मात्रा के धंधों के रूप में सहकारिता के आधार पर चलाये जाना चाहिए। यही नहीं नेहरू रिपोर्ट ने प्रादेशिक स्वावलम्बन के मत का भी प्रतिपादन किया है। प्रादेशिक स्वावलम्बन का अर्थ नेहरू कमेटी के मतानुसार यह है कि दस लाख की आबादी के औद्योगिक प्रदेश बना दिये जावें और जहां तक उपभोग पदार्थों का प्रश्न है उन्हें स्वावलम्बी बना दिये जावें। संक्षेप में नेहरू कमेटी ने उद्योग धंधों में विकेन्द्रीयकरण, प्रादेशिक स्वावलम्बन, तथा सहकारिता के आधार पर उनको छोटे रूप में संगठित करने का समर्थन किया है।

आवश्यकता इस बात की है कि गांवों में धंधों को स्थापित किया जावे जिससे कि ग्रामीण जनता काम पा सके। किन्तु जब हम कहते हैं कि धंधों को छोटे रूप में कुटीर धंधों के आधार पर चलाया जावे तो उससे हमारा

तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि उन धंधों को पुराने ढंग से ही चलने दिया जावे। इसके लिए हमें जलविद्युत का विस्तार करके सारे देश में जलविद्युत की लाइनों का जाल बिछा देना होगा तथा हल्के और छोटी मशीनों का निर्माण करके उनका कारीगरों में प्रचार करना होगा। साथ ही उन कुटीर धंधों का संगठन सहकारी आधार पर होगा तभी यह धंधे सफल हो सकेंगे। हर्ष की बात है कि भारत सरकार ने दामोदर घाटी योजना, हीराकुंड बांध, भाकरा बांध, रिहाँड बांध, नैयर बांध, तुंगभद्रा तथा गोदावरी की जलविद्युत उत्पन्न करने की योजनाओं को हाथ में ले लिया है और कुछ ही वर्षों में भारत के गांव जलविद्युत से आलोकित हो उठेंगे। इस प्रकार हम गांवों में उद्योग धंधों की उन्नति करके खेती में काम न पा सकने वाली जनसंख्या को काम दे सकेंगे और यथेष्ट आय के साधन उपलब्ध कर सकेंगे।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं कि हमें प्रत्येक किसान को आर्थिक जोत देनी होगी। और दबाव डालकर भी चकबंदी करनी होगी तभी खेती की उन्नति हो सकती है। किन्तु यह तात्कालिक योजना है अन्त में भारत को खेती की पूर्ण उन्नति करने के लिए हमें सहकारी फार्म ही स्थापित करने होंगे। हो सकता है कि आरम्भ में किसान सहकारी फार्म का सदस्य बनना स्वीकार न करे। परन्तु खेत मजदूरों के परती भूमि पर सहकारी फार्मों को अधिक लाभदायक देखकर वे उसका स्वागत करेंगे फिर सरकार सहकारी फार्मों से मालगुजारी तथा सिंचाई में कुछ छूट देकर किसानों को सहकारी फार्म स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित कर सकती है। प्रत्येक १० सहकारी फार्मों के बीच में एक राज्य का कृषि स्टेशन हो। उसमें एक कृषि विशेषज्ञ, रहे जिसकी सहकारी फार्म सलाह ले सकें, स्टेशन में ट्रैक्टर तथा अन्य कर्षनी यंत्र भी रहें जो कि फार्मों को किराये पर दिये जा सकें, तथा खाद और अच्छे बीज भी वहां से मिल सकें। इस प्रकार हम अपनी भूमि से अधिक से अधिक पैदावार प्राप्त कर सकते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ग्रामीण, ऋण, गांवों की सड़कों इत्यादि की समस्या को राज्य को अविलम्ब दूर करना होगा। इस प्रकार खेती के धंधे का नवीन ढंग से संगठन करने पर ही हम ग्राम्य जीवन का अधिक समृद्धिशाली बना सकते हैं।

परिशिष्ट—क

कृषि विभाग के कार्य

कृषि की उन्नति के लिए प्रत्येक प्रान्त में और मुख्य देशी राज्यों में कृषि विभाग स्थापित किये गए हैं। कृषि विभाग एक डायरैक्टर आव एग्रीकलचर की आधीनता में काम करता है। कृषि विभाग के नीचे लिखे मुख्य कार्य होते हैं:—

कृषि के उपयोगी और नये तरीकों का अनुसंधान करना तथा उनका प्रचार करना, बीज हल खेती के अन्य औजारों में सुधार करना, खाद तथा अन्य सभी आवश्यक चीजों में सुधार करना। उत्तम बीज को उत्पन्न करना और बीज भंडारों के द्वारा उनका किसानों में वितरण करवाना, कृषि सम्बन्धी शिक्षा और अनुसन्धान का प्रबन्ध करना। कृषि कालेज कृषि विभाग की आधीनता में ही हैं और वहां कृषि सम्बन्धी भिन्न-भिन्न विशेषज्ञ रक्खे जाते हैं जो कि खोज करते हैं।

कृषि विभाग को अभी अन्य दिशाओं में तो नहीं वरन उत्तम बीज उत्पन्न करने में पर्याप्त सफलता मिली है गन्ना गेहूँ कपास तथा चावल के उत्तम बीज उत्पन्न किये गए हैं और उनका वितरण किया जाता है।

इसके अतिरिक्त कृषि विभाग ऊसर भूमि तथा पानी द्वारा कटी हुई भूमि को खेती के योग्य बनाने, गाय और बैलों की नस्ल को सुधारने का भी काम करते हैं।

इसके अतिरिक्त कृषि विभाग प्रदर्शन फार्मों तथा प्रदर्शन प्लाटों (Demonstration Forms and Demonstration Plots) के द्वारा किसानों मे उन्नति तथा वैज्ञानिक तरीकों का प्रचार करता है। यह प्रदर्शन फार्म प्रत्येक जिले और तहसील में होते हैं।

सगठन और कार्य

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि कृषि विभाग का प्रधान अधिकारी डायरैक्टर आव ऐग्रीकलचर होता है। डायरैक्टर विभाग का सारा कार्य संभालता है। कृषि विषयक शिक्षा देने के प्रत्येक बड़े प्रान्त में

कृषि कालेज हैं जहां कृषि विषयक उच्च शिक्षा तथा अनुसन्धान कार्य (Research Work) होता है। बीजों का सुधार, खाद, फसलों के कीड़े भूमि तथा सिंचाई सम्बन्धी अनुसन्धान कार्य इन्हीं कालेजों के विशेषज्ञ अध्यापक करते हैं। साधारण कृषि विषयक शिक्षा ग्रामवासियों, जमींदारों तथा कृषि विभाग के छोटे कर्मचारियों को देने के लिये किसी-किसी प्रान्त में कृषि स्कूल भी स्थापित किये गए हैं।

समस्त प्रान्त को कुछ सर्किलों में बाँटा जाता है। प्रत्येक सर्किल एक डिप्टी डायरैक्टर की आधीनता में होता है। उसका मुख्य कार्य अपने क्षेत्र में स्थित प्रयोग फार्म (Experimental Forms) बीज फार्म (Seed Form) तथा प्रदर्शन फार्म (Demonstration Forms) की देख भाल करना है इसके अतिरिक्त अपने सर्किल में अच्छे बीज और औजारों को बेंचना तथा कृषि सुधार विषयक प्रचार कार्य करना भी उसका ही कार्य है। इस कार्य के लिए उसकी आधीनता में इंस्पेक्टर और फील्डमैन रहते हैं जो इस कार्य को करते हैं।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि फार्म तीन प्रकार के हैं। एक जिन पर विशेषज्ञों द्वारा अनुसंधान की हुई बातों का प्रयोग किया जाता है। उन्हें (Experiment Form) अर्थात् प्रयोग फार्म कहते हैं। दूसरे बीज फार्म (Seed Form) होते हैं जिन पर अच्छा बीज अधिक राशि में उत्पन्न करके बेंचा जाता है। तीसरे प्रदर्शन फार्म (Demonstration Form) जिन पर अच्छी खेती करने का ढंग किसानों को बतलाया जाता है।

ज़िलों तथा तहसीलों में जो प्रदर्शन फार्म होते हैं उनका किसानों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि जब वह देखता है कि उत्तम हल बैल, यंत्र, इमारतें बहुमूल्य खाद और सिंचाई के उत्तम साधन जिसमें उसकी शक्ति के बाहर व्यय होगा उन फार्मों पर हैं तो वह मन में यह धारणा लेकर जाता है कि इस प्रकार की खेती उसकी शक्ति के बाहर है अस्तु उन बातों का उसके मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता अस्तु आवश्यकता इस बात की है कि गाँवों में ही जिस परिस्थिति में और जिन साधनों से किसान खेती करता है उनके द्वारा ही खेती की जावे और प्रदर्शन प्लाट Demonstration Plot) स्थापित किये जावें। प्रदर्शन प्लाट का प्रबंध फील्डमैन करता है। किसी गांव में किसी किसान को जो फील्डमैन के कहे अनुसार

खेती करने के लिए राजी हो जाता है उसके खेत पर उसके ही औजारों बैलों तथा परिश्रम से खेती करवाई जाती है । केवल फील्डमैन उसको सलाह देता है । फील्डमैन की देख रेख में होने वाली खेती से जब किसानों को लाभ दिखलाई देता है तो वे सारी क्रियायें और खेती का नवीन ढंग किसान अपनाने के लिए जल्दी तैयार हो सकता है । बात यह है कि जब गांव के किसान अपने गांव के एक किसान के ही द्वारा फील्डमैन की देख रेख में की जाने वाली खेती की फसल अपनी से अच्छी देखते हैं तो उन्हें कृषि विभाग की सलाह पर विश्वास हो जाता है । और वे उसके द्वारा बतलाये हुए सुधारों को अपना लेते हैं ।

अभी तक कृषि विभागों ने अच्छा बीज अपने बीज फार्मों पर उत्पन्न करने और उसको बेंचने की ही ओर अधिक ध्यान दिया है । इसी कार्य की ओर कृषि विभाग की सारी शक्ति लगी है । यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि गेंहू गन्ना, कपास तथा अन्य फसलों के अच्छे बीज उत्पन्न करने में कृषि विभाग को विशेष सफलता मिली है । कृषि विभाग उस अच्छे बीज को अपने फार्मों, तथा अपनी देख रेख में जमींदारों के फार्मों तथा किसानों के खेतों पर उत्पन्न करते हैं । किसानों को बीज बेंचने के लिए कृषि विभागों ने देहातों में बड़ी संख्या में बीज भडार स्थापित कर दिये हैं जहाँ से किसानों को बीज दिया जाता है । साख समितियों, रहन सहन सुधार समितियों और ग्राम सुधार समितियों के द्वारा भी कृषि विभाग किसानों को उत्तम बीज बेंचता है बीज के अतिरिक्त कृषि विभाग हल, कोल्हू तथा खेती के अन्य यंत्र भी बेंचता है ।

कृषि सुधार सम्बंधी आवश्यक बातों का प्रचार तथा प्रदर्शन करने का काम भी कृषि विभाग को ही करना पड़ता है । कृषि प्रदर्शनियों मेलों तथा अन्य समारोहों पर कृषि विभाग अपने कर्मचारियों द्वारा किसानों में प्रचार करता है जब कहीं फसलों में कीड़ा लग जाता है तो उसको दूर करने के लिए उपाय, तथा पशुओं की नस्ल को उन्नत करने के उपाय भी कृषि विभाग ही बतलाता है

कृषि विभाग मुर्गी, गाय, बैल, बकरी तथा अन्य पशुओं की नस्ल को सुधारने तथा खेती के यंत्रों में आवश्यक सुधार करने का भी प्रयत्न करता है किन्तु इस दिशा में अभी तक विशेष महत्वपूर्ण कार्य नहीं हुआ ।

(All India Agricultnre Reseerch Council)

अखिल भारतीय अनुसंधान समिति

कृषि कमीशन की राय के अनुसार भारत सरकार ने एक कृषि अनुसंधान समिति की स्थापना कर दी है। उसका मुख्य कार्य भारत में कृषि सम्बंधी जो खोज हो रही है उसका एकीकरण करना, जो वैज्ञानिक इस कार्य के योग्य हैं उन्हें आर्थिक सहायता देना। प्रान्तीय कृषि विभागों को सलाह देना। भारत सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों को कृषि सम्बंधी मामले में परामर्श देना इत्यादि।

परिशिष्ट—ख

खेत मजदूरों की समस्या

मार्च १९४१ को भारतवर्ष की कुल जनसंख्या ३८, ८९, ९७१, ५५ थी। इस समस्त जनसंख्या मे लगभग १७ करोड़ दस लाख अर्थात् कुल जनसंख्या की ४४ प्रतिशत जनसंख्या कार्य करने के योग्य थी। यही ४४ प्रतिशत जनसख्या देश के भिन्न-भिन्न धंधों तथा पेशों में लगी हुई थी। इसमें से जो मजदूर बड़े बड़े कारखानों, खानों, चाय के बागों रेलवे वर्कशाप्रों तथा अन्य बड़े धंधों में काम करते हैं उनकी ठीक संख्या तो ज्ञात नहीं है परन्तु जो भी आंकड़े हमें ज्ञात हैं उनसे यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि धंधों में लगी हुई जनसंख्या ४० लाख के लगभग है जबकि खेत मजदूरों की संख्या २½ करोड़ से भी अधिक है और यदि उनके आश्रितों की संख्या को भी उसमें जोड़ दिया जावे तो उनकी सख्या ७ या ८ करोड़ के लगभग होगी। यह तो सभी अर्थशास्त्र के जानकार व्यक्ति जानते हैं कि भारत में खेती पर निर्भर रहने वालों की संख्या लगभग ७५ प्रतिशत है। और धंधों की उन्नति न होने के कारण विवश होकर जनसंख्या को खेती की ओर झुकना पड़ा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि देश में प्रति किसान पीछे २-५ एकड़ भूमि का औसत पड़ता है। किन्तु अधिकांश किसानों के पास चार पाँच बीघे भूमि से अधिक नहीं होती। ऋण, बंटवारे, और बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण भारतीय खेती बारी में दो भयंकर दोष उत्पन्न हो गए हैं। प्रथम तो प्रत्येक किसान के पास आर्थिक जोत से बहुत कम भूमि है, दूसरे जो कुछ भी भूमि है वह एक चक में न होकर दूर-दूर बिखरी है।

यही नहीं पिछले कुछ दशाब्दों में गाँवों में तेजी से एक वर्ग उत्पन्न हो गया है जो भूमि रहित खेत मजदूर है। उसके पास भूमि होती ही नहीं और वह अपने गाँव के उन बड़े किसानों के खेतों पर जिनके पास भूमि कुछ-कुछ अधिक होती है काम करके कुछ मजदूरी पा जाता है। किन्तु यह भूमि रहित खेत मजदूर या ऐसे खेत मजदूर जिनके पास एक दो बीघा

जमीन है जो मुख्यतः मजदूरी करके अपना जीवन निर्वाह करते हैं केवल वर्ष में कुछ समय के लिए खेती में काम पाते हैं। जिन दिनों खेती में अधिक काम नहीं होता यह खेत मजदूर बेकार रहते हैं और वे घास छीलकर लकड़ी इकट्ठी करके, समीपवर्ती कपास के पौधों, भट्टो शक्कर की मिलों में मजदूरी करके अपना जीवन निर्वाह करते हैं इनकी आर्थिक दशा साधारणतः बहुत खराब होती है। यह लोग कभी भर पेट भोजन नहीं पाते और न अपने शरीर को ढकने के लिए उन्हें कपड़ा ही प्राप्त होता है। उनके बीच जाकर देखिये निर्धनता और दैन्य मूर्तिमान दिखलाई पड़ते हैं। संसार का कोई वर्ग या किसी अन्य देश का निवासी उनके अधिक दयनीय अवस्था में हो सकता है लेखक को उसमें संदेह है।

न्यूनतम मज़दूरी कानून की आवश्यकता

अभी तक भारतीय अर्थशास्त्रियों तथा नेताओं का ध्यान जनसंख्या के इस निम्नवर्ग की ओर नहीं गया है यह बड़े खेद की बात है। जब तक हम भावी आर्थिक योजनाओं में वास्तविक अर्थों में इस सर्वहारा वर्ग की दयनीय दशा का सुधार नहीं करते तब तक देश के करोड़ों व्यक्तियों के जीवन में उल्लास उत्पन्न नहीं हो सकता।

इस वर्ग की निर्धनता को दूर करने के लिए राष्ट्रीय सरकार को दो कार्य करने होंगे। खेतों पर काम करने वाले मजदूरों के लिए न्यूनतम मजदूरी कानून द्वारा निर्धारित करना तथा गाँवों में धंधों की स्थापना करना। दूसरे शब्दों में सरकार यह निर्धारित करदे कि खेतों पर काम करने वाले मजदूरों को कम से कम इतनी मजदूरी अवश्य दी जावेगी कि जो एक औसत परिवार के भरण पोषण के लिए यथेष्ट हो। यह कोई अव्यवहारिक योजना नहीं है। यदि हमने यह नहीं किया और केवल बड़े धंधों में ही न्यूनतम मजदूरी कानून को लागू किया तो हमारे देश का आर्थिक संतुलन बिगड़ जावेगा आवश्यकता से अधिक गांवों से मजदूर औद्योगिक केन्द्रों की ओर जाने लगेंगे। और वहां बेकारी भंयकर रूप धारण कर लेगी। किन्तु भारत में न्यूनतम मजदूरी तभी निर्धारित की जा सकेगी कि जब खेती की पैदावार का मूल्य भी निर्धारित कर दिया जावे और जमींदारी प्रथा को नष्ट, करके मालगुजारी का उचित प्रबंध किया जावे। बात यह है मुद्रा प्रसार उत्पादन की कमी, तथा रहन सहन के दर्जे के ऊँचे हो जाने से अभी कुछ

दिनों तो खेती की पैदावार का मूल्य ऊँचा रहेगा किन्तु जब मुद्रा संकोचन होगा और युद्ध जनित कारण दूर हो जावेंगे तब खेती की पैदावार का मूल्य गिरने लगेगा। उस समय यदि राज्य ने खेती के धंधे को खेती की पैदावार का मूल्य निर्धारित करके सहारा न दिया तो किसानों की आर्थिक दशा दयनीय हो जावेगी और खेतों पर काम करने वाले मजदूरों तथा अर्द्धकिसान मजदूरों की दशा तो और भी दयनीय हो उठेगा। अस्तु यदि खेती की पैदावार का मूल्य निश्चित न कर दिया गया तो खेत मजदूरों को न्यूनतम मजदूरी देना असम्भव हो जावेगा।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि खेती की पैदावार का मूल्य सदैव के लिए ऊँचा रहेगा। खेती का सुधार करने, वैज्ञानिक ढंग से खेती करने, भूमि की चकबंदी होने, सामूहिक खेती को प्रोत्साहन देने, साख, हल, बीज, और खाद का उचित प्रबन्ध होने और जमींदारी प्रथा के नष्ट हो जाने से खेती का व्यय कम हो जावेगा और खेती की पैदावार का मूल्य कम किया जा सकेगा फिर भी मजदूरों को न्यूनतम मजदूरी दी जा सकेगी। खेती की पैदावार के मूल्य को निश्चित करने का एक मात्र तात्पर्य यह है कि एक साथ बिना लागत व्यय घटे पैदावार का मूल्य न गिर जावे जिससे खेती के धंधे की दशा बिगड़ जावे।

गांवों में धंधों की स्थापना

किन्तु खेत मजदूरों की समस्या केवल न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने से हल नहीं हो जावेगी। कारण यह है कि वह सदैव तो खेती पर काम पाता नहीं है अतएव इस सर्वहारा वर्ग की स्थिति में सुधार करने के लिए गांवों की औद्योगिक उन्नति करनी होगी कि जिससे खेत मजदूर अपने बेकार समय में उन धंधों में काम पा सकें।

केवल खेत मजदूर को ही काम देने की दृष्टि से गांवों में धंधों को खड़ा करने की आवश्यकता नहीं है। देश के औद्योगिक संगठन को दृढ़ करने की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि खेती की पैदावार से सम्बद्ध धंधे तथा जिनमें छोटी मात्रा में उत्पत्ति करने से लागत व्यय अपेक्षाकृत अधिक न हो वे धंधे बड़े बड़े औद्योगिक केन्द्रों में न खड़े करके गांवों में स्थापित किए जावें।

सामूहिक खेती

खेत मजदूरों की समस्या को हल करने के लिए प्रान्तीय सरकारों को चाहिए कि जो भी बंजर भूमि है उसको खेती के योग्य बनाकर खेत मजदूरों को सामूहिक रूप से खेती करने के लिए दे। यह सामूहिक फार्म कृषि विभाग की देख रेख में संगठित हों सरकार उन्हें पूंजी उधार दे और कृषि विभाग उन्हें परामर्श दे इस प्रकार भारत में यदि सामूहिक फार्म सफल हुए तो यह प्रणाली सर्व प्रचलित हो जावेगी भारत में लगभग १७ करोड़ एकड़ भूमि खेती के योग्य बंजर भूमि है और १३ करोड़ एकड़ खेती के अयोग्य बंजर भूमि है। आधुनिक काल में अमेरिका में हुए अनुसंधानों से यह निश्चित हो गया है कि इस प्रकार की सारी भूमि खेती के योग्य बनाई जा सकती है। हां इसके लिए यथेष्ट साधनों पूंजी और श्रम की आवश्यकता है और यह कार्य राज्य ही कर सकता है। खेत मजदूरों के पास आज तो तनिक सी भी भूमि नहीं है इस कारण उस भूमि पर वे सामूहिक खेती सरलतापूर्वक करने के लिए तैयार हो जावेंगे और यदि यह सफल हुए तो यह आन्दोलन देश में बल पकड़ लेगा और छोटे-छोटे स्थानों पर सामूहिक खेत दिखलाई देंगे।